सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय

३९

(फरवरी १९२९)

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

भूमिका

इस खण्डमें गांधीजीकी आत्मकथा आती है और अवधिके विचारसे इसमें केवल ३ फरवरीसे लेकर १४ फरवरी १९२९ तक १२ दिनकी ही सामग्री है। इन दिनों गांधीजी सिन्धमें लाजपतराय स्मारकके लिए धन इकट्ठा कर रहे थे और साथ ही प्रान्तके कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओंके मतभेदोंको भी दूर कर रहे थे।

९ फरवरीको गांधीजीको समाचार मिला कि एक दिन पहले दिल्लीमें उनके पौत्र, रसिकका निधन हो गया है। उन्होंने इस मानसिक पीड़ाके कारण अपने दैनिक कार्यक्रममें एक क्षणका भी व्यवधान नहीं होने दिया। क्योंकि उनके विचारमें किसी प्रियजनकी मृत्युका दुःख मोहका ही स्वरूप होता है। (पृष्ठ, ४११-१२, ४१३)

टॉल्स्टॉयके एक मित्र और अनुगामी चेरकोफने इस बातपर दुःख प्रकट किया कि गांधीजीने कभी पहले इंग्लैंडके युद्ध-प्रयत्नोंमें हाथ बँटाया था और अभीतक उसे उचित मानते हैं। गांधीजीने उत्तरमें यह दलील दी कि युद्ध-विरोधियोंको भी परस्पर सहिष्णुतासे काम लेना चाहिए। इस प्रश्नपर गांधीजीके इस प्रकारका रुख अपनानेका एक कारण तो उनका यह विश्वास था कि भारत अपनी विशिष्ट परिस्थितिमें वीरोंकी अहिंसा अपनानेमें असमर्थ है और इसलिए वह नैतिक आधारपर युद्ध-विरोध नहीं कर सकता। उन्होंने कहा: "मैं तो यही अनुभव करता हूँ कि मैं जिस माध्यमसे शान्तिके दर्शन कर रहा हूँ, मेरे यूरोपीय मित्र उससे सर्वथा अपरिचित हैं। मैं एक ऐसे देशका निवासी हूँ, जिसे बलात् निरस्त्र कर दिया गया है और जिसे सदियोंसे दास बनाकर रखा गया है। . . . क्योंकि हम लोग दुर्बल हैं इसलिए अहिंसाको समझना हमारे लिए आसान नहीं है।" (पृष्ठ ४०१)

यह खण्ड अधिकांशमें तो 'आत्मकथा' ही है। 'आत्मकथा' गांधीजीकी रचनाओंमें सर्वाधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ है और वह उनके जीवनको जाननेका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी है। मूल गुजराती आत्मकथा साप्ताहिक किस्तोंमें २९ नवम्बर १९२५ से ३ फरवरी १९२९ तक 'नवजीवन' में प्रकाशित हुई थी। महादेव देसाई और कुछ अंशोंमें प्यारेलाल नैयर द्वारा किया गया उसका अंग्रेजी अनुवाद ३ दिसम्बर १९२५ से ७ फ़रवरी १९२९ तक 'यंग इंडिया' के अंकोंमें क्रमशः प्रकाशित हुआ था। गांधीजीने अपने कुछ सहयोगियोंकी प्रेरणासे इस कामको प्रारम्भ किया था। यह सुझाव सन् १९२१ में ही गांधीजीके सामने रखा गया था किन्तु १९२५ में जब गांधीजी किसी और समयकी तुलनामें अन्यान्य कामोंसे कुछ मुक्त नजर आ रहे थे तब उन लोगोंने अपना यह आग्रह और ज्यादा जोर देकर दुहराया। चूंकि गांधीजी यह भली-भाँति जानते थे कि कदाचित् ही कोई आत्मकथा ऐसी लिखी जा

सकती है कि उसमें जाने-अनजाने अहंभाव और असत्यका लेश भी न हो; इसलिए वे पहले तो इसे हाथमें लेते हुए हिचकिचाते रहे। किन्तु जब उन्होंने तय किया कि यह रचना व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवनमें उनके द्वारा किये गये प्रयोगोंका वस्तुगत विवरण रहेगी और विवरणका एकमात्र उद्देश्य होगा जीवनके सभी क्षेत्रोंमें सत्यके विनियोगका दृष्टान्त पेश करना तथा एक सत्याग्रहमें विशिष्ट जीवन-पद्धति और राष्ट्रके पुनर्जीवनके एक प्रबल साधनके रूपमें अपनी निष्ठा व्यक्त करना, तब उनका यह संकोच दूर हो गया। (पृष्ठ ४–५)

गुजरातीमें इस पुस्तकका नाम है 'सत्यना प्रयोगो अथवा आत्मकथा'। नाममें 'सत्यके प्रयोग'का पहले रखा जाना रचनाके नीतिपरक पक्षके प्राधान्यको सूचित करता है। गांधीजी उसके द्वारा जो सन्देश देना चाहते थे वह तत्कालीन भारतके लिए ही उपयोगी नहीं था। मनुष्य चिरकालसे एक ऐसे समंजस और सम्पूर्ण जीवनकी खोज करता आ रहा है जो उसके स्वधर्मको व्यक्त करेगा और जिसकी सहायतासे वह उसका भी अतिक्रमण करते हुए अपने दिव्य स्वरूप मोक्षको प्राप्त करेगा। यह रचना उस उच्चतम लक्ष्यके लिए भी उतनी ही सहायक है। इस तरह हम कह सकते हैं कि आत्मकथा अतीत कालमें पायलेट और ईसामसीहके बीच हुए संवाद (सेंट जॉन, अध्याय १८, ३६–३८) में की गई आधुनिक बढ़ोतरी है। यह साधक द्वारा उस 'राज्य'की खोजकी कहानी है जो 'इस दुनियाका नहीं है' – इस अर्थमें कि वह राज्य शरीर-बलपर आधारित नहीं है, बल्कि उसका उद्‌गम ज्ञान और प्रेमसे होता है। "सत्य क्या है?" इस प्रश्नका उत्तर गांधीजीने किसी शाब्दिक सूत्रके द्वारा देनेका प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने इसका उत्तर दिया अपने द्वारा जिये हुए उस जीवनकी कहानीसे जो उन्होंने उसे प्राप्त करनेके लिए जिया और जिसमें उन्होंने प्रेयका वर्जन करते हुए निरन्तर श्रेयके पथका अनुगमन किया। सत्याग्रहके शास्त्रके इन प्रयोगों के माध्यमसे गांधीजीने अपना यह सिद्धान्त सिद्ध करना चाहा है कि जब किसी परिस्थितिगत सापेक्ष सत्यको समझकर, परिपूर्ण विनम्रताके साथ ज्ञानपूर्वक, उसका विनियोग किया जाता है तो उससे केवल बाह्य परिस्थितियाँ ही नहीं बदलतीं, बल्कि उससे व्यक्तिके मन-प्राण भी बदल जाते हैं और उसकी आध्यात्मिक बुद्धि अधिकाधिक जागृत होती चली जाती है। यह सिद्धान्त कि धर्म अथवा सत्य-कर्म — धर्म शब्दमें सार्वजनिक क्षेत्रका समावेश भी हो जाता है — इसी जीवनमें मोक्ष और दिव्य आनन्दकी प्रतीति दे सकता है, एक साहसपूर्ण मौलिक स्थापना कही जायेगी, क्योंकि एक तो इस स्थापनासे हिन्दू-धर्मको माननेवाले लकीरके फकीर किसी ऐसे मोक्ष साधकके प्रयत्नको समर्थन नहीं मिलता जो अपने उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए सांसारिक कर्मोंसे विरत हो जाता है दूसरे यह स्थापना उस 'वैज्ञानिक मानवतावाद' (साइंटिफिक ह्यूमैनिज्म) के आगे भी प्रश्न-चिन्ह लगा देती है जो अलौकिकसे आँखें मिलाते हुए झिझकता है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साध्य और साधनोंकी एकतापर यह विश्वास तथा

मोक्ष और धर्मका यह परस्परालम्बन ही वे बातें हैं जिन्होंने गांधीजीको इन प्रयोगोंके लिए प्रेरित किया था। आत्मकथाके द्वारा दूसरोंके निकट उन्होंने इन्हीं सत्योंको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न किया।

प्रयोगोंका विवरण देते समय जैसा कि गांधीजीने मूल गुजराती पुस्तकमें सूचित किया है, उन अपेक्षाकृत गहरे अनुभवोंको छोड़ दिया गया है जो व्यक्तिकी आत्मामें कहीं बहुत गहराई पर जनमते और लीन हो जाते हैं। यह ठीक ही है; क्योंकि उन अनुभवोंको अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपनेको धर्म अर्थात् श्रेयकी दिशामें किये गये नीतिकर्मों तक सीमित रखा। ये ऐसी चीजें हैं, जिन्हें एक बच्चा भी समझ सकता है। इसलिए गांधीजीने आशा की कि यदि वे तटस्थ भावसे और नम्रताके साथ सत्यके प्रयोगोंकी यह कहानी जैसीकी तैसी प्रस्तुत कर सकें, तो उससे अन्य साधकोंको सहायता मिलेगी। (पृष्ठ २)

गांधीजीने धर्मको जिस स्वरूपमें देखा, उसे उस स्वरूपमें देखनेके अनेक कारण थे। उन्होंने बाल्यावस्थामें तल्लीन होकर रामायणका पाठ सुना था (पृष्ठ २९-३०); सत्यनिष्ठ महापुरुषोंकी पौराणिक कथाओंको उत्सुकतापूर्वक सुना था और उनका आनन्द लिया था (पृष्ठ १०); माता-पिताकी सेवा करनेवाले श्रवण आदिकी कथाएँ सुनी थीं। वे वैष्णव तथा शैव, दोनों सम्प्रदायोंके मन्दिरोंमें दर्शनार्थ जाते थे तथा उन्होंने व्रत-उपवास आदिका पालन किया था। (पृष्ठ २५३-५४) और यद्यपि उन्होंने आगे चलकर रस्किन और टॉल्स्टॉयकी रचनाएँ भी पढ़ीं और बाइबिलके 'गिरि-प्रवचन'का भी उनके मनपर बड़ा असर पड़ा, तथापि बाल्यावस्थामें पड़े हुए ये प्रभाव ही अधिक महत्वपूर्ण थे। हम देखते हैं कि आत्मकथामें कर्मकी यमुना, भक्तिकी गंगा और ज्ञानकी सरस्वतीका वैसा ही प्रभाव हुआ है जैसा तुलसीदासने सन्तोंके जंगम तीर्थराजके समागमसे सम्भव बताया है। धर्मको कर्म और व्यवहारसे जुड़ा हुआ माननेके फलस्वरूप उसमें राजनीतिक क्षेत्रका समावेश हो गया और वह समाजमें प्रचलित बुराइयोंके विरोधमें निरन्तर किये जानेवाले संघर्षका रूप भी ले सका। 'यंग इंडिया' (१२–५–१९२०)के एक लेखमें गांधीजीने कहा है कि न मैं सन्त हूँ, न राजनीतिज्ञ; मैं तो केवल सत्यके पथका एक नम्र अन्वेषक हूँ। और मैं जीवनके अनन्त पहलुओंमें से कुछ पहलुओंपर प्रयोग कर रहा हूँ। "यदि मैं राजनीतिमें भाग लेता हुआ जान पड़ता हूँ तो इसका कारण यही है कि आज राजनीतिने हमें चारों ओरसे साँपकी गुंजलककी तरह जकड़ रखा है . . . । चूँकि मैं बिलकुल ही स्वार्थकी दृष्टिसे अपने चारों ओर गर्जन करते हुए तूफानमें शान्तिके साथ रहना चाहता हूँ, इसलिए मैं राजनीतिमें धर्मका समावेश करके और मित्रोंसे सहयोग लेकर, उसका प्रयोग कर रहा हूँ।" उन्होंने उसी स्थानपर यह भी कहा कि आध्यात्मिकतासे उनका अर्थ "उस तत्त्वसे है जो मनुष्यके स्वभाव तकको बदल देता है। . . . जो निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र बनाता है। वह मनुष्यकी प्रकृतिका

ऐसा स्थायी तत्त्व है जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्तिके लिए कोई भी कीमत चुकानेके लिए तैयार रहता है।" (खण्ड १७, पृष्ठ ४४२)

ऐसे धर्मका पालन कठिन प्रयत्नके द्वारा और शरीर-संयमके प्रति निरन्तर जागृत रहकर ही हो सकता है। यह ठीक है कि इन प्रयत्नोंके दौरान साधकको प्राप्तव्य मोक्षकी झलक मिलती रहती है। अनुभवके शिखरोंको छूनेवाले ऐसे स्वर्ण-क्षण उसे सहज भावसे प्रयत्नशील रखते हैं; फिर भी आवश्यक है कि वह आत्माका आज्ञानुवर्ती बनानेके लिए शरीरको यम-नियम आदिके अभ्याससे साधे रहे। इसलिए गांधीजी सोच-समझकर किये गये संकल्पों और लिये गये व्रतोंको बहुत आवश्यक मानते थे और यह भी मानते थे कि "व्रत बन्धन नहीं, बल्कि स्वतन्त्रताका द्वार है।" (पृष्ठ १६०)

आत्मसंयमीको अधिकसे-अधिक विनम्र होना चाहिए "मुमुक्षु अथवा सेवकके प्रत्येक कार्यमें नम्रता . . . अथवा निरभिमानता . . . न हो, तो वह मुमुक्षु नहीं, सेवक नहीं; वह स्वार्थी है, अहंकारी है।" (पृष्ठ ३०१) नम्रताको जीवनमें इतना ऊँचा स्थान देनेके बाद भी गांधीजीने उसे आश्रम-व्रतोंमें सम्मिलित नहीं किया। (पृष्ठ ३०१) नम्रताके विकासको उन्होंने कोई गुण नहीं माना। उसके नित्य अनुभव करते रहनेको अवश्य उद्दिष्ट माना और इस प्रकार उन्होंने अपनेको सहज ही पाखण्ड और कायरताकी सम्भावनासे बचा लिया।

सच्ची नम्रतामें दुराग्रहको कोई स्थान नहीं रहता। गांधीजी जैन-धर्मके 'अने-कान्तवाद'से भली-भाँति परिचित थे। वे जानते थे कि सत्यके अनेक पहलू हैं। वे मानते थे कि प्रत्येक वस्तुको कमसे-कम सात दृष्टियोंसे देखा जा सकता है और प्रत्येक दृष्टि सही भी होती है; पर सब दृष्टियाँ एक ही समय और एक ही परिस्थितिमें कभी सही नहीं होतीं। (पृष्ठ २०६) गांधीजीकी यह दुराग्रहहीन दृष्टि आत्मकथामें स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है। (पृष्ठ ११७, १४९-५०, १९०-९१, २५९, ३२६)

युक्त पुरुष, समाज और व्यक्तियोंके साथ जो व्यवहार करता है उसका आधार होता है उसका यह विश्वास कि सबमें एक ही आत्मा है, सब-कुछ एक ही है। और यह दृष्टि इसलिए सम्भव होती है कि वह सभी लोगोंके प्रति समान आदरका भाव रखता है। यहाँ तक कि यह उसके स्वभावका अंग बन जाता है। बालासुन्दरम्के विषयमें लिखते हुए गांधीजी अन्तमें कहते हैं: "दूसरोंको अपमानित करके लोग अपनेको सम्मानित कैसे समझ पाते हैं, यह बात मैं आजतक नहीं समझ सका हूँ।" (पृष्ठ १२२) गांधीजीने एशियाई विभागके दो कर्मचारियोंको भ्रष्टाचारके अपराधमें दण्डित करवाया था। उसका विवरण देते हुए उन्होंने कहा: "उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूपसे मेरे मनमें कुछ भी नहीं था।" (पृष्ठ २१०) इस अध्यायका अन्त गांधीवादी नीति और दर्शनके स्वरूपको दर्शानेवाले इन आदर्श-वाक्योंसे हुआ है: "सत्यके शोधके मूलमें ऐसी अहिंसा है। . . . व्यवस्था या पद्धतिके विरुद्ध झगड़ना

शोभा देता है; पर व्यवस्थापकके विरुद्ध झगड़ा करना तो अपने विरुद्ध झगड़नेके समान है। क्योंकि हम सबकी रचना एक ही चक्रपर की गई है, हम एक ही ब्रह्माके बनाये हुए हैं। व्यवस्थामें अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। व्यवस्थापकका अनादर या तिरस्कार करनेसे उन शक्तियोंका अनादर होता है और इससे व्यवस्थापकको और संसार को हानि पहुँचती है। " (पृष्ठ २१०) जब हम दुष्कर्म और दुष्कर्मीको अलग अलग देख पाते हैं और दुष्कर्मीके प्रति करुणाकी भावना मनमें रखते हैं, तभी हमारे लिए यह सम्भव होता है कि हम दुष्कर्मको उसके अधिक सही रूपमें देख सकें, किसी मानसिक उलझावमें न पड़ें और बिना पशोपेशके दुष्कर्मका तीव्रतर मुकाबला कर सकें। इस तरह हम देखते हैं कि अहिंसासे, संघर्षमें पड़े हुए सभी पक्षोंको नैतिक रूपसे तो लाभ होता ही है, इस उपायसे व्यावहारिक सफलता प्राप्त करनेकी भी अधिक सम्भावना बन जाती है।

सत्याग्रहमें संघर्ष व्यक्तियों अथवा पक्षोंके बीचमें नहीं माना जाता; सत्य और असत्य, सही और गलतके बीच माना जाता है। समस्त परिस्थितिगत सत्यको हस्तगत कर लिया जाता है और तब उसका विनियोग असत्यको पराजित करनेके लिए करते हैं। फलतः न कोई विजित होता है न कोई विजेता। किसीको ऐसा नहीं लगता कि हमने खोया, हम अपमानित हुए। जिस सीमा तक सत्यकी विजय होती है, उस सीमा तक सम्बन्धित पक्षोंमेंसे प्रत्येक पक्ष उल्लसित और विजयका साधन बननेमें अपनेको भागीदार मानता है। निरासक्त होनेके कारण युक्त पुरुष दूसरोंकी अपेक्षा इस सत्यका कहीं अधिक साक्षात्कार करता है कि: "तथ्य ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। तथ्य अर्थात् सच बात। सच बातको पकड़े रहनेसे कानून अपने-आप हमारी मददके लिए आ जाते हैं।" (पृष्ठ १०६) केवल कानून ही नहीं, जनमत और यहाँ तक कि निहित स्वार्थोंको भी तथ्योंकी अनुशासित पंक्तिके सामने सिर झुकाना पड़ता है। चम्पारन सत्याग्रहमें यही सिद्ध हुआ। उस आन्दोलनमें न कोई शोर-शराबा था, न गर्जन-तर्जन। केवल एकके बाद एक जाँचे-परखे तथ्योंके विवरण-भर प्रस्तुत कर दिये गये थे।

खर्चका नियमित रूपसे हिसाब रखना भी सत्यका लेखा-जोखा रखनेके समान है और इससे व्यक्तिको अपनी कमजोरियाँ जोतनेमें मदद मिलती है। "प्राप्त होनेवाले थोड़े-बहुत पैसेका हिसाब भी यदि समझदारीके साथ रखा जाये, तो हरएक नवयुवकको उसका वही लाभ समझमें आयेगा, जिसका अनुभव आगे चलकर मैंने और जनताने किया।" (पृष्ठ ४५) किसी भी संस्थामें सावधानीके साथ हिसाबकिताब रखना एक अनिवार्य वस्तु है। उसके बिना गति नहीं है। "बारीकीसे हिसाब रखे बिना सत्यको असत्यसे अलिप्त रखना सम्भव नहीं होता।" (पृष्ठ १२०)

प्राचीन भारतकी यह परम्परा रही है कि जोर सत्यके निर्वैयक्तिक रूप पर दिया जाये; आविष्कृत सत्यकी ही महिमा गायी जाये, इस बातको अधिक महत्व

न दिया जाये कि वह किस ऋषि या आचार्यके द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कदाचित् इसीलिए गांधीजीने अपने जीवनके विवरणोंमें उन घटनाओंको स्थान नहीं दिया जिनका केवल वैयक्तिक महत्व था। पुस्तककी भूमिकामें उन्होंने जो-कुछ लिखा, उससे स्पष्ट होता है कि अपनी जीवनकथा कहते हुए उन्हें जहाँ कहीं अपने विषयमें व्यक्तिगत कुछ भी कहना पड़ा है — और थोड़ा-बहुत तो कहना ही पड़ा है क्योंकि उसके बिना जीवन-कथा कैसे कही जाये — वहाँ वे हिचकिचाहटका अनुभव करते हैं। अपने भूतकाल में अगर उन्हें दिलचस्पी है, तो इतनी ही कि उससे वर्तमानके लिए क्या पाठ मिला और वह भविष्यको क्या दे सकता है। इसीलिए उन्होंने जीवनकी उन घटनाओं पर समय नहीं लगाया जिसे हम व्यक्तिगत कह सकते हैं। यदि उन्होंने इस पहलूको भी विस्तारसे सामने रखा होता, तो इसमें सन्देह नहीं कि वह अनेक दृष्टियोंसे एक आकर्षक बात होती।

उदाहरणके लिए, यह निश्चित है कि अपने प्रेम देनेके लिए उत्सुक और पानेके लिए तत्पर स्वभावके कारण गांधीजीको अपने अनेक व्यक्तिगत सम्बन्धोंमें बड़ी आशा और निराशाका अनुभव हुआ होगा। पत्रोंमें हमें इसकी झाँकियाँ भी मिलती हैं, किन्तु आत्मकथामें तो हमें साधारण तौरपर यही दिखाई देता है कि वे व्यक्तिगत सम्बन्धोंको नैतिक समस्याओंकी तरह लेकर उन्हें इस प्रकार हल करना चाहते हैं जैसा सत्यके किसी अन्वेषीको करना चाहिए। एक बार कस्तूरबाके पास टिकट तो तीसरे दर्जेका था, किन्तु उन्होंने रेलके स्टेशन पर दूसरे दर्जेके स्नान-गृहका उपयोग किया। गांधीजी इसपर चुप रह गये, किन्तु उन्होंने लिखा कि मैंने सत्य पर पत्नीके प्रति पक्षपातकी भावनाको तरजीह दी। यों इस प्रकारके उल्लेख आत्मकथामें विरल ही हैं। सम्पूर्ण गांधी वाङ्मयका पाठक सरलतासे ऐसे अनन्त तथ्यों और सम्बन्धित भावनाओंकी कल्पना कर सकते हैं, जिनका गांधीजी उल्लेख कर सकते थे। (पृष्ठ २९२) गांधीजीके मनमें पश्चिमी सभ्यताका कुछ दिनों मोह रहा, किन्तु उक्त सभ्यता और फिर बादमें वहांकी राजनीतिक ईमानदारीके प्रति उनका भ्रम दूर हो गया। इसे लेकर उनके मनमें कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। किन्तु उन्होंने आत्मकथामें इसे छोड़ दिया है और 'हिन्द स्वराज्य' में केवल वैचारिक आधारपर पश्चिमी सभ्यता और राजनीतिकी सख्त समालोचना की है। यदि आत्मकथामें इसका भावनात्मक पहलू भी देखनेको मिलता, तो निःसन्देह वह एक बड़ी चीज़ होती। इस रचनामें गांधीजीके उत्कट देश-प्रेम और भारत माताके प्रति भक्ति-भावनाका भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसका उल्लेख मिलता है हमें उस भाषणमें जो गांधीजीने दक्षिण आफ्रिकासे विदा होते समय दिया था। तब उन्होंने कहा था: "मैं अब भोग-भूमिसे कर्मभूमिमें जा रहा हूँ। . . . यदि मोक्षकी इच्छा हो तो मनुष्यको भारत-भूमिमें जाना ही चाहिए।" (खण्ड १२, पृष्ठ ४४५) मातृभूमिके प्रति गांधीजीका यह प्रेम ही क्रमशः उसके करोड़ों दरिद्र

और दुःखी निवासियोंके प्रेममें अपनी पूर्णताको प्राप्त हुआ। इसी तरह 'नवजीवन'के पृष्ठोंसे स्पष्ट होता है कि गांधीजी नैसर्गिक सौन्दर्यके प्रति समादरपूर्वक संवेदनशील थे। किन्तु आत्मकथामें इसका यदि कोई इंगित मिलता भी है तो नगण्य-सा।

इस तरह कह सकते हैं कि यह रचना गांधीजीकी तस्वीरको पूरी तरह सन्तोषदायक रूपमें प्रस्तुत नहीं करती। वह सम-सामयिक इतिहासकी समीक्षा भी प्रस्तुत नहीं करती। किन्तु ये ऐसी मर्यादाएँ हैं, जिन्हें गांधीजीने पुस्तक लिखते समय सामने रखा था। इनके बावजूद गांधीजीके जीवनकी भीतरी झाँकी जाननेको उत्सुक विद्यार्थीकी दृष्टिमें उसका महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता। गांधीजी इसे लिखते हुए अपने भीतर झाँकते चलते हैं और प्रत्येक घटनाको जाँचते-परखते हैं; अपने नैतिक विकासके विविध सोपानोंका विश्लेषण करते हैं और जहाँसे जो सबक मिलता है, उसे उचित रूपमें स्पष्ट करते हैं। आत्मकथाका लेखन, पिछले वर्षोंमें उन्होंने जो कुछ किया था उसका स्मरण, उसके पीछे रही हुई प्रेरणाओंका और उसके आन्तरिक परिणामोंका समीक्षात्मक विश्लेषण – यह सब अपने-आपमें सत्यका ही एक प्रयोग था; (पृष्ठ २१२-१३) और इससे उन्होंने 'चित्तकी शान्तिका अनुभव' किया। (पृष्ठ ३७५)

गांधीजीने जिस तटस्थताके साथ जीवनकी घटनाओंका वर्णन किया है, उससे प्रकट हो जाता है कि वे अपनेको शून्य बनानेकी साधनामें किस सीमा तक आगे बढ़ चुके थे। यह तटस्थता कई बार गांधीजीके विनोदी स्वभावकी झांकी भी प्रस्तुत करती है। जैसे उन्होंने लिखा: "भंगी-कामकी सेवाकी माँग तो मैंने की, किन्तु इसे करनेका बोझ मगनलाल गांधीको उठाना पड़ा (पृष्ठ २९६)।" साथी मुझे दर्शनार्थियोंसे सुरक्षित रखनेके लिए भारी प्रयत्न करते और विकल हो जाते; तब निश्चित समय पर मुझे दर्शन देनेके लिए बाहर निकालनेके सिवाय कोई चारा न रह जाता।" (पृष्ठ ३१७) "त्रुटि स्वीकार" करते हुए व्यक्ति पश्चात्तापपूर्ण शब्दावलीकी जैसी झड़ी लगा देता है, उसका सर्वथा अभाव और विनोदकी शक्तिका यह भाव समूची पुस्तकमें एक निर्वैयक्तिक और तनावसे हीन शैलीका निर्माण कर देते हैं। विवरणकी शैलीमें प्रामाणिकता इतनी स्पष्ट है कि पाठक आसानीसे समझ जाता है कि भूतकालसे कौन-कौनसे पहलू कथा लिखते समय भी गांधीजीकी भावनामें साकार थे और किन घटनाओंका असर बिलकुल निःशेष हो चुका था। उदाहरणके लिए बाल्यावस्थाकी वे स्मृतियाँ जो रूढ़िगत बन्धनोंको तोड़नेके उनके प्रयत्न और उनके बालविवाहसे सम्बन्धित थीं, गहरी भावना प्रदर्शित करती हैं। आत्मकथामें श्री जे० जे० डोककी इस बातको पुष्ट करनेवाले अनेक स्थल हैं कि "जब कभी गांधीजी अपने माता-पिताकी बात करते हैं, तो सुननेवालेको ऐसा मालूम होता है मानो वह किसी पवित्र स्थानमें खड़ा है।" ('एम० के० गांधी, एन इंडियन पेट्रियट इन साउथ आफ्रिका', प्रकाशन विभाग, पृष्ठ २०) इसके विपरीत अगर हम लन्दनमें गांधीजीके

अंग्रेजों-जैसे रहनेके प्रयत्नका वर्णन पढ़ें, तो समझमें आ जाता है कि वह उन्होंने बड़े हलके मनसे लिखा है और उसे लिखते समय वे अपने जीवनके उस प्रकरणको एक तटस्थ दर्शककी तरह और बहुत दूरसे देख रहे हैं।

गांधीजीके प्रारम्भिक जीवनके कुछ मार्मिक संस्मरण, उनके कस्तूरबाके प्रति बीच-बीचमें किये जानेवाले कठोर व्यवहारसे सम्बन्धित हैं। गांधीजीके मनमें सुधारोंके प्रति उत्साह था और कस्तूरबा पुराने ढंगके वातावरणमें अपने पालन-पोषणके कारण उस उत्साहके अनुरूप प्रगति नहीं कर पाती थी। गांधीजी ऐसे अवसरों पर कठोर हो उठते थे। किन्तु स्पष्ट है कि आत्मकथाके रचनाकालतक उनका वह मानस बिलकुल ही बदल चुका था और उस अवधिका विचार उनके मनमें कोमलता और स्वच्छता ही उपजाता था। उदाहरणके लिए वह प्रसंग लीजिए जब गांधीजीने एक बार क्रोधमें आकर उन्हें दरवाजेकी ओर ढकेला था। (पृष्ठ २११-१२) उस समय बा की दशाका वर्णन करते हुए गांधीजी लिखा है कि "उसकी आँखोंसे गंगा-जमुनाकी धारा बह रही थी।" स्पष्ट है कि घटनाके समयकी अधीरता और मनमानी अब तक कोमलता और करुणाका रूप ले चुकी थी। बा से जिस प्रकारके त्यागकी आशा की गई थी, बड़ेसे बड़े कष्ट सहकर भी बा ने तद्नुसार चलकर दिखाया और इसलिए उसकी उपलब्धिके समान उपलब्धि किसी और स्त्रीने नहीं की। (देखिए "पत्र: मणिलाल गांधीको", खण्ड १४, पृष्ठ ५००) बलिदानके लिए तत्परता और समर्पणकी भावनाने दम्पतीके जीवनमें सन्तोष और आनन्दसे परिपूर्ण ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया जो साधारणतया पाये जानेवाले दाम्पत्य-सम्बन्धसे पवित्र और महत् था। गांधीजीने इसका आत्मकथामें वर्णन किया है। (पृष्ठ २१२) गांधीजी सदा कस्तूरबाके त्यागका स्मरण करते हुए यह कहा करते थे कि पुरुषकी अपेक्षा अहिंसाके क्षेत्रमें स्त्री अधिक आगे बढ़ सकती है।

गांधीजीने सन १९०३ में थियोसॉफिस्ट मित्रोंकी प्रेरणासे गीताका दैनन्दिन अध्ययन करना शुरू किया और उन्हें उसके माध्यमसे जिस जीवन-पद्धतिका दर्शन हुआ उसने जीवनकी उनकी कल्पनाको पूरी तरहसे सन्तुष्ट कर दिया। इसके बाद अपने बहुविध प्रवृत्तियोंम उन्होंने सब-जगह गीताके निष्काम कर्मके सिद्धान्तको लागू किया, कर्मके फलको अन्तर्यामीके चरणोंमें रखनेका प्रयत्न किया और कालान्तरमें गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञ और भक्तके आदर्श स्वरूपने गांधीजीकी मोक्षकी आकांक्षाको उपयुक्त दिशा दे दी। सुख-दुःख, जय-पराजय, निन्दा-स्तुति के प्रति समताका जो आदर्श गीतामें निरूपित है वह गांधीजीके मनमें गहरा बैठ गया और उसने उन्हें केवल सत्याग्रह आन्दोलनोंमें ही नहीं, जीवनके प्रत्येक व्यक्तिगत और सार्वजनिक आपत्तिके क्षणम बल दिया।

१९०४ में जोहानिसबर्गसे डर्बन जाते हुए गांधीजीने रस्किनकी 'अन्टू दिस लास्ट' नामक पुस्तक पढ़ी थी और इसका उनके मनपर असर हुआ था। गीताके

अपरिग्रहके सिद्धान्तसे तो उनका परिचय था ही। परिणामतः उन्होंने तुरन्त ही उक्त पुस्पकमें प्रतिपादित विचारोंको कार्यान्वित करनेका निश्चय किया। असंग्रहके इस आदर्श को अमली रूप देनेके लिए उन्होंने फीनिक्स आश्रमके अपने सहयोगियोंके साथ नितान्त सीधा-सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। जैसे-जैसे गांधीजीका आध्यात्मिक विकास होता गया, वैसे-वैसे उन्होंने आश्रममें नैतिक अनुशासन बढ़ाया और उन्होंने आश्रम-जीवनकी आचार-संहिता तैयार की। संहिताका आधार था प्राचीन भारतके आरण्यक ऋषियोंका जीवन। अभी तक गांधीजी आहार-सम्बन्धी जो प्रयोग करते थे, वे स्वास्थ्य की दृष्टिसे करते थे। इस अवधिमें उनका हेतु बदलकर नैतिक हो गया तथा उनका उपयोग आत्म-संयमकी दिशामें किया जाने लगा। उन्होंने सोचा कि उपनिषद-कालके ऋषि और द्रष्टा भी क्या फलाहार करके ही नहीं रहते थे और क्या उनका वासना-हीन जीवन इसका फल नहीं था।

गांधीजीने इस अवधिमें सबसे महत्वपूर्ण जो निश्चय किया वह था उनका भविष्यमें आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करनेका व्रत। उन्होंने लिखा है कि मैं यह नहीं जानता कि मेरे मनमें इस व्रतका विचार पहले कब आया। (पृष्ठ १५८-५९) किन्तु यह बात वे निश्चयपूर्वक कह पाये हैं कि १९०६ में जुलू विद्रोहके समय जब वे भारतीय आहत-सहायक सेवक दलका नेतृत्व कर रहे थे, उन दिनों उन्हें जो अनुभव हुए, उन अनुभवोंका इस अन्तिम निर्णय तक पहुँचनेमें हाथ था। (पृष्ठ १६०) हिन्दू धर्मकी जिस परम्परामें हनुमान रामके आदर्श सेवक माने गये हैं, उस परम्परामें उन्होंने सोचकर देखा और उन्हें प्रतीति हो गई कि सेवा और आध्यात्मिक विकास अपने व्यापक अर्थमें परिपूर्ण ब्रह्मचर्यके बिना साध्य नहीं हैं और इसलिए इस व्रतने गांधीजीके आध्यात्मिक प्रयत्नोंमें केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लिया। (पृष्ठ २४२-४३) इस व्रतने उनके सामने मनुष्यके प्रयत्नोंकी व्यर्थता और प्रकृतिके दुर्निवार होनेके तथ्य की प्रतीत कराई और आत्मशुद्धिके साधनके रूपमें प्रार्थना और उनकी अपनी हद तक रामनामकी शक्तिको उन्होंने एकमात्र आधार माना। प्रार्थनाकी शक्तिमें उनका यह विश्वास बढ़ता ही चला गया। (पृष्ठ २४३ और २६३)

आत्मकथामें गांधीजीने अपने पुत्रोंकी शिक्षासे सम्बन्धित समस्याका थोड़े विस्तारसे वर्णन किया है। पहले तो उन्होंने देशके प्रति अपने प्रेमके कारण यह देखा कि अधि-कांश भारतीय बच्चे अंग्रेजी माध्यमसे चलनेवाले विद्यालयोंमें गरीबीके कारण शिक्षा नहीं पा सकते। उन्होंने इसीलिए अपने बच्चोंको भी उस प्रकारकी शिक्षासे वंचित रखना उचित समझा। (पृष्ठ १५४) इसके बाद जीवन-सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण बदल गया, आधुनिक सभ्यतापर से उनका विश्वास उठ गया और यह सभ्यता जिन पार्थिव मूल्यों पर आधारित थी, विद्यालयीन शिक्षणकी वस्तु और पद्धति उनसे प्रभावित होनेके कारण गांधीजीका रुख उस प्रकारके शिक्षणके विरुद्ध हो गया। बुद्धिके रूढ़िगत प्रशिक्षण और केवल पुस्तकीय ज्ञानके बदले उन्होंने चरित्र-गठन, शारीरिक

श्रम और हस्त-कौशलको प्रधानता दी और अपने इस विचारका प्रयोग फीनिक्स और टॉल्स्टॉय फार्ममें रहनेवाले बच्चों और अपने पुत्रोंपर किया। इसके जो परिणाम आये, उनमें स्वयं गांधीजीके अनुसार पर्याप्त सफलता नहीं मिली। रूढ़िगत शिक्षण न मिलनेके कारण उनके पुत्रोंको अपने मानसिक विकासमें एक प्रकारकी कमीका भान होता रहा। उनके जेठे पुत्र हरिलाल तो बहुत ही असन्तुष्ट हो गये और यह असन्तोष बादमें पिता-पुत्रके सम्बन्धोंके पूरे रूपसे टूटनेका कारण बन गया। इस सम्बन्धविच्छेदके परिणाम हरिलालके लिए बहुत दुःखदायी सिद्ध हुए।

दूसरोंको शिक्षा देते हुए उन्होंने सीखा कि "आत्माकी शिक्षा देनेवालेको आत्म-विकास करना आवश्यक है। . . . मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और अच्छा रहना चाहिए।" (पृष्ठ २५९-६०)

गांधीजी दक्षिण आफ्रिकासे स्वदेश "राष्ट्रीय पुनरुत्थानमें अपना विनम्र योगदान" करनेकी दृष्टिसे लौटे थे। (खण्ड ९, पृष्ठ ५१४) जनवरी, १९१५में जब वे बम्बई आये, तब तक राष्ट्र-कार्य सम्बन्धी उनके विचार निश्चित हो चुके थे। किन्तु गोखले की इच्छाको मान देते हुए उन्होंने एक वर्ष तक देशको घूम-घूम कर तो देखा, किन्तु अपने विचार प्रकट नहीं किये। 'नवजीवन'के पहले अंकमें (७–९–१९१९) पत्रके उद्देश्यको समझाते हुए उन्होंने लिखा: "अपनी इन सीमाओंके बावजूद मुझे स्पष्ट दिखाई देता है कि मेरे पास भारतको देने योग्य ऐसी कुछ चीजें हैं जो औरोंके पास उतने ही प्रमाणमें नहीं हैं। मैंने अपने जीवनमें सप्रयत्न कुछ सिद्धान्त स्थिर किये हैं और उनपर अमल भी किया है। इससे मुझे जो सुख मिला है, मैंने वैसा सुख दूसरोंमें नहीं देखा। अनेक मित्र मेरे इस विचारसे सहमत हैं। मेरी तीव्र अभिलाषा है कि भारतके सामने अपने इन सिद्धान्तोंको रखूँ और मुझे उनसे जो सुख मिला है, उसका अनुभव उसे भी कराऊँ (खण्ड १६, पृष्ठ ९८)।" इस तरह गांधीजी मानते थे कि सत्याग्रहकी पद्धतिको बाह्य जगतकी बुराइयाँ दूर करनेके साथ-साथ सत्याग्रही की आन्तरिक शान्ति और सुख बढ़ानेवाला तत्व बनना चाहिए।

अवसर उपस्थित होने पर गांधीजीने सतर्कतापूर्वक अपने सिद्धान्तोंका विनियोग किया और उसके द्वारा चम्पारनमें और खेड़ामें किसानोंके तथा अहमदाबादमें मजदूरों के कष्टोंका हल किया। चम्पारनमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली और उस समय उन्हें जो अनुभव हुए, उनका उन्होंने थोड़े विस्तारसे वर्णन किया। खेड़ाके प्रयोगों और अहमदाबादके मजदूरोंकी हड़तालके समय किये गये आन्दोलनमें पूरी सफलता नहीं मिली। १९१९ में रौलट बिलके प्रकाशित होनेके बाद गांधीजीको सत्याग्रहका देशव्यापी प्रयोग करनेका अवसर मिला। अगस्त १९१८ में रंगरूटोंकी भर्ती कराते समय वे बीमार हो गये थे, किन्तु 'सत्याग्रह संघर्ष प्रारम्भ करनेकी प्रबल इच्छा'ने उनकी जिजीविषाको बल दिया और उन्होंने बहुत बरसों पहले दक्षिण आफ्रिकामें दूध ग्रहण न करनेका जो व्रत लिया था, उसे भी शिथिल कर दिया। (पृष्ठ ३४३) गांधीजीकी

पुकारका देशने जिस उत्साहसे उत्तर दिया, उसे देखकर गांधीजी भी चमत्कृत हुए। उन्होंने आत्मकथामें उन दिनोंके उत्साहका तटस्थ भावसे वर्णन किया है। शुरू-शुरूमें आन्दोलन थोड़ा पिछड़ता-सा लगा, किन्तु बादमें उसमें गति आ गई और वह आन्दोलन ब्रिटिश शासन-कालका पहला जन-आन्दोलन हुआ और गांधीजी पहले जन-नेता।

आत्मकथाका विवरण यहाँ आकर समाप्त हो जाता है। किन्तु यह कहानीका अन्त नहीं है। आत्मकथा भी यहीं समाप्त नहीं होती। गांधीजीने आत्मकथाके 'विदाई' नामक अध्यायमें अपने जीवनके अनुभवोंका सिंहावलोकन किया है और उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय जिस आत्मविश्वासके साथ उन्होंने एक वर्षमें स्वराज्य लानेका वचन देते हुए जैसा राष्ट्रीय आन्दोलन छेड़ा था, वह आत्मविश्वास उनके पास नहीं था। आत्मकथाके प्रारम्भिक और अन्तिम दोनों अध्यायोंमें लेखकने पार्थिव विफलताका अनुभव किया है, किन्तु इस विफलताके माध्यमसे उसने आत्मोन्नति की है। १९२०में असहयोग आन्दोलन शुरू करनेके बाद वे दो तत्वोंको लेकर बहुत दुःखी थे। एक ओर तो थी जनताकी बीच-बीचमें फूट पड़नेवाली हिंसा और दूसरी ओर था देशके करोड़ों लोगोंको असहनीय गरीबीमें रखनेवाला विदेशी शासन। मार्च १९२२ में अहमदाबादके न्यायालयमें दिये गये अपने बयानमें उन्होंने न्यायाधीशसे कहा: "मेरा पूरा बयान सुनकर आपको शायद इस बातका अन्दाज हो जायेगा कि मेरे भीतर ऐसा क्या-कुछ उमड़ रहा है, जिसके कारण एक अच्छा-भला आदमी बड़ेसे बड़ा खतरा मोल लेनेको तैयार हो जाता है।" (खण्ड २३, पृष्ठ १२४)

यरवदाके कारावास कालमें गांधीजीको व्यवस्थित रूपसे अध्ययन और विचार करनेका समय मिल गया। फरवरी १९२४में बाहर निकलते-निकलते तक उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रमको साधन बनाकर कांग्रेसमें पुनर्जीवनका संचार करनेका निश्चय कर लिया था। बाहर निकलकर जब खादीके प्रश्न पर वे मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास जैसे प्रभावशाली नेताओंको अपने विचारसे सहमत नहीं करा पाये और जब मोतीलाल नेहरूको उन्होंने जरा भी झुकनेके लिए तैयार नहीं देखा, तो उन्होंने कांग्रेसकी बागडोर स्वराज्य पार्टीके हाथमें दे दी और १९२५के अन्तमें सक्रिय राजनीतिसे अलग हो गये। उसके बाद एक वर्षका समय उन्होंने लगभग साबरमती आश्रममें बिताया और इस अवधिमें गीताका अध्ययन तथा आश्रमवासियोंसे विचार-विमर्श करते रहे। (खण्ड ३२) इस कालमें उन्होंने निष्काम कर्म करने और अपनेको शून्य बनानेका अर्थ अधिक सूक्ष्मतासे समझा। आत्मशुद्धिकी दिशामें अपने आराध्यदेव, रामसे उन्होंने शक्ति देनेकी प्रार्थना की। उन्होंने 'नवजीवन'के एक लेखमें लिखा है: "वह तो मेरे ही घरमें निवास करनेके लिए आ गया है। . . . वही मेरा सर्वस्व है। . . . मैं तो उसीके जिलाये जी रहा हूँ। मैं तो भंगी और ब्राह्मणमें रामको ही देखता हूँ और इसलिए दोनोंका अभिवादन करता हूँ।" (खण्ड २४, पृष्ठ

२०१-२) गांधीजीने सत्यके जो अनन्त प्रयोग किये, उनकी मानो यह फलश्रुति थी। राम-नाममें अपने विश्वासके कारण ही वे जीवनके अन्तिम दो वर्षोंमें, जो निराशाके घोर अन्धकारसे ढँके हुए थे, अविचलित बने रहे और उसीके बल पर उन्होंने मृत्युका उसी भावसे वरण किया जिस भावसे वे करना चाहते थे।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें किये गये इन प्रयोगोंने गांधीजीको आन्तरिक शक्ति दी, आत्मज्ञानकी दिशामें उनका विकास किया और राजनीतिके क्षेत्रमें भी उन्होंने जो-कुछ किया उसका मूल स्रोत भी यही प्रयोग थे। (पृष्ठ ३) राजनीतिक क्षेत्रमें इस शक्तिका स्वरूप था साधारण स्त्रियों और पुरुषोंको स्वार्थसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा देना, लोगोंमें पड़ी हुई वीरता और अच्छाईको सर्वसाधारणकी भलाईके काममें लगा देना। गांधीजीके लम्बे राजनीतिक जीवनमें उनकी शक्तिका आधार सदा ऐसे आदमियोंका अन्त:स्फूर्त-प्रेरित काम ही रहा जो प्रेम, आशा और उत्साहकी भावना लेकर सामने आये थे। अपनी जेल-डायरीमें (खण्ड २३, पृष्ठ १६२) उन्होंने बोहिमेको उद्धृत किया है: "यदि प्राणियों पर तेरा दावा अपनी आन्तरिक प्रकृतिके सत्य और आन्तरिक आधार पर न होकर बाहरी और सतही है तो तेरी इच्छा और तेरा दावा पाशविक वस्तु है।" गांधीजी जनताको आदेश देते ही रहते थे, किन्तु इन आदेशोंका आधार उनके नेतृत्वका स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाना था। गांधीजी किसी बाहरी शक्तिके बल पर नेतागीरी नहीं करते थे, तथापि इतिहासने किसी और व्यक्तिके आदर्शों पर इतनी बड़ी संख्यामें लोगोंको चलते हुए नहीं देखा। यदि धर्मका जागृत आचरण किसी व्यक्तिके नैतिक अस्तित्वका विकास करता है, उसे बल देता है और यदि उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है कि राजनीतिक क्षेत्रमें लोगोंकी आन्तरिक सद्भावनाको शक्तिके रूपमें व्यवहृत कर सके, तो ये प्रयोग जिनका उद्देश्य स्वर्गको धरती पर उतारना था, जो गुफामें निहित धर्मको खुलेमें लाना चाहते थे और जो सार्वजनिक चौक और मैदानको भी मन्दिर बनानेकी इच्छा रखते थे, नि:सन्देह करणीय थे और किसी भी जमानेमें उनकी अवज्ञा नहीं की जा सकती।

आभार

प्रस्तुत खण्डकी सामग्रीके लिए साबरमती आश्रम संरक्षक तथा स्मारक न्यास और संग्रहालय, नवजीवन ट्रस्ट और गुजरात विद्यापीठ ग्रन्थालय, अहमदाबाद; गांधी स्मारक निधि और संग्रहालय, नई दिल्ली; श्री नारणदास गांधी; श्रीमती मीराबहन; श्रीमती वसुमती पण्डित तथा 'बापुना पत्रो : आश्रमनी बहेनोने,' 'बापुना पत्रो गं० स्व० गंगाबहेन वैद्यने,' 'महात्मा गांधी—द अर्ली फेज,' 'महादेवभाईनी डायरी,' 'सरोजिनी नायडू' पुस्तकोंके प्रकाशकों और निम्नलिखित समाचारपत्रों और पत्रिकाओंके आभारी हैं: 'नवजीवन,' 'बॉम्बे क्रॉनिकल,' 'यंग इंडिया,' 'लीडर' और 'हिन्दू'।

अनुसन्धान और सन्दर्भ सम्बन्धी सुविधाओंके लिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पुस्तकालय, इंडियन कौंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स, पुस्तकालय, सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालयका अनुसन्धान एवं सन्दर्भ विभाग, राष्ट्रीय अभिलेखागार (नेशनल आर्काइव्ज आफ इंडिया) तथा प्यारेलाल नैयर, नई दिल्ली; और कागजातकी फोटो-नकल तैयार करनेमें सहायताके लिए सूचना एवं प्रसारण मन्त्रालयका फोटो विभाग, नई दिल्ली हमारे धन्यवादके पात्र हैं।

पाठकोंको सूचना

हिन्दीकी जो सामग्री हमें गांधीजीके स्वाक्षरोंमें मिली है, उसे अविकल रूपमें दिया गया है। किन्तु दूसरों द्वारा सम्पादित उनके भाषण अथवा लेख आदिमें हिज्जों की स्पष्ट भूलें सुधार दी गई हैं।

अंग्रेजी और गुजरातीसे अनुवाद करते समय उसे यथासम्भव मूलके समीप रखनेका पूरा प्रयत्न किया गया है, किन्तु साथ ही भाषाको सुपाठ्य बनानेका भी पूरा ध्यान रखा गया है। जो अनुवाद हमें प्राप्त हो सके हैं, हमने उनका मूलसे मिलान और संशोधन करनेके बाद उपयोग किया है। नामोंको सामान्य उच्चारणके अनुसार ही लिखनेकी नीतिका पालन किया गया है। जिन नामोंके उच्चारणमें संशय था, उनको वैसा ही लिखा गया है, जैसा गांधीजीने अपने गुजराती लेखोंमें लिखा है।

मूल सामग्रीके बीच चौकोर कोष्ठकोंमें दिये गये अंश सम्पादकीय हैं। गांधीजीने किसी लेख, भाषण आदिका जो अंश मूल रूपमें उद्धृत किया है वह हाशिया छोड़कर गहरी स्याहीमें छापा गया है। भाषणोंकी परोक्ष रिपोर्ट तथा वे शब्द जो गांधीजीके कहे हुए नहीं हैं, बिना हाशिया छोड़े गहरी स्याहीमें छापे गये हैं। भाषणों और भेंटोंकी रिपोर्टोंके उन अंशोंमें जो गांधीजीके नहीं हैं, कुछ परिवर्तन किया गया है और कहीं-कहीं कुछ छोड़ भी दिया गया है।

शीर्षककी लेखन-तिथि दायें कोनेमें ऊपर दे दी गई है; जहाँ वह उपलब्ध नहीं है, वहाँ अनुमानसे निश्चित तिथि चौकोर कोष्ठकोंमें दी गई है और आवश्यक होने पर उसका कारण स्पष्ट कर दिया गया है। जिन पत्रोंमें केवल मास या वर्षका उल्लेख है, उन्हें आवश्यकतानुसार मास या वर्षके अन्तमें रखा गया है। शीर्षकके अन्तमें साधन-सूत्रके साथ दी गई तिथि प्रकाशनकी है। गांधीजीकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ और लेख, जहाँ उनकी लेखन-तिथि उपलब्ध है अथवा जहाँ किसी दृढ़ आधारपर उसका अनुमान किया जा सका है, वहाँ लेखन-तिथिके अनुसार और जहाँ ऐसा सम्भव नहीं हुआ है वहाँ उनकी प्रकाशन-तिथिके अनुसार दिये गये हैं।

साधन-सूत्रोंमें 'एस० एन०' संकेत साबरमती संग्रहालय, अहमदाबादमें उपलब्ध सामग्रीका, 'जी० एन०' गांधी स्मारक निधि और संग्रहालय, नई दिल्लीमें उपलब्ध कागज-पत्रोंका, और 'सी० डब्ल्यू०' सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय (कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी) द्वारा संगृहीत पत्रोंका सूचक है।

सामग्रीकी पृष्ठभूमिका परिचय देनेके लिए मूलसे सम्बद्ध कुछ परिशिष्ट दिये गये हैं। अन्तमें साधन-सूत्रोंकी सूची और इस खण्डसे सम्बन्धित कालकी तारीखवार घटनाएँ दी गई हैं।

विषय-सूची

दूसरा भाग

तीसरा भाग

चौथा भाग

पाँचवाँ भाग

१. सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा[1]

प्रस्तावना

चार या पांच वर्ष पहले निकटके साथियोंके आग्रहसे मैंने आत्मकथा लिखना स्वीकार किया था, और उसे आरम्भ भी कर दिया था। किन्तु फुलस्केपका एक पृष्ठ भी पूरा नहीं कर पाया था कि इतनेमें बम्बईकी ज्वाला प्रकट[2] हुई और मेरा शुरू किया हुआ काम अधूरा रह गया। उसके बाद तो मैं एकके बाद एक ऐसे व्यवसायोंमें फँस गया कि अन्तमें मुझे यरवदाका अपना स्थान मिला।[3] भाई जयरामदास[4] भी वहाँ थे। उन्होंने मेरे सामने अपना यह आग्रह रखा कि दूसरे सब काम छोड़कर मुझे पहले आत्मकथा ही लिख डालनी चाहिए। मैंने उन्हें जवाब दिया कि मेरा अभ्यास-क्रम बन चुका है और उसके समाप्त होने तक मै आत्मकथाका आरम्भ भी नहीं कर सकूँगा। अगर मुझे अपना पूरा समय यरवदामें बितानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं अवश्य ही आत्मकथा वहीं लिख ले सकता था। परन्तु अभी अभ्यास-क्रमकी समाप्तिमें भी एक वर्ष बाकी था कि मैं रिहा कर दिया गया। उससे पहले मैं किसी भी तरह आत्मकथाका लिखना आरम्भ तक नहीं कर सकता था। इसलिए वह लिखी नहीं जा सकी। अब स्वामी आनन्दने फिर वही आग्रह किया है। मैं दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास[5] लिख चुका हूँ, इसलिए

१. **आत्मकथा**के मूल गुजराती अध्याय धारावाहिक रूपसे **नवजीवन**के अंकोंमें प्रकाशित हुए थे। २९ नवम्बर, १९२५के अंकमें प्रस्तावनाके प्रकाशनसे उसका आरम्भ हुआ और ३ फरवरी, १९२९के अंकमें पूर्णाहुति शीर्षक अन्तिम अध्यायसे उसकी समाप्ति। अतः समग्र पुस्तक इस अन्तिम तारीखके अन्तर्गत दी जा रही है। गुजराती अध्यायोंके प्रकाशनके साथ ही **हिन्दी नवजीवन**में उनका हिन्दी अनुवाद और **यंग इंडिया**में उनका अंग्रेजी अनुवाद भी दिया जाता रहा। तद्नुसार 'प्रस्तावना' का अनुवाद **हिन्दी नवजीवन**के ३ दिसम्बर, १९२५के अंकमें प्रकाशित हुआ था।

हिन्दी अनुवादमें **आत्मकथा**का पहला खण्ड पुस्तकके रूपमें पहली बार सस्ता साहित्य मण्डल दिल्लीसे सन् १९२८ में प्रकाशित हुआ था। गांधीजीकी रचनाओंके स्वत्वाधिकारी नवजीवन ट्रस्टने अपनी ओरसे उसके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन सन् १९५७ में किया। उसके बाद उसकी अनेक आवृत्तियां निकल चुकी हैं।

हिन्दीके सिवा संस्कृत-समेत भारतकी दूसरी सभी भाषाओंमें भी **आत्मकथा**के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इसी प्रकार दुनियाकी सारी प्रमुख भाषाओंमें भी उसके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। देखिए **कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी**, खण्ड ३९, पृष्ठ १ की सम्बन्धित पाद-टिप्पणी।

२. १७-११-१९२१ को; देखिए खण्ड २१, पृष्ठ ४८५-८९।

३. गांधीजी १० मार्च १९२२ को अहमदाबादमें गिरफ्तार किये गये थे। उन्हें २१ मार्च, १९२२ को यरवदा जेल ले जाया गया जहाँसे वे ५ फरवरी, १९२४ को रिहा किये गये। देखिए खण्ड २३, पृष्ठ ८३ और १०१।

४. जयरामदास दौलतराम।

५. देखिए खण्ड २९।

आत्मकथा लिखनेकी इच्छा भी हुई है। स्वामीकी माँग तो यह थी कि मैं पूरी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तकके रूपमें छपे। मेरे पास एक-साथ इतना समय नहीं है। अगर लिखूँ तो 'नवजीवन'के लिए ही लिख सकता हूँ। मुझे 'नवजीवन'के लिए कुछ तो लिखना ही होता है। तो 'आत्मकथा' क्यों न लिखूँ? स्वामीने मेरा यह निर्णय स्वीकार किया और इस तरह आत्मकथा लिखनेका अवसर मुझे मिला।

किन्तु यह निर्णय करने पर एक निर्मल साथीने, सोमवारके दिन जब मैं मौनमें था, मुझे आहिस्तासे यों कहा: "आप आत्मकथा क्यों लिखना चाहते हैं? यह तो पश्चिमकी प्रथा है। पूर्वमें किसीने आत्मकथा लिखी हो सो तो सुना नहीं गया। और लिखेंगे क्या? आज जिस वस्तुको आप सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं, उसे कल मानना छोड़ दें तो? अथवा सिद्धान्तका अनुसरण करके जो भी कार्य आज आप करते हैं, उन कार्योंमें बादमें हेरफेर करें तो? बहुत-से लोग आपके लेखोंको प्रमाण-भूत समझकर उनके अनुसार अपना आचरण गढ़ते हैं। वे गलत रास्ते चले जायें तो? इसलिए सावधान रहकर फिलहाल आत्मकथा-जैसी कोई चीज न लिखें तो क्या ठीक न होगा?"

इस बातका मेरे मनपर थोड़ा-बहुत असर हुआ। लेकिन मुझे आत्मकथा कहाँ लिखनी है? मुझे तो आत्मकथाके बहाने सत्यके जो अनेक प्रयोग मैंने किये हैं, उनकी कथा लिखनी है। यह सच है कि उसमें मेरा जीवन ओतप्रोत होनेके कारण कथा एक जीवन-वृत्तान्त जैसी बन जायेगी। लेकिन अगर उसके हर पन्ने पर मेरे प्रयोग ही प्रकट हों तो मैं स्वयं उस कथाको निर्दोष मानूँगा। मैं मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोगोंका पूरा लेखा जनताके सामने रहे, तो वह लाभदायक सिद्ध होगा — अथवा यों समझिए कि यह मेरा मोह है। राजनीतिके क्षेत्रमें हुए मेरे प्रयोगोंको तो अब हिन्दुस्तान भी जानता है; यही नहीं, बल्कि थोड़ी-बहुत मात्रामें सभ्य कही जानेवाली दुनिया भी उन्हें जानती है। मेरे लेखे इसकी बहुत कीमत नहीं है; इसलिए इन प्रयोगोंके द्वारा मुझे 'महात्मा'का जो पद मिला है, उसकी कीमत तो और भी कम है। कई बार तो इस विशेषणने मुझे बहुत अधिक दुःख भी दिया है। मुझे ऐसा एक भी क्षण याद नहीं है, जब इस विशेषणके कारण मैंने गर्वका अनुभव किया हो। लेकिन अपने आध्यात्मिक प्रयोगोंका, जिन्हें मैं ही जान सकता हूँ और जिनके कारण राज-नीतिके क्षेत्रमें भी कुछ शक्ति मिली है, वर्णन करना मुझे अवश्य ही अच्छा लगेगा। अगर ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हैं, तो इनमें गर्व करनेकी गुंजाइश ही नहीं। इनसे तो केवल नम्रताकी ही वृद्धि होगी। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, भूतकालके अपने जीवन पर दृष्टि डालता जाता हूँ, त्यों-त्यों अपनी अल्पता मैं स्पष्ट ही देख सकता हूँ।

मुझे जो करना है, तीस वर्षोंसे मैं जिसकी आतुरभावसे रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्मदर्शन है, ईश्वरका साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टिसे होते हैं। मेरा समूचा लेखन भी इसी दृष्टिसे होता है, और राजनीतिके क्षेत्रमें भी मेरा पड़ना इसी वस्तुके अन्तर्गत आता है। लेकिन प्रारम्भसे ही मेरा यह मत रहा है कि

जो एकके लिए शक्य है, वह सबके लिए भी शक्य है। इस कारण मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए, नहीं रहे। उन्हें सब देख सकें, तो मुझे नहीं लगता कि उससे उनकी आध्यात्मिकता कम होगी। अवश्य ही कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन्हें आत्मा ही जानती है, जो आत्मामें ही समा जाती हैं। परन्तु ऐसी वस्तु देना मेरी शक्तिसे परेकी बात है। मेरे प्रयोगोंमें तो आध्यात्मिकका मतलब है नैतिक; धर्मका अर्थ है नीति; आत्माकी दृष्टिसे पाली गई नीति ही धर्म है।

इसलिए इस कथामें वे ही वस्तुएँ आयेंगी जिनका निर्णय बालक, जवान और बूढ़े करते हैं और कर सकते हैं। अगर ऐसी कथा मैं तटस्थ भावसे, निरभिमान रहकर लिख सकूँ, तो उसमेंसे दूसरे प्रयोग करनेवालोंको कुछ सामग्री मिलेगी। इन प्रयोगोंके बारेमें मैं किसी भी प्रकारकी सम्पूर्णताका दावा नही करता। जिस तरह एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग अतिशय नियम-पूर्वक, विचार-पूर्वक और बारीकीसे करता है, फिर भी उनसे उत्पन्न परिणामोंको वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा वे परिणाम सच्चे ही हैं इस बारेमें भी वह साशंक नहीं तो तटस्थ अवश्य रहता है अपने प्रयोगोंके विषयमें मेरा भी वैसा ही दावा है। मैंने खूब आत्मनिरीक्षण किया है, एक-एक भाव की जाँच की है, उसका पृथक्करण किया है। किन्तु उसमेंसे निकले हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं, वे सच हैं अथवा वे ही सच हैं, ऐसा दावा मै कभी करना नहीं चाहता। हाँ, यह दावा मैं अवश्य करता हूँ कि मेरी दृष्टिसे ये सच हैं, और इस समय तो अन्तिम-जैसे ही मालूम होते हैं। अगर न मालूम हों, तो मुझे उनके सहारे कोई भी कार्य खड़ा नहीं करना चाहिए। लेकिन मैं तो पग-पग पर जिन-जिन वस्तुओंको देखता हूँ, उनके त्याज्य और ग्राह्य ऐसे दो भाग बना लेता हूँ, और जिन्हें ग्राह्य समझता हूँ उनके अनुसार अपना आचरण बना लेता हूँ। और जबतक इस तरह बना हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको सन्तोष देता है, तबतक मुझे उसके शुभ परिणामोंके बारेमें अडिग विश्वास रखना ही चाहिए।

यदि मुझे केवल सिद्धान्तोंका अर्थात् तत्वोंका ही वर्णन करना हो, तब तो यह आत्मकथा मुझे लिखनी ही नहीं चाहिए। लेकिन मुझे तो उनपर रचे गये कार्योंका इतिहास देना है; इसीलिए मैंने इन प्रयत्नोंको 'सत्यके प्रयोग' जैसा पहला नाम दिया है। इसमें सत्यसे भिन्न माने जानेवाले अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमोंके प्रयोग भी आ जायेंगे। लेकिन मेरे मनमें सत्य ही सर्वोपरि है, और उसमें अगणित वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल — वाचिक — सत्य नहीं है। यह तो वाणीकी तरह विचारका विषय भी है। यह सत्य केवल हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है, बल्कि स्वतन्त्र, चिरस्थायी सत्य है, अर्थात् परमेश्वर ही है। परमेश्वरकी व्याख्याएँ अनगिनत हैं, क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अनगिनत हैं। ये विभूतियाँ मुझे आश्चर्यचकित करती हैं। क्षण-भरके लिए ये मुझे मुग्ध भी करती है। किन्तु मैं पुजारी तो सत्यरूपी परमेश्वरका ही हूँ। केवल वही एक सत्य है, और दूसरा सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं है; मैं अभी इसका शोधक ही हूँ। इस शोधके बदले मैं अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुका त्याग करनेको तैयार हूँ, और मुझे यह विश्वास है कि शोधरूपी इस

यज्ञमें शरीरको भी होमनेकी मेरी तैयारी है, और शक्ति है। लेकिन जबतक मैं इस सत्यका साक्षात्कार न कर लूँ, तबतक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्यको अपना आधार मानकर, अपना दीपस्तम्भ समझकर, उसके सहारे अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। यद्यपि यह मार्ग तलवारकी धार पर चलने-जैसा है, तो भी मुझे यह सरल-से-सरल लगा है। इस मार्ग पर चलते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मुझे नगण्य-सी लगी हैं, क्योंकि वैसी भूलें करने पर भी मैं बच गया हूँ, और अपनी समझके अनुसार आगे बढ़ा हूँ। दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी — ईश्वरकी झाँकी भी ले रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है कि एक सत्य ही है, उसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगतमें नहीं है। यह विश्वास किस प्रकार बढ़ता गया है, यदि मेरा जगत अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादिके पाठक इसे जानकर मेरे प्रयोगोंके साझेदार बनना चाहें और उस सत्यकी झाँकी भी मेरे साथ करना चाहें तो अवश्य करें। साथ ही, मैं यह भी अधिकाधिक मानने लगा हूँ कि जितना कुछ मेरे लिए सम्भव है, उतना एक बालकके लिए भी सम्भव है और इसके लिए मेरे पास सबल कारण हैं। सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं, उतने ही सरल भी हैं। वे अभिमानीको असम्भव मालूम होंगे और एक निर्दोष बालकको बिलकुल सम्भव लगेंगे। सत्यके शोधकको रजकणसे भी तुच्छ होकर रहना पड़ता है। सारा संसार रजकणोंको कुचलता है, पर सत्यका पुजारी तो जबतक इतना अल्प नहीं बनता कि रजकण भी उसे कुचल सकें, तबतक उसके लिए स्वतन्त्र सत्यकी झलक भी दुर्लभ है। यह चीज वशिष्ठ-विश्वामित्रके आख्यानमें स्वतन्त्र रीतिसे बताई गई है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी वस्तुको सिद्ध करते हैं।

मैं जो प्रकरण लिखनेवाला हूँ, यदि उनमें पाठकोंको अभिमानका भास हो, तो उन्हें अवश्य ही समझ लेना चाहिए कि मेरी शोधमें खामी है और मेरी झाँकियाँ मृगजलके समान हैं। भले ही मेरे समान अनेकोंका क्षय हो, पर सत्यकी जय हो। अल्पात्माको मापनेके लिए हम सत्यके आदर्शमें कमी कभी न करें।

मैं चाहता हूँ कि मेरे लेखोंको कोई प्रमाणभूत न समझें। यही मेरी विनती है। मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि उनमें बताये गये प्रयोगोंको दृष्टान्तरूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्रमें आत्मकथाके मेरे लेखोंसे बहुत-कुछ मिल सकेगा, क्योंकि कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊँगा नही। मुझे आशा है कि मैं अपने दोषोंका ख्याल पाठकोंको पूरी तरह दे सकूँगा। मुझे सत्यके शास्त्रीय प्रयोगोंका वर्णन करना है, मैं कितना भला हूँ, इसका वर्णन करनेकी मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। जिस गजसे स्वयं मैं अपनेको मापना चाहता हूँ और जिसका उपयोग हम सबको अपने-अपने विषयमें करना चाहिए, उसके अनुसार तो मैं अवश्य कहूँगा कि :

मो सम कौन कुटिल खल कामी
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो
ऐसो नोनहरामी

क्योंकि जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वासके साथ अपने श्वासोच्छ्वासका स्वामी समझता हूँ जिसे मै अपने नमकका देनेवाला मानता हूँ, उससे मै अभी तक दूर हूँ, यह चीज मुझे प्रतिक्षण खटकती है। मैं इसके कारणरूप अपने विकारोंको देख तो पाता हूँ, परन्तु उन्हें अभी तक निकाल नहीं पा रहा हूँ।

पर इसे यहीं समाप्त करना चाहिए। प्रस्तावनामें से मै प्रयोगकी कथामें नही उतर सकता। वह तो कथा-प्रकरणोंमें ही मिलेगी।

मोहनदास करमचंद गांधी

आश्रम, साबरमती
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, १९८२
[२६ नवम्बर, १९२५]

पहला भाग

१. जन्म

ऐसा जान पड़ता है कि शुरू-शुरूमें गांधी-परिवार किराने[1]का धन्धा करनेवाले व्यापारियोंका परिवार था, लेकिन मेरे पितामहसे लेकर पिछली तीन पीढ़ियोंसे उसमें दीवानगीरी[2] होती आ रही है। उत्तमचन्द गांधी उर्फ ओता गांधी टेकवाले व्यक्ति यह रहे होंगे, ऐसा लगता है। शासनसे खटपट हो जानेके कारण उन्हें पोरबन्दर छोड़कर जूनागढ़के राज्यमें आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ उन्होंने नवाब साहबको बायें हाथसे सलाम किया। किसीने इस स्पष्ट अविनयका कारण पूछा तो जवाब मिला: "दाहिना हाथ तो पोरबन्दरको सौंपा जा चुका है।"

ओता गांधीके एकके बाद एक दो विवाह हुए थे। पहले विवाहसे उनके चार लड़के थे और दूसरेसे दो। अपने बचपनके दिनोंकी याद करता हूँ तो मुझे यह अनुभव ही नहीं होता कि ये भाई सौतेले भाई थे। इनमें से पाँचवें भाईका नाम करमचन्द उर्फ कबा गांधी और अन्तिमका नाम तुलसीदास गांधी था। दोनों भाई बारी-बारीसे पोरबन्दरमें दीवान रह चुके थे। कबा गांधी, मेरे पिताजी। पोरबन्दरकी दीवानगिरी छोड़नेके बाद वे राजस्थानिक कोर्टके[3] सदस्य रहे। बादमें वे राजकोट और फिर कुछ दिनोंके लिए वांकानेरमें दीवान रहे। मृत्युके समय वे राजकोट राज्यके पेन्शनर थे।

कबा गांधीने भी एकके बाद एक, चार विवाह किये। पहले दो विवाहोंसे दो बेटियाँ हुईं। अन्तिम पत्नी पुतलीबाईसे एक बेटी और तीन बेटे हुए। उनमें अन्तिम मैं हूँ।

पिताजी कुटुम्ब-वत्सल, सत्यप्रिय, शूर और उदार किन्तु क्रोधी थे। विषयोंके प्रति भी वे थोड़े-बहुत आसक्त रहे होंगे। उनका अन्तिम विवाह चालीस पार करनेके बाद हुआ था। हमारे परिवारमें और बाहर भी धारणा यह थी कि वे लांच-रिश्वतसे दूर रहते हैं इसलिए शुद्ध न्याय करते हैं। वे राज्यके प्रति बड़े वफादार थे। एक समय प्रान्तके सहायक पोलिटिकल एजेंटने राजकोटके ठाकुर साहबकी शानके खिलाफ कुछ कहा। कबा गांधीने इसका विरोध किया। उक्त साहब बहादुर भड़के और उन्होंने कबा गांधीसे माफी माँगनेको कहा, किन्तु कबा गांधीने माफी माँगनेसे इन्कार कर दिया। इसलिए उन्हें कुछ घंटोंके लिए हिरासतमें भी रहना पड़ा। किन्तु वे विचलित नहीं हुए और तब उक्त हाकिमने उन्हें छोड़नेका हुक्म दिया।

१. गुजरातीमें इसके लिए 'गांधियाणुं' शब्द प्रचलित हैं। संस्कृत 'गांधिक'।

२. काठियावाड़की विभिन्न रियासतोंमें। देखिए खण्ड २०, पृष्ठ ४९६।

३. राज्यके प्रमुख और उनके परिवारके बीचके झगड़े निबटानेवाली अदालत।

पिताजीको धन इकट्ठा करनेका लोभ कभी नहीं रहा, इसलिए हम भाइयोंके लिए वे नाम-चारकी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजीका शिक्षण केवल उनका अनुभव ही था। आजकल जिसे हम गुजरातीकी पाँचवी किताबका ज्ञान कहते है, उन्होंने उतनी ही शिक्षा पाई होगी। इतिहास और भूगोलका ज्ञान तो उन्हें मिला ही नहीं था। फिर भी उनका व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दर्जेका था कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म प्रश्नोंको सुलझाने या हजार-हजार आदमियोंसे काम लेते हुए भी उन्हें कोई अड़चन नहीं लगती थी। धार्मिक शिक्षा नही के बराबर थी, पर मन्दिरोंमें जाने और कथा आदि सुननेसे असंख्य हिन्दुओंको जो धर्म-ज्ञान सहज ही मिल जाता है वह उन्हें भी मिला था। जीवनके अन्तिम वर्षमें कुटुम्बके निकट परिचित एक ब्राह्मण विद्वान[1]की सलाहसे उन्होंने गीताका पाठ शुरू कर दिया था और वे पूजाके समय नित्य थोड़े-बहुत श्लोकोंका उच्च स्वरसे पाठ कर लिया करते थे।

मेरे मन पर माताके साध्वी स्त्री होनेकी छाप है। वे बड़ी श्रद्धालु थीं। पूजापाठ किये बिना कभी भोजन न करतीं। हमेशा हवेली[2] जातीं। मुझे होश सँभालनेके बाद यह याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास न किया हो। वे कठिन से कठिन व्रत ले लेतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। लिए हुए व्रतोंको बीमार पड़ने पर भी कभी न छोड़तीं। मुझे ऐसा एक अवसर याद है। उन्होंने चान्द्रायण व्रत लिया और उसी बीच बीमार पड़ गईं। किन्तु उन्होंने व्रत नहीं छोड़ा। चातुर्मासमें एकाशन तो उनके लिए सामान्य बात थी। दूसरे एक समय चातुर्मासमें उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ और उन्होंने उसे छोड़कर तीसरे दिन भोजन करनेका व्रत लिया था। लगातार दो-तीन दिन उपवास कर जाना उनके लिए साधारण बात थी। एक चातुर्मासमें उन्होंने यह व्रत लिया था कि सूर्यनारायणके दर्शन करके ही भोजन किया जाये। उस चौमासेमें घरके हम बच्चे बादल ही ताकते रहते कि कब सूर्य दिखे और कब माँ भोजन करें। यह तो सभी जानते हैं कि कई बार बरसातमें सूर्य-नारायणके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। मुझे उन दिनोंकी याद है, सूर्य दिखते ही हम पुकार उठते: "बा, बा, सूरज निकला;" और माँ जल्दी-जल्दी बाहर आतीं कि सूरज छुप जाता; और वे फिर कहतीं, "कोई बात नहीं, आज नसीबमें भोजन नहीं है।" वे इतना कहकर लौट जातीं और काममें डूब जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। वे दरबारकी सारी बातें जानती थीं। रनिवासमें उनकी बुद्धिकी बड़ी कद्र थी। बालक होनेके कारण कभी-कभी मैं भी उनके साथ महलमें चला जाता था। 'बा — माँ साहब'[3] के साथ जो बातें होतीं उनमेंसे कुछकी याद मुझे अभी तक है।

इन माता-पिताके यहाँ संवत् १९२५की भादों बदी बारस तदनुसार २ अक्तूबर, १८८९को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरीमें मेरा जन्म हुआ। मेरा बचपन पोरबन्दरमें ही बीता। याद पड़ता है कि मैं किसी पाठशालामें भरती करा दिया गया था। वहाँ

१. अभिप्राय कदाचित् केवलराम मावजी दवे उर्फ़ मावजी जोशीसे है।

२. वैष्णव-मन्दिर।

३. राजमाता।

मुश्किलसे कुछ पहाड़े सीखे। मैंने उस समय लड़कोंके साथ गुरुजीको केवल गाली देना सीखा था, इतना ही याद है और कुछ याद नहीं है। इसलिए अनुमान लगाता हूँ कि मेरी बुद्धि मन्द रही होगी और स्मरण-शक्ति, जो पद हम गाया करते थे, उसमें कहे गये कच्चे पापड़ जैसी रही होगी। उस पदकी पंक्तियाँ यहाँ देनी ही चाहिए

एकडे एक, पापड शेक
पापड कच्चो, —— मारो ——

पहली खाली जगहमें शिक्षकका नाम होता था। उसे मैं अमर नहीं करना चाहता। दूसरी खाली जगहमें गाली रहती थी; उसे भरनेकी आवश्यकता नहीं है।

२. बचपन

जब पिताश्री पोरबन्दरसे राजस्थानिक कोर्टके सदस्य बनकर राजकोट गये उस समय मेरी उम्र कोई सात वर्षकी रही होगी। मुझे राजकोटकी देहाती शालामें भरती कर दिया गया। इस शालाके दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकोंके नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दरकी तरह यहाँकी पढ़ाईके विषयमें भी जानने लायक कोई खास बात नहीं है। मैं बहुत करके तो मामूली किस्मका विद्यार्थी ही गिना जाता रहा होऊँगा। देहाती पाठशालासे उपनगरकी पाठशालामें और फिर वहाँसे हाईस्कूलमें गया। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मैं बारह सालका हो चुका था। मैंने इस बीच किसी भी समय अपने किसी शिक्षकको धोखा दिया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। यह स्मरण भी नहीं है कि मैंने अबतक कोई मित्र बनाया हो। मैं बड़ा ही शरमीला लड़का था। पाठशालामें कामसे ही काम रखता। घंटी बजनेके समय पहुँचता और शाला बन्द होते ही घर भागता। 'भागना' शब्दका उपयोग जान-बूझ कर कर रहा हूँ, क्योंकि मुझे किसीसे बात करना नहीं भाता था। साथ ही यह डर भी लगता रहता कि कहीं किसीने मेरी खिल्ली उड़ाई तो?

हाईस्कूलके पहले ही वर्षमें परीक्षाके समयकी एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभागके निरीक्षक जाइल्स शालाका निरीक्षण करनेके लिए आये थे। उन्होंने पहली कक्षाके लड़कोंको पाँच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द था 'केटल'—Kettle। मैंने उसके हिज्जे सही नहीं लिखे। शिक्षकने अपने जूतेकी नोक लगाकर मुझे सावधान किया, किन्तु मैं क्यों सावधान होने लगा। मुझे यह सूझा ही नहीं कि शिक्षक मुझसे सामनेके लड़केकी पट्टीमें देखकर हिज्जे सुधार लेनेको कह रहे हैं। मै तो यह मानता था कि शिक्षक तो इस बातकी निगरानी रखनेके लिए हैं कि हम एक-दूसरेकी नकल न कर लें। सभी लड़कोंने पाँचों शब्द सही लिखे, अकेला मैं ही बुद्धू ठहरा! शिक्षकने मुझे बादमें मेरी बेवकूफी समझाई, लेकिन मेरे मनपर उनके उस समझानेका कोई असर नहीं हुआ। दूसरे लड़कोंकी नकल करना मैं कभी सीख ही न सका।

इसके बावजूद मैं शिक्षकके प्रति विनय-भावनामें कभी नहीं चूका। बड़ोंके दोष न देखना मेरा स्वभाव ही था। उक्त शिक्षक महोदयके दूसरे दोष भी बादमें मुझे

मालूम हुए। फिर भी उनके प्रति मेरे मनमें आदरभाव बना ही रहा। मैंने यह सीखा था कि बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिए, वे जो-कुछ कहते हैं हमें वही करना चाहिए, वे जो-कुछ करते हैं, हमें उसका मुंसिफ नहीं बनना है।

इसी समय दो और अवसर सामने आये। वे मुझे हमेशा याद रहेंगे। मुझे साधारणतया पाठ्य-पुस्तकोंको छोड़कर कुछ और पढ़नेका शौक नहीं था। सबक याद करना चाहिए; डाँट-फटकार सहन नहीं होती; शिक्षकको धोखा देना ठीक नहीं है; इन सब कारणोंसे सबक याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता और इसलिए कई बार सबक कच्चा रह जाता। ऐसी अवस्थामें और कुछ पढ़नेकी बात सूझती ही कैसे। किन्तु एक दिन पिताजीकी खरीदी हुई एक किताब पर मेरी निगाह पड़ी। किताब थी: 'श्रवण-पितृ-भक्ति नाटक।' उसे पढ़नेकी इच्छा हुई और मैं उसे बड़े चावसे पढ़ गया। उन दिनों शीशेमें चित्र दिखानेवाले लोग भी घर-घर घूमते थे। श्रवणका वह दृश्य भी जिसमें वह अपने माता-पिताको काँवरमें बैठाकर यात्रापर ले जाता है, मैंने उनके पास देखा। इन दोनोंका मेरे मनपर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। मनमें विचार आने लगा कि मुझे भी श्रवणके समान बनना चाहिए। श्रवणकी मृत्युके समय उसके माता-पिताका विलाप मुझे आज भी कण्ठस्थ है। उस ललित छन्दको मैंने बाजेपर बजाना भी सीख लिया था। मुझे बाजा सीखनेका शौक था और पिताजीने मुझे एक बाजा दिला भी दिया था।

इन्हीं दिनों कोई नाटक-मण्डली आई और मुझे उसका नाटक देखनेकी इजाजत मिली। आख्यान हरिश्चन्द्रका था। वह नाटक देखते मैं थकता ही न था। बार-बार देखने जानेकी इच्छा होती। लेकिन इस तरह बार-बार कौन जाने देता! पर मैंने अपने मनमें उस नाटकको सैकड़ों बार दुहराया होगा। मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते। मनमें यही बात घूमती रहती कि सब लोग हरिश्चन्द्रके समान सत्यवादी क्यों नहीं होते। हरिश्चन्द्रपर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं, वैसी विपत्तियोंको भोगकर सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मुझे तो यह विश्वास हो गया था कि जो आपत्तियाँ नाटकमें दिखाई गई हैं वे हरिश्चन्द्रपर पड़ी ही होंगी। हरिश्चन्द्रके दुःख देखकर और उनकी बात सोचकर मैं फूट-फूटकर रोया हूँ। आज मैं यह समझ गया हूँ कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था; फिर भी मेरे लेखे हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मुझे लगता है कि यदि मैं आज भी उन नाटकोंको पढ़ूँ तो मेरी आँखोंसे आँसू बह निकलेंगे।

३. बाल-विवाह

चाहता हूँ कि मुझे यह प्रकरण न लिखना पड़ता। किन्तु अपनी कहानी कहते हुए मुझे कितने ही कड़वे घूँट पीने पड़ेंगे। सत्यका पुजारी होनेका दावा करनेके बाद मैं दूसरा कुछ कर ही नहीं सकता। यह बात लिखते हुए कि मेरा विवाह तेरह वर्षकी उम्रमें हो गया था, मन विकल हो जाता है। आज मेरे सामने बारह-तेरह वर्षके बच्चे आते हैं, उन्हें देखता हूँ और फिर जब अपने विवाहका स्मरण करता हूँ तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और इन बालकोंको बधाई देनेकी इच्छा

होती है कि वे उस स्थितिमें पड़नेसे बच गये। जिससे तेरह वर्षकी उम्रमें अपने विवाहका समर्थन किया जा सके ऐसी कोई नैतिक दलील मुझे नहीं सूझती।

पाठक यह न समझें कि यह मैं सगाईकी बात लिख रहा हूँ। काठियावाड़में विवाहका मतलब लगन-संस्कार ही है, सगाई नहीं। सगाईका अर्थ तो होता है दो बालकोंका विवाह करनेके विषयमें उनके माता-पिताके बीच होनेवाला करार। सगाई टूट सकती है। सगाई हो जानेके बाद वरकी मृत्यु हो जाये तो कन्या विधवा नहीं होती। सगाई तक वर और कन्याके बीचमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उन दोनोंको इसका पता भी नहीं होता। मेरी एकके बाद एक तीन बार सगाइयाँ हुई। इन तीनों सगाइयोंकी मुझे कोई खबर नहीं है। बादमें मुझे बताया गया कि इनमेंसे दो कन्याओंकी एकके बाद एक मृत्यु हो गई थी। मैं इसी कारण जानता हूँ कि मेरी तीन सगाइयाँ हुई थीं। कुछ ऐसा स्मरण है कि तीसरी सगाई कोई सातेक वर्षकी उम्रमें हुई होगी। किन्तु इसकी मुझे कोई याद नहीं है कि सगाईके समय मुझे इस विषयमें कुछ बताया गया था या नहीं। विवाहमें वर और कन्या दोनोंकी जरूरत पड़ती है। उसकी एक निश्चित विधि होती है। जो मैं लिख रहा हूँ वह विवाहके विषयमें ही है। अपने विवाहका मुझे पूरा-पूरा स्मरण है।

पाठक जान चुके हैं कि हम तीन भाई थे।[1] उनमें सबसे बड़ेका विवाह हो चुका था। मँझले भाई मुझसे दो-तीन वर्ष बड़े थे। घरके बड़ोंने एक-साथ तीन विवाह करनेका निश्चय किया — मँझले भाईका, मेरे काकाजीके छोटे लड़केका, जिनकी उम्र मुझसे एकाध साल अधिक रही होगी और मेरा। इस प्रस्तावमें हमारे कल्याणकी कोई बात नहीं थी। हमारी इच्छाका तो कोई सवाल था ही नहीं। इसमें बात केवल बड़ोंकी सुविधा और कम खर्चकी थी।

हिन्दुओंमें विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं है। वर और कन्याके माता-पिता विवाहके पीछे बरबाद हो जाते हैं। कितना धन और समय उन्हें गँवाना पड़ता है। महीनों पहलेसे तैयारी होती है, पोशाकें बनती हैं, गहने बनते हैं। जातिको खिलानेके तखमीने बनते हैं, व्यंजनोंके प्रकारोंमें होड़ लग जाती है। स्त्रियाँ, स्वर हो चाहे न हो, गा-गा कर गला बैठा लेती हैं। खुद बीमार पड़ जाती है और पड़ोसियोंकी शान्ति भंग कर देती हैं। पड़ोसी बेचारे भी अपने यहाँ ऐसे अवसर आनेपर यही सब करते हैं, इसलिए वे शोर-गुल, जूठा-मीठा, दूसरी तरहकी गन्दगियाँ आदि सब-कुछ चुप रहकर सहन करते रहते हैं।

यह सब हंगामा अलग-अलग तीन बार करनेके बदले एक बारमें ही निबटा दिया जाये, तो कितना अच्छा। कम खर्च करके भी विवाह ठाट-बाटसे किया जा सकता है। क्योंकि एक-साथ तीन ब्याह रचानेपर खर्च खुलकर किया जा सकता है। पिताजी और काकाजी बूढ़े हो गये थे। और हम लोग ठहरे उनके आखिरी बेटे। इसलिए उनके मनमें विवाह रचाने और उसका आनन्द लूटनेकी वृत्ति भी रही होगी। इन और ऐसे ही विचारोंसे ये तीनों विवाह एक-साथ करनेका निश्चय किया गया

१. देखिए परिशिष्ट २।

और जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इसकी तैयारियाँ और इसके लिए सामग्री जुटानेका काम तो महीनों पहलेसे शुरू हो गया था।

हम भाइयोंने तो केवल तैयारियोंपरसे ही जाना कि विवाह होने है। इस अवसर पर मेरे मनमें तो इतना ही था कि अच्छे-अच्छे कपड़े पहननेको मिलेंगे, बाजे बजेंगे, बारातके समय घोड़ेपर चढ़ूँगा, बढ़िया भोजन मिलेगा और एक नई बालिकाके साथ विनोद कर सकूँगा। विषय-भोगकी वृत्ति तो बादमें उपजी। वह कैसे उपजी उसका वर्णन तो कर सकता हूँ किन्तु पाठक वैसी जिज्ञासा न रखें। मैं अपनी शर्मको ढाँकना चाहता हूँ। जो-कुछ कहने-योग्य है वह आगे आयेगा। यहाँ तो मैंने अपनी निगाहके सामने वही रखा है, जिसका इस वस्तुके ब्यौरेसे थोड़ा-बहुत सम्बन्ध है।

हम दोनों भाई राजकोटसे पोरबन्दर ले जाये गये। वहाँ हल्दी चढ़ाने आदिकी विधियाँ हुईं। वे मनोरंजक हैं किन्तु उनकी चर्चा छोड़ देना ही ठीक है।

पिताजी दीवान थे; फिर भी थे तो नौकर ही। तिसपर ठाकुर साहब की उनपर कृपा थी। इसलिए वे और भी अधिक पराधीन थे। ठाकुर साहबने आखिरी घड़ीतक उन्हें नही छोड़ा। जब छोड़ा तब ब्याहके दो दिन ही बाकी बच गये थे। विवाह-स्थलतक पहुँचानेके लिए खास सवारीका इन्तजाम किया गया, पर — पर विधाताके मनमें कुछ और ही था। राजकोटसे पोरबन्दर साठ कोस है। यह रास्ता बैल-गाड़ीसे पाँच दिनका था। पिताजी तीन दिनमें पहुँच गये। किन्तु आखिरी मंजिलमें ताँगा उलट गया। पिताजीको बड़ी चोट आई। हाथपर पट्टी, पाँवपर पट्टी। विवाहके प्रति उनका और हमारा आधा आनन्द चला गया। फिर भी विवाह तो हुए ही। मुहूर्त कहीं टल सकते हैं। विवाहके बाद उल्लासमें मै पिताजीका दु:ख तक भूल गया!

पिताका भक्त तो मैं था, पर आनन्दका लालच भी तो वैसा ही जबरदस्त था न। यहाँ आनन्दका अर्थ किसी इन्द्रियका आनन्द ही नहीं, सामान्य भोग-मात्र है। यह ज्ञान कि माता-पिताकी भक्तिके लिए सभी सुख छोड़ दिये जाने चाहिए, आगे चलकर उत्पन्न होनेवाला था। फिर भी जान पड़ता है, मानो मुझे इस भोगेच्छाका दण्ड ही भुगतना था। इसलिए मेरे जीवनमें एक विपरीत प्रसंग आया। यह प्रसंग मुझे आज तक खलता है। जब-जब निष्कुलानन्द[1] का

त्याग न टके रे वैराग बिना
करिए कोटि उपाय जी

गाता हूँ या सुनता हूँ तब-तब वह विपरीत और कटु प्रसंग याद आ जाता है और मैं शर्मसे गड़ जाता हूँ।

पिताजीने मानो अपने मुँहपर थप्पड़ मारकर चेहरा लाल रखा। शरीर कष्ट भोगते हुए भी उन्होंने विवाहमें पूरा-पूरा योग दिया। पिताजी मेरे विवाहके किस अवसरपर कहाँ बैठे थे, मुझे आज भी इसकी जैसीकी तैसी याद बनी है। बाल-विवाहकी चर्चा करते हुए पिताजीके कार्यकी जो आलोचना मैंने आज की है, वह उस

१. स्वामी नारायण पंथके गुजराती कवि।

समय मेरे मनमें थोड़े ही थी। उस समय तो मुझे सब-कुछ उचित और अच्छा ही लगा था। ब्याहका उत्साह था और लगता था कि पिताजी जो कर रहे हैं, ठीक ही कर रहे हैं। इसलिए उस समयके संस्मरण मनमें अभी तक ताजे हैं। मण्डपके नीचे बैठे, सप्तपदी हुई, कसार खाया और खिलाया और उसके बाद हम वर और वधू साथ-साथ ही रहे। वह पहली रात। दो निर्दोष बालक अनजानमें संसारी हो बैठे। भाभीने सिखलाया कि पहली रातमें मुझे कैसा बरताव करना चाहिए। धर्मपत्नीको किसने सिखलाया था, सो मैंने पूछा हो मुझे याद नहीं आता। किन्तु अब जब यह पूछा जा सकता है, तब भी पूछनेकी इच्छा नहीं होती। पाठक समझ लें कि हम दोनों एक-दूसरेसे भयभीत थे। मुझे तो ऐसा ही आभास है। निश्चय ही एक-दूसरेसे शरमाते तो थे ही। बातें कैसे करूँ, क्या बातें करूँ सो समझमें न आता। सिखाये पूत क्या कर सकते हैं? किन्तु क्या कुछ सिखाना जरूरी होता है? जहाँ संस्कार बलवान हैं वहाँ सिखाना-पढ़ाना सब गैर-जरूरी हो जाता है। धीरे-धीरे हम एक-दूसरेको पहचानने लगे, एक-दूसरेसे बातें करने लगे। हम दोनोंकी उम्र बराबर थी, किन्तु मैंने तो पतिकी सत्ता चलाना शुरू कर दिया।

४. पतित्व

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ उन दिनों निबन्धोंकी छोटी-छोटी किताबें — एक-एक पैसे या एक-एक पाईकी — प्रकाशित होती रहती थीं। इनमें दम्पती प्रेम, कम-खर्ची, बाल-विवाह आदि विषयोंकी चर्चा रहती थी। इनमेंसे कोई-कोई निबन्ध हाथमें पड़नेपर मैं पढ़ जाता। यह तो मेरा स्वभाव ही था कि पढ़े हुए में जो पसन्द न आता, मैं उसे भूल जाता और जो पसन्द आता, उसपर अमल करता। मैंने पढ़ा कि एक-पत्नीव्रत पालन करना पतिका धर्म है। बात हृदयमें बैठ गई। सत्यके प्रति उत्साह तो था ही। इसलिए पत्नीको धोखा तो दे ही नहीं सकता था और इसलिए यह भी समझमें आ गया कि दूसरी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। छोटी उम्रमें तो एकपत्नीव्रतके टूटनेकी सम्भावना बहुत कम ही रहती है।

किन्तु इन सब विचारोंका एक बुरा परिणाम हुआ। विचार आया कि अगर मुझे एकपत्नीव्रतका पालन करना है तो पत्नीको भी पतिव्रत धर्म पालना चहिए। इस विचारके कारण मैं ईर्ष्यालु पति बन गया। 'पालन करना चाहिए' में से मैं 'पालन कराया जाना चाहिए' तक पहुँच गया और यदि पालन करवाना है तब फिर मुझे पत्नी पर निगाह रखनी चाहिए। पत्नीकी पवित्रताके विषयमें शंकाका कोई कारण नहीं था। किन्तु ईर्ष्या-बुद्धि, कारण क्यों देखने लगी! मुझे मालूम रहना ही चाहिए कि मेरी स्त्री कहाँ गई है, इसलिए वह मेरी अनुमतिके बिना कहीं जा ही नहीं सकती। यह बात हम दोनोंके बीच कष्टकारी कलहका कारण बन गई। बिना अनुमतिके कहीं भी न जा सकना तो एक तरहकी कैद ही हो गई। कस्तूरबाई ऐसी कैद सहन करनेके लिए तैयार नहीं थी। जहाँ इच्छा होती वहाँ मुझसे बिना पूछे

चली जाती। मैं जैसे-जैसे दबाव डालता वह वैसे-वैसे और भी अधिक स्वतन्त्रतासे काम लेती और मै अधिकाधिक चिढ़ता। इस कारण हम बालकोंके बीच अबोला रहना एक साधारण बात बन गई। कस्तूरबाईने इस तरह जो स्वतन्त्रता बरती उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। कोई बालिका जिसके मनमें पाप नहीं है देव-दर्शनके लिए या किसीसे मिलनेके लिए जानेकी बातको लेकर किसीका दबाव क्यों सहन करे? यदि मैं उसपर दबाव डालता हूँ, तो वह मुझपर क्यों न डाले? किन्तु ये बातें तो अब समझमें आती हैं। उस समय तो मुझे अपना पतित्व सिद्ध करना था।

फिर भी पाठक यह न मान लें कि हमारे घरेलू जीवनमें कहीं कोई मिठास नहीं थी। मेरे टेढ़ेपनका मूल भी प्रेममें ही था। मैं अपनी पत्नीको आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। भावना यह थी कि वह स्वच्छ बने, स्वच्छ रहे, जो मै सीखूँ सो वह सीखे, जो मैं पढ़ूँ सो वह पढ़े और हम दोनों एक-दूसरेमें ओतप्रोत हो जायें।

मैं नहीं कह सकता कि कस्तूरबाईमें यह भावना थी या नहीं। वह निरक्षर थी। स्वभावसे सीधी, स्वतन्त्र, मेहनती और मेरे साथ तो कम बोलनेवाली थी। उसे अपने अज्ञानके प्रति असन्तोष नहीं था। बचपनकी अपनी उस उम्रमें मुझे ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि मुझे पढ़ते देखकर वह भी अपने पढ़नेकी बात सोचती है और उसे अच्छा मानती है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि मेरी यह भावना इकतरफा थी। मेरा विषय-सुख एक ही स्त्रीपर निर्भर था और मैं उस सुखका प्रतिदान चाहता था। एक पक्षकी ओरसे भी जहाँ प्रेम होता है, वहाँ दुःख सर्वांशमें तो नहीं ही होता।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं अपनी स्त्रीके प्रति विषयासक्त था। पाठशालामें पढ़ते हुए भी उसके बारेमें विचार आते रहते। यह ध्यान बना ही रहता कि कब रात हो और कब हम लोग मिलें। वियोग असह्य था। निरर्थक बातचीत करके मैं कस्तूरबाईको सोने न देता। यदि इस आसक्तिके साथ-साथ मैं कर्त्तव्य-परायण न होता तो व्याधिग्रस्त होकर कालके गालमें समा जाता अथवा जीता भी तो बुरे हालों। अपने इन विचारोंके कारण कि सवेरा होते ही नित्य-कर्म तो करने ही चाहिए, किसीको धोखा तो दिया ही नही जा सकता — मैं कितने ही संकटोंसे बचा हूँ।

मैं कह गया हूँ कि कस्तूरबाई निरक्षर थी। मै उसे पढ़ानेके लिए बहुत उत्सुक था। किन्तु मेरी विषयवासना मुझे पढ़ानेका अवसर कैसे देती? एक तो पढ़ानेमें जबरदस्ती करनी थी, दूसरे पढ़ाना रातके एकान्तमें ही हो सकता था। बड़ोंके सामने तो स्त्रीकी तरफ देखनेकी बात भी नहीं उठती थी — बातचीत करना तो दूर है। काठियावाड़में उन दिनों घूँघट काढ़नेका निकम्मा और गँवारू रिवाज था। वह आज भी बहुत हद तक मौजूद है। इसलिए पढ़ानेके संयोग कठिन बैठते थे। इन्हीं कारणोंसे जवानीमें पढ़ानेके जितने प्रयत्न किये, मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वे सब लगभग निष्फल गये। और जब मैं विषयकी सुषुप्तिसे जागा तब सार्वजनिक जीवनमें कूद चुका था और ऐसी स्थिति नहीं बची थी कि अधिक समय दे सकता। शिक्षकके

मार्फत पढ़वानेके मेरे प्रयत्न भी निष्फल गये। इसी कारण आज भी कस्तूरबाई मुश्किलसे पत्र लिख सकती है और साधारण गुजराती समझ सकती है। मेरा ख्याल है कि अगर मेरा प्रेम विषयसे लांछित न होता, तो आज वह एक विदुषी स्त्री होती। पढ़ाईके प्रति उसके निरुत्साहको मैं जीत सकता था। मै जानता हूँ कि शुद्ध प्रेमके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

अपनी पत्नीके प्रति विषयासक्त होते हुए भी एक हद तक मैं किस प्रकार बच सका, उसका एक कारण मैं बता चुका हूँ। और भी एक कारण बताने योग्य है। सैकड़ों अनुभवोंके आधारपर मै इस निष्कर्ष पर पहुँच गया हूँ कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसे प्रभु स्वयं उबार लेते है। हिन्दुओंमें यदि बाल-विवाहका घातक रिवाज है तो उसीके साथ एक ऐसा रिवाज भी है जो उसमेंसे थोड़ी-बहुत मुक्ति दे देता है। बाल वर-वधूको माता-पिता लम्बे समय तक साथ-साथ नहीं रहने देते। बाल-वधूका आधेसे भी अधिक समय पीहरमें बीतता है। मेरे विषयमें भी यही हुआ। अर्थात् तेरहसे उन्नीस सालकी उम्र तक हम लोग कुल मिलाकर तीन सालसे अधिक समय तक साथ नहीं रहे होंगे। छः-सात महीने साथ रहते कि पीहरसे बुलावा आ ही जाता। उस समय तो यह बुलावा बहुत अखरता था। किन्तु हम दोनों उसीके कारण बचे। इसके बाद अट्ठारह वर्षकी उम्रमें मैं विलायत चला गया जिससे खासे लम्बे वियोगका असर आया। विलायतसे लौटनेपर भी हम लोग करीब छः महीने ही साथ में रहे होंगे, क्योंकि मुझे राजकोट और बम्बईके बीच आते-जाते रहना पड़ता था। इतनेमें दक्षिण आफ्रिकासे निमन्त्रण आ गया। इस बीच मैं भली-भाँति जागृत हो चुका था।

५. हाई स्कूलमें

मैं लिख चुका हूँ कि जब विवाह हुआ तब मैं हाई-स्कूलमें पढ़ता था। हम तीनों ही भाई उन दिनों एक ही स्कूलमें पढ़ते थे। जेठे भाई ऊपरके दर्जेमें थे और जिनके विवाहके साथ मेरा विवाह हुआ था वे भाई मुझसे एक दरजा आगे थे। ब्याहके परिणामस्वरूप हम दोनों भाइयोंका एक-एक वर्ष बेकार गया। मेरे भाईके लिए तो परिणाम इससे भी बुरा हुआ। विवाहके बाद वे पाठशालामें पढ़ ही न सके। ईश्वर ही जाने, कितने युवकोंको ऐसे अनिष्ट परिणामका सामना करना पड़ता होगा। विद्याभ्यास और विवाह केवल हिन्दू समाजमें ही साथ-साथ देखे जाते हैं।

मेरी पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूलमें मेरी गिनती मूर्ख विद्यार्थियोंमें नहीं थी। शिक्षकोंका प्रेम तो मुझे हमेशा प्राप्त हो जाता था। प्रतिवर्ष विद्यार्थी और आचरणके विषयमें माता-पिताके पास प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें मेरे आचार-व्यवहार और पढ़नेके खराब होनेकी बात कभी नहीं लिखी गई। दूसरी कक्षाके बाद मैंने इनाम भी पाये और पाँचवीं तथा छठी कक्षामें मुझे क्रमशः चार और दस रुपयेकी छात्रवृत्ति भी मिली। इसमें मेरी होशियारीकी अपेक्षा मेरे भाग्यने ही अधिक साथ दिया।

ये छात्रवृत्तियाँ सभी विद्यार्थियोंके लिए खुली नहीं थीं। केवल सोरठवासियोंमें प्रथम आनेवाले विद्यार्थीके लिए थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियोंकी कक्षामें उन दिनों सोरठ प्रान्तके विद्यार्थी हो ही कितने सकते थे?

मुझे स्वयं तो यही याद है कि मुझे अपनी होशियारीका कोई गर्व नहीं था। पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिल जाती तो मुझे आश्चर्य होता था। किन्तु अपने व्यवहारके विषयमें मैं बहुत सतर्क था। व्यवहार-दोष हो जानेपर मैं रो ही पड़ता था। मेरे हाथोंसे यदि ऐसा कोई काम हो जाता जिससे शिक्षकको मुझे डाँटना पड़ता अथवा शिक्षकको ऐसा आभास भी हो जाता तो मुझे बात असह्य हो जाती थी। मुझे एक बार मार खानेका स्मरण है। दुःख मार खानेका नहीं था बल्कि इस बातका था कि मुझे दण्डका पात्र समझा गया। मैं तब बहुत रोया था। यह बात पहली या दूसरी कक्षाकी है। दूसरा प्रसंग सातवीं कक्षामें आया। दोराबजी एदलजी गीमी हैडमास्टर थे। वे विद्यार्थियोंको प्रिय थे क्योंकि वे उनसे नियमोंका पालन करवाते, स्वयं व्यवस्थित रीतिसे काम करते, काम लेते और बहुत अच्छी तरह पढ़ाते थे। उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंके लिए उन्होंने व्यायाम और क्रिकेटका खेल अनिवार्य कर दिया था। मुझे इसमें रुचि नहीं थी। इनके अनिवार्य बनाये जानेके पहले मैं कभी कवायद, क्रिकेट या फुटबालमें गया ही नहीं था। इसका एकमात्र कारण था मेरा संकोची स्वभाव। अब समझमें आता है कि उनके प्रति मेरी वह अरुचि भूल थी। मुझे तब यह गलत-फहमी थी कि शिक्षाके साथ व्यायामका कोई सम्बन्ध नहीं है। बादमें समझा कि व्यायाम अर्थात् शारीरिक शिक्षाका स्थान अभ्यास-क्रममें मानसिक शिक्षाके समान ही होना चाहिए।

फिर भी यह कह देना चाहिए कि कवायदके लिए न जानेसे मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ। कारण यह रहा कि पुस्तकोंमें मैंने खुली हवामें घूमनेकी सलाहके विषयमें पढ़ा था और वह बात मुझे रुची भी थी। इस कारण हाई स्कूलकी उच्च शिक्षामें पहुँचते ही मुझे खुली हवामें घूमनेकी आदत पड़ गई थी। वह अन्त तक बनी रही। घूमना भी आखिरकार व्यायाम तो है ही और उससे मेरा शरीर किसी हदतक सुगठित बन गया है।

उक्त अरुचिका दूसरा कारण था पिताजीकी सेवा करनेकी तीव्र इच्छा। छुट्टी होते ही पाठशालासे मैं सीधा घर पहुँचता और उनकी सेवामें लग जाता। कवायद आदिके अनिवार्य हो जानेपर इस सेवामें बाधा आने लगी। मैंने प्रार्थना की कि मुझे पिताजीकी सेवा करनेके लिए कसरतसे छुट्टी दे दी जाये। किन्तु गीमी साहब ऐसी छूट देनेके लिए तैयार नहीं हुए। शनिवारका दिन था और स्कूल सुबहका था। किन्तु उसके बाद शामको चार बजे फिर कसरतके लिए जाना था। आसमान बादलोंसे घिरा हुआ था और मेरे पास घड़ी नहीं थी, इसलिए समयका ठीक अन्दाज नहीं लगा सका। बादलोंके कारण धोखा हो गया। जब कसरतके लिए पहुँचा तो देखा सब जा चुके थे। दूसरे दिन गीमी साहबने हाजिरीका खाता देखा और मैं गैर-हाजिर पाया गया। कारण पूछनेपर मैंने सही-सही कारण बता दिया। उन्होंने उसे सच नहीं

माना और मुझपर एक या दो आना (ठीक रकम याद नही है) जुरमाना कर दिया।

मैं झूठा सिद्ध हुआ, इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ और मै सोचने लगा कि यह कैसे सिद्ध करूँ कि मैं झूठा नही हूँ। कोई उपाय नहीं सूझा। मेरा मन दुखी हो गया और मै रोया भी। मैंने यह बात भी समझ ली कि सच बोलनेवाले और सच्चा काम करनेवालेको गफलत भी कभी नही करनी चाहिए। विद्याभ्यासके दिनोंमें इस तरहकी यह मेरी पहली और आखिरी गफलत थी। मुझे ऐसा कुछ याद है कि अन्तमें मैंने यह जुरमाना माफ करवा लिया था। बादमें कसरतसे तो मैंने मुक्ति पा ही ली थी। पिताजीने प्रधान शिक्षकको पत्र लिखा कि उन्हें अपनी सेवाके लिए मेरी जरूरत है और इसलिए मुझे मुक्ति मिल गई।

व्यायामकी जगह घूमनेका नियम बनाए रखनेसे शरीरको व्यायाम न देनेकी भूलके बदले शायद मुझे कोई सजा नहीं भोगनी पड़ी; किन्तु अन्य एक भूलकी सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। समझमें नहीं आता, मेरा यह ख्याल कैसे बन गया कि विद्याभ्यासमें सुन्दर अक्षर लिखना जरूरी नही है। यह ख्याल विलायत जाने तक बना ही रहा। बादमें और खास कर दक्षिण आफ्रिका पहुँचकर जब मैंने वहाँके वकीलों और दक्षिण आफ्रिकामें जन्मे और पढ़े-लिखे नवयुवकोंके मोतीके दानों जैसे अक्षर देखे तो मैं मनमें लज्जित हो गया और मुझे पछतावा हुआ। मुझे लगा कि असुन्दर अक्षर अधूरी शिक्षाकी निशानी हैं। बादमें मैंने अपने अक्षर सुधारनेकी कोशिश की किन्तु पक्के घड़े पर दूसरा गला कैसे जोड़ा जा सकता है। तरुणाईमें मैंने जिस बातकी उपेक्षा की, फिर उसे आज तक हस्तगत नही कर सका। मेरे उदाहरणसे प्रत्येक तरुण और तरुणीको सबक लेना चाहिए कि सुन्दर अक्षर लिखना विद्याका आवश्यक अंग है। अच्छा लिखना सीखनेके लिए चित्रकला सिखाई जानी चाहिए। मैं तो यह मानने लगा हूँ कि बालकोंको पहले चित्रकला ही सिखाई जानी चाहिए। जिस तरह बालक पक्षियों और अन्य वस्तुओंको देखकर उन्हें पहचानने लगता है उसी प्रकार वह अक्षर पहचानना सीखे और चित्रकला सीख लेनेके बाद जब चित्र आदि बनाने लगे तभी अक्षर लिखना सीखे। उस हालतमें उसके अक्षर छपे अक्षरोंके समान खूबसूरत होंगे।

विद्याभ्याससे सम्बन्धित इस अवधिके दो और संस्मरण उल्लेखनीय हैं। विवाहके कारण मेरा जो एक साल नष्ट हो गया था, दूसरी कक्षाके शिक्षकने उसे बचा लेनेका सुझाव मेरे सामने रखा। परिश्रमी विद्यार्थीको इसकी इजाजत मिल जाया करती थी। इस कारण तीसरी कक्षामें छः महीने रहनेके बाद गर्मीकी छुट्टियोंसे पहले होनेवाली परीक्षाके तुरन्त बाद मुझे चौथी कक्षामें बिठाल दिया गया। इस कक्षासे थोड़ी-बहुत पढ़ाई अंग्रेजीमें होने लगती है। [विषय]मेरी समझमें न आते। रेखा-गणित भी इसी कक्षासे शुरू होती थी। मैं उसमें एक तो पिछड़ा हुआ ही था, तिसपर मैं भाषा भी समझ नहीं पाता था। रेखागणितके शिक्षक अच्छी तरह समझाते, किन्तु मेरी समझमें कुछ न आता। मैं कई बार निराश हो जाता। कई बार सोचता कि एक ही साल में दो कक्षाएँ उत्तीर्ण करनेका विचार छोड़कर मैं तीसरी कक्षामें लौट

जाऊँ। किन्तु ऐसा करता तो मेरी बात बिगड़ती और जिस शिक्षकने मेरी लगन पर भरोसा रखकर मुझे आगे चढ़ानेकी सिफारिश की थी, उसकी भी बात बिगड़ती। यही सोचकर नीचेके दरजेमें जानेका विचार तो छोड़ ही दिया। जब प्रयत्न करते-करते यूक्लिडके तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा तब एकाएक यह बात समझमें आई कि रेखागणित तो एक बहुत ही सरल विषय है। जिस बातमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल प्रयोग ही आवश्यक हो, उसमें कठिनाई क्या? उसके बाद तो रेखागणित मेरे लिए हमेशा एक सरल और सरस विषय बना रहा।

संस्कृतने तो मुझे रेखागणितसे भी अधिक परेशान किया। रेखागणितमें रटनेका तो कुछ होता ही नहीं है, जब कि मेरी समझमें संस्कृतमें तो सब रटना ही रटना था। यह विषय भी चौथी कक्षासे शुरू हुआ था। छठी कक्षा तक पहुँचकर मैं बिलकुल थक गया। संस्कृत शिक्षक बड़े सख्त थे। उन्हें विद्यार्थियोंको बहुत कुछ बता देनेका लोभ रहता। फिर संस्कृत और फारसीके वर्गके बीच एक तरहकी होड़ भी चलती। फारसी सिखानेवाले मौलवी साहब नरम थे। विद्यार्थीगण आपसमें बात करते कि फारसी तो बहुत आसान है और फारसीके हमारे शिक्षक बहुत भले आदमी हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं वे उतनेसे ही सन्तोष कर लेते हैं। फारसीके आसान होनेकी बात सुनकर मुझे भी लोभ हुआ और मैं एक दिन फारसीकी कक्षामें जा बैठा। संस्कृत शिक्षकको इससे बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा: "यह तो सोच कि तू किनका पुत्र है। क्या तू अपनी धर्मभाषा नहीं सीखेगा? तुझे जो कठिनाई हो, मुझसे कह। मैं तो सभी विद्यार्थियोंको सरस संस्कृत सिखाना चाहता हूँ। आगे चलकर उसमें रसके घूँट मिलेंगे। तुझे इस तरह हार नहीं माननी चाहिए। तू फिरसे मेरी कक्षामें बैठा कर।"

मुझे यह सुनकर लज्जा आई। शिक्षकके प्रेमकी अवगणना मैं नहीं कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टरका उपकार मानती है। जितनी संस्कृत मैंने उन दिनों सीखी, यदि उतनी भी न सीखी होती, तो आज संस्कृत शास्त्रोंका जो रस मैं ले सकता हूँ, उतना भी न ले पाता। मुझे तो इस बातका पश्चात्ताप होता है कि मैंने अधिक संस्कृत क्यों नहीं सीखी, क्योंकि बादमें मैं समझ गया कि संस्कृतका उत्तम अभ्यास किए बिना किसी भी हिन्दू बालकको नहीं रहना चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्षकी उच्च शिक्षाके पाठ्यक्रममें मातृभाषाके सिवाय राष्ट्रभाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीको स्थान दिया जाना चाहिए। इतनी भाषाओंके उल्लेखसे किसीको डर नहीं जाना चाहिए। भाषा यथा-पद्धति सिखाई जाये और विषयोंको अंग्रेजीके माध्यमसे सीखने और सोचनेका बोझ हमपर न हो तो उल्लिखित भाषाएँ सीखना बोझ तो होगा ही नहीं, एक अतिशय आनन्द देनेवाला काम होगा। फिर जो आदमी शास्त्रीय पद्धतिसे कोई एक भाषा सीख लेता है, उसके लिए दूसरी भाषाका ज्ञान सुलभ हो जाता है।

सच कहें तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृतको तो एक ही भाषा कह सकते हैं। इसी तरह फारसी और अरबी भी एक कही जा सकती हैं। यद्यपि फारसी संस्कृतसे मिलती जुलती है, और अरबी हिब्रूसे, फिर भी दोनोंका विकास इस्लामके प्रादुर्भावके

बाद हुआ है, इसलिए इन दोनोंके बीच निकटका सम्बन्ध है। उर्दूको मैंने अलग भाषा नहीं गिना, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिन्दीमें हो जाता है। उसके शब्द अवश्य अरबी और फारसीके हैं। ऊँचे दरजेकी उर्दू जाननेके लिए अरबी और फारसीका ज्ञान जरूरी है; ठीक इसी प्रकार जैसे ऊँचे दर्जेकी गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जाननेके लिए संस्कृतका ज्ञान आवश्यक है।

६. दुःखद प्रसंग – १

मैं कह चुका हूँ कि हाई स्कूलमें मेरे घनिष्ठ मित्र थोड़े ही थे। जिन्हें घनिष्ठ कहा जा सके विभिन्न समयोंमें मेरे ऐसे दो मित्र रहे। एकका सम्पर्क लम्बे समय तक नहीं चला, यद्यपि उस मित्रका त्याग मैंने नहीं किया था। मैंने दूसरेसे[1] मित्रता की, इसलिए पहलेने मेरा साथ छोड़ दिया। दूसरी मित्रता मेरे जीवनका दुःखद अध्याय है। यह मित्रता काफी बरसों तक चली। इस मित्रतामें मेरी दृष्टि मित्रको सुधारनेकी थी।

उक्त सज्जन पहले मेरे मँझले भाईके मित्र थे। वे मेरे भाईकी कक्षामें पढ़ते थे। उनमें जो दोष थे उन्हें तो मैं समझ गया था। किन्तु मैंने यह सोचा था कि वे वफादार मित्र हैं। मेरी माताजी, मेरे बड़े भाई और मेरी धर्मपत्नी, तीनोंको, मेरा-उनका साथ अप्रिय लगता था। पत्नीकी चेतावनीको अभिमानी पति होनेके कारण मैं गिनता ही कैसे? माताकी आज्ञाका मैं कभी उल्लंघन नहीं करता था और बड़े भाईकी बात भी सुनता था। पर मैंने उन्हें यह कहकर मना लिया: "आप उसके जो दोष बताते हैं उन्हें मैं जानता हूँ। तथापि आप उसके गुण तो नहीं जानते। वह मुझे उलटे रास्ते नहीं ले जायेगा; क्योंकि मैंने उसका जो साथ किया है सो उसे केवल सुधारनेके लिए किया है। मुझे विश्वास है कि अगर वह सुधर गया तो बहुत अच्छा आदमी बन सकेगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे विषयमें निश्चिन्त रहें।"

मेरे इस तरह कहनेसे उन्हें सन्तोष हो गया हो, ऐसा मैं नहीं मानता। किन्तु मुझ पर विश्वास रखकर उन्होंने मुझे अपने मनचाहे रास्ते पर चलने दिया।

आगे चलकर मैंने देखा कि मेरा अनुमान ठीक नहीं था। किसीका सुधार करनेके लिए ही व्यक्तिको गहरे पानीमें नहीं उतर जाना चाहिए। हम जिसे सुधारना चाहते हैं उसे मित्र नहीं बनाया जा सकता। मित्रतामें अद्वैत-भावना होती है। ऐसी मित्रता संसारमें कदाचित् ही देखनेमें आती है। मित्रता समान गुणवानोंके बीच ही शोभा पाती है और निभती है। मित्रोंका एक-दूसरेके ऊपर असर पड़े बिना रह ही नहीं सकता। इसलिए मित्रतामें सुधार करनेकी गुंजाइश बहुत कम रहती है। मेरा तो यह मन्तव्य है कि घनिष्ठ मित्रता इष्ट नहीं है, क्योंकि मनुष्य दुर्गुणोंको जल्दी ग्रहण कर लेता है और गुण ग्रहण करनेके लिए प्रयत्न आवश्यक होता है।

१. शेख महताब, देखिए खण्ड १, पृष्ठ ६।

जो आत्माकी, ईश्वरकी, मित्रता चाहता हो उसका एकाकी रहना योग्य है। या फिर उसे सारे संसारके साथ मित्रता रखनी चाहिए। ऊपरका मेरा ख्याल सही हो चाहे गलत, किन्तु घनिष्ठ मित्रताके विकासका मेरा प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ।

जब मैं उक्त मित्रके सम्पर्कमें आया उन दिनों राजकोटमें 'सुधार' का बड़ा जोर था। उक्त मित्रने मुझे ऐसा बताया कि अनेक हिन्दू शिक्षक लुक-छिप कर मांसाहार और मद्यपान करते हैं। उन्होंने राजकोटके अन्य प्रसिद्ध सज्जनोंके नाम भी गिनाये। हाईस्कूलके कुछ विद्यार्थियोंके नाम भी मुझे बताये गये।

इससे मुझे आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी। जब मैंने पूछा कि ये लोग ऐसा क्यों करते हैं तो उन्होंने मुझे यह समझाया कि मांसाहार न करनेके कारण हम समाजके रूपमें शक्तिहीन हो गये हैं। अंग्रेज हमपर इसीलिए राज्य करते हैं कि वे लोग मांसाहारी हैं। तुम यह तो जानते ही हो कि मैं स्वयं कितना मजबूत हूँ और कितनी दूर-दूर तक दौड़ सकता हूँ। इसका कारण भी मांसाहार ही है। मांसाहारीको फोड़े नहीं होते और यदि हों भी तो जल्दी अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षकगण मांस खाते हैं। अन्य इतने नामी-गरामी आदमी मांस खाते हैं। तो क्या वे बिना सोचे-समझे ऐसा करते हैं? तुम्हें भी मांसाहार करना चाहिए। खाकर देखो तो तुम्हें पता चलेगा कि तुममें भी इससे कितनी ताकत आ गई है।

ये सारी दलीलें एक ही बारमें पेश नहीं की गई थीं। अनेक उदाहरणोंके साथ-साथ इन दलीलोंको अलग-अलग समयों पर पेश किया गया था। मेरे मँझले भाई तो पथभ्रष्ट हो ही चुके थे। उन्होंने इन सब बातोंकी पुष्टि की। अपने भाई और इस मित्रकी तुलनामें मैं बहुत कमजोर था। उनके शरीर कही अधिक सुगठित थे। उनके शरीरमें मुझसे कही अधिक बल था। वे साहसी थे। उक्त मित्रका पराक्रम तो मुझे मुग्ध कर देता था। वह चाहे जितना दौड़ सकते थे। लम्बी और ऊँची कूद लगा सकते थे और उनकी मार-पीट बरदाश्त करनेकी शक्ति भी जबरदस्त थी। अपनी इस शक्तिका प्रदर्शन भी वह मेरे सामने समय-समयपर करते रहे थे। जो शक्ति स्वयं अपनेमें नहीं होती, दूसरेमें उसे देखकर आश्चर्य होता ही है। मुझे भी हुआ। आश्चर्यसे मेरे मनमें मोह पैदा हुआ। दौड़ने-कूदनेकी शक्ति मुझमें नहीके बराबर थी। मै सोचने लगा कि यदि मैं अपने इन मित्रकी तरह बलवान हो जाऊँ तो कितना अच्छा हो।

फिर मै डरपोक भी बहुत था। चोर-भूत, साँप आदिका डर मनमें समाया रहता था। मै इन सबके भयसे बड़ा परेशान रहता। रातमें कहीं अकेले निकलनेकी हिम्मत न पड़ती थी। अँधेरेमें तो कहीं जाता ही नहीं था। कमरेमें दीपक न हो, तो सोना लगभग असम्भव था। यही लगता रहता, कही इधरसे भूत, उधरसे चोर या किसी तीसरी तरफसे सर्प न निकल आये। इसलिए कमरेमें दिया तो चाहिए ही। अपने पास सोई हुई अपनी पत्नीसे जो अब कुछ बड़ी हो गई थी, अपने डरकी यह बात तो मैं कह ही कैसे सकता था। मैं समझ चुका था कि वह मुझसे कहीं अधिक साहसी है और इसलिए मन ही मन इसपर शर्माता भी था। साँप आदिका भय तो उसे कभी हुआ ही नहीं। वह अँधेरेमें अकेली चली जाती थी। मेरी इन कमजोरियोंका मित्रको अन्दाज था। वह कहा करते कि मैं तो जीवित सर्पको हाथसे

पकड़ लेता हूँ, चोरसे कभी नहीं डरता और भूतको तो मानता ही नहीं हूँ। उन्होंने मुझे यह पटा दिया कि यह सब मांसाहारका प्रताप है।

इन्हीं दिनों नर्मद[1]का नीचे लिखा पद स्कूलोंमें गाया जाता था:

अंग्रेजो राज्य करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पाँच हाथ पूरा, पूरो पाँचसेंने।[2]

इन सारी बातोंका मनपर गहरा प्रभाव हुआ। मैं विचलित हो गया। मैं मानने लगा कि मांसाहार अच्छी बात है और मैं उससे बलवान और साहसी बन जाऊँगा। यदि समूचा देश मांसाहार करने लगे तो अंग्रेजोंको हराया जा सकता है।

मांसाहार आरम्भ करनेका दिन निश्चित किया गया। सभी पाठक इस निश्चय, इस आरम्भका अर्थ नहीं समझ सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव सम्प्रदायका है। मातापिता कट्टर वैष्णव माने जाते थे। नित्य हवेलीमें (वैष्णव-मन्दिर) जाते। कुछ मन्दिर तो परिवारके ही कहे जाते थे। इसके सिवाय गुजरातमें जैन सम्प्रदायका भी बड़ा जोर है। हर जगह, हर बातमें इसका प्रभाव देखनेमें आता है। इसलिए मांसाहारका जैसा विरोध और तिरस्कार गुजरातमें श्रावकों और वैष्णवोंके बीचमें देखा जाता है वैसा हिन्दुस्तानमें अथवा सारे संसारमें और कहीं नहीं पाया जाता। मेरे संस्कार ऐसे ही थे। मैं माता-पिताका परम भक्त था और मानता था कि वे मेरे मांसाहारकी बात सुनेंगे तो तत्काल बिना मौत मर जायेंगे। जाने-अनजाने मैं सत्यका अनुगामी तो था ही। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस बातका मुझे ज्ञान नहीं था कि मांसाहारका अर्थ माता-पिताको धोखा देना है। ऐसी हालतमें मांसाहार करनेका मेरा निश्चय मेरे लिए एक बड़ी गम्भीर और भयंकर बात थी। लेकिन मैं 'क्रान्ति' करने जा रहा था। मांसाहारका मुझे शौक नहीं था। मांसाहार मैं यह सोचकर शुरू नहीं कर रहा था कि वह कोई स्वादिष्ट वस्तु है। मैं तो बलवान और साहसी बनना चाहता था। और दूसरोंको भी वैसा ही बननेके लिए आमन्त्रित करना चाहता था। इसके सिवा अंग्रेजोंको हराकर हिन्दुस्तानको आजाद जो बनाना था। उस समय तक स्वराज्य शब्द मैंने नहीं सुना था। फिर भी 'क्रान्ति' के इस जोशमें मैं होश खो बैठा।

७. दुःखद प्रसंग – २

निश्चित किया हुआ दिन आ पहुँचा। मेरे लिए अपनी स्थितिका पूरा-पूरा वर्णन करना कठिन है। एक तरफ क्रान्तिका उत्साह था, जीवनमें महत्वपूर्ण परिवर्तन करनेकी उत्सुकता थी और दूसरी तरफ चोरकी तरह लुक-छिप कर काम करनेकी शर्म। कह नहीं सकता, इन सब भावनाओंमें मुख्य भावना कौन-सी थी। हम एकान्तकी

१. १८३३-८६; गुजराती कवि, अर्वाचीन गुजरातीके निर्माता।

२. अंग्रेज राज्य करते हैं और हिन्दुस्तानी उनसे दबकर रहते हैं। दोनोंके शरीरका अन्तर तो देखो। हर अंग्रेज पँचहत्था जवान है और उनमेंसे एक-एक पाँच-पाँच सौ व्यक्तियोंके लिए काफी है।

खोजमें नदीकी ओर गये। काफी दूर जाकर ऐसा एकान्त मिल गया जहाँ हमें कोई नहीं देख सकता था और वहाँ मैंने वह वस्तु देखी जो पहले कभी नहीं देखी थी—मांस। मांसके साथ भटियारखानेकी बनी डबल-रोटी थी। दोनोंमेंसे एक चीज भी मुझे अच्छी नहीं लगी। मांस चमड़े जैसा लगता था। खाना असम्भव हो गया। मुझे उल्टी होने लगी और खाना छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बहुत ही बुरी बीती। नींद नहीं आई। स्वप्नमें ऐसा लगता मानो शरीरके भीतर जिन्दा बकरा है और मिमिया रहा है। मैं चौंक-चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मुझे हिम्मत नहीं हारनी है, मांसाहार तो करना ही है।

मित्र भी हार माननेवाले नहीं थे। अब उन्होंने तरह-तरहसे मांसको पकाने-सजाने और उसका रूप बदलनेका उपाय किया। नदीके किनारे ले जानेके बजाय किसी बावर्चीसे तय करके चुपचाप एक सरकारी डाक-बँगले पर व्यवस्था की और वहाँ कुर्सी-मेज वगैरा पर बैठकर खानेका प्रलोभन प्रस्तुत किया।

इसका असर हुआ। डबल रोटीकी ओर नफरत कम हुई। बकरे पर आनेवाली दया जाती रही और मांसका तो ठीक नहीं कह सकता, पर मांससे बने पदार्थोंमें स्वाद आने लगा। एक साल बीत गया और साल-भरमें पाँच-छः बार मांसाहार किया। कारण यह था कि डाक-बँगला मिलना सदा सुलभ न रहता और सदा मांसके स्वादिष्ट पदार्थ भी तैयार करवाना सहज नहीं था। फिर इस तरहके भोजनपर खर्च भी होता था। मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी। मैं तो कुछ दे ही नहीं सकता था। मित्र ही खर्चकी व्यवस्था करते थे। उन्होंने कहाँसे, कैसे यह व्यवस्था की इसका तो मुझे आज तक पता नहीं है। उनका मंशा तो मुझे मांसाहारी बना देना, मुझे भ्रष्ट कर देनेका ही था, इसलिए वे अपने पाससे खर्च करते थे। पर उनके पास भी कोई अक्षय भण्डार नहीं था। इसलिए ऐसी दावतें यदा-कदा ही हो पाती थीं।

जब-जब मुझे यह खाना मिलता, तब-तब घर पर भोजन करना सम्भव नहीं रह जाता था। माँ भोजनके लिए बुलातीं तो भूख न होने या भोजन हजम न होनेके बहाने बनाने पड़ते थे। हमेशा इस तरह झूठ बोलते हुए मेरा मन कसकता था। झूठ और सो भी माँ के सामने। फिर अगर माता-पिताको मालूम हो जाये कि लड़का मांसाहारी हो गया है तो उनपर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे हृदयको कुतरते रहते थे।

इसलिए मैंने निश्चय किया कि, "मांस खाना आवश्यक है, उसका प्रचार करके हम देशको सुधारेंगे भी, किन्तु माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस न खानेसे भी खराब है। इसलिए माता-पिताके जीते-जी मुझे मांस नहीं खाना चाहिए। उनका देह छूट जानेके बाद स्वतन्त्र हो जाने पर खुले तौरसे मांस खाना चाहिए और तबतक मुझे मांसाहार छोड़ देना चाहिए।"

अपना यह निश्चय मैंने मित्र पर प्रकट कर दिया और तबसे मांसाहार जो छूटा सो छूट ही गया। माता-पिता कभी यह जान ही नहीं पाये कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार छोड़ा, किन्तु उस मित्रकी मित्रता नहीं छोड़ी। मैं उसे सुधारने चला था किन्तु खुद ही गिर गया। और इस गिरनेका मुझे भान तक नहीं हुआ।

इसी संगतिके कारण मैं व्यभिचारमें भी फँस जाता। एक बार मेरे यह मित्र मुझे वेश्याओंकी बस्तीमें ले गये। वहाँ समझा-बुझाकर उन्होंने मुझे एक वेश्याके घरमें भेजा। मुझे स्वयं कुछ खर्च नहीं करना था, पैसे आदि दिये जा चुके थे। मुझे तो सिर्फ मन-बहलाव ही करना था। मैं उस घरमें चला तो गया, पर जिसे ईश्वर बचाना चाहता है वह स्वयं गिरनेकी इच्छा करते हुए भी पवित्र रह जाता है। उस कोठरीमें पहुँचकर जैसे मेरी आँखोंकी ज्योति ही चली गई। मेरे मुँहसे एक शब्द भी नहीं फूटा। मैं लज्जासे सन्न रह गया और उस स्त्रीके पास खटिया पर बैठ गया किन्तु कुछ बोल नहीं सका। वह गुस्सेमें आ गई। उसने मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनाई और दरवाजेकी राह दिखाई। उस समय तो ऐसा लगा मानो मेरी मर्दानगी पर लांछन आ गया हो। जी हुआ कि अगर धरती फट जाये तो मैं उसमें समा जाऊँ। किन्तु उसके बाद सदा ही मैंने अपने इस तरह बच जानेके लिए ईश्वरको धन्यवाद दिया है। चार[१] और भी ऐसे प्रसंग मेरे जीवनमें आये हैं। कहना चाहिए कि उन अधिकांश प्रसंगोंमेंसे मैं अपने प्रयत्नके कारणसे नहीं केवल परिस्थितिके कारण बचा हूँ। सच कहो तो इन प्रसंगोंमें मेरा पतन हुआ ही माना जाना चाहिए। विषयकी इच्छा करनेका अर्थ ही है कि मैंने उसका भोग कर लिया। लौकिक दृष्टिसे इच्छा करनेके बाद भी प्रत्यक्ष कर्मसे बच जाने पर हम व्यक्तिको बचा हुआ ही मानते हैं। इन प्रसंगोंमें मैं इस दृष्टिसे उसी हद तक बचा माना जाऊँगा। कुछ काम ऐसे ही हैं जिनके करनेसे बच जाना व्यक्ति और उसके सम्पर्कमें आनेवालोंके लिए बहुत लाभप्रद होता है। और जब बादमें उस व्यक्तिके विचार शुद्ध हो जाते हैं तब वह उस कामसे बच जानेके लिए ईश्वरका धन्यवाद मानता है। जिस तरह यह देखा जाता है कि मनुष्य गिरनेसे बचनेकी कोशिश करते हुए भी गिर जाता है उसी प्रकार यह भी देखा गया है कि गिरनेकी इच्छा करते हुए भी अनेक संयोग उपस्थित होकर मनुष्यको गिरनेसे बचा लेते हैं। इसमें कहाँ पुरुषार्थ है, कहाँ दैव है अथवा मनुष्य किन नियमोंके वशीभूत होकर गिरता या बचता है — ये सारे प्रश्न बुद्धिसे परे हैं। इनका हल आजतक नहीं हुआ और यह कहना भी कठिन है कि कभी हो भी सकेगा या नहीं।

किन्तु हम अब आगेकी बात लें। मैं अभी तक होशमें नहीं आया था और यह नहीं समझ पाया था कि उक्त सज्जनके साथ मित्रता रखना अनिष्टकारी है। मुझे इसके लिए अभी कुछ और कटु अनुभव होने थे। यह होश तो मुझे तब आया जब मैंने उनमें कुछ ऐसे दोष देखे जिनकी मैंने कल्पना नहीं की थी। किन्तु मैं यथासम्भव क्रमानुसार अपने अनुभव लिख रहा हूँ। इसलिए उन्हें आगे चलकर लिखूँगा।

१. देखिए खण्ड २७, पृष्ठ १११-१५।

इस कालकी एक बात तो यहीं कह देनी है। हम पति-पत्नीके बीच जो थोड़ा-बहुत मतभेद अथवा कलह उत्पन्न होता था उसके अनेक कारणोंमें यह मित्रता भी एक कारण थी। मै ऊपर कह आया हूँ कि मै पतिके रूपमें स्नेहालु होनेके साथ-साथ शंकालु भी वैसा ही था। इस मित्रताने भी मेरी शंकाशीलताको बढ़ानेमें हाथ बँटाया। मुझे अपने मित्रकी सच्चाईके बारेमें कोई सन्देह नहीं था, इसलिए मैंने उसकी बातोंमें आकर अपनी धर्मपत्नीको कितने ही कष्ट पहुँचाये। उसके प्रति इस प्रकारकी हिंसाके लिए मैं अपनेको कभी माफ नहीं कर पाया। हिन्दू पत्नी ही ऐसे दुःख सहन कर सकती है और इस कारण मैंने उसे सदा सहनशीलताकी मूर्ति माना है। यदि हम नौकर पर झूठा सन्देह करें तो वह नौकरी छोड़ देता है; पुत्र इस तरह सन्देह किये जाने पर पिताका घर छोड़कर चला जाता है। मित्रोंके बीच सन्देह पैदा हो जाये तो मित्रता टूट जाती है। स्त्रीको पति पर सन्देह हो तो वह मन मसोस कर बैठी रह जाती है। और यदि पति पत्नी पर सन्देह करे तो पत्नी बेचारीका भाग्य फूट ही गया समझो। वह कहाँ जाये। उच्च कहे जानेवाले वर्णोंकी हिन्दू-स्त्री विवाहके बन्धनको अदालतमें जाकर भी नहीं कटवा सकती; उसके लिए ऐसा ही इकतरफा न्याय रखा गया है। मैं इस बातके दुःखको कभी भूल नहीं सकता कि मैंने अपनी पत्नीके साथ इसी तरहका बरताव किया।

इस सन्देहकी जड़ तो तभी कटी जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ अथवा जब मैंने ब्रह्मचर्यकी महिमाको समझा और यह समझा कि पत्नी पतिकी दासी नहीं उसकी सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरेके सुख-दुखके समान रूपसे भागीदार हैं और भला-बुरा करनेकी जितनी स्वतंत्रता पतिको हैं उतनी पत्नीको भी है। सन्देहकी उस अवधिको जब-जब याद करता हूँ, मुझे अपनी मूर्खता और विषयसे अन्धी क्रूरताकी बात सोचकर क्रोध होता है और मित्रताके बारेमें अपनी उस मिथ्या-धारणा पर मुझे दया आती है।

८. चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहार और उसके पहलेके कुछ दोषोंका वर्णन करना अभी बाकी है। ये गलतियाँ विवाहके पहले अथवा उसके तुरन्त बादकी हैं।

मेरे एक रिश्तेदारके साथ मुझे बीड़ी पीनेका शौक हुआ। हमारे पास पैसे नहीं थे। हम दोनोंमें से कोई यह तो नहीं मानता था कि बीड़ी पीना फायदेमन्द है या उसकी गन्धमें कोई आनन्द है, पर हमने सोचा कि सिर्फ धुआँ उड़ानेमें भी कोई आनन्द हो सकता है। मेरे चाचाजी बीड़ी पीते थे। उन्हें और कुछ दूसरे लोगोंको धुआँ उड़ाते देखकर हमारी इच्छा भी बीड़ी फूँकनेकी हुई। पैसे तो गांठमें थे नहीं, इसलिए चाचाजी बीड़ीके जो टुकड़े पीकर फेंक देते थे, हमने उन्हें चुराना शुरू कर दिया।

किन्तु टुकड़े जब चाहो तभी मिल जायें यह भी तो सम्भव नहीं था और फिर उनसे काफी धुआँ भी नहीं निकलता था। इसलिए हमें बीच-बीचमें नौकरकी

जेबमें पड़े दो-चार पैसोंमें से ही एकाध पैसा निकाल लेनेकी आदत पड़ गई और हम बीड़ी खरीदने भी लगे। किन्तु सवाल यह पैदा हुआ कि उन्हें रखें कहाँ। हम जानते थे कि बीड़ी बुजुर्गोंकी निगाह बचाकर ही पी जा सकती है। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुरा-चुरा कर कुछ हफ्ते निकाले। इसी बीच सुना कि एक प्रकारका पौधा होता है (उसका नाम तो भूल गया हूँ) जिसके डंठलोंको बीड़ीकी तरह जलाया जा सकता है और धुआँ भी उड़ाया जा सकता है। हम उन्हें तोड़-तोड़कर लाने लगे और पीने लगे।

किन्तु हमें सन्तोष नहीं हुआ। हमें अपनी पराधीनता खलने लगी। कुछ भी बड़ोंकी आज्ञाके बिना नहीं कर सकते, हमें इसका दुःख होने लगा। हम अब उठे और आत्महत्या करनेका निश्चय किया।

किन्तु आत्महत्या करें तो कैसे? जहर कहाँसे मिले? हमने सुना था कि धतूरेके बीज खानेसे मृत्यु हो जाती है। हम जंगलसे धतूरेके बीज ले आये। उन्हें खानेके लिए शामका समय निश्चित किया। केदारजीके मन्दिरमें घीका दीपक जलाया, उनका दर्शन किया और जहर खानेके लिए एकान्तमें जा बैठे। किन्तु जहर खानेकी हिम्मत न पड़ती। सोचते, अगर नहीं मरे तो? और मरनेसे भी क्या लाभ होगा? पराधीनता ही क्यों न बरदाश्त कर ली जाये? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खानेकी हिम्मत ही नहीं पड़ी। हम दोनों मौतसे डर गये और निश्चय किया कि भगवान रामके मन्दिरमें जाकर उनका दर्शन करें, मनको शान्त बनायें और आत्म-हत्या करनेका विचार छोड़ दें।

इस तरह मैं समझ गया कि आत्महत्याका विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं है। इसलिए जब-कभी कोई आत्महत्या करनेकी धमकी देता है तो मैं उससे बहुत नहीं डरता; बल्कि कहना चाहिए बिलकुल ही नहीं डरता।

आत्महत्याके इस विचारमें डूबे रहनेके परिणामस्वरूप हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीने और नौकरके पैसे चुराकर बीड़ी खरीदनेकी बात ही भूल गये।

और आगे बड़े होकर तो बीड़ी पीनेकी कभी इच्छा ही नहीं हुई। मैं बीड़ी पीनेको एक गँवारू, गन्दी और हानिकारक आदत मानता हूँ। मैं यह बात कभी समझ ही नहीं पाया कि दुनियामें बीड़ीका शौक इतना व्यापक क्यों है। मेरे लिए तो रेलगाड़ीके जिस डिब्बेमें बहुत लोग बीड़ी पी रहे हों, बैठना मुश्किल हो जाता है; उसके धुएँसे मेरा दम घुटने लगता है।

बीड़ीके टुकड़े चुराने और उसीके बाद नौकरके पैसे चुरानेके अपराध की तुलनामें मुझे वह एक चोरी अधिक गम्भीर प्रतीत होती है जो मैंने आगे चलकर की। चोरीसे बीड़ी पीनेके दिनोंमें मेरी उम्र बारह-तेरह सालकी रही होगी। सम्भव है इससे भी कम रही हो। किन्तु दूसरी चोरीके समय मेरी उम्र लगभग पन्द्रह सालकी थी। इस समय हमने अपने मांसाहारी भाईके हाथके सोनेके कड़ेमें से चोरी की। भाईपर मामूली-सा, लगभग २५ रुपयेका कर्ज हो गया था। हम दोनों उसको अदा करनेका उपाय ढूँढ़ रहे थे। भाईके हाथमें सोनेका ठोस कड़ा था। उसमेंसे एक तोला सोना कटवाकर बेच देना कठिन नहीं था।

कड़ा कटवाकर हमने कर्ज अदा तो कर दिया पर यह बात मेरे लिए असह्य हो गई। मैंने एक तो यह निश्चय किया कि आगे कभी चोरी नहीं करूँगा। साथ ही मुझे यह भी लगा कि पिताजीके सम्मुख अपना दोष स्वीकार कर लेना चाहिए। किन्तु ओठ नहीं खुलते थे। पिताजीके द्वारा पीटे जानेका डर नहीं था। उन्होंने कभी हममें से किसी भाईको पीटा हो, इसकी मुझे याद नहीं आती। किन्तु मुझे भय था कि वे खुद बहुत दुखी होंगे; शायद अपना सिर फोड़ लें। फिर भी मैंने सोचा कि इस बातकी जोखिम उठाकर भी दोषको स्वीकार अवश्य लेना कर चाहिए। उसके बिना पाप नहीं धुलेगा।

आखिर मैंने चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार करना और क्षमा माँगना तय किया। चिट्ठी लिखकर स्वयं जाकर हाथमें दी। चिट्ठीमें मैंने अपनी सारी गलती सामने रखी थी और उसके लिए सजा माँगी थी। यह भी लिखा था कि वे स्वयं दुखी न हों; भविष्यमें मैंने फिर ऐसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा भी की थी।

काँपते हाथोंसे मैंने पिताजीके हाथमें चिट्ठी दे दी और उनके तख्तके सामने बैठ गया। उन दिनों वे भगन्दरकी बीमारीसे पीड़ित थे और इस कारण बिस्तर पर ही रहते थे। पलँगके बदले वे लकड़ीका तख्त काममें लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी, आँखोंसे मोतीके-से बूँद टपकने लगे। चिट्ठी भीग गई। एक क्षणके लिए उन्होंने आँखें बन्द कीं और चिट्ठी फाड़ डाली। वे चिट्ठी पढ़नेके लिए बैठ गये थे, इतना करनेके बाद फिर लेट गये। मैं भी रोया। पिताजीका दुःख मेरी समझमें आ रहा था। अगर मैं चित्रकार होता तो आज भी उस दिनका चित्र हूबहू खींच सकता था। मेरी आँखोंके आगे आज भी वह इतना स्पष्ट है।

मोतीकी बूँदोंके उस प्रेमबाणने मुझे बींध दिया। मेरा पाप धुल गया। ऐसे प्रेमको तो वही जान सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो।

रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे[1]

मेरे लिए वह अहिंसाका पदार्थपाठ था। उस समय तो मैंने इसमें पिताके प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखा, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसाके रूपमें देख सकता हूँ। ऐसी अहिंसा जब व्यापक रूप धारण कर लेती है, तब ऐसा कौन है जो उसके स्पर्शसे बच सके। ऐसी व्यापक अहिंसाकी शक्तिकी थाह पा सकना असम्भव है।

शान्तभावसे इस प्रकार क्षमा कर देना पिताजीके स्वभावके विरुद्ध था। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कड़वी बातें सुनायेंगे और सम्भव है अपना सिर फोड लेंगे। किन्तु उन्होंने ऐसी अपार शान्ति रखी, इसका कारण मेरे विचारमें सरल भावसे अपराधका स्वीकार कर लिया जाना ही था। जो व्यक्ति किसी अधिकारीके सामने स्वेच्छापूर्वक निष्कपट भावसे अपना अपराध स्वीकार कर लेता है और फिर कभी उसे न दोहरानेकी प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मुझे मालूम है कि मेरी इस स्वीकृतिके कारण पिताजी मेरे विषयमें निर्भय हो गये और उनका मेरे प्रति महान प्रेम और भी बढ़ गया।

१. रामकी भक्तिका बाण जिसे लगा हो वही उसके बारेमें जान सकता है।

९. पिताजीकी मृत्यु और मेरे लिए लज्जाका एक प्रसंग

इस समय मैं सोलह वर्षका था। हम यह देख ही चुके हैं कि पिताजी भगन्दर की बीमारीके कारण बिलकुल खाटसे लग चुके थे। उनकी परिचर्यामें माताजी, घरका एक पुराना नौकर और मैं अधिकतर रहते थे। नर्सका काम मैं करता था। घाव धोना, उसमें दवा टपकाना, जरूरत पड़नेपर मरहम लगाना, दवा पिलाना और जब घरमें ही दवा तैयार करनी हो तब उसे तैयार करना, यह खास तौरपर मेरा काम था। मैं रातको हमेशा उनके पाँव दबाता और जब वे छुट्टी दे देते अथवा जब वे सो जाते तब जाकर सोना, मेरा नियम था। मुझे यह परिचर्या बहुत प्रिय लगती थी। मुझे स्मरण नहीं आता कि मै इस सेवामें कभी चूका होऊँ। यही मेरे हाई-स्कूलके अध्ययनके दिन थे। इसलिए खाने-पीने आदिके बाद जो समय बचता, वह पाठशाला अथवा पिताजीकी सेवामें ही जाता। जिस दिन वे आज्ञा दे देते और जिस दिन उनकी तबीयत ठीक रहती, मैं उस दिन शामको टहलने जाता।

इसी वर्ष पत्नी गर्भवती हुई। आज समझमें आता है कि यह एक दोहरी शर्मका प्रसंग था। एक तो इसलिए कि यह समय विद्याभ्यास का था, तो भी मैंने संयमका पालन नहीं किया। दूसरे, इसलिए कि विद्याभ्यास करना तथा माता-पिताकी सेवाको अपना धर्म समझता हुआ भी — बचपनसे ही इस विषयमें श्रवणको अपना आदर्श मानते हुए भी — विषय-वासना मेरे ऊपर सवार रह सकी, यहाँतक कि हर रातको पिताजीके पाँव दबाते हुए भी मेरा मन शयन-गृहकी ओर दौड़ता रहता था और वह भी ऐसे समय जब धर्मशास्त्र, वैद्यकशास्त्र और व्यवहारशास्त्र — सभीके अनुसार स्त्रीका संग त्याज्य था। जब मुझे सेवासे छुट्टी मिलती तब मुझे प्रसन्नता होती और पिताजीके पाँव छूकर सीधा शयन-गृहमें चला जाता।

पिताजीकी तबीयत खराब ही होती जा रही थी। वैद्योंने अपने लेप, हकीमोंने अपनी मरहम-पट्टियाँ और साधारण हज्जाम वगैराने घरेलू दवाइयाँ आजमाँईं। एक अंग्रेज डाक्टरने भी अपनी बुद्धिका प्रयोग करके देखा। उसने सुझाया कि इस रोगका एकमात्र उपाय शल्य-क्रिया ही है। परिवारके एक वैद्य-मित्रने इसमें बाधा दी और कहा कि उतरती हुई अवस्थामें पिताजीकी शल्य-क्रिया उचित नहीं है। इसके लिए तरह-तरहकी दवाओंकी जो बोतलें खरीदी गई थीं वे सब व्यर्थ गईं; शल्य-क्रिया नहीं हुई। यों वैद्यराज समझदार और प्रसिद्ध थे। मुझे लगता है कि अगर उन्होंने शल्य-क्रिया हो जाने दी होती तो घाव भरनेमें कठिनाई न होती। शल्य-क्रिया उस समयके बम्बईके प्रसिद्ध सर्जनके द्वारा होनेवाली थी, पर अन्त समीप आ गया था, इसलिए योग्य उपाय होता भी कैसे। पिताजी बम्बईसे शल्य-क्रिया कराये बिना ही वापस आ गये और इस निमित्त जो सामान खरीदा गया था, वह भी साथमें वापस आ गया। उन्होंने अधिक जीनेकी आशा छोड़ दी थी। कमजोरी बढ़ती चली गई और प्रत्येक क्रिया बिस्तरपर करनेकी स्थिति आ पहुँची। किन्तु उन्होंने इसका अन्तिम घड़ी तक विरोध किया और परिश्रम बरदाश्त करनेका आग्रह रखा। वैष्णव-धर्मका कठोर शासन ऐसा ही है। इसमें बाह्य शुद्धि अत्यन्त आवश्यक होती है।

किन्तु पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्रने यह दिखा दिया है कि मल-मूत्र विसर्जन और स्नानादिकी सारी क्रियाएँ बिस्तर पर लेटे-लेटे, स्वच्छताका पूरा पालन करते हुए की जा सकती हैं। इनके लिए रोगीको कष्ट सहनेकी जरूरत नहीं होती। इन सबके बाद भी उसका बिस्तरा आदि स्वच्छ ही बना रहेगा। इस प्रकार साधी जानेवाली स्वच्छताको मैं तो वैष्णव-धर्मका ही नाम दूँगा। पर उस समय स्नानादिके लिए बिस्तरसे उठकर अलग होनेका पिताजीका आग्रह देखकर मैं आश्चर्य-चकित होता था और मन ही मन उनकी प्रशंसा करता था।

देहावसानकी घोर रात्रि सन्निकट आ गई। मेरे चाचाजी भी उन दिनों राजकोटमें थे। मुझे ऐसा कुछ स्मरण है कि वे पिताजीकी बीमारीके बढ़ते जानेका समाचार सुनकर ही आये हुए थे। दोनों भाइयोंमें अटूट प्रेम था। चाचाजी दिन-भर पिताजीके बिस्तरके पास ही बैठे रहते और हम सबको सोनेके लिए कहकर खुद पिताजीके बिस्तरके पास सो जाते। उस दिन किसीने यह नहीं सोचा था कि यही रात आखिरी रात सिद्ध होगी। यों भय तो लगा ही रहता था।

रातके साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजीने मुझसे कहा, "तू जा। अब मैं बैठूँगा?" मैं सुनकर खुश हुआ और सीधा शयन-गृह चला गया। पत्नी बेचारी गहरी नींदमें थी। पर मैं उसे सोने कैसा देता। पाँच-सात मिनटके बाद ही, मैं जिस नौकरकी ऊपर चर्चा कर चुका हूँ, उसने आकर दरवाजा खट-खटाया। मुझे खटका हुआ। नौकरने कहा, "चलो, बापूकी तबीयत बहुत खराब है।" उनकी तबीयत बहुत खराब तो थी ही इसलिए इस 'बहुत खराब' का अर्थ मेरी समझमें आ गया और मैं एकदम बिस्तरसे कूद पड़ा।

"कह तो सही, क्या बात है?"

जवाब मिला, 'बापू नहीं रहे।'

अब पछतानेसे क्या होता था। मै बहुत शरमाया। बड़ा दुखी हुआ। दौड़कर पिताजीके कमरेमें पहुँचा। मैंने सोचा कि अगर मैं विषयसे अन्धा न हो गया होता तो अन्तिम घड़ीमें दूर रहनेकी यह नौबत न आती और मैं पिताजीके आखिरी क्षण तक उनकी सेवामें लगा रहता। अब स्वयं चाचाजीके मुखसे सुननेको मिला: "बापू हमें छोड़कर चले गये।" बड़े भाईके परमभक्त चाचाजी अन्तिम क्षणमें उनकी सेवा करनेका गौरव पा गये। पिताजीको अपने देहावसानके निकट आ जानेका अनुमान हो चुका था। उन्होंने इशारा करके कागज-कलम मँगाकर लिखा: "तैयारी करो।" इतना लिखनेके बाद उन्होंने हाथ पर बँधा हुआ तावीज और गलेमें पड़ी सोनेकी कंठी तोड़कर फेंक दी और आत्मा एक क्षणमें उड़ गई।

अध्यायके प्रारम्भमें मैंने अपनी लज्जाके प्रसंगका उल्लेख किया है। यही उस लज्जाका कारण है — सेवाके समय भी विषयकी इच्छा। इस कलंकको मैं आज तक धो नहीं सका और न भूल सका हूँ। मैं यही सोचता हूँ कि माता-पिताके प्रति मेरी गहरी भक्ति थी और मैं उनके लिए सब-कुछ छोड़ सकता था, तथापि सेवाके प्रसंगमें भी मेरा मन विषय-वासनासे मुक्त नहीं हो सका। मेरी उस सेवामें यह एक अक्षम्य

त्रुटि रही। इसीलिए मैं मानता हूँ कि एक पत्नीव्रतका पालन करते हुए भी मै विषयान्ध रहा। इस वासनासे मुक्त होनेमें मुझे बहुत समय लगा और मुक्त होनेसे पहले कई धर्म-संकट मुझपर पड़े।

अपनी इस दोहरी लाजका प्रकरण समाप्त करनेसे पहले यह भी कह दूँ कि हमारे जो बालक जन्मा वह दो-चार दिन जीकर ही चला गया। दूसरा कोई परिणाम हो भी क्या सकता था? जो माता-पिता अथवा जो बाल-दम्पत्ति इससे कुछ सबक लेना चाहें वे सबक ले लें।

१०. धर्मकी झाँकी

छः अथवा सात सालकी उम्रसे लेकर सोलह वर्षकी अवस्था तकके विद्याध्ययनकी अवधिमें मुझे पाठशालामें धर्मकी शिक्षा नहीं मिली थी। कहा जा सकता है कि शिक्षकोंके पाससे जो सहज ही मिल सकना चाहिए वह नहीं मिला। इस सबके बाद भी वातावरणसे कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहाँ धर्म शब्दको व्यापक अर्थमें लेना चाहिए। धर्म अर्थात् आत्मबोध अर्थात् आत्मज्ञान।

मैं वैष्णव सम्प्रदायमें पैदा हुआ था, इसलिए वैष्णव मन्दिरमें जाता-आता रहता था। किन्तु इस आने-जानेमें मुझे श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। वैष्णव मन्दिरका वैभव मुझे ठीक नहीं लगा। वहाँ चलनेवाली अनीतिकी बातें भी सुनीं और मन उस ओरसे उदासीन हो गया। मुझे वहाँसे कुछ भी न मिला।

जो हवेली (वैष्णव मन्दिर)से नहीं मिला वह मिला मुझे अपनी दाई रम्भासे। रम्भा हमारे परिवारकी पुरानी नौकरानी थी। मुझे आज भी उसका प्रेम याद है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि भूत-प्रेतादिका मुझे डर लगता था। रम्भाने मुझे समझाया कि रामनाम इसकी दवाई है। मुझे तो रामनामसे भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी इसलिए मैं भूत-प्रेतादिके भयसे बचनेके लिए बचपनमें रामनाम जपने लगा। रामनाम का यह जप बहुत दिनों तो नहीं चला, किन्तु बचपनमें बोया गया वह बीज नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है और मैं मानता हूँ कि इसका मूल रम्भाबाईके बोये हुए बीजमें है।

इसी अरसेमें मेरे चाचाजीके एक लड़केने जो 'रामायण' के भक्त थे, हम दोनों भाइयोंको राम-रक्षा-स्तोत्र सिखानेका प्रबन्ध किया। हमने उसे कण्ठस्थ कर लिया। और स्नानके बाद उसका नित्य पाठ करने लगे। जबतक पोरबन्दरमें रहे, तबतक यह नियम चला। राजकोटके वातावरणमें यह न टिक सका। यों इस क्रियाके प्रति भी कोई खास श्रद्धा नहीं थी। बड़े भाईके प्रति मनमें आदर था, कुछ इस कारण और कुछ इस अभिमानके कारण कि हम शुद्ध उच्चारणके साथ राम-रक्षा-स्तोत्रका पाठ कर पाते हैं, यह नियम चलता रहा।

किन्तु मेरे मनपर जिस चीजका गहरा असर पड़ा वह था 'रामायण' का पाठ। पिताजी अपनी बीमारीके समय कुछ दिनों पोरबन्दरमें थे। वे वहाँ रोज रातके समय

राम-मन्दिरमें 'रामायण' सुनते थे। बीलेश्वरके लाधा महाराज नामक एक पण्डित इसे पढ़कर सुनाते थे। वे रामचन्द्रजीके परमभक्त थे। उनके विषयमें सुना यह जाता था कि उन्हें कोढ़ हो गया था। उन्होंने उसका कोई और इलाज करनेके बदले किया यह कि बीलेश्वर महाराजपर चढ़े हुए बेल-पत्र कोढ़-ग्रसित अंगोंपर बाँधने लगे और राम-नामका जप शुरू किया। अन्तमें उनका कोढ़ पूरी तरह चला गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवाले तो उसे सच ही मानते थे। यह भी सच है कि जिन दिनों लाधा महाराज कथा सुना रहे थे तब वे पूर्ण रूपसे स्वस्थ थे, उनका कण्ठ मधुर था। वे दोहा और चौपाइयोंको गाकर पढ़ते और उनका अर्थ समझाते। पढ़ते हुए स्वयं रसमें लीन हो जाते और श्रोताओंको भी तल्लीन कर देते। उस समय मेरी अवस्था तेरह वर्षकी रही होगी। मुझे स्मरण है कि तब मुझे उनके पाठमें बड़ा रस आता था। 'रामायण'का यह श्रवण 'रामायण'के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेमकी बुनियाद है। आज तो मैं तुलसीदासकी 'रामायण'को भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीनोंके बाद हम लोग राजकोट आये। वहाँ इस तरह पाठ नहीं होता था। एकादशीके दिन भागवत-पाठ जरूर होता था। मैं कभी वहाँ जाकर बैठता, किन्तु पण्डितजी मेरे मनमें रस उत्पन्न नहीं कर पाये। आज समझ सकता हूँ कि भागवतके पाठमें धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। गुजरातीमें तो मैं उसे चावसे पढ़ चुका था, लेकिन २१ दिनके अपने उपवास-कालमें जब भारतभूषण मदनमोहन मालवीयके श्रीमुखसे मैंने उसके मूल संस्कृत अंश सुने तब सोचा कि यदि बचपनमें उनके समान किसी भगवद्भक्तके मुखसे भागवत सुनी होती तो मेरा उसी उम्रमें इस ग्रन्थके प्रति प्रेम हो जाता। बचपनमें जो भी शुभ-अशुभ संस्कार पड़ते हैं, बहुत गहरे जाते हैं। इसका मुझे भली-भाँति अनुभव हुआ है और इसलिए अब यह बात अखरती है कि मुझे उस अवस्थामें अनेक उत्तम ग्रन्थोंको सुननेका अवसर नहीं मिला।

मुझे अनायास ही राजकोटमें सभी सम्प्रदायोंके प्रति समान-भाव रखनेकी शिक्षा मिली। वहाँ मैंने हिन्दू धर्मके प्रत्येक सम्प्रदायका आदर करना सीखा, क्योंकि हमारे माता-पिता वैष्णव मन्दिर और शिवालयके साथ-साथ राम-मन्दिरमें भी जाते थे और हम भाइयोंको भी भेजते थे या साथ ले जाते थे। इसके अतिरिक्त जैन धर्माचार्योंमें से भी कोई न कोई हमेशा पिताजीके पास आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजीके साथ धर्म और आचार सम्बन्धी बातें किया करते थे।

इसके सिवा मुसलमान और पारसी भी पिताजीके मित्र थे। वे अपने-अपने धर्मों की चर्चा करते और पिताजी समादरपूर्वक और प्रायः रस लेकर इस चर्चाको सुना करते थे। इस सब वातावरणका मुझपर यह प्रभाव पड़ा कि मेरे मनमें सब धर्मोंके प्रति समान भाव उत्पन्न हो सका।

केवल ईसाई धर्म ही अपवाद-रूप था। मुझे उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई धर्म-प्रचारक हाई स्कूलके एक कोनेपर खड़े होकर भाषण आदि दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं और हिन्दू धर्मावलम्बियोंको बुरा कहते थे। मुझे

यह असह्य लगा। मैंने उनका व्याख्यान एकाध बार ही सुना होगा। फिर कभी वहाँ खड़े होकर सुननेकी इच्छा ही न हुई। तभी मैंने नगरके एक प्रसिद्ध हिन्दूके ईसाई हो जानेके विषयमें सुना और यह सुना कि उन्हें ईसाई धर्ममें दीक्षित करते समय गोमांस खिलाया गया था और शराब पिलाई गई थी। उनकी पोशाक भी बदल दी गई थी और ईसाई बननेके बाद तो उक्त सज्जन कोट-पतलून और अंग्रेजी ढंगका टोप लगाने लगे थे। इन बातोंको सुनकर मुझे दुःख पहुँचा। मुझे लगा, जिस धर्ममें दीक्षित होनेके लिए गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपना पहनावा बदल देना पड़े, उसे धर्म कैसे कह सकते हैं? बादमें यह सुननेमें भी आया कि ईसाई बननेवाले वे भाई अपने पूर्वजोंके धर्म और रीति-रिवाज और देशकी भी निन्दा करने लगे हैं। इन सब बातोंके कारण मेरे मनमें ईसाई धर्मके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई।

दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव उत्पन्न होनेके बाद भी मैं यह नहीं कह सकता कि मेरे मनमें ईश्वरके प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजीके पुस्तकालयमेंसे मनुस्मृतिका गुजराती अनुवाद मेरे हाथ लगा। उसमें मैंने संसारकी उत्पत्ति आदिके विषयमें पढ़ा। उस सारे विवरणपर मुझे विश्वास नहीं हुआ, बल्कि उससे कुछ नास्तिकता ही पैदा हुई।

मुझे अपने दूसरे चाचाजीके लड़केकी बुद्धिपर, वे अभी जीवित हैं, विश्वास था। मैंने उनके सामने अपनी शंकाएँ रखीं, पर वे उनका समाधान न कर सके। उन्होंने कहा, "सयाने होनेपर ऐसे प्रश्नोंके उत्तर तुम खुद समझ लोगे। बच्चोंको ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिए।" मैं चुप रह गया, किन्तु मनको शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य विषयक प्रकरण और अन्य प्रकरणोंमें भी मैंने अपने समयके चलनसे विरोध रखनेवाली बातें पढ़ीं। इस विषयमें पूछनेपर भी लगभग ऊपर जैसा ही उत्तर मिला। मैं यह सोचकर शान्त हो गया कि किसी दिन बुद्धिका विकास होगा तब अधिक पढ़ूँगा और समझूँगा।

उस समय मनुस्मृति पढ़नेपर मैं उससे अहिंसाकी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सका। मांसाहारके विषयमें मैं लिख ही चुका हूँ। मनुस्मृतिमें उसका समर्थन मिला। यह आभास भी हुआ कि सर्प और खटमल आदिको मारना नीतियुक्त है। मुझे याद है कि उन दिनों मैं खटमल आदिको धर्म समझकर मार डालता था।

फिर भी एक चीज मनमें जम गई थी कि संसार सदाचार पर टिका हुआ है। प्रत्येक सदाचार सत्यमें आ जाता है। सत्यकी खोज तो करनी ही होगी। दिन-पर-दिन मेरे निकट सत्यकी महिमा बढ़ती चली गई। सत्यकी व्याख्या नित्य व्यापक होती गई और आज भी होती चली जा रही है।

इसके बाद नीति-सम्बन्धी एक छप्पय मनमें घर कर गया। अपकारका बदला अपकारसे नहीं उपकारसे ही दिया जा सकता है। यह बात एक जीवन-सूत्र ही बन गई। यह विचार मुझपर हावी हो गया। मुझे अपकारीका भला करना और चाहना प्रिय हो गया। इसके अगणित प्रयोग किये। वह अनोखा छप्पय यह है:

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे,
आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीओ;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीओ.
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही.[1]

११. विलायतकी तैयारी

सन् १८८७ में मैंने मैट्रिककी परीक्षा पास की। देशकी तरह गांधी-परिवार भी गरीब ही था। अगर परीक्षाके दो केन्द्र हों — बम्बई और अहमदाबाद तो पास और सस्ता होनेके कारण काठियावाड़के निवासी अहमदाबादको ही पसन्द करते थे। मैंने भी ऐसा ही किया। राजकोटसे अहमदाबादकी यह मेरी पहली यात्रा थी।

बड़ोंकी इच्छा थी कि मैट्रिक पास करनेके बाद मुझे कालेजमें जाना चाहिए। कालेज बम्बईमें भी था और भावनगरमें भी। भावनगरमें खर्च कम था इसलिए निश्चय हुआ कि भावनगरके शामलदास कालेजमें भर्ती हुआ जाये। कालेजकी पढ़ाई मेरी समझमें नहीं आती थी। सभी कुछ कठिन जान पड़ता। अध्यापकगण जो व्याख्यान देते उनमें न रस आता और न मैं उन्हें समझ पाता। इसमें दोष अध्यापकोंका नहीं था, मैं खुद ही कमजोर था। शामलदास कालेजके अध्यापक उन दिनोंके चुने हुए अध्यापकोंमें गिने गाते थे। सत्र पूरा करके मैं घर लौटा।

हमारे परिवारके पुराने मित्र मावजी दवे विद्वान और व्यवहार-कुशल ब्राह्मण थे। वे हम लोगोंके सलाहकार थे। पिताजीके स्वर्गवासके बाद भी कुटुम्बके साथ उन्होंने सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होने दिया था। वे अवकाशके इन दिनोंमें घर आये। माताजी और बड़े भाईके साथ बातचीतके दौरान उन्होंने मेरी पढ़ाईके विषयमें भी पूछा। यह सुनकर कि मैं शामलदास कालेजमें हूँ, वे बोले, "जमाना बदल गया है। अगर तुम भाइयोंमें से कोई कबा गांधीकी गादी सँभालना चाहे तो अब वह काम बिना पढ़ाईके नहीं होगा। यह लड़का अभी पढ़ रहा है, इसलिए यह गादी सँभालनेके लिए जो-कुछ करना योग्य है इसीसे करवाना चाहिए। चार-पाँच साल तो बी० ए० होनेमें लग जायेंगे और उसके बाद भी दीवानगीरी नहीं मिलेगी, पचास-साठ रुपयेकी नौकरी मिलेगी। यदि इसे मेरे लड़केकी तरह वकील बनाना चाहो तो कुछ और वर्ष लग जायेंगे। और उस समय तक दीवानगीरी सँभालने लायक बहुत-से वकील भी

१. "जो हमें पानी पिलाये, उसे हम बदलेमें स्वादिष्ट भोजन करायें; कोई हमें सिर नवाये तो हम उसे उत्साहपूर्वक दण्डवत् प्रणाम करें; कोई हमपर एक पैसा खर्च करे तो हम उसका मोहरोंकी कीमतका काम करें; कोई हमारे प्राण बचाये तो हम उसके दुःखको दूर करनेके लिए अपने प्राण ही दे डालें। जो हमारा उपकार करे, हमें मन, वचन और कर्मसे उसका दस गुना उपकार करना चाहिए; किन्तु जगमें सचमुच तो वही जीता है जो अपकारीके प्रति भी उपकार करता है।"

यह छप्पय गुजरातीके प्रसिद्ध कवि शामल भट्टका है, जो १८ वीं सदीमें हुए।

तैयार हो चुकेंगे, इसलिए आप इसे विलायत भेजें। केवलराम (मावजी दवेका लड़का) कहता है कि वहाँकी पढ़ाई सरल है। तीन सालमें पढ़ाई समाप्त हो जायेगी। खर्चा भी चार-पाँच हजारसे ज्यादा नहीं आयेगा। वहाँसे लौटकर आये हुए नये बैरिस्टरोंको देखो, कैसे ठाठसे रहते हैं। दीवानगीरी उन्हें चाहते ही मिल सकती है। मेरी सलाह तो मोहनदासको इसी बरस विलायत भेजनेकी पड़ती है। विलायतमें मेरे केवलरामके कई दोस्त हैं। वह उनके नाम सिफारिशकी चिट्ठियाँ लिख देगा तो उसे वहाँ कोई कठिनाई नहीं होगी।

जोशीजीने (हम मावजी दवेको इसी नामसे पुकारते थे) मेरी तरफ देखकर इस स्वरमें पूछा मानो उनकी सलाहको माननेके विषयमें कोई शक हो ही नहीं सकता। "क्यों, तुम विलायत जाना पसन्द करोगे या यहीं पढ़ते रहना?" जो रुच रहा था वही वैद्यने बता दिया। कालेजकी कठिनाइयोंसे तो मैं डर ही चुका था। मैंने कहा, "यदि मुझे विलायत भेजा जा सके, तो बहुत अच्छा हो। मुझे नहीं लगता कि यहाँ मैं बिना अटके कालेजकी परीक्षाएँ पास करता चला जाऊँगा। पर क्या मुझे वहाँ डाक्टरी सीखनेके लिए नहीं भेजा जा सकता?"

मेरे भाईने बीचमें कहा: "यह बात तो पिताजीको पसन्द नहीं थी। तेरी चर्चा करते हुए वे यही कहते थे कि हम वैष्णव हैं, हाड़-माँसकी चीर-फाड़का काम नहीं कर सकते। पिताजीका विचार तो तुझे वकील बनानेका ही था।"

जोशीजीने समर्थन करते हुए कहा: "मुझे गांधीजी की तरह डाक्टरीके पेशेसे अरुचि नहीं है। हमारे शास्त्र इस पेशेकी निन्दा नहीं करते, पर डाक्टर होनेसे तू दीवान नहीं बन सकता। मैं तो तुझे दीवान अथवा उससे भी किसी बड़े पदपर देखना चाहता हूँ। तुम लोगोंके बड़े परिवारका निर्वाह तभी हो सकेगा। जमाना दिन-पर-दिन बदलता जा रहा है, और कठिन होता जा रहा है। इसलिए बैरिस्टर बननेमें ही बुद्धिमानी है।" माताजीकी ओर मुड़कर उन्होंने कहा, "आज तो मैं जाता हूँ। मेरी बातपर विचार करके देखिए। जब दुबारा आऊँगा तब यही समाचार सुननेकी आशा रखूँगा कि जानेकी तैयारी हो रही है। कोई अड़चन हो तो मुझे बताइएगा।"

जोशीजी गये और मैं हवाई किले बनाने लगा।

बड़े भाई सोचमें पड़ गये। पैसा कहाँसे आयेगा। इसके सिवा मेरे जैसे तरुण आदमीको इतनी दूर कैसे भेज दिया जाये।

माताजी कुछ सोच ही नहीं पा रही थीं। मैं चला जाऊँगा, यह बात उनको बिलकुल अच्छी नहीं लगीं। फिर भी उन्होंने यही कहा, "हमारे परिवारमें अब चाचाजी ही बड़े हैं, इसलिए पहले उनकी सलाह लेनी चाहिए। यदि वे कह दें तो फिर हमें सोचना पड़ेगा।"

बड़े भाई साहबको दूसरी ही बात सूझी, "पोरबन्दर राज्यपर हमें हक है। लेली साहब वहाँ एडमिनिस्ट्रेटर हैं। उनका हमारे परिवारके बारेमें अच्छा ख्याल है। चाचाजीपर वे खास मेहरबान हैं। सम्भव है, वे राज्यकी तरफसे तेरी थोड़ी-बहुत मदद कर दें।"

मुझे यह बात अच्छी लगी और मैं पोरबन्दर जानेके लिए तैयार हो गया। उन दिनों रेलगाड़ी नहीं थी, बैल-गाड़ीसे जाना होता था। पाँच दिनका रास्ता था। यह तो मैं बता ही चुका हूँ कि मैं स्वभावसे डरपोक था, किन्तु इस बार मेरा डर जाने कहाँ काफूर हो गया था। विलायत जानेकी इच्छा मुझपर सवार थी। मैंने धोराजी तककी गाड़ी तय की। धोराजीसे आगे इस विचारसे कि एक दिन जल्दी पहुँच जाऊँ, ऊँट किरायेपर लिया। ऊँटकी सवारी करनेका यह मेरा पहला ही अवसर था।

पोरबन्दर पहुँचा। चाचाजीको साष्टांग प्रणाम किया और उन्हें पूरी बात बताई। उन्होंने विचार करके कहा, "कह नहीं सकता, विलायत जाकर धर्मकी रक्षा हो सकेगी या नहीं। जो-कुछ सुनता हूँ, उससे तो शक ही पैदा होता है। जब मैं बड़े-बड़े बैरिस्टरोंसे मिलता हूँ तो देखता हूँ कि उनकी और बड़े-बड़े अंग्रेज साहबोंकी रहन-सहनमें कोई भेद नहीं है। खाने-पीनेमें भी वे कोई बन्धन नहीं मानते। सिगरेट तो कभी उनके मुँहसे छूटती ही नहीं है। पहनावेमें भी लाज-शर्मका ध्यान नहीं रखते। यह सब हमारे कुटुम्बके लिए शोभनीय नहीं है। किन्तु मैं तेरे उत्साहमें विघ्न नहीं डालना चाहता। मैं तो कुछ दिनोंमें तीर्थ यात्रापर चला जाऊँगा। मुझे अब जीना ही कितने दिन है। मृत्युके किनारे पहुँचकर मैं तुझे समुद्रकी यात्रा करके विलायत जानेकी इजाजत कैसे दूँ? किन्तु इसमें आड़े नहीं आऊँगा। तेरी माँकी आज्ञा ही महत्वपूर्ण है। अगर वह तुझे इजाजत दे दे, तो तू खुशीसे चला जा। उसे इतना बता देना कि मैं तुझे उसके बाद नहीं रोकूँगा। मेरा तो इसमें आशीर्वाद है ही।"

मैंने कहा: "मैं आपसे इससे अधिक नहीं चाहता? अब मुझे माँको राजी करना है। पर क्या आप मुझे लेली साहबके लिए सिफारिशका पत्र देंगे?"

चाचाजीने कहा: "सो कैसे हो सकता है? लेकिन साहब भले आदमी हैं, तू खुद उन्हें पत्र लिख दे। पत्रमें अपने कुटुम्बका परिचय दे देना। वे अवश्य ही मिलनेका समय सूचित करेंगे और अगर ठीक समझेंगे तो मदद भी करेंगे।"

कह नहीं सकता कि चाचाजीने साहबसे मेरी सिफारिश क्यों नहीं की। मुझे ऐसा लगता है कि उन्हें विलायत जानेके धर्म-विरुद्ध कार्यमें इस तरह सीधी मदद पहुँचाते हुए संकोचका अनुभव हो रहा था।

मैंने लेली साहबको पत्र लिखा और उन्होंने मुझे अपने निवास पर मिलने बुलाया। मैं बँगलेकी सीढ़ियाँ चढ़ रहा था, तभी वे मुझसे मिले; और यह कहकर ऊपर चले गये कि "जब तू बी० ए० हो जाये तब मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं की जा सकती।" मैं बड़ी तैयारीसे कई वाक्य रट कर गया था। उन्हें देखते ही मैंने नीचे झुककर दोनों हाथोंसे नमन भी किया था, पर मेरी सारी कोशिश बेकार गई।

पत्नीके गहनोंकी बात ध्यानमें आई। बड़े भाई साहबके बारेमें भी सोचा। उनके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा थी। वे अत्यन्त उदार थे और मुझे पिताकी तरह चाहते थे।

मैं पोरबन्दरसे राजकोट लौटा और वहाँ जो-कुछ हुआ था, सब सुनाया। जोशीजीसे सलाह ली गई। उन्होंने कहा कि मुझे कर्ज लेकर भी भेजा जाना चाहिए।

मैंने अपनी पत्नीके गहने बेच डालनेका सुझाव रखा किन्तु उनसे दो-तीन हजार रुपयेसे अधिक मिलनेकी सम्भावना नहीं थी। अन्तमें भाईने जैसे भी बने रुपयोंका प्रबन्ध करनेका बीड़ा उठाया।

माताजी अभीतक राजी नहीं थीं। वे बड़ी बारीकीसे छान-बीन कर रही थीं। कोई कहता, नौजवान लोग विलायतमें बिगड़ जाते हैं; कोई कहता, वे मांसाहार करने लगते हैं और कोई कहता, शराबके बिना तो वहाँ काम ही नहीं चलता। माताजीने यही सब मुझे सुनाया। मैंने कहा, "लेकिन क्या तू मेरा विश्वास नहीं करेगी? मैं तुझे धोखा नहीं दूँगा। शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं इन तीनों चीजोंसे बचूँगा और फिर अगर इस तरहका खतरा होता ही तो जोशीजी जानेकी सलाह क्यों देते।"

माताजीने कहा, "मुझे तेरा विश्वास तो है किन्तु इतनी दूर चले जानेपर क्या कहा जा सकता है। मेरी तो कुछ समझमें नहीं आता। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूँगी।"

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनिए थे और जैन साधु हो गये थे। जोशीजीकी तरह वे भी कुटुम्बके सलाहकार थे। उन्होंने समर्थन करते हुए कहा: "मैं इस लड़केसे इन तीनों बातोंके बारेमें व्रत लिये लेता हूँ। फिर इसे जाने देनेमें कोई हानि नहीं होगी।" उन्होंने प्रतिज्ञा लिवाई और मैंने मांस, मदिरा तथा स्त्री-संगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा की। माताजीने आज्ञा दे दी।

मेरी बिदाईमें हाई-स्कूलमें समारोह हुआ। राजकोटका एक युवक विलायत जा रहा है, यह लोगोंके लिए एक आश्चर्यका विषय था। मैं अभिनन्दनके जवाबमें कहनेके लिए कुछ लिखकर ले गया था। बड़ी मुश्किलसे उसे पढ़कर सुना पाया। मुझे याद है कि उस समय मेरा सिर घूम रहा था और शरीर काँप रहा था।

बड़ोंके आशीर्वाद लेकर मैं बम्बईके लिए रवाना हुआ। बम्बईकी यह मेरी पहली यात्रा थी। बड़े भाई भी वहाँतक साथ गये। पर अच्छे कामोंमें सौ-सौ विघ्न आते हैं। मैं बम्बईके बन्दरगाहसे जल्दी ही रवाना न हो सका।

१२. जाति-च्युत

माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर तथा पत्नीकी गोदमें कुछ महीनोंका बच्चा छोड़कर मैं उत्साहके साथ बम्बई जा पहुँचा। पहुँचनेपर वहाँ मित्रोंने भाईको बताया कि जून और जुलाईके महीनोंमें हिन्द महासागरमें तूफान आते हैं और चूंकि मेरी यह पहली ही समुद्र यात्रा है, मुझे दीवालीके बाद यानी नवम्बरमें रवाना किया जाना चाहिए। किसीने तूफानमें किसी जहाजके डूब जानेकी चर्चा भी की। बड़े भाई साहब इसे सुनकर घबराये। उन्होंने इतना खतरा उठाकर मुझे तुरन्त जाने देनेसे इनकार किया और मुझको बम्बईमें अपने एक मित्रके घर छोड़कर खुद वापस नौकरी पर हाजिर होनेके लिए राजकोट चले गये। पैसे वे एक बहनोईके पास छोड़ गये और कुछ मित्रोंसे कह गये कि मुझे जो आवश्यक हो, सो मदद करते रहें।

बम्बईमें मेरे लिए दिन काटना मुश्किल हो गया। मुझे विलायतके ही सपने आते रहते।

इस बीच जातिमें उथल-पुथल मच गई। जातिकी पंचायत बुलाई गई। अभी तक कोई मोढ़ बनिया विलायत नहीं गया था और अगर मैं जा रहा हूँ तो मुझसे जवाब-तलब किया जाना चाहिए। मुझे पंचायतके सामने हाजिर होनेका हुक्म मिला। मैं गया। नहीं जानता, एकाएक मुझमें इतनी हिम्मत कहाँसे आ गई। वहाँ जाते हुए मुझे न संकोच हुआ, न डर लगा। जातिके सरपंचके साथ दूरका रिश्ता भी था। पिताजीके साथ उनका अच्छा सम्बन्ध था। उन्होंने मुझसे कहा:

"जातिके विचारसे तुम्हारे विलायत जानेका इरादा उचित नहीं है। हमारे धर्ममें समुद्र पार जानेकी मनाही है और तिसपर सुनते हैं कि वहाँ धर्मकी रक्षा नहीं हो पाती। वहाँ अंग्रेजोंके साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने जवाब दिया: "मुझे तो विलायत जानेमें कोई भी अधर्मकी बात नहीं लगती। मैं तो वहाँ जाकर विद्याध्ययन ही करूँगा। फिर आपको जिन बातोंका डर है, मैंने अपनी माताजीके सामने उनसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली है और इसीलिए मैं उनसे बचा रह सकूँगा।"

सरपंचने कहा: "पर मैं कहता हूँ कि वहाँ धर्मकी रक्षा हो ही नहीं सकती। तू जानता है, तेरे पिताजीके साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था। तुझे मेरी बात माननी चाहिए।"

मैंने उत्तर दिया: "आपके साथके सम्बन्धको मैं जानता हूँ। आप पिता-तुल्य हैं। किन्तु इस विषयमें मैं लाचार हूँ। विलायत जानेका अपना निर्णय मैं नहीं बदल सकता। मेरे पिताजीके मित्र और सलाहकार, विद्वान ब्राह्मण सज्जन[1] भी मानते हैं कि मेरे विलायत जानेमें कोई दोष नहीं है। मुझे माताजी और भाई साहबकी अनुमति भी मिल चुकी है।

"लेकिन क्या तू जातिकी बात नहीं सुनेगा?"

"मैं लाचार हूँ। मेरी समझमें तो जातिको बीचमें नहीं आना चाहिए।"

सरपंचको इस जवाबसे रोष आ गया। उन्होंने मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनाईं। मैं चुपचाप बैठा रहा। सरपंचने व्यवस्था दी: "यह लड़का आजसे जात-बाहर गिना जायेगा। जो-कोई उसे मदद करेगा अथवा उसे पहुँचाने जायेगा, जाति उससे जवाब-तलब करेगी और उसपर सवा रुपया दण्ड होगा।"

इस व्यवस्थाका मुझपर कोई असर नहीं पड़ा। मैंने सरपंचसे विदा ली। देखना यह था कि इस व्यवस्थाका भाई साहबपर क्या असर होता है। कहीं वे डर गये तो? किन्तु सौभाग्यसे वे दृढ़ बने रहे और उन्होंने मुझे यह लिख भेजा कि जातिके निर्णयके बावजूद वे मुझे विलायत जानेसे नहीं रोकेंगे।

इस घटनाके बाद मैं बहुत बेचैन हो गया। कहीं भाईपर दबाव डाला गया तो क्या होगा? कोई दूसरा विघ्न आ गया तो? मैं इस चिन्तामें दिन काट रहा

१. मावजी दवे।

था कि खबर मिली, जूनागढ़के एक वकील ४ सितम्बरको रवाना होनेवाले जहाजसे बैरिस्टरीके लिए विलायत जानेवाले हैं। बड़े भाईने जिन मित्रोंको मेरी मददके लिए कह रखा था, मैं उनसे मिला। उन्होंने भी सलाह दी कि यह साथ नहीं छोड़ना चाहिए। समय बहुत कम था। मैंने भाई साहबको तार किया और इसकी इजाजत माँगी। उन्होंने इजाजत दे दी। मैंने बहनोई साहबसे पैसे माँगे। उन्होंने जातिके आदेशका उल्लेख किया। उन्हें मेरा जातिकी अवज्ञा करना ठीक नहीं लगता था। इसपर मैं अपने कुटुम्बके एक मित्रके पास पहुँचा और उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे किराये आदिके लिए जरूरी रकम दे दें और बादमें भाई साहबसे ले लें। उक्त मित्रने यह स्वीकार कर लिया और मुझे हिम्मत भी बँधाई। मैंने उनका आभार माना, पैसे लिए और टिकट खरीदा। विलायतकी यात्राकी सारी तैयारी करनी थी। एक अनुभवी मित्रने सामान तैयार करा दिया। मुझे सब-कुछ अजीब-सा लगा। कुछ तो ठीक जान पड़ा और कुछ बिलकुल ही ठीक नहीं जान पड़ा। नेकटाईको मैं बादमें तो शौक-से बाँधने लगा था किन्तु उस समय तो वह मुझे बिलकुल नहीं रुची। बास्केट मुझे नंगी पोशाक मालूम हुई, किन्तु विलायत जानेके शौककी तुलनामें इस सबका पसन्द आना न आना कोई चीज ही नहीं थी। रास्तेमें खानेके लिए भी पर्याप्त सामान रख लिया। मेरे लिए मित्रोंने जगहकी तजवीज भी त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़के वकील)की कोठरीमें ही की। उन्हें मेरे विषयमें बतला भी दिया। वे पक्की उम्रके अनुभवी सज्जन थे। मैं दुनियाके अनुभवसे शून्य अठारह वर्षका नौजवान। मजमुदारने मित्रोंसे कहा, "आप इनकी चिन्ता न करें।"

इस तरह सन् १८८८की सितम्बरकी चार तारीखको मैंने बम्बईका बन्दरगाह छोड़ दिया।

१३. आखिर विलायत पहुँचा

जहाजमें समुद्र-यात्रासे होनेवाला कष्ट तो बिलकुल ही नहीं हुआ। पर जैसे-जैसे दिन बीतते थे, मेरी परेशानी बढ़ती जाती थी। स्टुअर्टके साथ बातचीत करनेमें शर्म आती थी। अंग्रेजीमें बात करनेकी मुझे आदत नहीं थी। मजमुदारको छोड़कर दूसरे सभी मुसाफिर अंग्रेज थे। मैं उनके साथ बातें न कर पाता। अगर वे मुझसे बोलते तो समझ न पाता और अगर समझ लेता तो क्या जवाब दूँ सो नहीं सूझता था। बोलनेसे पहले हरएक वाक्य मनमें जमाकर देखना पड़ता था। काँटे, चम्मचसे खाते नहीं बनता था और यह पूछनेकी हिम्मत नहीं होती थी कि किस पदार्थमें मांस नहीं है। इसलिए खानेकी मेजपर तो मैं गया ही नहीं। अपनी कोठरीमें ही भोजन करता। खास तौरसे अपने साथ जो मिठाई आदि ले आया था उसीसे काम चलाता रहा। मजमुदारको कोई संकोच नहीं था। वे सबके साथ घुल-मिल गये। डेकपर भी इच्छानुसार आते-जाते। मैं सारा दिन कोठरीमें ही बैठा रहता। एकाध बार जब डेकपर थोड़े ही लोग होते, तो कुछ देर वहाँ बैठ जाता। मजमुदार मुझे

समझाते कि सबसे घुलो-मिलो और आजादीके साथ बातचीत करो। वे मुझसे यह भी कहते कि वकीलकी तो जबान खूब चलनी चाहिए। वे अपनी वकालतके अनुभव भी मुझे सुनाते और कहते कि अंग्रेजी हमारी भाषा नहीं, इसलिए उसमें गलतियाँ तो होंगी किन्तु फिर भी खुलकर बोलना चाहिए। किन्तु मैं अपनी भीरुता नहीं छोड़ पाता था।

एक भले अंग्रेजने मुझपर मेहरबान होकर मुझसे बातचीत शुरू कर दी। वे उम्रमें मुझसे बड़े थे। मुझसे पूछते रहते, मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, क्या खाता-पीता हूँ, किसीसे बात-चीत क्यों नहीं करता आदि। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मुझे खानेकी मेजपर जाकर खाना चाहिए। मांस न खानेकी मेरी प्रतिज्ञाकी बात सुनकर वे हँसे और करुणाके भावसे बोले, "यहाँ (पोर्ट सईद पहुँचने तक) तो ठीक है, लेकिन बिस्केकी खाड़ीमें पहुँचकर तुम अपने विचार बदल दोगे। इंग्लैंडमें ठण्ड इतनी पड़ती है कि मांस खाये बिना काम नहीं चलता।"

मैंने कहा, मैंने सुना है कि लोग वहाँ मांसाहारके बिना रह सकते हैं।

वे बोले: "इसे झूठ समझो। मैं अपने परिचितोंमें से ऐसे किसी आदमीको नहीं जानता जो मांस न खाता हो। देखो, मैं शराब पीता हूँ किन्तु तुमसे शराब पीनेके लिए नहीं कहता। फिर भी मैं यह समझता हूँ कि मांस तो तुम्हें खाना ही चाहिए।"

मैंने कहा: "आपकी सलाहके लिए मैं आभारी हूँ, लेकिन मैंने अपनी माताजी को मांस न खानेका वचन दिया है। मैं इसलिए मांस नहीं खा सकता। अगर उसके बिना काम ही न चला, तो मैं हिन्दुस्तान वापस चला जाऊँगा किन्तु मांस कदापि नहीं खाऊँगा।"

बिस्केकी खाड़ी आई। वहां भी मुझे न तो मांस की जरूरत लगी, न शराब की। मुझसे कहा गया कि मैं मांस न खानेके बारेमें प्रमाणपत्र ले लूँ। इसलिए इन अंग्रेज सज्जनसे मैंने प्रमाणपत्र माँगा और उन्होंने खुशी-खुशी दे दिया। कुछ दिनों तक तो मैं इसे सँभालकर धरे रहा। बादमें मालूम हुआ कि मांस खाते रहकर भी ऐसे प्रमाणपत्र प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए मांस न खानेके प्रमाणपत्रोंके बारेमें मेरा मोह नष्ट हो गया। अगर किसीको मेरी बातपर भरोसा न हो, तो ऐसे मामलों में प्रमाणपत्र दिखाकर भी क्या लाभ हो सकता है।

जैसे-तैसे यात्रा समाप्त करके हम साउथैम्पटन बन्दरगाह जा पहुँचे। मुझे याद है उस दिन शनिवार[1] था। मैं जहाजपर काली पोशाक पहनता था। मित्रोंने सफेद फलालैनके कोट-पतलून भी बनवा दिये थे। मैंने सोच रखा था कि सफेद कपड़े अधिक अच्छे लगेंगे इसलिए विलायतमें उतरते समय उन्हें पहन लूँगा। मैं फलालैनका वह सूट पहनकर उतरा। सितम्बरके आखिरी दिन थे। मेरे सिवाय उस तरहकी पोशाकमें मुझे कोई और आदमी नहीं दिखा। मेरी पेटियाँ और उनकी चाबियाँ ग्रिंडले कम्पनी

१. लंदन दैनन्दिनीमें (देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १६) गांधीजीने अपने लंदन पहुँचनेकी तारीख शनिवार, २८ अक्तूबर १८८८ लिखी है। २८ अक्तूबरको इतवार था। इस अनुच्छेदसे स्पष्ट है कि वे वहाँ शनिवारको ही पहुँचे थे — तदनुसार तारीख २७ अक्तूबर १८८८ होनी चाहिए।

के एजेंट ले गये थे। मैंने यह सोचकर कि सब जैसा करते हैं, मुझे भी वैसा ही करना चाहिए, अपनी चाबियाँ भी उन्हें दे दी थीं।

मेरे पास थे केवल चार परिचयपत्र; डॉ० प्राणजीवन मेहताके नाम, दलपतराम शुक्लके नाम, प्रिन्स रणजीतसिंहजीके नाम और दादाभाई नौरोजीके नाम। मैंने डॉ० मेहताको साउथैम्पटनसे तार कर दिया था। जहाजमें किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटलमें ठहरना चाहिए; इसलिए मजमुदार और मैं उस होटलमें पहुँच गये। मैं तो अपनी सफेद पोशाकके मारे शर्मसे गढ़ा ही जा रहा था। होटल पहुँचनेपर पता चला कि अगले दिन रविवार होनेके कारण ग्रिंडलेके यहाँसे सामान सोमवार तक नहीं आ पायेगा। मैं इससे परेशान हुआ।

सात-आठ बजे डॉ० मेहता आये। उन्होंने प्रेमसे भरी हँसी-दिल्लगी की। मैंने अनजाने ही रेशमी रोओंवाली उनकी टोपी देखनेके लिए उठाई और उसपर उल्टा हाथ फेरा। इससे टोपीके रोएँ खड़े हो गये। डॉ० मेहताने देखा तो मुझे तुरन्त रोका। पर गलती हो ही चुकी थी। रोकनेका इतना ही मतलब निकल सकता था कि दुबारा वैसा न हो। कहा जा सकता है कि यहींसे यूरोपके रीति-रिवाज सम्बन्धी मेरी शिक्षाका श्रीगणेश हुआ। डॉ० मेहता हँसते जाते और बहुत-सी बातें समझाते जाते। किसीकी चीज नहीं छूनी चाहिए; जान-पहचान हो जानेपर हिन्दुस्तानमें जैसे प्रश्न सहज ही पूछे जा सकते हैं, वैसे यहाँ नहीं पूछने चाहिए; ऊँचे स्वरमें बातचीत नहीं करनी चाहिए; हिन्दुस्तानमें अंग्रेजोंसे बातचीत करते समय 'सर' कहनेका जो रिवाज है वह यहाँ अनावश्यक है। 'सर' तो नौकर अपने मालिकसे अथवा कोई मातहत अपने बड़े अफसरसे कहता है। फिर उन्होंने बताया कि होटलमें रहना बहुत खर्चीला होगा और सुझाया कि किसी कुटुम्बमें रहना जरूरी हो सकता है। इस विषयमें अधिक विचार करनेकी बात सोमवारके लिए मुलतवी रखी गई। इस तरह अनेक परामर्श देकर डा० मेहता विदा हो गये।

होटलमें हम दोनोंको लगा कि कहाँ आ फँसे। होटल महँगा भी था। एक सिन्धी यात्री माल्टासे जहाजपर सवार हुए थे। मजमुदार उनसे अच्छी तरह घुल-मिल गये थे। उक्त सिन्धी सज्जनको लन्दनकी खासी जानकारी थी। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे किरायेपर ले देनेकी जिम्मेदारी ली। हम राजी हो गये और जैसे ही सोमवारको सामान मिला, बिल चुकाकर उनके द्वारा ठीक किये हुए कमरोंमें चले गये। मुझे याद है कि होटलका मेरा बिल तीन पौण्ड आया था। मैं उसे देखकर चकित रह गया। तीन पौंड देनेपर भी भूखा रह गया था। होटलकी चीजें मुझे पसन्द नहीं आती थीं। एक चीज ली, और वह नहीं रुची तो दूसरी ले ली। किन्तु दाम तो दोनोंके ही चुकाने होते। कह सकता हूँ कि मेरा ज्यादातर काम तो बम्बईसे लाये हुए सामानसे ही चल रहा था।

इस कमरेमें भी मैं बहुत परेशान रहा। स्वदेशकी बड़ी याद आती थी। माताका प्रेम सामने खड़ा हो जाता। रात होते ही मुझे रुलाई आने लगती। घरकी एकके बाद एक यादें आतीं; फिर नींद कैसे आ सकती थी! इस दुःखकी चर्चा किससे

करता और उससे लाभ भी क्या होता? खुद मेरी ही समझमें नहीं आता था कि किस उपायसे धीरज बँधेगा। यहाँके लोग विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर विचित्र, घरोंमें रहनेका ढंग विचित्र। यह भी नहीं जानता था कि क्या कहने और क्या करनेसे यहाँके शिष्टाचारके नियमोंका उल्लंघन हो जायेगा। तिसपर मेरा खाने-पीनेका परहेज। जो खाने योग्य मिलता, वह रूखा-सूखा और नीरस होता था। इस कारण मेरी अवस्था सरौतेके बीच दबी हुई सुपारीकी तरह हो गई। विलायतमें रहना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। किन्तु वापस भी कैसे लौट सकता था। यह तो निश्चय कर ही लिया था कि विलायत पहुँच जानेपर तीन साल पूरे करूँगा ही।

१४. मेरी पसन्द

डॉ० मेहता सोमवारको मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल पहुँचे। वहाँ उन्हें हमारा नया पता मालूम हुआ और वे वहाँसे आकर मिले। मेरी मूर्खताके कारण मुझे जहाजमें दाद हो गई थी। जहाजमें खारे पानीसे नहाना पड़ता था। खारे पानीमें साबुन नहीं घुलता, किन्तु मैंने समझा, साबुनका उपयोग करना 'सभ्यता' है। इससे शरीर साफ होनेके बदले चिकट गया और दाद हो गई। डाक्टरको बताया तो उन्होंने मुझे एक जलानेवाली दवा — एसेटिक एसिड दिया। इस दवाने मुझे रुला दिया। डॉक्टर मेहताने हमारे कमरेको देखकर सिर हिलाया और कहा: "यह जगह कामकी नहीं है। इस देशमें आनेके बाद पढ़नेकी अपेक्षा यहाँके रहन-सहन और रीति-रिवाजका अनुभव प्राप्त करना ही अधिक जरूरी है और इसके लिए किसी परिवारमें रहना चाहिए। किन्तु फिलहाल तो मैंने यह सोचा है कि तुम कुछ सीख सको, इसलिए तुम्हें . . .[१] के घर रहना चाहिए। मैं तुम्हें वहाँ ले चलूँगा।"

मैंने कृतज्ञतापूर्वक उनका कहना मान लिया। उक्त मित्रके यहाँ गया। उन्होंने स्वागत-सत्कारमें कोई कसर नहीं रखी। उन्होंने मुझे अपने सगे भाईकी तरह रखा, अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखाये; मैं कह सकता हूँ कि अंग्रेजीमें थोड़ी-बहुत बातचीत करनेकी आदत मुझे उन्हींने डलवाई थी। मेरे भोजनका प्रश्न बड़ा जबरदस्त हो गया। बिना नमक और मसालेकी शाक-सब्जी रुचती नहीं थी। गृहिणी मेरे लिए बनाये भी तो क्या बनाये। सवेरे जौ के आटेकी लपसी बनती। इससे पेट थोड़ा-बहुत भर जाता। पर दोपहर और शामके भोजनमें मैं हमेशा भूखा रह जाता। उक्त सज्जन मुझे रोज मांस खानेकी सलाह देते, किन्तु मैं प्रतिज्ञाका उल्लेख करके रह जाता। उनके तर्कोंका जवाब देना मेरे लिए कठिन था। दोपहरको सिर्फ रोटी, पत्तोंकी कोई एक भाजी और मुरब्बेपर गुजर करता था। शामको भी यही लेता। मैंने देखा कि वहाँ रोटीके दो-तीन टुकड़े ही लिये जाते हैं। इससे अधिक माँगते हुए शर्म लगती। मुझे तो डटकर खानेकी आदत थी। भूख तेज लगती थी और शरीर खुराक माँगता था। दोपहर या शामको दूध भी नहीं मिलता था। मेरी हालत देखकर एक दिन मित्र चिढ़ गये और उन्होंने कहा, "अगर तुम मेरे सहोदर भाई होते तो मैं तुमको

१. यहाँ नाम नहीं दिया जा रहा है।

निश्चय ही वापस भेज देता। यहाँकी हालतको जाने बिना निरक्षर माँके सामने की गई प्रतिज्ञाका क्या अर्थ है। उसे तो कोई प्रतिज्ञा ही नहीं कहा जा सकता। मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून भी इसे प्रतिज्ञा नहीं मान सकता। ऐसी प्रतिज्ञासे चिपके रहना कोरा अन्धविश्वास है। ऐसे अन्धविश्वासमें बँधे रहकर तुम इस देशसे अपने देशमें कुछ भी लेकर नहीं जा सकोगे। तुम खुद भी कहते हो कि तुमने मांस खाया है और वह तुम्हें अच्छा भी लगा है। जहाँ खानेकी जरूरत नहीं थी, वहाँ खाया और जहाँ खाना ऐन जरूरी है वहाँ तुमने उसे छोड़ रखा है। यह कैसे आश्चर्यकी बात है!"

किन्तु मैं टससे मस नहीं हुआ।

रोज ऐसी बहसें होतीं। छत्तीस रोगोंकी एक ही दवा मेरे पास थी—"ना"। मित्र मुझे जितना समझाते मेरी दृढ़ता उतनी ही बढ़ती जाती। मैं रोज भगवानसे रक्षाकी याचना करता और वह मुझे प्राप्त होती। मैं नहीं जानता था कि ईश्वर कौन है, पर रम्भाकी दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र मुझे बैंथमका एक ग्रन्थ पढ़कर सुनाने लगे। उन्होंने 'उपयोगितावाद' सम्बन्धी अध्याय पढ़ा। मैं परेशान हुआ। भाषा कठिन थी। मैं उसे मुश्किलसे समझ पा रहा था। उन्होंने उसे समझाकर बताया। मैंने कहा: "मुझे माफ कीजिए, मैं ऐसी बारीक बातें नहीं समझ पाता। मैं स्वीकार करता हूँ कि मांस खाने लगना चाहिए, लेकिन मैं अपनी प्रतिज्ञाका बन्धन नहीं तोड़ सकता। इस विषयमें मेरे पास कोई तर्क भी नहीं है। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं आपसे बहसमें नहीं जीत सकता, फिर भी आप मुझे इस मामलेमें मूर्ख अथवा हठी मानकर छोड़ दीजिए। आपका प्रेम मैं समझता हूँ। आपका हेतु भी समझता हूँ। आपको मैं अपना परम हितेच्छु मानता हूँ। मैं यह भी देख पाता हूँ कि आप इतना आग्रह इसीलिए करते हैं कि आपको दुःख होता है। किन्तु मैं लाचार हूँ। प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी जा सकती।"

मित्र देखते रहे। उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी। "बस, अब मैं बहस नहीं करूँगा।" वे इतना कहकर चुप हो गये। मुझे खुशी हुई। इसके बाद उन्होंने बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दिया। पर मेरे विषयमें उनकी चिन्ता दूर नहीं हुई। वे बीड़ी पीते थे, शराब पीते थे। इन दोनोंके सेवनके बारेमें उन्होंने मुझसे कभी नहीं कहा; बल्कि मना ही करते रहे। वे सोचते थे कि मैं मांसाहारके बिना कमजोर हो जाऊँगा और इंग्लैंडमें बेफ्रिकीसे नहीं रह सकूँगा।

यों एक महीनेतक मैं नौसिखिएके रूपमें रहा। मित्रका घर रिचमंडमें था, इसलिए लन्दन जाना हफ्तेमें एक-दो बार ही होता था। डा० मेहता और भाई दलपतराय शुक्लने विचार किया कि अब मुझे किसी परिवारमें रख दिया जाना चाहिए। भाई शुक्लने वेस्ट केन्सिंग्टनमें एक आंग्ल-भारतीय परिवारका पता चलाकर मुझे वहाँ रख दिया। गृहिणी एक विधवा स्त्री थी। उसे मैंने अपने मांस न खानेकी बात बताई। बुढ़ियाने मेरी सार-सँभालकी जिम्मेदारी ली और मैं वहाँ रहने लगा। मगर वहाँ भी मुझे रोज भूखा रह जाना पड़ता था। मैंने घरसे मिठाई आदि खानेका सामान मँगाया था किन्तु वह अभीतक आया नहीं था। सब-कुछ फीका लगता था।

बुढ़िया हमेशा पूछ-ताछ तो करती; किन्तु वह और कर भी क्या सकती थी। फिर अभी तक मेरा शरमाना बन्द नहीं हुआ था। बुढ़ियाके दो लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके थोड़ी अधिक रोटी देतीं, पर उन बेचारियोंको क्या मालूम था कि मेरा पेट उनकी समूची रोटी खा जानेपर ही भर सकता था।

किन्तु अब मुझे थाह मिलने लगी थी। पढ़ाई अभी शुरू नहीं हुई थी, फिर भी मैं समाचारपत्र पढ़ने लगा था। यह भाई शुक्लका प्रताप था। हिन्दुस्तानमें मैंने कभी समाचारपत्र नहीं पढ़े थे। किन्तु यहाँ बराबर पढ़ते रहनेके कारण उसका अभ्यास हो गया और अखबार पढ़नेका शौक पैदा हो गया। मैं 'डेली न्यूज,' 'डेली टेलीग्राफ' और 'पेल-मेल गज़ट' पत्रोंको सरसरी निगाहसे देख जाता था। शुरू-शुरूमें तो इसमें मुश्किलसे एक घंटा खर्च होता होगा। इसलिए मैंने घूमना शुरू कर दिया। मैं निरामिष अर्थात् जहाँ अन्नाहार दिया जाता हो ऐसे भोजन-गृहकी खोजमें था। घरकी मालिकनने बताया भी था कि खास लन्दनमें ऐसी जगहें हैं। मैं रोज दस-बारह मील चलता था। किसी मामूली-से भोजन-गृहमें जाकर पेट-भर रोटी खा लेता था। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं होता था। भटकता हुआ एक दिन मैं फेरिंग्डन स्ट्रीट पहुँचा और 'वेजिटेरियन रेस्तराँ' (अन्नाहारी भोजनालय) की तख्ती देखी। इससे मुझे ऐसा आनन्द हुआ जैसा बालकको मनचाही चीज मिल जानेसे होता है। खुशीमें भरकर भीतर जानेके पहले मैंने दरवाजेके पास शीशेकी खिड़कीमें बिक्रीके लिए रखी हुई पुस्तकें देखीं। उनमें मुझे साल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' नामक पुस्तक दिखी। मैंने उसे एक शिलिंगमें खरीदा और फिर भोजन करने बैठा। विलायत आनेके बाद यहाँ पहली बार भर-पेट भोजन किया। ईश्वरने मेरी भूख मिटाई।

साल्टकी पुस्तक पढ़ी। उसकी मुझपर अच्छी छाप पड़ी। इस पुस्तकको पढ़नेके बाद मैं स्वयं अपनी इच्छा अर्थात् विचारके आधारपर अन्नाहारमें विश्वास करने लगा। माताको दिया गया वचन अब मुझे विशेष आनन्द देने लगा। अभी तक तो मैं यह मानता था कि सब लोग मांसाहारी बन जायें तो अच्छा; केवल सत्यकी रक्षा, प्रतिज्ञाके पालनके विचारसे मैंने मांसका त्याग कर रखा था और सोचता था कि किसी दिन स्वयं मुक्त भावसे प्रकट रूपमें मांस खाऊँगा और दूसरोंको मांस खानेवालोंके दलमें सम्मिलित करूँगा। अब उत्साहपूर्वक स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरोंको वैसा बनानेका लोभ मुझमें जगा।

१५. 'सभ्य' वेषमें

अन्नाहारपर मेरी श्रद्धा दिन-दिन बढ़ती चली गई। साल्टकी पुस्तकने आहारके विषयमें और-और पुस्तकें पढ़नेकी मेरी इच्छाको तीव्र बना दिया। मुझे जितनी पुस्तकें मिलीं, उन सबको मैंने खरीद कर पढ़ डाला। हावर्ड विलियम्सकी (एथिक्स ऑफ डायट) 'आहार नीति' नामक पुस्तकमें विभिन्न युगोंके ज्ञानियों, अवतारों और पैगम्बरोंके आहार तथा आहार-विषयक उनके विचारोंका वर्णन किया गया है। उसमें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादि शुद्ध

अन्नाहारी थे। डा० श्रीमती एना किंग्सफोर्डकी पुस्तक 'परफेक्ट वे इन डायट' (उत्तम आहारकी नीति) भी एक आकर्षक पुस्तक थी। साथ ही डा० एलिन्सनके आरोग्य-सम्बन्धी लेखोंसे भी मुझे बड़ी मदद मिली। वे दवाके बजाय केवल आहार-परिवर्तनके द्वारा ही रोगीको चंगा करनेकी पद्धतिका समर्थन करते थे। डा० एलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे और बीमारोंको केवल अन्नाहार करनेकी सलाह देते थे। इन सब पुस्तकोंके पढ़नेका परिणाम यह हुआ कि आहार सम्बन्धी प्रयोगोंने मेरे जीवनमें महत्व-पूर्ण स्थान बना लिया। आरम्भमें मैंने ये प्रयोग मुख्यतया आरोग्यकी दृष्टिसे किये; बादमें धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि बन गई।

इस बीच भी मेरे उक्त मित्रको तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। वे प्रेमवश यह मानते थे कि मांस न खानेसे मैं कमजोर हो जाऊँगा। इतना ही नहीं, मैं बेवकूफ बना रहूँगा और अंग्रेज समाजमें घुल-मिल ही नहीं सकूँगा। उन्हें मालूम था कि मैं अन्नाहार-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ। उन्हें भय हुआ कि इन पुस्तकोंके पढ़नेसे मैं भ्रमित हो जाऊँगा, मेरा जीवन निरर्थक प्रयोगोंमें बीत जायेगा और मुझे जो-कुछ करना है, उसे भूलकर मैं एक पठित मूर्ख बनकर रह जाऊँगा। इस विचारसे उन्होंने मुझे सुधारनेका एक आखिरी प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे नाटक देखनेका निमन्त्रण दिया। नाटक-गृहमें जानेके पहले मुझे उनके साथ हाबर्न होटलमें भोजन करना था। मेरे लेखे यह जगह एक महल ही थी। विक्टोरिया होटल छोड़नेके बाद ऐसे भोजन-गृहमें जानेका मेरा यह पहला ही अनुभव था। विक्टोरिया होटलका अनुभव तो किसी कामका नहीं था, क्योंकि यह तो मानना ही होगा कि मैं वहाँ जितने दिनों रहा, उतने दिनों मुझे अपना होश ही नहीं था। सैकड़ों लोगोंसे भरे हुए उस होटलमें हम दो मित्र एक टेबुलपर जा बैठे। मित्रने पहली परोस मँगाई। वह 'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्रसे क्या पूछता। परोसनेवालेको मैंने अपने पास बुलाया। मित्र समझ गये और मुझसे चिढ़कर पूछा, "क्या बात है?" मैंने धीरेसे संकोचके साथ कहा, "मैं यह जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है अथवा नहीं?" मित्रने गुस्सेसे कहा, "ऐसे बड़े होटलमें तुम्हारा यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो तो तुम बाहर चले जाओ और किसी छोटे-से होटलमें भोजन कर लो और वहीं बाहर रुककर मेरी राह देखो।" इस प्रस्तावको सुनकर मैं खुश होकर उठा और दूसरे भोजनालयकी खोजमें चला। पास ही अन्नाहार देनेवाला एक भोजन-गृह था, पर वह बन्द हो चुका था। मेरी समझमें नहीं आया कि क्या करूँ। मैं भूखा रह गया। हम नाटक देखने गये। मित्रने भोजनालयकी घटनाके बारेमें एक शब्द भी नहीं कहा और मुझे तो कुछ कहना था ही नहीं।

लेकिन यह हमारे बीचका अन्तिम मित्र-युद्ध था। इससे न हमारा सम्बन्ध टूटा, न कोई कटुता आई। मैं यह समझ गया था कि उनके सभी प्रयत्नोंका मूल कारण प्रेम है, इसलिए विचार और आचारोंके भिन्न रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

लेकिन मुझे लगा कि मुझे उनका डर दूर कर देना चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूँगा। 'सभ्य' व्यक्तिके लक्षण सीखूँगा और अन्य ढंगसे

समाजमें घूलने-मिलनेके योग्य बनकर अपने अन्नाहारकी विचित्रतापर आवरण डाल दूँगा। मैंने 'सभ्यता' सीखनेके लिए जो रास्ता पकड़ा वह मेरी शक्तिके परेका होनेके साथ-साथ छिछला भी था।

बम्बईके कटे और सिले कपड़े विलायती होनेके बाद भी अच्छे दर्जेके अंग्रेज-समाजमें शोभा नहीं देंगे, यह सोचकर मैंने 'आर्मी और नेवी' स्टोरमें कपड़े सिलवाये। १९ शिलिंगकी (उस जमानेके लिहाजसे तो यह कीमत बहुत ही कही जायेगी) 'चिमनी' टोपी खरीदकर पहनी। इससे भी सन्तोष नहीं हुआ, तो बॉण्ड स्ट्रीटमें जहाँ शौकीन लोगोंके कपड़े सिलते थे, १० पौंड फूँककर शामको पहननेकी पोशाक सिलवाई। भोले और उदार बड़े भाईसे दोनों जेबोंमें लटकाने लायक सोनेकी एक बढ़िया चेन भेजनेको कहा और उन्होंने भेज भी दी। बँधी-बँधाई टाईका उपयोग शिष्टाचारमें नहीं बैठता था, इसलिए टाई बाँधनेकी कला सीखी। देशमें था, तो जिस दिन हजामत बनाता, उसी दिन आईना देखता, पर यहाँ तो बड़े दर्पणके सामने खड़े होकर ढंगसे टाई बाँधने और सीधी माँग निकालकर जुल्फें काढ़नेमें ही रोज लगभग दस मिनट बरबाद हो जाते थे। बाल मुलायम नहीं थे, इसलिए उन्हें अच्छी तरह मोड़े रखनेमें ब्रश (झाड़ू ही समझिए) लेकर रोज खींचातानी चलती थी और टोपी पहनते तथा उतारते समय, माँग बिगड़ न जाये इस खयालसे, हाथ सिर पर पहुँच ही जाता था और बीच-बीचमें समाजमें बैठे-बैठे माँगपर हाथ फेरकर बालोंको व्यवस्थित रखनेकी 'सभ्य' क्रिया भी बराबर चलती रहती थी।

किन्तु इतनी ही टीम-टाम बस नहीं थी। केवल सभ्य पोशाकसे ही सभ्य थोड़े ही बना जा सकता है। मुझे सभ्यताके कुछ दूसरे बाहरी गुणोंके बारेमें भी मालूम हो गया था और मैं उन्हें सीखनेमें लगा था। सभ्य पुरुषको नाचना आना चाहिए। उसे अच्छी तरहसे फ्रेंच जान लेनी चाहिए। इंग्लैंडके पड़ोसी फ्रांसकी भाषा फ्रेंच सारे यूरोपकी राष्ट्रभाषा जो थी। फिर मैं यूरोप-भ्रमण भी करना चाहता था। इसके अलावा सभ्य पुरुषको लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिए। मैंने नाच सीखनेका निश्चय किया। एक कक्षामें भरती हो गया। एक सत्रका शुल्क लगभग तीन पौंड जमा कर दिया। कोई तीन हफ्तोंमें करीब छः सबक सीखने थे। पैर ठीक और तालमें बँधकर नहीं पड़ते थे। पियानो बजता तो था पर समझमें नहीं आता था कि वह क्या कह रहा है। 'एक-दो-तीन' चलता, पर इनके बीच अन्तर क्या था, सो मेरी समझमें न आता। ऐसी हालतमें क्या किया जाये। यह तो 'बाबाजीकी बिल्लीवाला' किस्सा हो गया। चूहेको भगानेके लिए बिल्ली पाली, बिल्लीको दूध पिलानेके लिए गाय पाली और इस तरह बाबाजीका परिवार बढ़ गया। मेरे लोभका परिवार भी बढ़ता चला गया। सोचा, वायलन बजाना सीख लूँ तो सुर और तालका अन्दाज लग जायेगा। तीन पौंड वायलन खरीदनेमें गँवाये और कुछ उसे सीखनेके लिए भी दिये। भाषण देना सीखनेके लिए एक अन्य शिक्षककी तलाश की। उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही। बेलकी 'स्टैंडर्ड ऐलोक्युशनिस्ट' पुस्तक खरीदी। पिटका एक भाषण शुरू किया।

इन बेल साहब ही ने मानो मेरे कानमें घंटी (बेल) बाँधी। मेरी नींद खुली।

मुझे क्या इंग्लैंडमें जीवन बिताना है? लच्छेदार भाषण देनेकी कला सीखकर मैं क्या करूँगा? नाच-नाच कर सभ्य कैसे बन सकूँगा? वायलन तो देशमें भी जाकर सीख सकता हूँ? मैं तो विद्यार्थी हूँ। मुझे विद्याके अर्थका उपार्जन करना चाहिए। मुझे अपने धन्धेसे सम्बन्धित तैयारीमें जुटना चाहिए। मैं यदि अपने सदाचारसे सभ्य समझा जाऊँ, तब तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ देना चाहिए।

ऐसे ही विचारोंकी धुनमें मैंने भाषण शिक्षकको उपर्युक्त आशयके उद्गारोंसे भरा पत्र लिखकर भेज दिया। मैंने उनसे दो या तीन पाठ ही पढ़े थे। नाच सिखानेवाली महिलाको भी ऐसा ही पत्र लिख दिया। वायलन शिक्षिकाके घर वायलन लेकर गया और उन्हें वह जिस दाममें बिके, बेच डालनेके लिए कह दिया। उनके साथ कुछ मित्रता-सी हो गई थी, इसलिए मैंने उनसे अपने मोह-भंगकी बातचीत की। उन्होंने नाच आदिके जंजालसे निकलनेकी मेरी बात पसन्द भी की।

सभ्य बननेकी मेरी यह सनक तीनेक महीने चली होगी। पोशाककी टीमटाम तो बरसों चलती रही। पर मैं विद्यार्थी बन गया।

१६. फेर-फार

कोई ऐसा न समझ ले कि नाच आदिके प्रयोगोंका मेरा काल मेरी स्वच्छन्दताके समयको सूचित करता है। पाठकोंने देखा होगा कि उनमें भी थोड़ी-बहुत समझदारी थी। सभ्यताके प्रति मोहके इस कालमें भी मैं एक हदतक सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता था। खर्चका अन्दाज रखता था। मैंने हर महीने पन्द्रह पौंडसे ज्यादा खर्च न करनेका निश्चय किया था। बसमें आने-जानेका खर्च अथवा डाकका खर्च भी हमेशा लिखता था और सोनेसे पहले हिसाब मिलाकर देख लेता था। यह टेव अन्ततक बनी रही और मैं जानता हूँ कि सार्वजनिक जीवनमें मेरे हाथों लाखों रुपयेका जो लेनदेन हुआ उसमें मैं इसीके कारण योग्य किफायतसे काम ले सका। आगे चलकर मेरी देख-रेखमें जितने आन्दोलन चले, मैंने उनमें कभी कर्ज नहीं लिया; बल्कि हरएकमें कुछ-न-कुछ बचत ही रही। प्राप्त होनेवाले थोड़े-बहुत पैसेका हिसाब भी यदि समझदारीके साथ रखा जाये तो हरएक नवयुवकको उसका वैसा ही लाभ समझमें आयेगा जिसका अनुभव आगे चलकर मैंने और जनताने किया।

अपने रहन-सहनपर अंकुश रखनेके कारण मैं देख पाता था कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए। अब मैंने खर्चको आधा कर डालनेका विचार किया। हिसाब जाँचते हुए पता चला कि मेरा आने-जानेका खर्च काफी हो जाता है। फिर कुटुम्बमें रहनेके कारण प्रति हफ्ते एक निश्चित रकम तो वहाँ देनी ही पड़ती थी। किसी दिन कुटुम्बके लोगोंको बाहर भोजनके लिए ले जानेका शिष्टाचार भी बरतना पड़ता था। यदि कभी उनके साथ कहीं दावतमें जाना होता तो गाड़ी किराया देना जरूरी हो जाता था। कहीं कोई लड़की साथमें जाये तो उसका खर्च भी स्वयं देना एक जरूरी बात थी। कहीं बाहर जानेपर भोजनके लिए घर पहुँचना सम्भव नहीं रहता

था और इसलिए जो पैसे वहाँ पहले ही चुका दिये जाते थे बाहर खानेका खर्च उनसे अतिरिक्त पड़ जाता। मैंने सोचा कि इस तरहके खर्च बचाये जा सकते हैं। केवल लोक-लाजकी वजहसे होनेवाले खर्चोंसे बचनेकी बात भी समझमें आ गई।

कुटुम्बोंमें रहनेके बजाय अब अपना ही कमरा लेकर रहना तय किया और यह भी सोचा कि कामकी दृष्टिसे और अनुभव पानेके लिए अलग-अलग मोहल्लोंमें घर बदलकर रहा करूँगा। घर ऐसी जगह चुने, जहाँसे कामकी जगह जानेमें आधा घंटा पैदल चलनेमें लगता। इससे गाड़ी-भाड़ा बचने लगा। इससे पहले जहाँ जाना जरूरी था वहाँ जानेके लिए किराया देना पड़ता था और घूमनेके लिए अलगसे समय निकालना पड़ता था। अब घूमनेकी व्यवस्था कामपर जाते हुए ही जम गई। और इसके कारण रोज आसानीसे आठ-दस मील घूमना भी होने लगा। इस एक आदतके कारण मैं विलायतमें कदाचित् ही बीमार पड़ा होऊँगा। मेरा शरीर काफी चुस्त बन गया।

कुटुम्बमें रहनेके बजाय मैंने दो कमरे किरायेपर लिये। एक सोनेके लिए और दूसरा उठने-बैठनेके लिए। इसे फेरफारकी दूसरी मंजिल कह सकते हैं। तीसरी मंजिल अभी आनी थी।

इस तरह खर्च तो आधा हो गया, किन्तु समय कैसे बचे? मैं जानता था कि बैरिस्टरीकी परीक्षा देनेके लिए बहुत पढ़ना जरूरी नहीं है। इसलिए उस ओरसे तो मैं बेफ्रिक था, किन्तु मेरी अंग्रेजी कमजोर थी और मुझे उससे दुःख होता था। लेली साहबने कहा था: "तुम पहले बी० ए० हो जाओ, फिर आना।" मुझे उनके ये शब्द खटकते रहते। मैंने सोचा, मुझे बैरिस्टरी सीखनेके सिवाय भी और कुछ पढ़ना चाहिए। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिजकी पढ़ाईका पता लगाया। कई मित्रोंसे बात-चीत की। मैंने देखा कि वहाँ जाता हूँ तो खर्च बढ़ जायेगा और पढ़ाई भी लम्बी चलेगी। मुझे तीन सालसे अधिक रहनेकी सुविधा नहीं थी। एक मित्रने बताया, "यदि तुम कोई कठिन परीक्षा ही देना चाहते हो तो लन्दनकी मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास कर लो। इसमें काफी मेहनत करनी पड़ेगी और सामान्य जानकारी भी बढ़ जायेगी। फिर भी खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" मुझे यह सुझाव पसन्द आया। किन्तु परीक्षाके विषय देखकर मैं चिन्तित हुआ। लेटिनके सिवाय एक और भाषा सीखना अनिवार्य था। लेटिन कैसे सीखूं? मित्रने बताया: "लेटिन वकीलोंके लिए बहुत उपयोगी भाषा है। उससे कानूनकी किताबें समझना आसान हो जाता है और रोमन-लॉकी परीक्षाम एक प्रश्नपत्र तो केवल लेटिन-भाषामें ही हल करना होता है। इसके सिवा लेटिनके ज्ञानसे अंग्रेजी भाषापर प्रभुत्व बढ़ जाता है।" इन सब बातोंका मुझपर प्रभाव पड़ा। मैंने सोचा, मुश्किल हो या न हो, लेटिन तो सीख ही लेनी चाहिए। फ्रेंचकी पढ़ाईको पूरा करना ही था, इसलिए निश्चय किया कि लेटिनके साथ दूसरी भाषा फ्रेंच ले लूंगा। मैट्रिकुलेशनके खानगी वर्ग चलते थे। उनमें प्रवेश ले लिया। हर छठे महीने परीक्षा होती थी। मेरे पास मुश्किलसे पाँच महीनेका समय था। पाँच महीनेमें इतनी तैयारी बहुत कठिन चीज थी। परिणाम यह हुआ, 'सभ्य' बननेके बदले मैं एक बहुत ही उद्यमी विद्यार्थी बन गया। समयसारिणी बनाई। और

एक-एक मिनटका उपयोग करने लगा। तब मेरी बुद्धि या स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र नहीं थी कि मैं अन्य विषयोंके साथ-साथ लैटिन और फ्रेंच भी सीख लेता। परीक्षामें बैठा जरूर पर लेटिनमें फेल हो गया। दुःख तो हुआ लेकिन हिम्मत नहीं हारा। लेटिनमें रस आने लगा था। मैंने सोचा कि फ्रेंचमें दूसरी बार बैठनेसे वह और अधिक अच्छी हो जायेगी तथा विज्ञानमें कोई नया विषय ले लूँगा। प्रयोगोंका प्रबन्ध न होनेके कारण मुझे रासायनिक शास्त्र दिलचस्प नहीं लगता था। आज देख पाता हूँ कि उसमें मुझे खूब रस आना चाहिए था। देशमें यह विषय सीख चुका था, इसलिए पहली बार लन्दनकी मैट्रिकके लिए मैंने इसे चुना था। दूसरी बार 'प्रकाश और उष्णता' (लाइट और हीट) विषय लिये। ये विषय सरल माने जाते थे और मुझे सरल लगे भी।

दूसरी बार परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही साथ रहन-सहनमें और अधिक सादगी लानेकी कोशिश शुरू की। मैंने देखा कि मेरा जीवन अभी तक मेरे कुटुम्बकी गरीबीके अनुरूप सादा नहीं बना है। भाईकी तंगी और उनकी उदारताकी बातको सोचकर मैं व्याकुल हो गया। हर महीने पन्द्रह पौंड या आठ पौंड खर्च करनेवाले विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियाँ मिलती थीं। और मैं देखता था कि मुझसे भी अधिक सादगीसे रहनेवाले विद्यार्थी हैं। ऐसे गरीब विद्यार्थियोंसे मेरा अच्छा सम्पर्क हो गया। एक विद्यार्थी लन्दनकी गरीब बस्तीमें दो शिलिंग हफ्ता देकर एक कोठरीमें रहता था और लोकार्टकी कोको की सस्ती दूकानमें दो पैनीकी रोटी और कोकोपर अपना गुजारा करता था। उसकी होड़ कर सकना तो सम्भव नहीं था लेकिन मैंने सोचा कि मैं दो कमरोंके बदले एक कमरा किराये पर रखूँ और एक समयका भोजन भी हाथसे बनाऊँ। मैंने देखा कि इस प्रकार मैं हर महीने चार-पाँच पौंडमें अपना निबाह कर सकता हूँ। सादी रहन-सहनके विषयमें मैंने किताबें पढ़ी थीं। मैंने पहलेके दोनों कमरे छोड़ दिये और प्रति हफ्ता आठ शिलिंग किरायेपर एक कमरा ले लिया। एक सिगड़ी खरीदी और सुबहका भोजन हाथसे बनाने लगा। इसमें मुश्किलसे बीस मिनट खर्च होते थे। जईकी लपसी बनाने और कोकोके लिए पानी उबालनेमें कितना समय लग सकता था? दोपहरका भोजन बाहर करता और फिर शामको कोको बनाता और रोटीके साथ खा लेता। इस तरह एकसे सवा शिलिंगके भीतर अपने नित्य भोजनकी व्यवस्था कर सकना मैं समझ गया। यह काल मेरी अधिकसे-अधिक पढ़ाईका है। जीवनमें सादगीके साथ पर्याप्त समय बचने लगा। दूसरी बार परीक्षामें बैठा और पास हो गया।

किन्तु पाठक यह न समझें कि सादगीको अपनानेके कारण मेरा जीवन नीरस हो गया होगा। उलटे इन परिवर्तनोंसे मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थितिमें एकता आ गई; कौटुम्बिक स्थितिके साथ मेरे रहन-सहनका मेल बैठ गया; जीवन अधिक सारपूर्ण बना और मेरे मनके आनन्दका पार न रहा।

१७. खुराकके प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवनमें गहरा उतरता गया वैसे-वैसे मुझे भीतर और बाहरके अपने आचरणमें फेर-फार करनेकी जरूरत महसूस होती गई। जिस गतिसे रहन-सहन और खर्चमें परिवर्तन हुए उसी अथवा उससे भी अधिक वेगसे मैंने खुराकमें परिवर्तन करना शुरू किया। मैंने देखा कि अन्नाहारसे सम्बन्धित अंग्रेजी पुस्तकोंमें बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया गया है। लेखकोंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और आरोग्य-शास्त्रकी दृष्टिसे अन्नाहारकी छानबीन की थी। नैतिक दृष्टिसे उन्होंने यह देखा कि पशु-पक्षियोंपर मनुष्यको जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ है वह उन्हें मारकर खानेके लिए नहीं, उनकी रक्षा करनेके लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरेका उपयोग तो करते हैं पर एक-दूसरेको खाते नहीं हैं, पशु-पक्षी भी उसी प्रकारके उपयोगके लिए हैं, खानेके लिए नहीं। उन्होंने यह भी देखा कि खाना भोगके लिए नहीं है, जीनेके लिए ही है। इस कारण कइयोंने तो आहारमें मांसका ही नहीं, अंडों और दूधका त्याग सुझाया और किया भी। कुछ लेखकोंने विज्ञानकी दृष्टिसे मनुष्यके शरीरकी रचना देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यको भोजन पकानेकी जरूरत ही नहीं है। वह झाड़ पर पके हुए फल खानेके लिए ही पैदा किया गया है। दूध उसे केवल माताका पीना चाहिए। दाँत निकलनेके बाद उसे वही खुराक लेनी चाहिए जो दाँतोंसे चबाकर ली जा सकती हो। आरोग्य-शास्त्रकी दृष्टिसे उन्होंने मिर्च-मसालोंका त्याग सुझाया और उन्होंने व्यावहारिक अथवा आर्थिक दृष्टिसे यह कहा कि अन्नाहार ही कमसे-कम खर्चीली खुराक है। मुझपर इन चारों दृष्टियोंका असर पड़ा और मैं अन्नाहार देनेवाले भोजन-गृहोंमें उन लोगोंसे मिलने-जुलने लगा जो इस प्रकारकी दृष्टि रखते थे। विलायतमें इनका एक मण्डल था और इस सम्बन्धमें एक साप्ताहिक पत्र[1] भी निकलता था। मैं उस साप्ताहिक पत्रका ग्राहक बन गया और मण्डलका सदस्य भी। कुछ ही दिनोंमें मैं उसकी समिति पर चुन लिया गया। यहाँ मेरा परिचय एक ऐसे सज्जनसे हुआ जो अन्नाहारियोंमें स्तम्भ गिने जाते थे। मैं तत्सम्बन्धी प्रयोगोंमें व्यस्त हो गया।

घरसे जो मिठाई, मसाले वगैरा मँगाये थे, मैंने उन्हें लेना बन्द कर दिया और मनने एक नया मोड़ लिया। इसी कारण मसालोंके प्रति रुचि कम हो गई और मसालेके अभावमें जो सब्जी रिचमंडमें बेस्वाद मालूम होती थी, सिर्फ उबाली हुई वही सब्जी स्वादिष्ट लगने लगी! इस तरहकी अनेक बातों परसे मैं यह समझ गया कि स्वाद जीभपर नहीं, मनपर निर्भर है।

आर्थिक विचार भी मेरे सामने था ही। उन दिनों कुछ ऐसे लोग थे जो चाय, काफीको हानिकारक कहते थे और कोकोका समर्थन करते थे। मैंने यह समझ लिया था कि उन्हीं वस्तुओंको सेवन करना चाहिए जो शरीर चलानेके लिए आवश्यक हैं। इसलिए मैंने मुख्य रूपसे चाय और काफी को त्यागकर कोकोको अपनाया।

१. **वेजीटेरियन** (१८८८) इसका प्रकाशन पहले स्वतंत्र रूपसे शुरू हुआ था फिर बादमें लंदन वेजीटेरियन सोसाइटीका मुख्य-पत्र हो गया।

भोजन-गृहके दो विभाग थे—एकमें खाये गये पदार्थोंके हिसाबसे पैसे देने होते थे और इसमें एक बारमें शिलिंग, दो शिलिंग तक खर्च हो जाते थे। इस विभागमें अच्छी स्थितिके लोग जाते थे। दूसरे विभागमें छः पैनीमें तीन चीजोंके साथ डबल रोटीका एक टुकड़ा मिलता था। जिन दिनों मैं बहुत अधिक काट-कसर कर रहा था, उन दिनों मैं अकसर इस छः पैनीवाले विभागमें ही जाता था।

ऊपरके प्रयोगोंके साथ और भी बहुत-से उप-प्रयोग हुए। कभी श्वेत-सारवाला आहार छोड़ा, कभी सिर्फ रोटी और फल पर ही रहा और कभी पनीर, दूध और अंडों पर ही। यह अन्तिम प्रयोग उल्लेखनीय है। यह १५ दिन भी नहीं चला।[1] स्टार्चरहित आहारका समर्थन करनेवाले (लेखक)ने अंडोंकी बड़ी स्तुति की थी और यह सिद्ध किया था कि अंडा मांस नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि अंडे खानेमें किसी जीवित प्राणीको दुःख नहीं पहुँचता। इस तर्कसे भ्रमित होकर मैंने माताजीके सम्मुख की हुई प्रतिज्ञाके बावजूद अंडे खाये; किन्तु मेरा यह मोह क्षणिक ही था। मुझे प्रतिज्ञाका नया अर्थ करनेका कोई अधिकार नहीं था। यह अधिकार तो प्रतिज्ञा करानेवालेका ही माना जा सकता है। मांस न खानेकी प्रतिज्ञा करानेवाली माताके मनमें अंडोंका खयाल ही नहीं आ सकता था। मैं इस बातको जानता था, इस कारण प्रतिज्ञाके इस पहलूका ध्यान आते ही मैंने अंडे छोड़ दिये और उसीके साथ वह प्रयोग भी।

इसमें एक और सूक्ष्म बात ध्यान देने योग्य है। विलायतमें मैंने माँसके विषयमें तीन मान्यताएँ पढ़ीं—एकके अनुसार मांसका अर्थ पशु-पक्षीका मांस, इसलिए इस तरहकी मान्यता रखनेवाले लोग उसे छोड़कर मछली खाते थे; अंडे तो खाते ही थे। दूसरी व्याख्याके अनुसार साधारण मनुष्य जिसे जीव मानता है उसे खाना छोड़ा जाता था। उसके अनुसार मछली त्याज्य थी, पर उनके लेखे अंडे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्याके अनुसार साधारणतया जिन्हें जीव माना जाता है उनके और उनसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंके त्यागकी बात आ जाती थी। इस व्याख्याके अनुसार अंडोंका और दूधका भी त्याग अनिवार्य था। यदि मैं मांसकी पहली व्याख्याको मानता तब तो मछली भी खा सकता था। पर मैं यह बात समझ गया कि मेरे लिए तो माताजीकी व्याख्या ही अनिवार्य है। इसलिए यदि मुझे उनके सम्मुख ली गई प्रतिज्ञाका पालन करना हो, तो मुझे अंडे कदापि नहीं खाने चाहिए। इस कारण मैंने अंडे छोड़ दिये। लेकिन इससे मैं बड़ी कठिनाईमें पड़ गया, क्योंकि बारीकीसे पता चलानेपर मालूम हुआ कि अन्नाहारवाले भोजन-गृहमें भी बहुतसी चीजोंमें अंडा होता है। कहनेका अर्थ यह है कि परिस्थिति-वश मुझे वहाँ भी तबतक परोसनेवालोंसे पूछ-पूछकर ही खाना पड़ा, जबतक खुद मुझे सब-कुछ मालूम नहीं हो गया। कई तरहके 'पुडिंग' और कई तरहके केकोंमें अंडे होते ही थे। एक तरहसे इसके कारण मैं झंझटसे ही बरी हो गया और मेरे लेने योग्य बिलकुल इनी-गिनी और सादी चीजें बच गईं।

१. २-५-१८९१ को लन्दनमें अन्नाहारपर जो लिखित भाषण पढ़ा था उसमें उन्होंने कहा था कि मुझे खेद है कि मैं डेढ़ माहसे अंडे खा रहा हूँ। देखिए खण्ड १, पृष्ठ ४६।

दूसरी तरफ मनको कुछ कष्ट भी हुआ क्योंकि जिनका स्वाद लग गया था ऐसी कई चीजोंको छोड़ना भी पड़ा। पर यह कष्ट क्षणिक था। क्षणिक स्वादकी तुलनामें प्रतिज्ञा-पालनका स्वस्थ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद मुझे अधिक प्रिय लगा।

पर सच्ची परीक्षा तो आगे चलकर होनेवाली थी और वह एक दूसरे ही व्रतके निमित्तसे। 'जाको राखे साइयाँ, मारि न सकिहै कोय।'

अध्यायको समाप्त करनेसे पहले प्रतिज्ञाके अर्थके विषयमें कुछ और कहना भी जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा तो माँके सामने लिया हुआ एक वचन था। दुनियामें बहुत-से झगड़े केवल दिये हुये वचन अथवा किये गये करारके अर्थके कारण पैदा होते हैं। इकरारनामा कितनी ही स्पष्ट भाषामें क्यों न लिखा जाये, भाषामें बारीकी निकालनेवाले तिलका ताड़ बना सकते हैं। सभ्य और असभ्य सभी लोगोंमें ऐसा होता है। स्वार्थ सबको अन्धा कर देता है। राजासे लेकर रंक तक सभी लोग इकरारोंके ऐसे अर्थ करते हैं जो उन्हें सुविधाजनक हों और फिर इस प्रकार स्वयं अपनेको और भगवानको धोखा देते हैं। सम्बन्धित व्यक्ति जब किसी शब्द अथवा-वाक्यका अपने पक्षमें पड़नेवाला अर्थ लगाते हैं, तब न्यायशास्त्र उसे द्विअर्थी मध्यम पद कहता है। खरा न्याय तो यह है कि वही अर्थ सच्चा माना जाये जो विपक्षीने करार करते समय अपने मनमें माना हो। हम अपने मनमें जो अर्थ छुपाये हुए हैं, वह खोटा अथवा अधूरा है। इसी तरहका दूसरा खरा न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थोंकी सम्भावना है, वहाँ ठीक अर्थ वही माना जाना चाहिए, जो दुर्बल पक्ष लगा रहा है। अक्सर इन दो स्वर्ण मार्गोंका त्याग होनेपर ही झगड़े होते हैं और अधर्म पनपता हैं। अन्यायकी जड़ असत्य है। जिसे सत्यके मार्गपर ही चलना है उसे सच्चा रास्ता सहज ही मिल जाता है। इसके लिए उसे शास्त्र नहीं खोजने पड़ते। माताने 'मांस' शब्दका जो अर्थ माना और जिसे मैं उस समय समझ रहा था, वही मेरे लिए सच्चा था। मेरे लिए वह अर्थ सच्चा नहीं था, जिसे मैंने अधिक पढ़-लिखकर अनुभवसे या विद्वत्ताके मदमें सीख लिया था।

इस समय तक मैंने जो प्रयोग किये, उनमें दृष्टि आर्थिक और आरोग्यकी होती थी। विलायतमें उनका स्वरूप धार्मिक नहीं बना था। धार्मिक दृष्टिसे मैंने दक्षिण आफ्रिकामें कठिन प्रयोग किये। उनकी छानबीन आगे करूँगा। पर कहा जा सकता है कि उनका बीज विलायतमें बो दिया गया था।

जो व्यक्ति कोई नया धर्म स्वीकार करता है उसमें उस धर्मके प्रचारका जोश उसी धर्ममें जन्मे हुए व्यक्तियोंकी अपेक्षा अधिक पाया जाता है। विलायतमें अन्नाहार एक नया धर्म ही था और मेरे लिए भी ऐसा ही कहा जा सकता है। क्योंकि बुद्धिसे मांसाहारका हिमायती बननेके बाद ही मैं विलायत गया था। अन्नाहारको नीतिके रूपमें ज्ञानपूर्वक तो मैंने विलायतमें ही अपनाया था। अतएव मेरी स्थिति वैसी ही बन गई जैसे नये धर्ममें प्रवेश करनेवाले व्यक्तिकी बनती है और तदनुसार मुझमें नवधर्मान्तरितों-जैसा जोश आ गया। इस उत्साहसे प्रेरित होकर मैंने उस बस्तीमें जहाँ मैं रहता था, एक अन्नाहारी मण्डलकी स्थापनाका निश्चय किया। इस बस्तीका नाम बेज-वाटर था। सर एडविन आर्नोल्ड यहाँके निवासी थे। मैंने उन्हें

उपसभापति बननेके लिए निमन्त्रित किया। उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। डाक्टर ओल्डफील्ड सभापति हुए और मैं मन्त्री। यह संस्था कुछ दिनों तक तो अच्छी तरह चली, पर कुछ ही महीनोंके बाद समाप्त हो गई क्योंकि मैंने एक निश्चित अवधि होनेपर बस्ती बदलनेकी अपनी पद्धतिके अनुसार उसे छोड़ दिया था। पर इस छोटे और अल्पकालके अनुभवसे मुझे संस्थाओंका निर्माण करने और उन्हें चलानेका कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

१८. लज्जाशीलता — मेरी ढाल

मैं अन्नाहारी मण्डलकी कार्यकारिणीमें चुन लिया गया और हर बार उसमें हाजिर भी रहने लगा। पर बोलनेके लिए मेरी जीभ नहीं खुलती थी। डॉ० ओल्डफील्ड मुझसे कहते, "तुम मुझसे तो बड़ी बातें करते हो, किन्तु समितिकी बैठकमें कभी मुँह ही नहीं खोलते। तुम्हें नरमक्खीकी उपमा दी जानी चाहिए।" मैं उनके मजाकको समझ गया। मादा मधुमक्खियाँ निरन्तर काममें जुटी रहती हैं, पर नर-मक्खी केवल खाती-पीती रहती है और काम बिलकुल नहीं करती। समितिमें सब लोग अपना-अपना मन्तव्य प्रायः प्रकट करें और मैं गूँगा बनकर ही बैठा रहूँ, यह कैसी अजीब बात थी। यह नहीं है कि मुझे बोलनेकी इच्छा न होती हो, किन्तु मैं क्या बोलता। सभी सदस्य मुझे अपनी अपेक्षा अधिक चतुर मालूम होते थे। मैं किसी विषयमें बोलनेकी जरूरत महसूस करता और कुछ कहनेकी हिम्मत करनेकी तैयारी करता कि दूसरा विषय छिड़ जाता था। बहुत दिनों तक ऐसा ही होता रहा।

एक बार समितिमें एक गम्भीर विषयपर चर्चा हुई। मुझे लगा कि उसमें भाग न लेना तो अन्याय ही होगा। गूँगेकी तरह केवल मत देकर शान्त रह जानेमें मुझे कायरता लगी। 'टेम्स आयरन वर्क्स' के मालिक श्री हिल्स उस दिन मण्डलके सभापति थे। वे नीतिके कट्टर हिमायती थे। कहा जा सकता है कि मण्डल उन्हींके पैसेसे चल रहा था। समितिके अनेक सदस्य उनके ही बलपर निभते जा रहे थे। डॉ० एलिन्सन भी समितिके सदस्य थे। उन दिनों कृत्रिम उपायोंके द्वारा सन्तति-नियमनका आन्दोलन चल रहा था। डॉ० एलिन्सन ऐसे उपायोंके समर्थक थे और मजदूरोंमें उनका प्रचार करते थे। श्री हिल्सने इन उपायोंको नीति-नाशक माना। उनके विचारमें अन्नाहार मण्डल केवल आहारके सुधारके लिए ही नहीं, बल्कि सदाचार और सद्नीतिके प्रचार-प्रसारका मण्डल भी था। इसलिए उनकी राय थी कि डॉ० एलिन्सनके समान समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग इस मण्डलमें नहीं रहने चाहिए। इसलिए डॉ० एलिन्सनको समितिसे हटानेका प्रस्ताव सामने आया। मुझे इस चर्चामें दिलचस्पी थी। मैं भी डॉ० एलिन्सनके कृत्रिम उपायों सम्बन्धी विचारको भयंकर मानता था, और श्री हिल्स द्वारा उसके विरोधको शुद्ध नीति मानता था। मेरे मनमें उनके प्रति बड़ा आदर था और उनकी उदारताके प्रति भी सम्मानका भाव था। किन्तु शुद्ध नीति-नियमोंके प्रति अश्रद्धा रखनेके कारण किसी अन्नाहार-

संवर्द्धक मण्डलमें से किसीका बहिष्कार किया जाना मुझे स्पष्ट ही अन्यायकी बात मालूम हुई। मेरी समझमें स्त्री-पुरुष सम्बन्धी श्री हिल्सके विचारोंका अन्नाहारी मण्डल से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे उनके व्यक्तिगत विचार थे और मण्डलके सिद्धान्तोंके साथ इनका सम्बन्ध नही था। मण्डलका उद्देश्य केवल अन्नाहारका प्रसार करना था, सदाचार आदिका नहीं। इसलिए मेरी यह राय थी कि दूसरी अनेक नीतियोंकी अवज्ञा करनेवालेको भी मण्डलमें स्थान दिया जा सकता है।

समितिमें मेरे विचारके दूसरे सदस्य भी थे। पर मैं अपने विचार व्यक्त करना ही चाहता था। व्यक्त कैसे करूँ, यह एक बड़ा प्रश्न बन गया। मुझमें भाषण देनेकी हिम्मत नहीं थी, इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर सभापतिके सामने रखना तय किया। मैं अपने विचार लिखकर ले गया। जैसा कि मुझे याद है उसे पढ़ सुनानेकी भी मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। सभापतिजीने उसे दूसरे सदस्यसे पढ़वाया। डॉ० एलिन्सनके पक्षकी हार हो गई और मैं इस तरह अपने पहले इस युद्धमें पराजित पक्षमें रहा। किन्तु मैं उस पक्षको सच्चा मानता था, इसलिए मुझे पूरा-पूरा सन्तोष रहा। मुझे कुछ ऐसा ख्याल आता है कि मैंने इसके बाद समितिसे इस्तीफा दे दिया था।

शरमानेकी मेरी आदत विलायतमें अबतक बनी हुई थी। किसीसे मिलने जाता और यदि वहाँ पाँच-सात मनुष्य होते तो मैं गूँगा बना बैठा रहता।

एक बार मैं वैंटनरमें था। वहाँ मजमुदार भी थे। वहाँ एक अन्नाहारी घर था। उसमें हम दोनों रह रहे थे। 'ऐथिक्स ऑफ डायट।' (आहार नीति) के लेखक इसी बन्दरगाहमें रहते थे। हम उनसे मिले। अन्नाहारको प्रोत्साहन देनेके लिए एक सभा की गई। उसमें हम दोनोंको बोलनेके लिए आमन्त्रित किया गया। हम दोनोंने इसे स्वीकार किया। मैंने अबतक यह देख लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़नेमें कोई दोष नहीं माना जाता। अपने विचारोंको सिलसिलेसे और संक्षेपमें प्रकट करनेके लिए बहुत-से लोग लिखकर पढ़ देते थे, यह मैंने देखा था। मैंने अपना भाषण लिख लिया। बोलनेकी हिम्मत नहीं थी, इसलिए जब पढ़ने खड़ा हुआ तो पढ़ नहीं सका; आँखोंके सामने अँधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे। मेरा भाषण मुश्किलसे फूलस्केपका एक पृष्ठ रहा होगा। आखिर मजमुदारने उसे पढ़कर सुनाया। मजमुदार खुद तो बहुत अच्छा बोले। बीच-बीचमें श्रोतागण उनकी बातोंका स्वागत तालियाँ बजाकर कर रहे थे। मैं लज्जित हुआ और बोलनेकी अपनी असमर्थताके लिए दुखी भी।

विलायतमें सार्वजनिक रूपसे बोलनेका अन्तिम अवसर विलायत छोड़ते हुए मेरे सामने आया। विलायत छोड़नेसे पहले मैंने अपने अन्नाहारी मित्रोंको भोजके लिए हाबर्न भोजन-गृहमें निमन्त्रित किया था। मैंने सोचा कि अन्नाहारी भोजन-गृहोंमें तो अन्नाहार मिलता ही है पर जिस भोजन-गृहमें मांसाहार बनता हो, वहाँ अन्नाहारकी व्यवस्थाका प्रवेश अधिक अच्छा रहेगा। यह विचार करके मैंने इस भोजन-गृहके व्यवस्थापकके साथ विशेष प्रबन्ध करके वहाँ भोजकी व्यवस्था की। यह नया प्रयोग अन्नाहारियोंमें तो प्रसिद्धि पा गया, लेकिन इससे मेरी फजीहत ही हुई। सारी दावतें भोगके लिए होती हैं, पर पश्चिममें इनका विकास एक कलाके रूपमें किया

गया है। भोजके समय विशेष सजावट, आडम्बर आदि किया जाता है। बाजे बजते हैं, भाषण होते हैं। इस छोटे-से भोजमें भी यह सारा दिखावा किया गया था। अन्तमें मेरे भाषणका अवसर आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोचकर बोलनेकी तैयारी की थी। कुछ वाक्य ही बोलना निश्चित किया था, किन्तु पहले वाक्यसे आगे नहीं बढ़ सका।[1] एडीसनके विषयमें पढ़ते हुए मैंने उसके लज्जाशील स्वभावके बारेमें जाना था। लोकसभा (हाउस आफ कॉमन्स)में दिये गये उनके पहले भाषणके बारेमें यह कहा जाता है कि उन्होंने 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है', 'मेरी धारणा है', इस तरह तीन बार कहा और इसके आगे बढ़ ही नहीं सके। जिस अंग्रेजी शब्द 'कन्सीव'का अर्थ धारणा है, उसका अर्थ गर्भ धारण करना भी होता है। इसलिए जब एडीसन आगे कुछ न कह सका, तो लोकसभाके एक मसखरे सदस्यने कहा कि इन सज्जनने तीन बार गर्भ धारण किया, पर पैदा तो कुछ भी नहीं कर सके। मैंने यह कहानी भी सोच रखी थी और मेरा इरादा एक छोटा-सा विनोदपूर्ण भाषण करनेका था। मैंने अपने भाषणका आरम्भ इस कहानीसे किया, पर वाणी वहीं अटक गई। जो-कुछ सोचा था, सब भूल गया और विनोदपूर्ण तथा गूढ़ार्थसे भरा हुआ भाषण करनेकी कोशिशमें मैं स्वयं हँसीका पात्र बन गया। अन्तमें मैंने इतना ही कहा, "सज्जनो, आपने मेरा निमन्त्रण स्वीकार किया, इसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ।" मुझे इतना कहकर बैठ जाना पड़ा।

कहा जा सकता है कि शरमानेका मेरा यह स्वभाव दक्षिण आफ्रिकामें ही दूर हुआ। बिलकुल दूर हो गया हो, ऐसा तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलते समय सोचना तो पड़ता ही है। नये लोगोंके सामने बोलते हुए मुझे संकोच होता है। बोलनेसे बचा जा सकता हो, तो उसकी कोशिश जरूर करता हूँ। यह स्थिति तो आज भी नहीं है कि मित्रोंके बीच बैठा होनेपर कोई विशेष बात कह ही सकूँ, अथवा कहनेकी इच्छा हो।

अपने स्वभावके कारण मेरी फजीहत तो कई बार हुई, किन्तु इससे मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ। बल्कि अब तो यह कह सकता हूँ कि इससे मुझे लाभ ही हुआ है। पहले बोलनेका संकोच दुःखकर था, अब सुखकर हो गया है। एक बड़ा फायदा तो यह हुआ कि मैं शब्दोंकी मितव्ययिता सीख गया। मुझे सहज ही अपने विचारों पर अंकुश रखनेकी आदत पड़ गई। मैं अपने-आपको यह प्रमाणपत्र दे सकता हूँ कि मेरी जीभ या कलमसे बिना सोचे-विचारे या बिना तौले शायद ही कोई शब्द निकलता है। याद नहीं पड़ता कि मुझे कभी अपने किसी भाषण या लेखके किसी अंशके लिए लज्जित होना या पछताना पड़ा हो। इस कारण मैं बहुत-से संकटोंसे बच गया हूँ और अपना बहुत-सा समय बचा लेनेका लाभ भी मुझे मिला है।

अनुभवने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्यके पुजारीको मौनका सेवन करना इष्ट है। मनुष्य जाने-अनजाने प्रायः अतिशयोक्ति कर देता है अथवा जो कहना चाहिए उसे छुपा लेता है या दूसरे ढंगसे पेश करता है। इस प्रकारकी आपत्तिसे

१. भाषणके विवरणके लिये देखिए खण्ड १, पृष्ठ ५२।

बचनेके लिए भी मितभाषी होना आवश्यक है। कम बोलनेवाला बिना विचारे नहीं बोलेगा; वह अपने प्रत्येक शब्दको तौलेगा। मनुष्य अक्सर बोलनेके लिए अधीर हो उठता है। "मैं भी बोलना चाहता हूँ, मैं भी बोलना चाहता हूँ," इस आशयकी पर्ची किस सभापतिको नहीं मिलती। फिर जो समय दिया जाता है वह ऐसे बोलने-वालेके लिए पर्याप्त नहीं होता। वह अधिक समयकी माँग करता है और अन्तमें बिना अनुमतिके भी बोलता चला जाता है। इन तमाम लोगोंके बोलनेसे दुनियाको कोई लाभ होते कदाचित् ही देखा गया है। पर उन्होंने जो समय बरबाद किया सो तो स्पष्ट ही दिखाई देता है। इसलिए भले ही आरम्भमें मेरा संकोची स्वभाव मुझे दुःख देता था, किन्तु आज उसका स्मरण करके मुझे सुख ही होता है। यह संकोची स्वभाव मेरी ढाल थी। उससे मुझे परिपक्व होनेका अवसर मिला। उससे मुझे सत्यकी अपनी पूजामें सहायता मिली।

१९. असत्य रूपी विष

चालीस साल पहले आजकी तुलनामें बहुत कम विद्यार्थी विदेश जाते थे। विवाहित होनेपर भी उनमें अपनेको कुँवारा बतानेका रिवाज-सा पड़ गया था। उस देशमें स्कूल या कालेजमें पढ़नेवाला कोई विद्यार्थी विवाहित नहीं होता। विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन ही नहीं है। प्राचीन कालमें हमारे यहाँका विद्यार्थी ब्रह्मचारी ही कहलाता था। बाल-विवाहकी प्रथा तो इसी जमानेमें पड़ी है। कह सकते हैं कि विलायतमें बाल-विवाह जैसी कोई बात है ही नहीं, इसलिए भारतके युवकोंको वहाँ यह स्वीकार करते हुए शर्म मालूम होती है कि वे विवाहित हैं। विवाहकी बात छुपानेका दूसरा एक कारण यह है कि अगर यह प्रकट हो जाये तो फिर वे जिस कुटुम्बमें रहते हैं उसकी तरुण लड़कियोंके साथ घूमने-फिरने और हँसी-मजाक करनेका अवसर नहीं रहता। यह हँसी-मजाक अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरहका साहचर्य पसन्द भी करते हैं। युवक-युवतियोंके बीच वहाँ ऐसे साहचर्यकी आवश्यकता भी मानी जाती है क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक तरुण व्यक्तिको अपना साथी स्वयं खोजना होता है। इस तरह विलायतमें जो सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाता है, यदि हिन्दुस्तानका नवयुवक विलायत पहुँचते ही उसे जोड़ना शुरू कर दे तो उसका परिणाम भयंकर ही होगा। कई बार ऐसे परिणाम हुए भी हैं। फिर भी हमारे नवयुवक इस मोहिनीमें फँसे हुए थे। उन नवयुवकोंने इस प्रकारके साहचर्यके लिए असत्याचरणको चुना, जो अंग्रेजोंकी दृष्टिसे चाहे कितना निर्दोष क्यों न हो, हमारे लिए त्याज्य ही है। मैं भी इस फंदेमें पड़ गया था। पाँच-छः साल पहले विवाहित हो चुकने और एक लड़केका पिता होते हुए भी मैंने अपनेको कुँवारा बतानेमें आगा-पीछा नहीं देखा। किन्तु मैंने इसका स्वाद थोड़ा ही चखा। मेरे शरमीले स्वभावने, मेरे मौनने, मुझे बहुत हद तक बचा लिया था। जब मैं कुछ बोल ही नहीं पाता था, तो किस लड़कीको फुरसत थी कि मुझसे बात करती चली जाती। घूमनेके लिए भी मेरे साथ शायद ही कोई लड़की जाती।

मैं जितना शरमीला था, उतना ही डरपोक भी था। मैं वेंटनरके जिस घरमें रहता था, उसमें शिष्टाचारकी दृष्टिसे ही सही, अगर कोई लड़की होती तो वह घूमते समय मेरे जैसे विदेशीको ही अपने साथ लेती। इस शिष्टाचारके विचारसे इस घरकी मालकिनकी बेटी मुझे वेंटनरके आसपासकी सुन्दर टेकरियोंपर घुमाने ले गई। मेरी चाल कुछ धीमी नहीं थी, किन्तु वह मुझसे भी तेज चलती थी। इसलिए मुझे पीछे रह जाना पड़ता था। वह तो सारे रास्ते बातोंकी फुहार छोड़ते हुए चलती और मेरे मुँहसे कभी 'हाँ' और कभी 'ना' के सिवाय कुछ नहीं निकलता। बहुत हुआ तो कभी किसी दृश्यको देखकर इतना बोल उठा, "कितना सुन्दर"। वह तो हवासे बातें करती चलती और मैं यह सोचता रहता कि कब घर वापस पहुँचेंगे। फिर भी यह कहनेकी हिम्मत न पड़ती कि चलो लौट चलें। इसी बीच हम एक पहाड़ीकी चोटीपर जा पहुँचे। उतरते समय सोचमें पड़ गया। २०-२५ सालकी वह रमणी तो ऊँची एड़ीवाले अपने जूतोंके बावजूद बिजलीकी तरह तेजीसे नीचे उतर गई और मैं शर्मसे गड़ा-गड़ा यही सोचता रहा कि ढाल परसे नीचे कैसे उतरूँ। वह नीचे खड़ी-खड़ी हँस रही थी और हिम्मत बँधा रही थी। पूछती थी कि ऊपर आकर हाथका सहारा देकर नीचे उतार लूँ। किन्तु मैं इतना कायर कैसे बनता। मुश्किलसे पैर जमाता जैसे-तैसे बैठते-उठते नीचे उतरा। उसने मजाकमें "शा. . . . ब्बा. . . . .श" कहा। इस तरह मुझ, वैसे ही लज्जितको, उसने और भी लज्जित किया। इस तरहकी खिल्ली उड़ाकर मुझे शर्मिंदा करनेका उसे हक था।

किन्तु सभी जगह मैं इस तरह कैसे बच सकता था। ईश्वर तो मेरे अन्दरसे असत्यका विष निकाल देना चाहता था। ब्राइटन भी वेंटनरकी तरह समुद्रके किनारे हवाखोरीका एक मुकाम है। मैं एक बार वहाँ गया हुआ था। मैं जिस होटलमें ठहरा था, उसमें साधारण सम्पन्न स्थितिकी एक विधवा वृद्धा भी हवा बदलनेके लिए आकर टिकी हुई थी। यह मेरे पहले वर्षकी ही बात है—वेंटनरके पहलेकी। होटलकी सूचीमें खानेकी चीजोंकी फेहरिस्त फ्रेंच भाषामें थी। मैं चीजोंके नाम समझ नहीं पा रहा था। मैं उसी मेज पर बैठा था, जिसपर वह वृद्धा बैठी हुई थी। उसने समझ लिया कि मैं अजनबी हूँ और कुछ परेशानीमें भी हूँ। उसने बातचीत शुरू की। "आप बाहरी आदमी मालूम होते हैं। किसी परेशानीमें भी हैं। अभी तक आपने खानेके लिए भी कुछ नहीं मँगाया!"

मैं भोजनकी चीजोंकी फेहरिस्त पढ़ रहा था और सोच रहा था कि परोसनेवाले से पूछूँ। इसलिए मैंने उस भद्र महिलाका आभार माना और कहा, "यह फेहरिस्त मेरी समझमें नहीं आ रही है। मैं अन्नाहारी हूँ, इसलिए यह जानना जरूरी है कि इनमें से कौन-कौनसी चीजें निर्दोष हैं।"

महिलाने कहा, "मैं मदद करती हूँ और सूची समझा देती हूँ। आपके खाने लायक चीजें मैं बना लूँगी।" मैंने अनुग्रह मानकर उसकी सहायता स्वीकार की। यहाँसे हमारा जो सम्बन्ध आया सो मेरे विलायतमें रहनेतक और बादमें भी बरसों बना रहा। उसने मुझे लन्दनका अपना पता दिया और हर रविवारको अपने घर

भोजनके लिए आनेको निमन्त्रित किया। वह अन्य अवसरों पर भी मुझे अपने यहाँ बुलाती, प्रयत्न करके मेरे लज्जालु स्वभावको बदलना चाहती, नवयुवतियोंसे परिचय कराती और उनसे बातचीत करनेके लिए प्रोत्साहित करती। वह उसके घर रहनेवाली एक महिलाके साथ मुझे बातचीतका बहुत अवसर देती थी। कभी-कभी हमें अकेला छोड़कर भी चली जाती।

पहले-पहल मुझे यह सब बहुत कठिन लगता। क्या बात करूँ, सो सूझता ही नहीं था। हँसी-दिल्लगी भी किस बातको लेकर की जाये? पर वह बुढ़िया मुझे व्यवहार-पटु बननेमें मदद करती रही और मैं पटु बनने भी लगा। मैं रविवार आनेकी प्रतीक्षामें रहता। उक्त स्त्रीके साथ बातचीत करना मुझे अच्छा लगने लगा था।

बुढ़िया भी मुझे उस दिशामें खींचती। उसे हम लोगोंके साथ रहनेमें दिलचस्पी थी। उसने तो इसमें हम दोनोंकी भलाई ही सोची होगी।

मैं विचारमें पड़ गया कि क्या करूँ। मैंने सोचा: "कितना अच्छा होता, अगर मैं इस भद्र महिलाको बता देता कि मेरा विवाह हो चुका है। फिर उस दशामें वह किसीके साथ मेरे ब्याहकी बात कैसे सोचती? अभी तक बहुत देर नहीं हुई है। यदि मैं सच्ची बात बता दूं तो संकटसे बच जाऊँगा। यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। स्मृतिके आधारपर नीचे उसका सार दे रहा हूँ:

"जबसे हम ब्राइटनमें मिले, तबसे आप मुझे अपना स्नेह देती आ रही हैं। जिस तरह माँ अपने बेटेकी चिन्ता रखती है, उसी तरह आप मेरी चिन्ता रखती हैं। आप सोचती हैं कि मुझे विवाह करना चाहिए और इसी विचारसे मेरा परिचय युवतियोंसे कराती रहती हैं। इस प्रकारके किसी सम्बन्धके अधिक बढ़ जानेसे पहले मेरा आपको यह बतला देना उचित है कि मैं आपके स्नेहके योग्य नहीं हूँ। आपके घर आना शुरू करते ही मुझे यह बता देना चाहिए था कि मैं विवाहित हूँ। मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तानसे आये हुए विवाहित विद्यार्थी इस देशमें अपने विवाहकी बात प्रकट नहीं करते। इसी चलनमें पड़कर मैंने भी ऐसा किया। किन्तु देखता हूँ कि मुझे अपने विवाहित होनेकी बात बिलकुल ही नहीं छुपानी चाहिए थी। मैं कह देना चाहता हूँ कि मेरा विवाह बचपनमें ही हो चुका है और मेरे एक लड़का भी है। अब तक मैंने यह बात छुपाकर रखी, इसका बड़ा दुःख हो रहा है। किन्तु इस बातसे आनन्द भी होता है कि आखिरकार भगवानने सच कहनेकी हिम्मत दे दी। क्या आप मुझे माफ करेंगी? जिन बहनके साथ आपने मेरा परिचय कराया, मैंने उनके साथ कोई अनुचित स्वतन्त्रता नहीं बरती, मैं इसका विश्वास दिलाता हूँ। मैं इस बातको भली-भाँति जानता हूँ कि मुझे ऐसी कोई छूट नहीं लेनी चाहिए। किन्तु आपके मनमें तो यही था कि मेरा किसीसे सम्बन्ध जुड़ जाता। आप इस बातको अन्यथा न सोचें, इस विचारसे भी मुझे आपके सामने सही बात रख देनी चाहिए।"

"यदि इस पत्रके मिलने पर आप मुझे अपने यहाँ आनेके योग्य न समझें, तो मुझे उससे जरा भी बुरा नहीं लगेगा। आपके स्नेहके लिए तो मैं आपका चिर-ऋणी बन चुका हूँ। यह तो ठीक ही है कि अगर आप मुझे नहीं त्यागेंगी तो मुझे आनन्द

होगा। यदि इसके बाद भी आपने मुझे अपने घर आने योग्य माना तो मैं इसे आपके प्रेमका एक नया चिह्न समझूँगा और इसके योग्य बननेका सदा प्रयत्न करता रहूँगा।"

पाठकगण यह तो समझ ही लें कि पत्र मैंने आनकी आनमें नहीं लिख दिया था। न जाने इसके कितने मसविदे तैयार किये होंगे। यह पत्र भेजनेके बाद मेरे सिरका एक बड़ा बोझ उतर गया। लगभग वापसी डाकसे मुझे उस वृद्धा बहनका उत्तर मिला। उसने लिखा था:

"खुले दिलसे लिखा हुआ तुम्हारा पत्र मिला। हम दोनों खुश हुईं और खूब हँसीं। तुमने जो 'असत्य व्यवहार' किया है वह तो क्षम्य ही है। फिर भी यह अच्छा हुआ कि तुमने अपनी सच्ची स्थिति जाहिर कर दी। मेरा आमन्त्रण उसी तरह खुला हुआ है। हम लोग अवश्य ही अगले रविवारको तुम्हारी राह देखेंगी। तुम्हारे बाल-विवाहकी बातें सुनेंगी और तुम्हारा मजाक उड़ाकर आनन्द भी उठायेंगी। यकीन रखो कि हमारी मित्रता जैसी थी वह तो वैसी ही बनी रहेगी।"

इस तरह मेरे अन्तरमें असत्यका जो विष भरा हुआ था, मैंने उसे निकाल डाला और इसके बाद मुझे अपने विवाह आदिकी बात बताते हुए कहीं भी परेशानीका अनुभव नहीं हुआ।

२०. धर्मोंसे परिचय

विलायतमें रहते हुए कोई एक बरस बीता होगा; इसी समय दो थियासोफिस्ट मित्रोंसे पहचान हुई। दोनों परस्पर सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताजीकी चर्चा की। वे एडविन आर्नोल्डका गीताजीका अनुवाद पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे उसे मूल संस्कृतमें साथ-साथ पढ़नेके लिए आमन्त्रित किया। मैं लजाया क्योंकि मैंने संस्कृतमें या मातृभाषामें गीता पढ़ी ही नहीं थी। मुझे उनसे कहना पड़ा कि मैंने गीता पढ़ी ही नहीं है, फिर भी मैं उसे आपके साथ पढ़नेको तैयार हूँ। संस्कृतका मेरा अभ्यास भी नहींके बराबर है। मैं उसे इतना ही समझ सकता हूँ कि यदि अनुवादमें कहीं कोई गलत अर्थ होगा, तो उसकी ओर इशारा कर सकूँगा। इस प्रकार मैंने उन भाइयोंके साथ गीता पढ़ना शुरू किया। दूसरे अध्यायके अन्तिम श्लोकोंमें से इन श्लोकोंका मेरे मनपर गहरा असर पड़ा:

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति संमोहः समोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[1]

१. विषयोंका चिन्तन करनेवालेको पहले उन विषयोंके प्रति आसक्ति उपजती है, आसक्तिसे कामना जन्म लेती है, और कामनासे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधमें से संमोह, संमोहमें से स्मृति-भ्रम और स्मृति-भ्रमसे बुद्धि-नाश होता है और अन्ततोगत्वा उस व्यक्तिका ही नाश हो जाता है।

वे मेरे कानोंमें गूंजते ही रहे। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रन्थ है। धीरे-धीरे यह मान्यता बढ़ती गई और मैं आजतक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। अपनी निराशाके समयमें मुझे इस ग्रन्थने अमूल्य सहायता प्रदान की है। मैं इसके लगभग सभी अंग्रेजी अनुवाद पढ़ चुका हूँ। किन्तु मुझे एडविन आर्नोल्डका अनुवाद श्रेष्ठ लगता है। उसमें मूल ग्रन्थके भावकी रक्षा की गई है और फिर भी वह ग्रन्थ अनुवाद जैसा नहीं लगता। यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि उन दिनों मैंने भगवद्गीताका अध्ययन किया। मेरे नित्य पाठका ग्रन्थ तो वह कई वर्षोंके बाद बना।

इन्हीं सज्जनोंने मुझे सुझाया कि मैं आर्नोल्डका बुद्ध-चरित्र पढ़ूँ। उस समय तक मैं केवल सर एडविन आर्नोल्डके गीताके अनुवादकी बात ही जानता था। मैंने बुद्ध-चरित्र और भी अधिक डूबकर पढ़ा। पुस्तक हाथमें लेनेके बाद उसे समाप्त करके ही छोड़ सका। एक बार मैं इन दोनोंके साथ ब्लैवट्स्की लाजमें भी गया। वहाँ उन्होंने मुझे मैडम ब्लैवट्स्की और श्रीमती बेसेंटके दर्शन कराये। श्रीमती बेसेंट उन्हीं दिनों थियोसाफिकल सोसाइटीमें शामिल हुई थीं, इसलिए समाचारपत्रोंमें तत्सम्बन्धी जो चर्चा चलती थी उसे मैं दिलचस्पीके साथ पढ़ा करता था। इन भाइयोंने मुझे सोसाइटीमें शामिल होजानेका सुझाव भी दिया। मैंने नम्रतापूर्वक इन्कार करते हुए कहा, "मैं धर्मके विषयमें लगभग कुछ नहीं जानता, इसीलिए मैं किसी भी पंथमें शामिल होना ठीक नहीं समझता।" मुझे कुछ ऐसा ख्याल आता है कि इन्हीं भाइयोंके कहनेसे मैंने मैडम ब्लैवट्स्कीकी पुस्तक 'की टु थियोसाफी' (थियोसाफीकी कुंजी) पढ़ी थी। उसके कारण हिन्दू धर्मकी पुस्तकें पढ़नेकी इच्छा हुई और उन्हें पढ़नेके बाद पादरियोंसे सुना हुआ यह ख्याल कि हिन्दू धर्म अन्धविश्वासोंसे ही भरा हुआ है, दिलसे निकल गया।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावासमें मुझे मैंचेस्टरके एक ईसाई सज्जन मिले। उन्होंने मुझसे ईसाई धर्मकी बातें कीं। मैंने उन्हें राजकोटका अपना संस्मरण सुनाया। वे सुनकर दुखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूँ। शराब भी नहीं पीता। यह सच है कि बहुत-से ईसाई मांस खाते हैं और शराब पीते हैं; पर ईसाई धर्ममें इन दोनोंमें से किसी एक भी वस्तुका सेवन करना कर्त्तव्य नहीं है। मेरी सलाह है कि आप बाइबिल पढ़ें।" मैंने उनकी सलाह मान ली। उन्होंने मुझे बाइबिल लाकर दी। मुझे कुछ ऐसा ध्यान है कि उक्त सज्जन बाइबिल विक्रेता थे। उन्होंने जो बाइबिल मुझे दी थी उसमें नक्शे, अनुक्रमणिका सभी कुछ था। मैंने उसे शुरू किया। पर मैं 'पुराना करार' (ओल्ड टेस्टामेंट) पढ़ ही नहीं सका। 'जेनेसिस'— सृष्टि-रचनाके प्रकरणके बाद तो मुझे नींद ही आ जाती थी। मुझे याद है कि मैंने बिना किसी दिलचस्पीके और बिना समझे सिर्फ यह कह सकनेके लिए कि मैंने बाइबिल पढ़ी है, दूसरे कई प्रकरण भी बड़ी मुश्किलसे पढ़े थे। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण पढ़ते हुए तो मैं बिलकुल ही ऊब गया।

पर जब 'नये करार' (न्यू टेस्टामेंट) पर आया, तो एक अलग ही प्रभाव पड़ा। ईसाके 'गिरि-प्रवचन' (सरमन ऑन द माउन्ट) का मुझपर बहुत अच्छा असर

हुआ। मैंने उसे हृदयमें उतार लिया। बुद्धिने उसकी तुलना गीताजीके साथ की। "जो तुझसे कुर्ता माँगे तू उसे अँगरखा दे दे", "जो तेरे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे, बायाँ गाल भी उसके सामने कर दे।"—मुझे यह पढ़कर अपार आनन्द हुआ। शामल भट्टके छप्पयकी[1] याद आ गई। मेरे शिशु-मनने गीता, आर्नोल्ड-कृत 'बुद्ध-चरित्' और ईसाके वचनोंका एकीकरण किया। मनको यह बात पट गई कि त्यागमें धर्म है।

इन ग्रन्थोंके पठनसे दूसरे धर्माचार्योंका जीवन पढ़नेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने कार्लाइलकी 'हीरो ऐंड हीरो वर्शिप' (विभूतियाँ और विभूति-पूजा) पढ़नेकी सलाह दी। उसमें से मैंने पैगम्बरसे सम्बन्धित लेख पढ़ा और मुझे उनकी महानता, वीरता और उनकी तपश्चर्याका अन्दाज लगा।

इतना ही परिचय प्राप्त किया। इससे आगे नहीं बढ़ पाया। फिर मैं अपनी परीक्षाकी पुस्तकोंके अलावा कुछ और पढ़नेका समय ही नहीं निकाल सका। किन्तु मनने यह निश्चय कर लिया कि मुझे धर्म-पुस्तकें पढ़नी चाहिए और सभी मुख्य धर्मोंसे परिचित हो लेना चाहिए।

नास्तिकताके विषयमें भी कुछ पढ़े बिना कैसे काम चलता। ब्रेडलॉका नाम तो सभी हिन्दुस्तानी जानते हैं। ब्रेडलॉ नास्तिक माने जाते हैं, इसलिए उनसे सम्बन्धित एक पुस्तक पढ़ी। उसका नाम मुझे याद नहीं पड़ता। उसका मुझपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार मैं नास्तिकताका सहारा-मरुस्थल पार कर गया। श्रीमती बेसेंटकी उस समय भी बड़ी ख्याति थी। इस बातने कि वे नास्तिकसे आस्तिक बनी हैं, मुझे नास्तिकवादके प्रति उदासीन बना दिया। मैंने श्रीमती बेसेंटकी पुस्तिका (मैं थियोसाफिस्ट कैसी बनी) पढ़ ली थी।

उन्हीं दिनों ब्रेडलॉका देहान्त हुआ। बोकिंडमें उनका अन्तिम संस्कार किया गया। मैं भी उसमें उपस्थित था। मुझे लगता है कि हिन्दुस्तानी तो एक भी गैर-हाजिर नहीं था। उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित करनेके लिए कुछ पादरी भी आये हुए थे। वापस लौटते हुए हम सभी एक जगह ट्रेनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उस समय उस मण्डलीमेंसे किसी पहलवान नास्तिकने इन पादरियोंमेंसे एकके साथ जिरह शुरू कर दी; "क्यों साहब, आप ईश्वर है, ऐसा कहते हैं न?"

सम्बोधित भद्र पुरुषने धीमे स्वरमें जवाब दिया, "हाँ, मैं ऐसा कहता तो हूँ।"

वह व्यक्ति इस ढंगसे हँसा, मानो उसने पादरीको पराजित कर दिया हो और बोला, "अच्छा, आप यह तो स्वीकार करते हैं कि पृथ्वीकी परिधि २८,००० मील है?"

"अवश्य।"

"तब फिर बताइए कि ईश्वर कितने बड़े कदका है और वह वहाँ रहता होगा।"

"अगर हम समझें तो वह हम दोनोंके हृदयमें निवास करता है।"

१. छप्पयके लिए देखिए पहला भाग "धर्मकी झाँकी"।

"बस रहने दीजिए। हमें दुधमुँहा बच्चा मत समझिए।" उस योद्धाने कहा और विजयगर्वसे हम आसपास खड़े हुए लोगोंकी ओर देखा। पादरी नम्रतापूर्वक चुप रहा। इस बातचीतने नास्तिकतावादकी ओर मेरी अरुचि और भी बढ़ा दी।

२१. निर्बलके बल राम

धर्म-शास्त्र और संसारके कुछ धर्मोंका ज्ञान तो मुझे हो गया पर उतना स्वल्प ज्ञान मनुष्यके उद्धारके लिए काफी नहीं होता। संकटके समय जो चीज मनुष्यको बचाती है उसका उसे न अनुमान होता है न ज्ञान। जब नास्तिक बचता है तो वह कहता है कि मैं संयोगवश बच गया। आस्तिक ऐसे ही समय कहेगा, मुझे भगवानने बचा लिया। ईश्वर धर्मोंके अभ्यास और संयमसे हृदयमें प्रकट होता है। परिणाम निकल चुकनेके बाद वह ऐसा सोचता है कि इस तरह सोचनेका उसे अधिकार है। पर जब वह आपत्तिसे बचता है, उस समय उसे इस बातकी प्रतीति नहीं होती कि उसे उसके संयोगने बचाया है या किसी औरने। जो अपनी संयम-शक्तिका अभिमान करता है। अपने संयमको धूलमें मिलते हुए किसने नहीं जाना। संकट-कालमें शास्त्र-ज्ञान तो बिलकुल सारहीन ही लगता है।

बुद्धिके बलपर जो धर्म-ज्ञान होता है, उसके ऐसे मिथ्यापनका अनुभव मुझे विलायतमें हुआ। पहले भी मैं संकटोंमें से उबरकर निकला था, किन्तु मैं उन संयोगोंका पृथक्करण नहीं कर सकता; क्योंकि उन दिनों मैं बच्चा ही था[१] किन्तु अब मेरी उम्र २० वर्षकी हो चुकी थी और मैं गृहस्थाश्रमका भी पर्याप्त अनुभव कर चुका था।

जहाँतक मुझे याद है, मेरे विदेश-निवासके आखिरी सालमें यानी सन् १८९०में[२] अन्नाहारियोंका पोर्टस्मथमें एक सम्मेलन हुआ था। उसमें मुझे और एक दूसरे हिन्दुस्तानी मित्रको निमन्त्रित किया गया था। हम दोनों वहाँ पहुँचे। हमें एक महिलाके घरमें ठहराया गया। पोर्टस्मथ खलासियोंका बन्दरगाह माना जाता है। वहाँ दुराचारिणी स्त्रियोंके बहुत मकान हैं। वे स्त्रियाँ वेश्या तो नहीं होतीं किन्तु निष्कलंक भी नहीं होतीं। हम जिस घरमें टिके थे वह भी ऐसा ही स्थान था। अभिप्राय यह नहीं है कि स्वागत-समितिने जान-बूझ कर ऐसे स्थान तय किये हों। लेकिन जब पोर्टस्मथ जैसे बन्दरगाहमें यात्रियोंको ठहराने योग्य स्थानोंकी तलाश की जाती है, तब यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौन-सा स्थान अच्छा है और कौन-सा बुरा।

रात हुई। हम सभासे लौटे और भोजन करनेके बाद ताश खेलने बैठे। विलायतमें सम्भ्रान्त परिवारोंमें भी मेहमानोंके साथ ताश खेलनेके लिए गृहिणियाँ बैठ जाया करती हैं। ताश खेलते-खेलते निर्दोष हँसी-मजाक तो सभी करते हैं। लेकिन यहाँ जो

१. देखिए खण्ड २७, पृष्ठ ११२ भी।
२. यह १८९१ होना चाहिए। देखिए खण्ड १, द्वितीय संशोधित संस्करण पृष्ठ ३६।

विनोद शुरू हुआ, वह बीभत्स था। मेरा साथी इसमें निपुण है यह मैं नहीं जानता था। मुझे इस विनोदमें रस आने लगा। मैं भी सम्मिलित हो गया। वचनोंको कर्मका रूप देनेकी तैयारी चल रही थी। ताश एक तरफ धरे ही जा रहे थे कि मेरे साथीके मनमें भगवान आ बसे। उसने मुझसे कहा, "अरे, तुममें यह कलयुग कैसे? यह काम तुम्हारा नहीं है। तुम यहाँसे भाग जाओ।"

मैं लज्जित हुआ। सावधान हुआ। मन ही मन उस मित्रका उपकार माना। माताके सामने की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ। मैं भागा और काँपता-काँपता अपने कमरेमें जा पहुँचा। छाती धड़क रही थी। व्याधके हाथसे बचकर निकले हुए शिकारकी जैसी दशा होती है, वैसी ही दशा मेरी थी।

सोचता हूँ, परस्त्रीको देखकर विकारके वश होनेका और उसके साथ रँग-रलियाँ करनेकी इच्छा होनेका यह मेरा पहला प्रसंग था। उस रात मैं सो नहीं सका। कितने ही प्रकारके विचार मनमें आते रहे। इस घरसे चला जाऊँ। कहाँ जाऊँ? मैं कहाँ हूँ? अगर मै सावधान न रहा, तो मेरी क्या गति होगी? मैंने बहुत ही सावधान रहकर बरतनेका निश्चय किया। यह सोच लिया कि जबतक पोर्टस्मथमें हूँ, तबतक तो इसी घरमें रहना है किन्तु मुझे पोर्टस्मथ ही जल्दी-से-जल्दी छोड़ देना चाहिए। सम्मेलन दो दिनसे अधिक चलनेवाला नहीं था। मुझे ध्यान है कि मैंने पोर्टस्मथ दूसरे ही दिन छोड़ दिया। मेरे साथी पोर्टस्मथमें कुछ दिन रुके रहे।

मैं उन दिनों यह बिलकुल नहीं जानता था कि धर्म क्या है, ईश्वर क्या है और वह किस प्रकार हमारे भीतर क्रियान्वित होता है। उस समय तो मोटे तौर पर मैं यही समझा कि मुझे भगवानने बचा लिया है। किन्तु मुझे ऐसे ही अनुभव अलग-अलग क्षेत्रोंमें हुए हैं। ईश्वरने बचाया, इस वाक्यका अर्थ आज मैं अच्छी तरह समझने लगा हूँ और साथ ही मैं यह भी समझता हूँ कि मैं इस वाक्यकी पूरी कीमत अभी तक नहीं आँक पाया हूँ। वह तो अनुभवके प्रमाणमें ही आँकी जा सकती है। फिर भी मैं कह सकता हूँ कि कई आध्यात्मिक प्रसंगोंमें, वकालतके प्रसंगोंमें, संस्थाएँ चलाते हुए तथा राजनीतिके क्षेत्रमें 'ईश्वरने मुझे बचाया है।' मैंने अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़ चुकते हैं, हाथ टेक देते हैं, तब कहीं-न-कहींसे मदद आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना भ्रम नहीं है; यह उससे भी अधिक सच है जितना सच हमारा खाना-पीना, उठना, बैठना आदि हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि और सब झूठ है, यही सच है।

इस तरहकी उपासना, इस तरहकी प्रार्थना, कोरा वाणी-विलास नहीं है। उसका उद्‌गम कण्ठ नहीं, हृदय होता है। इसलिए यदि हम हृदयकी निर्मलताको पा लें, उसके तारोंको सुसंगठित रखें तो उनमेंसे जो सुर निकलते हैं वे गगन-गामी हो जाते हैं। इसके लिए जिह्वाकी आवश्यकता नहीं होती। प्रार्थना स्वभावसे ही अद्‌भुत वस्तु है। मुझे इस विषयमें कोई शंका नहीं है कि विकार-रूपी मलकी शुद्धिके लिए हार्दिक उपासना रामबाण है। किन्तु इस प्रसादको पानेके लिए हममें सम्पूर्ण नम्रता होनी चाहिए।

२२. नारायण हेमचन्द्र

इन्हीं दिनों स्व० नारायण हेमचन्द्र विलायत आये हुए थे। मने लेखकके रूपमें[1] उनका नाम सुना था। मैं उनसे नेशनल इंडियन एसोसिएशनसे सम्बन्धित कुमारी मैंनिगके घर मिला। कुमारी मैंनिंग जानती थीं कि मुझे लोगोंसे मिलनेमें संकोच होता है। मैं जब उनके घर भी जाता तो मुँह बन्द करके बैठा रहता था। कोई बोलने पर बाध्य करे, तभी बोलता। उन्होंने नारायण हेमचन्द्रसे मेरा परिचय कराया। नारायण हेमचन्द्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनकी पोशाक विचित्र थी। वे बेडौल पतलून पहने हुए थे। उसके ऊपर एक बादामी रंगका कोट पहने थे जिसपर सिलवटें पड़ी हुई थीं और वह गलेपर मैला था। नेकटाई या कालर कुछ नहीं था। कोट पारसी ढंगका था किन्तु था बेढंगा। सिर पर ऊनकी गुँथी हुई झब्बेदार टोपी थी। उनके लम्बी दाढ़ी थी।

काठी इकहरी और कद ठिगना कहा जा सकता है। मुँहपर चेचकके दाग थे। गोल चेहरा, नाक न नुकीली न चपटी। दाढ़ी पर हाथ फेरते रहते।

सजे-धजे अन्य सारे लोगोंके बीच नारायण हेमचन्द्र विचित्र-से लगते और देखनेमें सबसे अलग पड़ जाते थे।

"मैंने आपका नाम बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। आप मेरे यहाँ पधारेंगे?"

नारायण हेमचन्द्रकी आवाज कुछ भारी थी। उन्होंने मुस्कराते हुए उत्तरमें पूछा: "आप कहाँ रहते हैं?"

"स्टोर स्ट्रीटमें।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखनी है। क्या आप मुझे सिखा देंगे?"

मैंने उत्तर दिया, "अगर मैं आपकी कुछ मदद कर सकूँ तो मुझे खुशी होगी। मैं यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करूँगा। आप कहेंगे तो मैं आपके पास आ जाया करूँगा।"

"नहीं, नहीं, मैं ही आपके पास आऊँगा। मेरे पास पाठमाला है, मैं उसे लेता आऊँगा।" हमने समय निश्चित किया। हमारे बीच मजबूत स्नेह-गाँठ बँध गई।

नारायण हेमचन्द्रको व्याकरण बिलकुल नहीं आता था। वे 'घोड़ा' को क्रियापद कह देते और 'दौड़ना' को संज्ञा। ऐसे तो कई मनोरंजक उदाहरण मुझे याद हैं। लेकिन नारायण हेमचन्द्र तो ऐसे थे कि मुझे घोटकर पी जायें। मेरे स्वल्प व्याकरण-ज्ञानसे वे मुग्ध होनेवाले नहीं थे। व्याकरण न जाननेकी उन्हें कोई शर्म थी ही नहीं।

"तुम्हारी तरह मैं किसी स्कूलमें नहीं पढ़ा हूँ। मुझे अपने विचार व्यक्त करनेमें व्याकरणकी जरूरत मालूम नहीं होती। बोलो, क्या तुम बंगला जानते हो? मैं बंगला

१. उन्होंने पैगम्बर मुहम्मद साहब के जीवन-चरित्रके लेखकके रूपमें उनका उल्लेख किया है। देखिए खण्ड ११, पृष्ठ १४९।

जानता हूँ। मैंने बंगालमें भ्रमण किया है। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरकी पुस्तकोंके अनुवाद मैंने ही गुजराती जनताको दिये हैं। मैं गुजराती जनताको कई भाषाओंसे अनुवाद देना चाहता हूँ। अनुवाद करते हुए मैं शब्दार्थसे नहीं चिपकता, भावार्थ देकर सन्तुष्ट हो जाता हूँ। मेरे बाद कोई और इससे अधिक दे तो ठीक है। मैं बिना व्याकरण जाने भी मराठी जानता हूँ, हिन्दी जानता हूँ और अब अंग्रेजी भी समझने लगा हूँ। मुझे तो शब्द-भण्डार चाहिए। यह मत समझना कि सिर्फ अंग्रेजी जानकर ही मुझे सन्तोष हो जायेगा। मुझे फ्रांस जाकर फ्रेंच भी सीखनी है। मैं जानता हूँ कि फ्रेंच भाषाका साहित्य विशाल है। यदि हो सका तो जर्मनी भी जाऊँगा और जर्मन भाषा सीखूँगा।" नारायण हेमचन्द्रकी वाग्धारा इसी प्रकार चलती रही। भाषाएँ सीखने और यात्रा करनेकी उनकी उत्सुकताकी सीमा नहीं थी।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जायेंगे?"

"जरूर। उस नई दुनियाको देखे बिना मैं वापस कैसे लौट सकता हूँ?"

"पर आपके पास इतने पैसे कहाँ हैं?"

"मुझे पैसोंसे क्या लेना-देना? मुझे तुम्हारी तरह टीम-टामसे थोड़े ही रहना है। मुझे खाना ही कितना है और पहनना ही कितना है? अपनी किताबोंसे मुझे जो-कुछ मिल जाता है और मित्रगण जो थोड़ा-सा दे देते हैं वह काफी हो जाता है। मैं सब कहीं तीसरे दर्जेमें ही जाता हूँ। अमेरिका यात्रा डेक पर करूँगा।"

नारायण हेमचन्द्रकी सादगी तो उनकी अपनी ही थी। वे जितने सादे थे, उतने ही अकृत्रिम भी। अभिमान नामको भी नहीं था। लेखककी तरह अपनी शक्तिपर उन्हें जितना चाहिए उससे भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार और आचारका काफी हद तक साम्य था। हम दोनों अन्नाहारी थे। दोपहरका भोजन अक्सर साथ ही होता। यह मेरे उस कालकी बात है, जब मैं प्रति हफ्ते १७ शिलिंगमें निर्वाह करता था और भोजन हाथसे बनाता था। कभी मैं उनके मुकाम पर जाता, तो कभी वे मेरे घर आ जाते। मैं रसोई अंग्रेजी ढंगकी बनाता था, किन्तु उन्हें देशी ढंगकी रसोईके बिना सन्तोष नहीं होता था। दाल तो उनके लिए जरूरी ही थी। मैं गाजर वगैराका सूप बनाता। उन्हें इससे मुझपर दया आती। वे कहींसे मूँग खोज लाये और एक दिन उसे उन्होंने मेरे लिए पकाया भी। मैंने उसे बड़े चावसे खाया। फिर तो खाद्य पदार्थोंका हमारा यह लेन-देन और भी बढ़ा। मैं उन्हें अपने बनाये पदार्थ चखाता और वे मुझे अपने बनाये हुए।

कार्डिनल मैंनिंगका नाम उन दिनों सबकी जबान पर था। गोदी-मजदूरोंने हड़ताल कर रखी थी। जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैंनिंगके प्रयत्नसे यह हड़ताल जल्दी ही समाप्त हो गई। डिजरैलीने कार्डिनल मैंनिंगकी सादगीके विषयमें जो लिखा था, सो मैंने नारायण हेमचन्द्रको सुनाया।

"ऐसे साधु पुरुषसे तो मुझे मिलना ही चाहिए।"

"वे तो बहुत बड़े आदमी हैं। आप उनसे कैसे मिलेंगे?"

"मैं बतलाता हूँ किस तरह। तुम मेरे नामसे एक पत्र लिखो। मेरा परिचय देते हुए लिखो कि मैं एक लेखक हूँ और उनके परोपकारका अभिनन्दन करनेके लिए स्वयं उनसे मिलना चाहता हूँ। यह भी लिखो कि मैं अंग्रेजी नहीं बोल सकता, इसलिए मैं दुभाषिएकी तरह तुम्हें साथ ले जाऊँगा।"

मैंने उन्हें इस आशयका पत्र लिखा। दो-तीन दिनमें जवाबमें एक कार्ड आया। उन्होंने मिलनेका समय दे दिया था। हम दोनों गये। मैंने रिवाजको देखते हुए मुलाकातकी पोशाक पहन ली थी, पर नारायण हेमचन्द्र तो जैसे रहते थे वैसे ही गये। वही कोट और वही पतलून। मैंने मजाक किया, तो उन्होंने मेरी बातको हँसकर उड़ा दिया और बोले:

"तुम 'सभ्य' लोग सबके सब डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाक नहीं देखते। वे तो दिल परखते हैं।"

हमने कार्डिनलके महलमें प्रवेश किया। उनका घर महल ही था। हमारे बैठ जानेपर एक बहुत दुबले-पतले, बूढ़े और ऊँचे पुरुषने कमरेमें प्रवेश किया। उसने हम दोनोंसे हाथ मिलाया, नारायण हेमचन्द्रका स्वागत किया।

"मैं आपका समय नहीं लूँगा। मैंने तो आपके विषयमें सुना था। हड़तालमें आपने जो काम किया है मैं उसके लिए आपका उपकार मानना चाहता था। मेरा नियम है कि मैं संसारके साधु पुरुषोंका दर्शन करता रहता हूँ। इस कारण मैंने आपको इतना कष्ट दिया।"

नारायण हेमचन्द्रने इतना कहकर मुझसे कहा कि मैं इन वाक्योंका अनुवाद कर दूँ।

"आपके आनेसे मुझे खुशी हुई। आशा है, आपका यहाँका मुकाम सुखपूर्ण रहेगा और आप यहाँके लोगोंसे परिचय प्राप्त करेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करे।"

यह कहकर कार्डिनल खड़े हो गये।

एक बार नारायण हेमचन्द्र मेरे निवास पर धोती-कुरता पहनकर आये। बेचारी घर-मालकिनने दरवाजा खोला तो डर गई। पाठकोंको याद होगा ही कि मैं घर बदलता रहता था इसीलिए यह महिला नारायण हेमचन्द्रको नहीं जानती थी। मेरे पास आकर बोली, "कोई पागल-सा आदमी तुमसे मिलना चाहता है।" मैं द्वारपर पहुँचा तो नारायण हेमचन्द्रको पाया। मैं हैरान रह गया। पर वे तो सिर्फ हँस रहे थे।

"लड़कोंने आपको तंग नहीं किया?"

जवाबमें वे बोले: "मेरे पीछे दौड़ते रहे, मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया तो रह गये।"

नारायण हेमचन्द्र कुछ महीने इंग्लैंड रहकर वहाँसे पेरिस गये। वहाँ फ्रेंच भाषा-का अध्ययन किया और फ्रेंच पुस्तकोंका अनुवाद करने लगे। उनके अनुवादको देख लेने लायक फ्रेंच मैं जानता था, इसलिए उन्होंने उसे देख जानेको कहा। मैंने देखा कि वह अनुवाद नहीं था, भावार्थ था।

आखिर उन्होंने अपना अमेरिका जानेका निश्चय भी पूरा कर डाला। बड़ी मुश्किलसे उन्हें डेक या तीसरे दर्जेका टिकट मिला था। वे अमेरिकामें धोती-कुर्ता पहनकर निकलनेके कारण 'असभ्य पोशाक' पहननेके अपराधमें पकड़ लिये गये थे और याद पड़ता है कि बादमें छोड़ दिये गये थे।

२३. जबर्दस्त प्रदर्शनी

सन् १८९० में पेरिसमें एक बड़ी प्रदर्शनी की गई थी। उसकी तैयारियोंके बारेमें मैं पढ़ता ही रहता था। पेरिस देखनेकी तीव्र इच्छा भी थी। मैंने सोचा कि यह प्रदर्शनी देखने चला जाऊँ तो दोहरा लाभ हो जायेगा। प्रदर्शनीमें एक बड़ा आकर्षण था 'एफिल टावर' देखनेका। यह टावर खालिस लोहेसे बना हुआ है। इसकी ऊँचाई १,००० फुट है। इसके बननेके पहले लोग ऐसा मानते थे कि १,००० फुट ऊँचा मकान खड़ा ही नहीं रह सकता। प्रदर्शनीमें और भी बहुत-कुछ देखने योग्य था।

मैंने पेरिसके एक अन्नाहारी भोजन-गृहके विषयमें पढ़ा था। उसमें एक कमरा निश्चित किया। बहुत कम खर्चमें सफर निपटाकर पेरिस पहुँचा। वहाँ ७ दिन रुका। ज्यादातर देखने योग्य चीजें पैदल घूमकर ही देखीं। उस प्रदर्शनीकी संदर्शिका और पेरिसका नक्शा ले लिया था और उनके सहारे रास्तोंका पता लगाकर सारी मुख्य-मुख्य चीजें देख लीं।

प्रदर्शनोकी विशालता और विविधताके सिवा उसकी दूसरी कोई बात याद नहीं पड़ती। मैं एफिल टावर पर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी अच्छी तरह याद है। पहली मंजिल पर खाने-पीनेका प्रबन्ध भी था। मैंने वहाँ खानेमें साढ़े सात शिलिंग फूंक दिये थे।

पेरिसके प्राचीन गिरजाघरोंकी याद बनी हुई है। उनकी भव्यता और उनके भीतर मिलनेवाली शान्ति भुलाई नहीं जा सकती। नोत्रदामकी कारीगरी और उसके भीतरकी चित्रकारी आज भी याद है। जिन्होंने लाखों रुपये खर्च करके ऐसे भव्य देवालय बनवाये होंगे उनके मनकी गहराईमें ईश्वर-प्रेम तो रहा ही होगा, ऐसा मैंने सोचा।

पेरिसके फैशन, उसके स्वेच्छाचार और भोग-विलासके विषयमें मैंने काफी पढ़ा था। गली-गलीमें उसके प्रमाण देखनेको मिलते, किन्तु ये गिरजाघर उन स्वेच्छाचारोंसे अलग ही दिखते। उनमें घुसते ही बाहरकी अशान्तिका ध्यान तक नहीं रहता। वहाँ लोगोंका व्यवहार बदल जाता है, लोग बाअदब हो जाते हैं, कोलाहल नहीं होता। कुमारी मरियमकी मूर्तिके सामने कोई न कोई प्रार्थनारत व्यक्ति रहता ही है। यह सब अन्धविश्वास नहीं है, हृदयकी भावना है। मुझपर उस समय ऐसा ही प्रभाव पड़ा था और मेरी वह मान्यता बढ़ती ही गई। जो कुमारी मरियमकी मूर्तिके सामने घुटनोंके बल बैठकर प्रार्थनामें रत दिखाई देते थे, वे उपासकगण संगमरमरके

पत्थरको नहीं, बल्कि उसमें अपने द्वारा कल्पित किसी शक्तिको पूजते थे। इस तरह वे ईश्वरकी महिमाको घटाते नहीं थे, बल्कि बढ़ाते थे। मुझे ऐसा कुछ याद है कि उस समय मुझे ऐसा ही लगा था।

एफिल टावरके विषयमें दो शब्द कहना जरूरी है। मुझे नहीं मालूम, आज एफिल टावरका क्या उपयोग हो रहा है। किन्तु उन दिनों प्रदर्शनीसे सम्बन्धित बहुत-सी बातें लिखी जाती थीं। उसमें एफिल टावरकी स्तुति भी पढ़ी और निन्दा भी। मुझे निन्दा करनेवालोंमें टॉल्स्टॉयकी बात मुख्य रूपसे याद है। उन्होंने लिखा था कि एफिल टावर मनुष्यकी मूर्खताका चिह्न है, उसके ज्ञानका परिणाम नहीं। अपने लेखमें उन्होंने कहा कि दुनियामें जितने तरहके नशे प्रचलित है, उनमें तम्बाकूका नशा एक दृष्टिसे सर्वाधिक बुरा है। कुकर्म करनेकी जो हिम्मत मनुष्यमें शराब पीनेके बाद भी नहीं आती, वह बीड़ी पीनेसे आ जाती है। शराब पीनेवाला तो होश खो देता है, किन्तु बीड़ी पीनेवालेकी अक्ल पर धुआँ छा जाता है और वह इस कारण हवाई-किले बनाने लगता है। टॉल्स्टॉयने यह सम्मति प्रकट की थी कि एफिल टावर ऐसे ही व्यसनका परिणाम है। एफिल टावर सौन्दर्यकी दृष्टिसे तो कुछ भी नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके कारण प्रदर्शनीकी शोभा बढ़ी थी। वह एक नई चीज थी; और बड़ी चीज है, इसलिए हजारों लोग उसे देखनेके लिए उसपर चढ़ते रहते थे। यह टावर प्रदर्शनीका एक खिलौना ही समझिए और जबतक हम लोग मोहान्ध हैं तबतक हम भी बालक हैं। यह बात इस टावर द्वारा भली-भाँति सिद्ध होती है; और इसकी इतनी उपयोगिता भले ही मान ली जाये।

२४. बैरिस्टर तो बन गया — अब क्या हो?

मैं बैरिस्टर बननेके जिस कामके लिए विलायत गया था, उस सम्बन्धमें मैंने क्या किया, इसकी अभी तक मैंने चर्चा नहीं की है। अब उसके बारेमें लिखनेका अवसर आ गया है।

बैरिस्टर बननेके लिए दो बातें जरूरी थीं —— एक थी 'टर्म' पूरी करना अर्थात् सत्रोंमें उपस्थित रहना। वर्षमें चार सत्र होते थे। ऐसे बारह सत्रोंमें हाजिर रहना था। दूसरी चीज थी कानूनकी परीक्षा देना। सत्रोंमें हाजिरीका मतलब होता है दावतें खाना; हरएक सत्रमें लगभग चौबीस दावतें होती थीं। उनमेंसे छः में उपस्थित होना अनिवार्य था। वहाँ पहुँचकर भोजन करना अनिवार्य नहीं था, पर निश्चित समय पर पहुँचकर दावत समाप्त होनेकी अवधि तक वहाँ बैठे रहना अनिवार्य होता था। आम तौर पर तो सब लोग खाते-पीते ही थे। खानेपीनेके लिए अच्छी-अच्छी चीजें होतीं और पीनेके लिए बढ़िया मानी जानेवाली शराब। अवश्य ही उसके दाम चुकाने होते थे। यह रकम ढाई-तीन शिलिंग तक होती, अर्थात् प्रति व्यक्ति दो-तीन रुपयेका खर्च हुआ। यह खर्च बहुत कम माना जाता था, क्योंकि बाहरके किसी होटलमें भोजन करनेपर इतने पैसे तो शराबके ही पड़ जाते थे। शराब पीनेवालेके खानेके

खर्चकी अपेक्षा उसका पीनेका खर्च अधिक होता है। हिन्दुस्तानमें हमें —यदि हम 'सभ्य' न बन गये हों तो—इसपर आश्चर्य हो सकता है। मुझे तो विलायत जानेपर यह सब देख-सुन कर बड़ा आघात पहुँचा था। मेरी समझमें ही नही आता था कि लोग शराब पीनेके पीछे इतना पैसा बरबाद करनेकी हिम्मत कैसे करते हैं। बादमें उसे समझना सीखा। इन दावतोंमें मैं शुरू-शुरूमें तो कुछ भी नहीं खाता था, क्योंकि वहाँ मेरे कामकी चीजोंमें सिर्फ डबल-रोटी, उबले आलू और उबली गोभी ही होती थी। शुरूमें तो ये रुचे नही, इसलिए खाये नही। बादमें जब वे स्वादिष्ट लगने लगे तब दूसरी चीजें माँग कर ले लेनेकी शक्ति भी मुझमें आ गई थी।

विद्यार्थियोंके लिए एक प्रकारके भोजनकी व्यवस्था रहती और बेंचरों (महाविद्यालयके बड़ों)के लिए अलग अमीरी भोजनकी व्यवस्था रहती थी। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वे भी अन्नाहारी बन गये थे। हम दोनोंने अन्नाहारके प्रचारकी दृष्टिसे बेंचरोंके भोजनमें से अन्नाहारियोंके योग्य चीजोंकी माँग की। माँग कबूल हुई और इसके बाद हमें बेंचरोंकी मेजपरसे अन्य शाक-सब्जियाँ और फल वगैरा मिलने लगे।

शराब तो मेरे किसी कामकी ही नहीं थी। चार आदमियोंके बीच शराबकी दो बोतलें दी जाती थीं। इसलिए अनेक चौकड़ियोंमें मेरी माँग रहती। मैं पीता नहीं था, इसलिए उन्हें तीनके बीच दो बोतलें उड़ानेका अवसर मिल जाता था। इसके अलावा इन सत्रोंमें एक 'ग्रैंड नाइट' (शानदार रात) होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के सिवा 'शैम्पेन' भी मिलती थी। 'शैम्पेन' की लज्जत कुछ और ही गिनी जाती थी, इसलिए इस 'शानदार रात' के अवसर पर मेरी इज्जत और भी बढ़ जाती और मुझे उस रात हाजिर रहनेका न्यौता भी मिलता था।

खाने-पीनेके इस कार्यक्रमसे बैरिस्टरीमें क्या वृद्धि हो सकती है सो मैं न तब समझ सका, न उसके बाद। एक समय ऐसा अवश्य था जब इन भोजोंमें सम्मिलित होनेवाले विद्यार्थियोंकी संख्या थोड़ी ही होती थी और तब उनके तथा बेंचरोंके बीच वार्तालाप और भाषणादि भी होते थे। इसके कारण उन्हें व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होनेकी सम्भावना रहती थी। एक प्रकारकी सभ्यता, वह अच्छी हो चाहे बुरी, वे सीखते थे और भाषण शक्ति भी बढ़ाते थे। मेरे जमानेमें तो यह असम्भव हो चुका था। बेंचर तो अलग, अस्पृश्य-जैसे बैठे रहते थे। इस तरह उस पुरानी प्रथाका कोई असर नहीं रह गया था। फिर भी, प्राचीनताके प्रेमी, परम्परावादी इंग्लैंडमें यह प्रथा बनी ही रही।

कानूनकी पढ़ाई सरल थी। बैरिस्टरोंको हँसी-दिल्लगीमें 'डिनर बैरिस्टर' ही कहते थे। सब जानते थे कि वहाँ परीक्षाका मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समयमें रोमके कानून और इंग्लैंडके कानूनकी परीक्षाएँ होती थीं। दो भागोंमें दी जानेवाली इस परीक्षाकी पुस्तकें निर्धारित थीं, पर उन्हें कोई शायद ही पढ़ता था। रोमन-लॉ पर लिखे संक्षिप्त नोट मिलते थे। उन्हें पन्द्रह दिनमें पढ़कर पास होनेवालोंको मैंने देखा था। यही चीज इंग्लैंडके कानूनके बारेमें भी थी। मैंने देखा था कि विद्यार्थी उसपर लिखे नोटोंको पढ़कर दो-तीन महीनोंमें तैयारी कर लेते हैं। परीक्षामें प्रश्न

सरल आते थे और परीक्षक उदार होते थे। रोमन-लॉमें उत्तीर्ण होनेवालोंकी संख्या ९५ से ९९ प्रतिशत और अन्तिम परीक्षामें ७५ प्रतिशत या उससे भी अधिक होती थी। इस कारण अनुत्तीर्ण होनेका डर तो बहुत कम रहता था। इसके सिवाय परीक्षा वर्षमें एक बार नहीं, चार बार होती थी। इतनी सुविधापूर्ण परीक्षा बोझ-रूप तो किसीके लिए भी नहीं हो सकती थी।

पर मैंने उसे बोझ बना लिया। मुझे लगा कि मूल पुस्तकें अवश्य पढ़ ली जानी चाहिए। न-पढ़ना मुझे धोखा देने-जैसा लगा। इसलिए मैंने मूल पुस्तकें खरीदने पर काफी खर्च किया। रोमन लॉको लेटिनमें पढ़ डालनेका निश्चय किया। विलायत की मैट्रिकुलेशन परीक्षामें मैंने लेटिन ली थी। वह यहाँ उपयोगी सिद्ध हुई। मेरा यह पढ़ना व्यर्थ नहीं गया। दक्षिण आफ्रिकामें रोमन डच-लॉ प्रामाणिक माना जाता है। उसे समझनेमें 'जस्टिनियन[1]'का अध्ययन मेरे लिए बड़ा लाभप्रद रहा।

इंग्लैंडके कानूनका अध्ययन नौ महीने काफी मेहनत करनेके बाद समाप्त हो पाया। ब्रूमके 'कामन-लॉ' नामक बड़े परन्तु दिलचस्प ग्रन्थका अध्ययन करनेमें ही काफी समय लग गया। स्टेलकी 'ईक्विटी'को बहुत मन लगाकर पढ़ा पर उसे समझने में जान ही निकल गई। व्हाइट और ट्यूडरके प्रमुख मुकदमोंमें से जो पढ़ने योग्य थे उन्हें पढ़नेमें मुझे मजा आया और ज्ञान भी मिला। अचल सम्पत्ति सम्बन्धी विलियम्स और एडवर्डकी पुस्तक तथा गुडीवकी चल सम्पत्तिपर लिखी पुस्तकको मैंने रस लेकर पढ़ा। विलियम्सकी पुस्तक तो मुझे उपन्यास जैसी लगी। उसे पढ़ते समय मन तनिक भी नहीं ऊबा। मेइनका 'हिन्दू लॉ' हिन्दुस्तान आनेके बाद मैंने इतनी ही रुचिके साथ पढ़ा था। पर हिन्दुस्तानके कानूनकी बात यहाँ नहीं करूँगा।

परीक्षाएँ पास करके मैं १० जून, १८९१ को बैरिस्टर बन गया। ११ जूनको ढाई शिलिंग लेकर इंग्लैंडके हाईकोर्टमें अपना नाम दर्ज कराया और १२ जूनको हिन्दुस्तानके लिए रवाना हो गया।

पर मेरी निराशा और भयकी कोई सीमा नहीं थी। मुझे लग रहा था कि कानून तो मैं बेशक पढ़ चुका, पर ऐसी तो कोई भी चीज मैंने नहीं सीखी, जिसके बलपर वकालत कर सकूँ।

अपनी इस मानसिक पीड़ाका वर्णन करनेके लिए स्वतन्त्र प्रकरण आवश्यक है।

२५. मेरी परेशानी

बैरिस्टर कहलाना तो सहल था, पर बैरिस्टरी करना मुश्किल जान पड़ा। कानून तो पढ़े थे, पर वकालत करना नहीं सीखा था। कानूनमें कई धर्म-सिद्धान्तोंको पढ़नेका अवसर आया जो मनको बहुत भाये, पर यह समझमें नहीं आया कि अपने धन्धेमें उनका उपयोग कैसे किया जा सकेगा। 'अपनी सम्पत्तिका उपयोग इस तरह

१. जस्टिनियन प्रथम (४८३–५६५); सुप्रसिद्ध रोमन सम्राट् जिसकी कानून सम्बन्धी पुस्तक **कोरपस ज्यूरिस सिविलस,** बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

करो कि दूसरेकी सम्पत्तिको हानि न पहुँचे', यह एक धर्म-वचन ही है। पर मैं यह नहीं समझ सका कि वकालतका पेशा करते हुए मुवक्किलके पक्षमें इसका उपयोग कैसे सम्भव होता होगा। जिन मुकदमोंमें इस सिद्धान्तका उपयोग किया गया था, वे मैंने पढ़े थे। पर उनमें भी मुझे इसका उपयोग करनेकी कुंजी हाथ न लगी।

इसके सिवा जो कानून पढ़े थे उनमें हिन्दुस्तानके कानूनका तो उल्लेख ही नहीं था। मैं वहाँ हिन्दू शास्त्र और इस्लामी कानूनके बारेमें कुछ भी नहीं जान पाया, न मैंने वहाँ अर्जी दावा तैयार करना सीखा। मैं बहुत चिन्तित हुआ। मैंने फीरोजशाह मेहताका नाम सुना था। सुना था कि वे अदालतोंमें सिंहकी तरह गर्जना करते हैं। भला उन्होंने यह कला विलायतमें कहाँ सीखी होगी। उनकी जैसी होशियारी तो इस जीवनमें मिल नहीं सकती। साधारण वकीलके नाते आजीविका कमानेकी शक्ति प्राप्त करनेके विषयमें भी मेरा मन बहुत अधिक शंकित हो उठा।

लंदनमें कानूनका अध्ययन करते हुए भी मैं इन शंका-कुशंकाओंके भँवरमें पड़ा था। मैंने दो-एक मित्रोंके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखीं। उन्होंने सुझाया कि मैं दादाभाई नौरोजीकी सलाह लूँ। यह तो मैं सूचित कर चुका हूँ कि मेरे पास दादाभाईके नाम दिया हुआ एक पत्र भी था। उस पत्रका उपयोग मैंने बहुत दिनोंके बाद किया। ऐसे महान् पुरुषसे मिलने जानेका मुझे क्या अधिकार है? उनका कहीं भाषण होता तो मैं उसे सुनने जाता और एक कोनेमें बैठकर नेत्र और श्रवण तृप्त करके लौट आता। उन्होंने विद्यार्थियोंके सम्पर्कमें आनेकी दृष्टिसे एक मण्डल भी स्थापित किया था। मैं उसमें हाजिरी देता रहता। विद्यार्थियोंके प्रति दादाभाईकी चिन्ता और दादाभाईके प्रति विद्यार्थियोंका आदर देखकर मुझे आनन्द होता था। आखिर एक दिन मैंने उन्हें अपने पासका सिफारिशी पत्र देनेका साहस जुटा लिया। मैं उनसे जाकर मिला। उन्होंने मुझसे कहा, "तुम मुझसे मिलकर जब भी कोई सलाह लेना चाहो, जरूर मिलना।" पर मैंने उन्हें कभी कोई कष्ट नहीं दिया। किसी जबरदस्त कठिनाईके उपस्थित होनेके अलावा उनका समय लेना मुझे पाप जान पड़ता। इसलिए उक्त मित्रकी सलाहके अनुसार दादाभाईके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखनेकी मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। कदाचित् उन्हीं अथवा किसी और मित्रने मुझे सुझाया कि मैं श्री फ्रेडरिक पिंकटसे मिलूँ। श्री पिंकट कंजरवेटिव (अनुदार दल) के थे, किन्तु हिन्दुस्तानियोंके प्रति उनके मनमें स्वच्छ और निःस्वार्थ प्रेम था। अनेक विद्यार्थी उनसे मार्गदर्शन लेते थे। इसलिए मैंने उन्हें पत्र लिखकर मिलनेका समय माँगा। उन्होंने समय दिया। मैं उनसे मिला। इस मुलाकातको मैं कभी नहीं भूल सका। वे मुझसे एक मित्रकी तरह मिले। मेरी निराशाको तो उन्होंने हँसकर ही टाल दिया। "क्या तुम यह मानते हो कि सबका फीरोजशाह मेहता बनना जरूरी है? फीरोजशाह मेहता या बदरुद्दीन तैयबजी तो एक-दो ही होते हैं। इतना निश्चित समझ लो कि साधारण वकील बननेके लिए बहुत अधिक होशियारीकी जरूरत नहीं होती। साधारण प्रामाणिकता और अध्यवसायसे मनुष्य भली-भाँति वकालतका धन्धा कर सकता है। सभी मुकदमे बारीकियोंसे भरे हुए नहीं होते। अच्छा, यह बताओ, सामान्य ज्ञानमें तुमने क्या-क्या पढ़ लिया है?"

जब मैंने उन्हें अपनी पढ़ी हुई पुस्तकोंके नाम बताये तो मैंने देखा कि वे थोड़े निराश हुए, किन्तु वह निराशा क्षणिक थी। तुरन्त ही उनके चेहरेपर हँसी छा गई और उन्होंने कहा: "अब मैं तुम्हारी मुश्किल समझ गया हूँ। तुमने बहुत कम सामान्य वाचन किया है। तुम्हें दुनियाका व्यावहारिक ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकीलका काम नहीं चल सकता। तुमने हिन्दुस्तानका इतिहास भी नहीं पढ़ा। वकीलको मनुष्य-स्वभावका ज्ञान होना चाहिए। चेहरा देखकर उसे मनुष्यको पहचान सकना चाहिए। हरएक भारतीयको भारतके इतिहासका तो ज्ञान होना ही चाहिए। वकालतके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु तुम्हें इसका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। देखता हूँ कि तुमने के और मलेसनकी १८५७ के गदरपर लिखी गई किताब भी नहीं पढ़ी है। उसे तो तुम फौरन ही पढ़ डालो और अन्य जिन दो पुस्तकोंके नाम दे रहा हूँ उन्हें मनुष्यकी परखके ख्यालसे पढ़ लेना। यों कहकर उन्होंने लवेटर और शैंमलपेनिककी फिजियॉनॉमी (मुख सामुद्रिक) पर लिखी गई पुस्तकका नाम लिखकर दिया।

मैंने अपने इन वयोवृद्ध मित्रका बड़ा आभार माना। उनकी उपस्थितिमें तो क्षण-भरके लिए मेरा भय चला गया, किन्तु बाहर निकलते ही मैं फिर घबराने लगा। चेहरा देखकर आदमीको परखनेकी बात मनमें घुमाता हुआ और उन दो पुस्तकोंकी बात सोचता हुआ मैं घर पहुँचा। दूसरे दिन लवेटरकी पुस्तक खरीदी। शैंमलपेनिककी पुस्तक उस दूकानपर नहीं मिली। लवेटरकी पुस्तक पढ़ी, पर वह तो स्नेलसे भी कठिन जान पड़ी। रस भी उसमें लगभग बिलकुल नहीं मिला। शेक्सपियरके चेहरेका अध्ययन किया, पर लन्दनकी सड़कों पर चलनेवाले शेक्सपियरोंको पहचाननेकी शक्ति नहीं मिली।

लवेटरकी पुस्तकमे मुझे कोई ज्ञान नहीं मिला। श्री पिंकटकी सलाहका प्रत्यक्ष लाभ तो मुझे बहुत थोड़ा मिला, पर उनके स्नेहसे मुझे बहुत बल मिला। उनके हँसमुख और उदार चेहरेकी याद बनी रही। उन्होंने कहा था कि वकालत करनेके लिए फीरोजशाह मेहता जैसी होशियारी और याददाश्तकी जरूरत नहीं है; प्रामाणिकता और लगनसे काम चल जायेगा। मैंने उनके इन वचनों पर श्रद्धा रखी। मेरे पास इन दोनोंकी पूँजी काफी मात्रामें थी, इसलिए दिलमें कुछ आशा उत्पन्न हुई।

के और मलेसिनकी पुस्तक मैं विलायतमें नहीं पढ़ पाया। पर निश्चय कर लिया था कि मौका मिलते ही उसे अवश्य पढ़ूँगा। यह इच्छा दक्षिण आफ्रिकामें पूरी हुई।

इस तरह निराशामें आशाकी धुँधली-सी किरण लिये हुए मैं काँपते पैरों 'आसाम' जहाजसे बम्बई बन्दरगाह पर उतरा। बन्दर-स्थानपर समुद्र उफना रहा था, इसलिए किनारे पर लांचमें बैठकर आना पड़ा।

दूसरा भाग

१. रायचन्दभाई

पिछले प्रकरणमें मैंने यह लिखा कि बम्बईके बन्दरगाहमें समुद्र विक्षुब्ध था। जून-जुलाईमें हिन्द महासागरके लिए यह कोई अजीब बात नहीं कही जा सकती। अदनसे ही समुद्र ऐसा था। सब लोग बीमार पड़ गये थे; अकेला मैं मजेमें था। तूफान देखनेके लिए डेक पर खड़ा रहता, भींग भी जाता। सुबहके नाश्तेके समय मुसाफिरोंमेंसे हम एक या दो ही मौजूद रहते। जईकी लपसी, रकाबीको गोदमें रख कर ही खाई जा सकती थी, नहीं तो हालत ऐसी थी कि लपसी गोदमें ही आ गिरती।

मुझे तो लगता है कि बाहरका यह तूफान मेरे अन्तरके तूफानका ही चित्र था और जिस तरह बाहरका तूफान मुझे अशान्त नहीं कर पाया, वही बात अन्दरके तूफानके लिए भी कही जा सकती है। जातिका प्रश्न सामने आने ही वाला था। पेशे-सम्बन्धी चिन्ताके विषयमें भी मैं लिख चुका हूँ। इनके सिवा सुधार-प्रिय होनेके कारण मैंने कई प्रकारके सुधारोंकी कल्पना कर रखी थी। उनके विषयमें भी चिन्तित था। कुछ और चिन्ताएँ अप्रत्याशित ही उत्पन्न हो गईं।

मैं माँको देखनेके लिए अधीर हो रहा था। जब नाव गोदीमें पहुँची, तो मैंने अपने बड़े भाई साहबको वहाँ मौजूद पाया। उन्होंने डा० मेहता और उनके बड़े भाईसे तबतक परिचय प्राप्त कर लिया था। डा० मेहताका आग्रह था कि मैं उन्हींके घर ठहरूँ, इसलिए वे मुझे वहाँ ले गये। इस प्रकार विलायतमें जो सम्बन्ध स्थापित हुआ था, वह देशमें भी कायम रहा। इतना ही नहीं, उसने अधिक दृढ़ बनकर दोनों कुटुम्बोंको जोड़ दिया।

मुझे खबर ही नहीं थी कि माताजीका स्वर्गवास हो चुका है। घर पहुँचने पर मुझे इसकी खबर दी गई और स्नान कराया गया। यों यह समाचार विलायतमें दिया जा सकता था, किन्तु बड़े भाईने इस विचारसे कि आघात असह्य न हो जाये, बम्बई पहुँचने तक मुझे खबर न देनेका निश्चय कर रखा था। किन्तु मैं अपने दुःखकी चर्चा नहीं करूँगा। पिताकी मृत्युसे मुझे जो आघात पहुँचा था, माताकी मृत्युकी खबरसे मुझे जो आघात पहुँचा, वह उसकी तुलनामें बहुत अधिक था। मेरे कितने ही मनोरथ मिट्टीमें मिल गये। पर मुझे याद है कि माँकी मृत्युके इस समाचारको सुनकर मैं फूट-फूट कर नहीं रोया। मैं अपने आँसुओंको रोकनेके साथ-साथ अपने रोजमर्राका काम इस तरह शुरू कर पाया था मानो कुछ हुआ ही न हो।

डा० मेहताने अपने स्थान पर जिन लोगोंसे मेरा परिचय कराया, उनमें से एकका उल्लेख किये बिना काम नहीं चल सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन तो मेरे आजन्म मित्र बन ही गये, किन्तु मै जिनकी चर्चा करना चाहता हूँ वे हैं कवि रायचन्द अथवा राजचन्द्र। वे डा० मेहताके बड़े भाईके जामाता और रेवाशंकर जगजीवन पेढ़ीके साझेदार तथा कर्त्ता-धर्त्ता थे। उस समय उनकी अवस्था २५ सालसे

अधिक नहीं थी, फिर भी अपनी पहली ही मुलाकातमें मुझे ऐसा लगा कि वे चरित्रवान और ज्ञानी पुरुष हैं। वे शतावधानी माने जाते थे। डा० मेहताने मुझे उनके शतावधानका नमूना देखनेको कहा। मैंने अपने भाषा-ज्ञानका भण्डार खाली कर दिया और कविने मेरे कहे हुए शब्दोंको उसी क्रममें सुना दिया, जिस क्रममें वे कहे गये थे। उनकी इस शक्तिपर मुझे ईर्ष्या तो हुई, किन्तु मुग्ध मैं उसपर नहीं हुआ। मुग्ध करनेवाली वस्तुका परिचय तो बादमें हुआ। वह था उनका व्यापक शास्त्र-ज्ञान, उनका शुद्ध चरित्र और आत्मदर्शनकी दिशामें उनका उत्कट उत्साह। मैंने बादमें जाना कि वे इस अन्तिम बातके लिए ही जीवन जी रहे थे :

हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखुं रे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवनदोरी हमारी रे।[1]

मुक्तानन्दका यह वचन उनकी जीभपर तो था ही, वह उनके हृदयमें भी अंकित था। वे हजारोंका व्यापार करते, हीरे-मोती परखते और व्यापारकी समस्याओंको सुलझाते, किन्तु ये सब बातें उनके जीवनका केन्द्र नहीं थीं। उनकी मुख्य बात, उनका पुरुषार्थ तो था आत्म-परिचय, हरिदर्शन। वे जिस गद्दीपर बैठते थे उसपर कोई दूसरी चीज हो चाहे न हो, पर कोई न कोई धर्म-पुस्तक और डायरी अवश्य रहती। व्यापारकी बात समाप्त होते ही वे धर्म-पुस्तक अथवा डायरी खोल लेते। उनके लेखोंका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकांश इस डायरीसे ही लिया गया है। जो मनुष्य लाखोंके लेन-देनकी बात समाप्त करते ही तुरन्त आत्मज्ञानकी गूढ़ बातें लिखने बैठ जाये, उसकी जाति व्यापारीकी नहीं, शुद्ध ज्ञानीकी है। उनके विषयमें मुझे ऐसा अनुभव एक बार नहीं, अनेक बार हुआ था। मैंने उन्हें कभी असन्तुलित नहीं देखा। मुझसे उनका कोई स्वार्थ नहीं था। मैं उनके बहुत निकट सम्पर्कमें रहा हूँ। मैं उस समय एक निष्कांचन बैरिस्टर था, पर मैं जब कभी उनकी दुकान पर पहुँचता, वे मेरे साथ ब्रह्म-चर्चाके सिवाय दूसरी कोई बात ही न करते। यद्यपि उस समय तक मैं अपनी दिशा निश्चित नहीं कर पाया था; यह भी नहीं कह सकता कि मुझे साधारणतया धर्म-चर्चामें रस आने लगा था; फिर भी मैं रायचन्दभाईकी बातें रुचिपूर्वक सुनता था। उसके बाद मैं अनेक धर्माचार्योंके सम्पर्कमें आया हूँ। मैंने सभी धर्मोंके आचार्योंसे मिलनेका प्रयत्न किया है, किन्तु जो छाप मुझपर रायचन्दभाईने डाली, वैसी कोई दूसरा नहीं डाल सका। उनके बहुतेरे वचन सीधे हृदयमें उतर जाते थे। मैं उनकी बुद्धिका सम्मान करता था और उनकी प्रामाणिकताके लिए भी मेरे मनमें वैसा ही आदर था। इसलिए मुझे विश्वास था कि वे मुझे जान-बूझकर गलत रास्ता नहीं दिखायेंगे और वही कहेंगे, जो उनके अन्तरकी

१. हँसते-खेलते सभी कामोंमें जब मुझे हरिके दर्शन हों तभी मैं अपने जीवनको सफल मानूँगा। मुक्तानन्द कहते हैं, "भगवान् मेरे नाथ हैं और वही मेरी जीवन-डोरी भी हैं।"

बात होगी। इस कारण मैं अपने आध्यात्मिक संकटके समय उनका आश्रय लिया करता था।

रायचन्दभाईके प्रति इतना आदर रखते हुए भी मैं उन्हें अपने धर्मगुरुके रूपमें हृदयमें स्थान नहीं दे सका। मेरी वह खोज तो आज भी चल रही है।

गुरुके पदको हिन्दू धर्ममें जो महत्व प्राप्त है उसमें मैं विश्वास रखता हूँ। 'गुरु बिन होय न ज्ञान', इस वचनमें बहुत-कुछ सत्य है। अक्षर-ज्ञान देनेवाले शिक्षक अपूर्ण हों, तो काम चल सकता है, किन्तु आत्मदर्शन करानेवाला शिक्षक अपूर्ण हो, तो काम नहीं चल सकता। गुरुपद सम्पूर्ण ज्ञानीको ही दिया जा सकता है। गुरुकी खोजमें ही सफलता छुपी हुई है; क्योंकि शिष्यको अपनी योग्यताके अनुसार ही गुरु मिलता है। इसका यह अर्थ हुआ कि योग्यता प्राप्तिके लिए प्रत्येक साधकको सम्पूर्ण प्रयत्न करनेका अधिकार है और ऐसे प्रयत्नका फल ईश्वरके हाथमें है।

कहनेका आशय यह है कि यद्यपि मैं रायचन्दभाईको अपने हृदयका स्वामी नहीं बना सका, तो भी हम आगे देखेंगे कि मुझे समय-समय पर किस प्रकार उनका सहारा मिलता रहा। यहाँ तो इतना ही कहना काफी होगा कि मेरे जीवनपर गहरा प्रभाव डालनेवाले आधुनिक मनुष्य तीन हैं: रायचन्द भाईने अपने सजीव सम्पर्कसे, टॉल्स्टॉयने 'वैकुण्ठ तेरे हृदयमें है' (किंग्डम आफ गाड इज़ विदिन यू) नामक पुस्तकसे और रस्किनने 'सर्वोदय' (अन्टु दिस लास्ट) नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया। किन्तु इस विषयमें हम यथास्थान चर्चा करेंगे।

२. संसार-प्रवेश

बड़े भाईने मुझसे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध रखी थीं। उनको पैसेका, कीर्तिका और पदका बहुत लोभ था। उनका दिल बादशाहों-जैसा था। उदारता उन्हें फिजूल-खर्चीकी हद तक ले जाती थी। इस कारण और अपने भोले प्रभावके कारण उन्हें मित्र बनाते देर न लगती थी। अपनी इस मित्र-मण्डलीकी मददसे वे मेरे लिए मुकदमे जुटाना चाहते थे। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब कमाऊँगा, इसलिए उन्होंने घर-खर्च भी बढ़ा रखा था। मेरे लिए वकालतका क्षेत्र तैयार करनेमें भी उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

जातिका झगड़ा अभी तक समाप्त नहीं हुआ था। जातिमें दो तड़ें पड़ गई थीं—एक पक्षने मुझे जातिमें ले लिया और दूसरा न लेनेपर डटा रहा। जातिमें लेनेवाले पक्षको सन्तुष्ट करनेके लिए भाई मुझे राजकोट ले जानेसे पहले नासिक ले गये। वहाँ मुझे गंगा-स्नान कराया गया और राजकोट पहुँचनेपर जाति-भोज दिया गया। मुझे इस सबमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। बड़े भाईके मनमें मेरे लिए अगाध प्रेम था और मैं मानता हूँ कि मेरे मनमें उनके प्रति वैसी ही भक्ति थी; इसलिए उनकी इच्छाको आदेश मानकर मैं यन्त्रकी भाँति बिना समझे उनकी इच्छाका अनुसरण करता रहा। इससे जातिका प्रश्न हल हो गया।

जातिके जिस पक्षने मुझे बहिष्कृत रखा, मैंने उसमें प्रवेश करनेका कोई प्रयत्न नहीं किया और न मैंने जातिके किसी पंचके प्रति मनमें कोई रोषभाव ही रखा। उन लोगोंमें से कुछ लोग मुझे तिरस्कारकी दृष्टिसे भी देखते थे। उनके साथ मैं नम्रताका बरताव रखता था। जातिके बहिष्कार-सम्बन्धी कानूनका मैं पूरा-पूरा आदर करता था। मैं अपने सास-ससुर अथवा अपनी बहनके घर पानी तक नहीं पीता था। वे छिपे तौरपर मेरे साथ खाने-पीनेको तैयार भी हो जाते, पर मेरा मन ही उस कामके लिए तैयार नहीं होता था जो खुले तौरसे न किया जा सके।

मेरे इस व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि जातिने अपनी ओरसे मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया। मैं आज तक भी जातिके एक पक्षमें विधिवत बहिष्कृत माना जाता हूँ, फिर भी मुझे उनकी ओरसे सम्मान और उदारताका ही अनुभव हुआ है। उन्होंने मेरे कार्यमें मुझे मदद भी दी है और मुझसे यह आशा तक नहीं रखी कि मैं जातिके लिए कुछ न कुछ करूँ। मेरा ख्याल है कि यह मधुर फल मेरे अप्रतिकारका ही परिणाम है। यदि मैंने जातिमें सम्मिलित होनेकी उठा-पटककी होती, और अपना पक्ष पैदा करनेका प्रयत्न किया होता, जातिवालोंको छेड़ा या चिढ़ाया होता, तो वे अवश्य मेरा विरोध करते और मैं अपने विलायतसे लौटते ही तटस्थ और अलिप्त रहनेके स्थानपर भागदौड़के फेरमें फँस जाता, और केवल छल-कपटका पोषण करने-वाला बन जाता।

अभी तक पत्नीके साथ मेरा सम्बन्ध जैसा मैं चाहता था, वैसा नहीं बना था। विलायतमें रहकर भी मैं अपने ईर्ष्यालु स्वभावको नहीं छोड़ पाया था। हर बातमें दोष-दर्शन और संशयकी मेरी टेव जैसीकी तैसी बनी रही। इसलिए मैं जो चाहता था सो पूरा नहीं कर पाया। मैं पत्नीको अक्षर-ज्ञान होना तो आवश्यक मानता था। मैंने सोचा था कि यह काम मैं स्वयं करूँगा, पर मेरी विषयासक्तिने मुझे वह काम नहीं करने दिया और मैं अपनी इस कमजोरीका गुस्सा अपनी पत्नीपर उतारने लगा; यहाँ तक कि मैंने उसे एक बार तो उसके मायके ही भेज दिया और अतिशय दुखी कर देनेके बाद ही उसे फिरसे अपने साथ रखना स्वीकार किया। मैंने बादमें अनुभव किया कि यह मेरी नादानीके सिवाय और कुछ नहीं था।

बच्चोंकी शिक्षाके विषयमें भी मेरे मनमें कुछ सुधार-सम्बन्धी विचार थे। बड़े भाईके बच्चे थे; और मैं भी एक लड़का छोड़ गया था। यह अब चार सालका हो रहा था। मैंने सोचा था कि इन्हें व्यायाम करवाऊँगा, मजबूत बनाऊँगा और अपने साथ रखूँगा। भाई इससे हमराय थे। मैं इसमें थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त कर सका। बच्चोंका साथ मुझे बहुत प्रिय लगा और तबसे उनसे हँसी-मजाक करनेकी मेरी आदत अबतक बनी हुई है। तभीसे मेरी यह धारणा बनी है कि मैं बच्चोंको शिक्षण देनेका काम अच्छी तरह कर सकता हूँ।

खाने-पीनेकी आदतोंमें भी सुधारकी स्पष्ट आवश्यकता थी। घरमें चाय-काफीको जगह मिल चुकी थी। बड़े भाईने सोचा था कि मैं विलायतसे लौट रहा हूँ, इसलिए मेरे वहाँसे आनेके पहले ही घरमें विलायतकी कुछ हवा दाखिल हो ही जानी चाहिए। इसलिए जो चीजें पहले घरमें केवल दवा-दारूके रूपमें और 'सभ्य' मेहमानोंके लिए

काममें आती थीं, वे चीनी-मिट्टीके बर्तन, चाय आदि अब सबके लिए काममें आने लगे। ऐसे वातावरणमें मैं अपने सुधार लेकर वहाँ पहुँचा। 'ओटमील पॉरिज' (जईकी लपसी) दाखिल की गई और चाय-काफीके बदले कोकोको जगह मिली। किन्तु यह परिवर्तन नाम-मात्रका ही रहा। चाय-काफीके साथ कोको और जुड़ गई, कहिए। बूट-मोजे तो घरमें घुस ही चुके थे, मैंने कोट-पतलूनको भी दाखिल कर दिया।

इस तरह खर्च बढ़ा, नवीनताएँ बढ़ीं। आँगनमें सफेद हाथी बँध गया! पर यह सब खर्च जुटाया कैसे जाये? यदि तुरन्त राजकोटमें धन्धा शुरू कर देता हूँ, तो हँसी होती है। मेरे पास ज्ञान तो इतना भी नही था कि राजकोटमें वकालत पास करनेवाले किसी वकीलके मुकाबलेमें भी खड़ा हो सकूँ। इसपर फीस लेनी थी उनसे दस गुना! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे काम देता! फिर यह प्रश्न भी था कि यदि कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाये तो क्या मुझे अपने अज्ञानके साथ-साथ धृष्टता और विश्वासघातको भी जोड़कर अपने आपको संसारका अधिक कर्जदार बना लेना चाहिए।

मित्रोंने सलाह दी कि मैं कुछ समयके लिए बम्बई जाकर हाई-कोर्टकी वकालत का अनुभव प्राप्त करूँ और हिन्दुस्तानके कानूनका अध्ययन करनेके साथ-साथ कोई मुकदमे मिल सकें, तो उन्हें प्राप्त करनेकी कोशिश भी करूँ। मैं बम्बईके लिए रवाना हुआ।

वहाँ घर लिया। रसोइया रखा। रसोइया मेरे-जैसा ही था। वह ब्राह्मण था। मैंने उसे कभी नौकरकी तरह रखा ही नहीं। यह ब्राह्मण नहाता तो था, पर धोता नहीं था। उसकी धोती मैली, जनेऊ मैला। शास्त्रके अभ्याससे कोई सरोकार नही। लेकिन और अच्छा रसोइया कहाँसे लाता?

"क्यों रविशंकर (उसका नाम रविशंकर था), तुम रसोई बनाना तो नहीं जानते, पर सन्ध्या आदि भी जानते हो या नहीं?"

"क्या कहूँ भाईसाहब, हल मेरी सन्ध्या और कुदाली खटकर्म है। मैं तो ऐसा ही ब्राह्मण हूँ। आप-जैसे किसीने निभा लिया, तो ठीक नहीं तो खेती तो कहीं गई ही नहीं है।"

मैं समझ गया कि मुझे रविशंकरका शिक्षक बनना होगा। मेरे पास काफी समय था। आधी रसोई रविशंकर बनाता और आधी मैं। मैंने यहाँ विलायतके अन्नाहार-सम्बन्धी भोजनके प्रयोग शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मैं स्वयं तो पंक्ति-भेद मानता ही नहीं था, रविशंकरको भी उसका आग्रह नहीं था, इसलिए हमारी ठीक पटरी जम गई। शर्त या मुसीबत, जो कहो, यही थी कि रविशंकरने मैलसे सम्बन्ध विच्छेद करने और रसोईको साफ रखनेकी मानो शपथ खा रखी थी।

लेकिन चार-पाँच महीनेसे अधिक इस तरह अकेले बम्बईमें रहना सम्भव नहीं बना। क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी तो कुछ भी नहीं थी।

इस तरह मैंने संसारमें प्रवेश किया। बैरिस्टरी मुझे अखरने लगी। इसमें आडम्बर अधिक और ज्ञान कम। उत्तरदायित्वका विचार मुझे दबोचे डाल रहा था।

३. पहला मुकदमा

बम्बईमें एक ओर कानूनकी पढ़ाई शुरू की और दूसरी ओर आहारके प्रयोग भी। इन प्रयोगोंमें वीरचन्द गांधी भी मेरे साथ हो गये। तीसरी तरफ भाईसाहबने मेरे लिए मुकदमे खोजनेकी कोशिश की।

कानूनकी पढ़ाईका काम भी धीमे-धीमे चला। जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीजर कोड) किसी भी तरह गले नहीं उतरता था। साक्ष्य अधिनियम (एविडेंस ऐक्ट) की पढ़ाई ठीक चली। वीरचन्द गांधी सालिसीटर बननेकी तैयारी कर रहे थे, इसलिए वे वकीलोंके बारेमें बहुत कुछ बताते रहते थे। "फीरोजशाह मेहताकी होशियारीका कारण उनका अपार कानूनी ज्ञान है। साक्ष्य अधिनियम (एविडेंस ऐक्ट) तो उन्हें जबानी याद है। धारा ३२के एक-एक मुकदमेकी जानकारी रखते हैं। बदरुद्दीन तैयबजी तो ऐसे होशियार हैं कि न्यायाधीश भी उनके सामने चकरा जाते हैं। उनमें बहस करनेकी अद्भुत शक्ति है।"

मैं इन महारथियोंकी बातें सुनता और मेरी घबराहट बढ़ जाती।

वे बताते, "अगर पाँच-सात साल तक बैरिस्टर अदालतमें जूतियाँ चटकाता घूमता रहे, तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। मैंने इसीलिए सालिसिटर बननेका निश्चय किया है। अगर तुम लगभग तीन सालके बाद भी अपना खर्च चला लेने लायक कमाने लगो, तो मैं कहूँगा कि तुमने खूब प्रगति कर ली।"

खर्च हर महीने बढ़ता ही जाता था। बाहर बैरिस्टरकी तख्ती लटकाये रहना और घरमें बैरिस्टरी करनेकी तैयारी करते रहना! मेरा मन इन दो बातोंके बीच कोई सामंजस्य नहीं बिठाल पाता था। इसलिए मैं व्यग्रचित्तसे कानूनकी पढ़ाई चलाता। गवाहीके कानूनमें कुछ रुचि पैदा होनेकी बात मैं ऊपर कह चुका हूँ। मेइनका 'हिन्दू ला' मैंने बड़ी रुचिके साथ पढ़ा, पर मुकदमा लड़नेकी हिम्मत न आई। अपना दुःख किसे सुनाता। मेरी दशा ससुरालमें आई हुई नई बहू-जैसी हो गई।

तभी मुझे ममीबाईका मुकदमा मिला। स्माल-काज़-कोर्ट (छोटी अदालत) में जाना था। मुझसे दलालको कमीशन देनेके लिए कहा गया। मैंने साफ इन्कार कर दिया।

"पर फौजदारी अदालतके प्रसिद्ध वकील श्री. . ., जो हर महीने तीन-चार हजार कमाते हैं, भी तो कमीशन देते हैं।"

"मुझे उनकी बराबरी नहीं करनी है। हर महीने तीन सौ रुपये भी मिल जायें, तो मुझे काफी है। पिताजीको भी तो इतना ही मिलता था।"

"पर वह जमाना लद गया। बम्बईका खर्च जबरदस्त है। तुम्हें व्यवहारकी दृष्टिसे भी तो सोचना चाहिए।"

मैं टससे मस नहीं हुआ। मैंने कमीशन दिया ही नहीं। फिर भी ममीबाईका मुकदमा मिल गया। मुकदमा सरल था। मुझे मेहनतानेके ३० रुपये मिले। अदालतमें एक दिनसे ज्यादाका काम नहीं था।

मैंने पहली बार स्माल कॉज कोर्टमें प्रवेश किया। मैं प्रतिवादीकी तरफसे था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ पर पैर काँपने लगे, सिर चकराने

लगा। मुझे ऐसा लगा कि अदालत घूम रही है। क्या सवाल पूछूँ, सूझा ही नहीं। जज हँसा होगा। वकीलोंको तो मजा आया ही होगा। लेकिन मेरी आँखके आगे अँधेरा छाया हुआ था — मैं क्या देखता। मैं बैठ गया। मैंने दलालसे कहा, "मैं यह मुकदमा नहीं चला पाऊँगा, आप पटेलको दे दीजिए। मुझे जो फीस दी है, सो वापस ले लीजिए।" पटेलको उसी दिन ५१ रुपये देकर वकील किया गया। उनके लिए तो वह एक खेल ही था।

मैं यह जाने बिना कि मेरे मुवक्किलकी जीत हुई या हार, वहाँसे भागा। मैं लज्जित हो गया और मैंने निश्चित किया कि जबतक इतमीनान नहीं हो जाता, मैं अब कोई मुकदमा नहीं लूँगा। फिर दक्षिण आफ्रिका जाने तक कभी अदालतमें गया ही नहीं। यों इस निश्चयमें कोई दम नहीं था। ऐसा ठाला-बैठा था ही कौन जो हार जानेके लिए मुझे अपना मुकदमा देता? इसलिए अगर मै निश्चय न करता, तो भी मुझे अदालतमें ले जानेकी तकलीफ कोई न देता।

किन्तु अभी बम्बईमें मुझे एक और मुकदमा मिलना था। इस मुकदमेमें मुझे अरजीदावा तैयार करनेका काम मिला। एक गरीब मुसलमानकी जमीन पोरबन्दरमें जब्त हुई। मेरे पिताजीको वह जानता था। जब उसने सुना कि उनका लड़का बैरिस्टर हो गया है, तो वह मेरे पास आया। मुझे उसका दावा कमजोर लगा पर मैंने अरजीदावा तैयार करना कबूल कर दिया। छपाई आदिका खर्च मुवक्किलको देना था। मैंने अरजीदावा तैयार कर लिया और दूसरोंको दिखाया। उन्होंने जब उसे ठीक कह दिया, तब मुझे कुछ-कुछ विश्वास हुआ कि मैं अरजीदावा लिखने लायक तो जरूर बन जाऊँगा — मैं इस लायक था ही।

मेरा यह काम बढ़ता गया। मुफ्तमें अर्जियाँ लिख देता था और अर्जियाँ लिखनेका काम मिल जाता था, पर इससे दालरोटीकी व्यवस्था कैसे होती। मैंने सोचा कि मैं शिक्षकका काम तो जरूर कर सकता हूँ। मैंने अंग्रेजीका काफी अभ्यास किया था। इसलिए मैंने सोचा कि अगर किसी हाई-स्कूलमें मैट्रिककी कक्षामें अंग्रेजी सिखानेका काम मिल जाये तो कर लूँ। इससे कुछ खर्च तो चलेगा ही। मैंने अखबारोंमें विज्ञापन पढ़ा, "आवश्यकता है अंग्रेजी शिक्षककी, प्रतिदिन एक घंटेके लिए। वेतन रुपये ७५।" यह विज्ञापन एक प्रसिद्ध हाई स्कूलका था। मैंने प्रार्थनापत्र भेजा। मुझे प्रत्यक्ष जाकर मिलनेकी सूचना दी गई। मैं बड़ी आशाके साथ मिलने गया। पर जब आचार्यने यह जाना कि मैं बी० ए० नहीं हूँ, तो उन्होंने खेदपूर्वक मुझे जानेके लिए कह दिया।

"पर मैंने लन्दनकी मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की है, लेटिन मेरी दूसरी भाषा थी।" मैंने कहा।

"सो तो ठीक है। किन्तु हमें तो ग्रेज्युएट ही चाहिए।"

मैं लाचार रह गया। इसके बाद मेरी हिम्मत टूट गई। बड़े भाई भी चिन्तित हो गये। हम दोनोंने सोचा कि बम्बईमें अधिक समय बिताना निरर्थक है। मुझे राजकोटमें ही स्थिर होना चाहिए। भाई स्वयं एक छोटे वकील थे। मुझे अर्जी-दावे लिखनेका कुछ-न-कुछ काम तो दे ही सकते थे। फिर राजकोटमें घर था ही।

बम्बईका खर्च समाप्त कर देनेसे खासी बचत हो जायेगी, मुझे यह सुझाव जँचा। इस तरह कुल छः महीने बम्बईमें रहनेके बाद मैंने वहाँका घर समेट लिया।

जबतक बम्बईमें रहा, रोज हाईकोर्ट तो जाता था पर यह नहीं कहा जा सकता कि मैंने वहाँ कुछ सीखा था। सीखने लायक समझ ही मुझमें नहीं थी। कभी-कभी तो मुकदमा क्या है, यही समझमें नहीं आता। और जब उसकी कार्रवाईमें रुचि न थी, तो बैठा-बैठा ऊँघने भी लगता। इस तरह ऊँघनेवाले और साथी भी थे, इसलिए मेरी शर्म कुछ हलकी पड़ जाती थी। आखिर मैं यह मानने लगा कि हाई कोर्टमें बैठकर ऊँघना फैशनके खिलाफ नहीं है। और फिर शर्मकी कोई वजह ही नहीं बची।

यदि इस युगमें भी मेरे समान कोई बेकार बैरिस्टर बम्बईमें हों, तो उनके लाभके लिए मैं अपना एक छोटा-सा अनुभव यहाँ दे रहा हूँ। रहता तो मैं गिरगाँवमें था, किन्तु गाड़ी-घोड़ेका खर्च यथासम्भव नहीं करता था। ट्राममें भी कदाचित् ही बैठता था। अक्सर प्रतिदिन गिरगाँवसे हाई कोर्ट तक पैदल ही जाता था। इसमें पूरे ४५ मिनट लगते थे। वापसीमें तो बिला नागा पैदल ही आता था। दिनमें धूप लगती थी, पर धीरे-धीरे उसे सहन करनेकी आदत पड़ गई। इस तरह मैंने काफी पैसे बचाये। बम्बईके मेरे साथी बीमार पड़ते रहते थे, पर मुझे अपने एक भी दिन बीमार पड़नेकी याद नहीं आती। इस तरह पैदल दफ्तर जानेकी आदत अपने कमाने लगनेके बाद भी मैंने अन्त तक कायम रखी। मैं इसका लाभ आजतक उठा रहा हूँ।

४. पहला आघात

बम्बईसे निराश होकर मैं राजकोट पहुँचा। वहाँ अलग दफ्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जियाँ लिखनेका काम मिलने लगा, और हर महीने औसतन ३०० रुपयेकी आमदनी होने लगी। अर्जीदावे लिखनेको मिलने लगे, इसका कारण मेरी होशियारी नहीं, वसीला था। बड़े भाईके साझेदारकी वकालत अच्छी चलती थी। उनके पास बहुत महत्वपूर्ण अर्जीदावे आते थे और जिनको वे महत्वपूर्ण मानते थे उन्हें बड़े बैरिस्टरोंके पास भेज देते थे। गरीब मुवक्किलोंके अर्जी-दावे लिखनेका काम मुझे मिल जाता था।

बम्बईमें कमीशन न देनेकी मेरी जो टेक थी, मानना होगा कि वह यहाँ कायम नहीं रही। मुझे दोनों स्थितियोंका भेद समझाया गया — वह यों था: बम्बईमें केवल दलालको पैसे देनेकी बात थी, यहाँ पैसे वकीलको दिये जाने हैं। मुझे बताया गया कि बम्बईकी तरह यहाँ भी सब बैरिस्टर बिना अपवादके निश्चित कमीशन देते हैं। मेरे भाईने कहा: "तुम देखते हो कि मैं दूसरे वकीलका साझेदार हूँ। मैं यह तो चाहता ही हूँ कि हमारे पास आनेवाले मुकदमोंमें से जो तुम्हें देने लायक हों, वे तुम्हें दे दिये जायें। पर यदि तुम मेरे मेहनतानेका हिस्सा मेरे साझीदारको न दो,

तो मेरी स्थिति कितनी अटपटी हो जायेगी। हम तुम साथ रहते हैं, इसलिए तुम्हारे मेहनतानेका लाभ तो मुझे मिल ही जाता है, लेकिन मेरे साझीदारको कुछ नहीं मिलता। अगर यही काम वे किसी औरको दे दें तो उस मेहनतानेमें से उन्हें जरूर हिस्सा मिलेगा।" मैं इस तर्ककी लपेटमें आ गया और मैंने सोचा कि अगर मुझे बैरिस्टरी ही करनी है, तो ऐसे मामलोंमें कमीशन न देनेका आग्रह मुझे नहीं करना चाहिए। मैं ढीला पड़ गया। मैंने अपने मनको मार लिया अथवा स्पष्ट शब्दोंमें कहूँ तो कहना चाहिए, अपने आपको धोखा दिया। पर इसके सिवा और किसी बातमें कमीशन देनेकी मुझे याद नहीं है।

आर्थिक दृष्टिसे मेरा काम चलने लगा। पर इन्हीं दिनों मुझे एक बड़ा आघात पहुँचा। अंग्रेज अधिकारी कैसे होते है, सो सुनता तो था, पर अपनी आँखों देखनेका अवसर अब आया।[1]

पोरबन्दरके भूतपूर्व राणा साहबको गद्दी मिलनेसे पहले मेरे भाई उनके मन्त्री और सलाहकार थे। उनपर इस आशयका आरोप लगाया गया कि उन दिनों उन्होंने राणा साहबको गलत सलाह दी थी। तत्कालीन पोलिटिकल एजेंटके पास यह शिकायत पहुंचाई गई थी और उनका मेरे भाईके बारेमें ख्याल खराब हो गया था। उक्त अधिकारीसे विलायतमें मेरी मुलाकात होती थी। कह सकता हूँ कि वहाँ उन्होंने मुझसे खासी दोस्ती ही मान ली थी। भाईने सोचा कि इस परिचयका लाभ उठाकर मुझे पोलिटिकल एजेंटसे दो शब्द कहने चाहिए और उन पर जो खराब असर पड़ा था उसे मिटानेकी कोशिश करनी चाहिए। मुझे ऐसा करना बिलकुल अच्छा नहीं लगा। मैंने सोचा, विलायतके न-कुछ परिचयका लाभ उठाना ठीक नहीं है। अगर मेरे भाईने कोई गलत काम किया है तो सिफारिशसे क्या लाभ। अगर नहीं किया है तो विधिवत प्रार्थनापत्र भेजें अथवा अपने निर्दोष होनेपर विश्वास रखकर निर्भय रहें। किन्तु मेरी यह बात भाईके गले न उतरी। उन्होंने कहा, "तुम काठियावाड़को नहीं जानते। तुम्हें अभी दुनियादारी सीखनी है। यहाँ तो सारे काम वसीलेसे चलते हैं। तुम्हारे जैसा भाई परिचित अधिकारीसे मौका आनेपर सिफारिशके दो शब्द कहना टालने लगे तो इसे ठीक नहीं कहा जा सकता।"

मैं भाईकी इच्छाकी उपेक्षा नहीं कर सका। अपनी मरजीके खिलाफ मैं गया। मुझे उस अफसरके पास जानेका कोई अधिकार नहीं था। मुझे लग रहा था कि इस तरह जाना स्वाभिमानको नष्ट करना है। फिर भी मैंने उससे मिलनेका समय माँगा। उसने मुझे समय दिया और मैं मिलने गया। मैंने पुराने परिचयका स्मरण कराया, किन्तु मैंने तत्काल समझ लिया कि विलायत और काठियावाड़में फर्क है। अपनी कुर्सी पर बैठे हुए अफसर और छुट्टीपर गये हुए अफसरमें भी फर्क होता है। अधिकारीने परिचयकी बात तो स्वीकार की, पर वह साथ ही अकड़ भी गया। मैंने उसकी अकड़में और आँखोंमें मानो यह पढ़ा कि 'उस परिचयका लाभ उठानेके लिए तो नहीं आये हो न?' इतना समझकर भी मैंने अपनी बात शुरू की। साहब

१. इस घटनाका उल्लेख खण्ड २०, पृष्ठ २४२ पर भी है।

अधीर हो गया। बोला, "तुम्हारे भाई प्रपंची हैं। मैं इस विषयमें ज्यादा बातें नहीं सुनना चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाईको कुछ कहना हो, तो वह बाकायदा दरखास्त दें।" यह उत्तर पर्याप्त था, यथार्थ था, पर स्वार्थ तो अन्धा होता है न? मै अपनी बात कहे जा रहा था। साहब उठे, "अब तुम्हें जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पर पूरी बात तो सुन लीजिए।" साहब आग-बबूला हो गये। पुकार कर बोले, "चपरासी, इसको दरवाजा दिखलाओ।" चपरासी 'हजूर' कहता हुआ दौड़ा आया। मैं अभी तक कुछ कहे जा रहा था। चपरासीने मुझे हाथसे धक्का देकर दरवाजेके बाहर कर दिया।

साहब चले गये। चपरासी चला गया। मैं भी रवाना हुआ, किन्तु व्याकुल हो गया और उत्तेजित होकर मैंने एक पत्र घसीटा: "आपने मेरा अपमान किया है। चपरासीके जरिए मुझपर हमला करवाया। आप माफी नहीं माँगेंगे तो मैं विधिवत आपपर मानहानिका दावा करूँगा।" मैंने यह चिट्ठी भीतर भिजवा दी।

थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब दे गया। सार इस प्रकार था:

"तुमने मेरे साथ असभ्यताका व्यवहार किया है। जानेके लिए कहनेपर भी तुम नहीं गये। इससे मैंने अपने चपरासीसे यह जरूर कहा कि आपको दरवाजा दिखला दे। चपरासीके कहनेपर भी आप दफ्तरसे बाहर नहीं गये। तब उसने आपको दफ्तरसे बाहर करनेके लिए आवश्यक बलका उपयोग किया। आप खुशीसे जो चाहें सो कर सकते हैं।"

यह जवाब जेबमें डालकर मै मुँह लटकाये घर लौटा। भाईको सारा हाल सुनाया। वे दुखी हुए, पर मुझे तसल्ली क्या देते। मैंने वकील मित्रोंसे चर्चा की। मैं दावा दायर करना क्या जानूँ। उन दिनों सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुकदमेके सिलसिलेमें राजकोट आये हुए थे। मेरे जैसा नया बैरिस्टर उनसे कैसे मिलता। फिर भी मैंने उन्हें बुलानेवाले वकीलके द्वारा पत्र भेजकर सलाह पूछी। उन्होंने उत्तर दिया: "गांधीसे कहिए, ऐसे अनुभव तो सब वकील-बैरिस्टरोंको हुए होंगे। तुम अभी नये ही हो। तुम्हारा विलायतका नशा अभी उतरा नहीं है। तुम अंग्रेज अधिकारियोंको नहीं पहचानते। अगर तुम्हें सुखसे रहना हो और दो पैसे कमाने हों, तो जो चिट्ठी मिली है उसे फाड़ डालो और जो अपमान हुआ है, उसे पी जाओ। मामला चलाकर तुम्हें एक कौड़ीका भी फायदा नहीं होगा, उलटे बरबाद हो जाओगे। तुम्हें अभी जीवनके अनुभव प्राप्त करने हैं।"

मुझे यह सीख जहरकी तरह कड़वी लगी, पर इस कड़वी घूँटको तो पी जानेके सिवाय और उपाय ही क्या था। मैं अपमानको भूल तो नहीं सका, पर मैंने यह निश्चय करके उसका सदुपयोग किया: "मैं फिर कभी अपनेको ऐसी स्थितिमें नहीं पड़ने दूंगा। इस तरह किसीकी सिफारिश नहीं करूँगा।" इस नियमका मैंने कभी उल्लंघन नहीं किया। इस आघातने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

५. दक्षिण आफ्रिकाकी तैयारी

मेरा उस अधिकारीके यहाँ जाना निश्चय ही ठीक नहीं था। पर अधिकारीकी अधीरता, उसके रोष और उद्दण्डताके सामने मेरा दोष छोटा हो गया। उस दोषका दण्ड चपरासीसे धक्के दिलवाना तो नहीं ही हो सकता था। मैं उसके पास ५ मिनट भी मुश्किलसे बैठ पाया होऊँगा। उसे तो मेरा बोलना ही असह्य मालूम हुआ। वह मुझसे विवेकपूर्वक जानेके लिए कह सकता था। पर वह अपने अधिकारके मदमें डूबा हुआ था। बादमें मुझे मालूम हुआ कि धीरज नामकी कोई चीज इस अधिकारीके पास थी ही नहीं। अपने यहाँ आनेवालेका अपमान करना उसके लिए एक साधारण बात थी। साहबकी मरजीके खिलाफ कोई बात निकलते ही उसका दिमाग बिगड़ जाता था।

मेरा ज्यादातर काम उसीकी अदालतमें रहता था। मैं खुशामद कर ही नहीं सकता था। मैं इस अधिकारीको अनुचित तरीकेसे खुश नहीं करना चाहता था। मुझे यह भी अच्छा नहीं लगा कि नालिशकी धमकी देकर अब मैं न नालिश करूँ और न उसे कुछ लिखूँ।

इस बीच मुझे काठियावाड़ रियासतमें चलनेवाले षड्यन्त्रोंका भी कुछ अनुभव हो गया। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्योंका प्रदेश है। यहाँ राजनयिकोंका बड़ा समाज होना स्वाभाविक ही था। इन छोटे-छोटे राज्योंके बीच छुपे-छुपे षड्यन्त्र चलते, पदोंकी प्राप्तिके लिए साजिशें होतीं और राजा कानका कच्चा और लाचार रहता। साहबोंके अर्दलियों तककी खुशामद होती। सरिश्तेदार तो साहबसे भी सवाया माना जाता, क्योंकि साहबकी आँख, कान आदि होनेके अलावा वही उनका दुभाषिया भी होता था। सरिश्तेदारकी इच्छा ही कानून थी। कहते हैं उसकी आमदनी साहबकी आमदनीसे ज्यादा होती थी। सम्भव है, इसमें अतिशयोक्ति हो, किन्तु सरिश्तेदारके अल्प वेतनको देखते हुए उसका खर्च तो अधिक होता ही था।

यह वातावरण मुझे विष जैसा प्रतीत हुआ। बराबर इसकी चिन्ता बनी रहती। मैं अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षा किस प्रकार कर सकूँगा।

मैं उदास हो गया। भाईने मेरी उदासी देखी। मनमें यह विचार भी आया कि कहीं नौकरी कर लूँ, तो इन प्रपंचोंसे मुक्त रह सकता हूँ। पर बिना प्रपंच किये दीवानगिरी या न्यायाधीशका पद कैसे मिल सकता था। साहबके साथका झगड़ा वकालत करनेमें बाधक था।

पोरबन्दरमें 'एडमिनिस्ट्रेशन' था।[१] वहाँ राणा साहबके लिए कुछ और सत्ता प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाना था। मेर लोगोंसे लगान जितना चाहिए, उससे कुछ अधिक वसूल किया जाता था। मुझे इस सिलसिलेमें वहाँके एडमिनिस्ट्रेटरसे मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटर हिन्दुस्तानी हैं, लेकिन उसका रोब-दाब तो साहबसे भी अधिक है। एडमिनिस्ट्रेटर होशियार व्यक्ति थे, पर उनकी होशियारीका

१. नाबालिग राजाकी ओरसे शासन।

लाभ जनताको अधिक मिला हो, ऐसा मुझको नहीं लगा। राणा साहबको थोड़ी सत्ता और मिल गई। किन्तु कहना होगा कि मेर लोगोंको तो कुछ भी नहीं मिला। मेरी समझमें तो उनके मामलेकी पूरी जाँच भी नहीं की गई।

इसलिए मुझे यहाँ भी थोड़ी निराशा ही हुई। मैंने अनुभव किया कि न्याय नहीं मिला। न्याय प्राप्त करनेका मेरे पास कोई साधन नहीं था। अधिकसे अधिक बड़े साहबके सामने अपील की जा सकती थी। वे यही कहते, "हम इस मामलेमें दखल नहीं दे सकते।" ऐसे फैसलोंके पीछे कोई कानून-कायदा हो, तो कुछ आशा भी की जा सके। पर यहाँ तो अधिकारीकी मर्जी ही कानून है।

मैं बेचैन हो गया।

इसी बीच भाईके पास पोरबन्दरकी एक मेमन पेढ़ीका सन्देशा आया, "दक्षिण आफ्रिकामें हमारा व्यापार है। हमारी पेढ़ी बड़ी है। वहाँ हमारा एक बड़ा मुकदमा चल रहा है। चालीस हजार पौंडका दावा है। मामला बहुत लम्बे अरसेसे चल रहा है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे वकील बैरिस्टर हैं। अगर आप अपने भाईको वहाँ भेज सकें, तो वे हमारी कुछ मदद कर सकेंगे और उन्हें भी कुछ लाभ हो जायेगा। वे हमारे वकीलको अच्छी तरह मामला समझा सकेंगे। इसके सिवा एक नया देश देखेंगे और कई नये लोगोंसे जान-पहचान हो जायेगी।"

भाईने मुझसे इसकी चर्चा की। मैं इसका पूरा-पूरा अभिप्राय नहीं समझ सका। समझमें नहीं आया कि मुझे सिर्फ वकीलको मामला समझानेका काम ही करना पड़ेगा या अदालतमें भी जाना होगा। फिर भी मुझे लोभ हुआ।

दादा अब्दुल्लाके साझेदार मरहूम सेठ अब्दुल करीम झवेरीसे भाईने मुझे मिलाया। सेठने कहा, "आपको ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ेगी। बड़े-बड़े साहबोंसे हमारी दोस्ती है। उनसे आपकी जान-पहचान हो जायेगी। आप हमारी दुकानमें भी मदद कर सकेंगे। हमारे यहाँ अंग्रेजी पत्र-व्यवहार बहुत होता है। आप उसमें भी हाथ बँटा सकते हैं। आप हमारे बंगलेमें ही रहेंगे, इससे खर्चका कोई बोझ आपपर नहीं पड़ेगा।"

मैंने पूछा, "आप मेरी सेवाएँ कितने समयके लिए चाहते हैं? वेतन क्या देंगे?"

"हमें एक सालसे अधिक आपकी जरूरत नहीं पड़ेगी। आपको पहले दरजेका मार्ग-व्यय देंगे और निवास तथा भोजन खर्चके अलावा १०५ पौंड देंगे।"

इसे वकालत नहीं कह सकते। यह नौकरी थी। पर मुझे तो किसी भी हालत में हिन्दुस्तान छोड़ना था। नया देश देखनेको मिलेगा और अनुभव प्राप्त होगा, सो अलग। भाईको १०५ पौंड भेज दूंगा, तो घर-खर्च चलानेमें कुछ मदद होगी। यह सोचकर वेतनके बारेमें बिना कुछ कहे-सुने मैंने सेठ अब्दुल करीमका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मैं दक्षिण आफ्रिका जानेके लिए तैयार हो गया।

६. नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय घर छोड़ते हुए जो दुःख हुआ था, वह दक्षिण आफ्रिका जाते समय नहीं हुआ। माता तो चल ही बसी थीं। मैं दुनिया और यात्राका अनुभव भी प्राप्त कर चुका था। राजकोट और बम्बईके बीच आना-जाना बना ही रहता था।

इसलिए इस बार केवल पत्नीको छोड़नेका ही दुःख हुआ। विलायतसे लौटकर आनेके बाद हमारे एक बालक और हो चुका था। हमारे बीचके प्रेममें अभी विषय-भोगका प्रभाव तो था ही, फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायतसे लौटनेके बाद हम दोनों बहुत कम साथ रह पाये थे। और मैं शिक्षककी तरह चाहे जैसा रहा होऊँ, परन्तु जब मैं पत्नीका शिक्षक बन ही गया था और जब मैंने पत्नीसे उसकी रहन-सहनमें कुछ परिवर्तन भी कराये थे, तब उन्हें निबाहनेके लिए हम दोनोंके साथ रहनेकी जरूरत अनुभव करना ठीक ही था। पर मुझे आफ्रिकाका आकर्षण हो रहा था। साथ छूटनेके दुःखको उसने हलका कर दिया। "एक सालके बाद तो हम फिर मिलेंगे ही न?" इस तरह कहकर और सान्त्वना देकर मैं राजकोटसे रवाना होकर बम्बई पहुँच गया।

मेरा टिकट दादा अब्दुल्लाके बम्बई-स्थित एजेंटके जरिए खरीदा जाना था। पर मालूम हुआ कि स्टीमरमें कोई केबिन खाली नहीं है। परिस्थिति ऐसी थी कि अगर यह अवसर चूक जाता, तो एक महीने तक बम्बईमें पड़े रहनेकी नौबत आ जाती। एजेंटने कहा, "कोशिश तो हमने बहुत की, पर टिकट नहीं मिल सका। आप डेकपर जायें तो जगह मिल सकती है। भोजनकी व्यवस्था सैलूनमें हो जायेगी।" यह वह जमाना था जब मैं पहले दरजेमें यात्रा किया करता था। मैंने सोचा, बैरिस्टर डेकके यात्रीकी तरह कैसे जा सकता है? मैंने डेकपर यात्रा करनेसे इन्कार कर दिया। मनमें एजेंटपर शक हुआ। इस बातका भरोसा ही नहीं हुआ कि पहले दरजेका टिकट एकदम अप्राप्य है। एजेंटकी अनुमति लेकर मैंने खुद ही टिकटकी कोशिश की। मैं स्टीमरपर पहुँचा। बड़े अधिकारीसे मिला। पूछनेपर उसने सरल भावसे उत्तर दिया: "हमारे यहाँ इतनी भीड़ कदाचित् ही होती है। पर इस स्टीमरसे मौज़ाम्बिकके गवर्नर-जनरल जा रहे हैं, इससे सारी जगहें भर गई हैं।"

"तो क्या आप मेरे लिए किसी भी तरह जगह नहीं निकाल सकते?"

अफसरने मेरी तरफ देखा और हँसकर कहा, "एक उपाय है। एक बर्थ मेरे केबिनमें खाली रहती है। उसपर हम किसी यात्रीको नहीं लेते। पर मैं वह जगह आपको देनेके लिए तैयार हूँ।" मैं खुश हो गया। मैंने अफसरका आभार माना। सेठको बतलाकर टिकट कटवाया और १८९४ के अप्रैल महीनेमें उमंगके साथ दक्षिण आफ्रिकामें अपना भाग्य आजमानेके लिए रवाना हो गया।

लामू पहला बन्दरगाह था। वहाँ पहुँचनेमें तेरह दिन लगे। रास्तेमें कप्तानसे खासी मित्रता हो गई। कप्तानको शतरंज खेलनेका शौक था, लेकिन मैं अभी नया-नया ही सीखा था। उसे अपनेसे भी कमजोर खिलाड़ीकी आवश्यकता थी। इसलिए

उसने मुझे खेलनेके लिए आमन्त्रित किया। मैंने कभी शतरंजका खेल देखा नहीं था; उसके विषयमें सुना काफी था। खेलनेवाले कहा करते थे कि इस खेलमें बुद्धिका बड़ा उपयोग होता है। कप्तानने कहा कि वह खुद मुझे सिखायेगा। मैं उसे एक अच्छा शिष्य मिला, क्योंकि मुझमें धैर्य था। मैं हारता ही चला जाता था। इससे कप्तानका सिखानेका उत्साह बढ़ता जाता था। मुझे शतरंजका खेल तो पसन्द आया, पर मेरा यह शौक जहाजके नीचे नहीं उतरा। उसमें मेरी गति राजा-रानी आदिकी चाल जान लेनेसे अधिक नहीं बढ़ सकी।

लामू बन्दरगाह आया। स्टीमर वहाँ तीन-चार घंटे ठहरनेवाला था। मैं बन्दरगाह देखनेके लिए नीचे उतरा। कप्तान भी उतर आया था। उसने मुझसे कहा, यह बन्दरगाह बड़े धोखेका है, तुम जल्दी लौट आना।

गाँव तो बिलकुल छोटा-सा था। वहाँके डाकखानेमें गया, तो हिन्दुस्तानी नौकर दिखाई दिये। इससे मुझे खुशी हुई। मैंने उनसे बातचीत की। हब्शियोंसे मिला। उनकी रहन-सहनसे आकर्षित हुआ। इसमें थोड़ा समय चला गया।

वहाँ डेकके दूसरे भी कई यात्री थे। मैंने उनसे भी पहचान कर ली थी। वे रसोई बनाकर आरामसे भोजन करनेके लिए नीचे उतरे थे। मैं उनकी नावमें बैठकर लौटा। मगर समुद्रमें काफी ज्वार था और हमारी नावमें बोझ ज्यादा था। प्रवाहका जोर इतना अधिक था कि नावकी रस्सी किसी तरह स्टीमरकी सीढ़ीके पास बँध नहीं पाती थी। नाव सीढ़ीके पास पहुँचती और हट जाती। स्टीमर रवाना होनेकी पहली सीटी बजी। मैं घबराया। कप्तान ऊपरसे देख रहा था। उसने पाँच मिनटके लिए स्टीमरको रुकवाया। स्टीमरके पास ही मछली पकड़नेवाली एक नाव घूम रही थी। एक मित्रने दस रुपये देकर उसे मेरे लिए ठीक किया और स्टीमरने मुझे इस नावमेंसे अपनी नाव पर ले लिया। स्टीमरकी सीढ़ी खींची जा चुकी थी। मुझे रस्सीसे ऊपर खींच लिया गया और स्टीमर चल दिया। दूसरे यात्री रह गये। कप्तानकी दी हुई चेतावनीका अर्थ मेरी समझमें अब आया।

स्टीमर लामूसे मोम्बासा और वहाँसे जंजीबार पहुँचा। जंजीबारमें काफी रुकना था — आठ, दस दिन। वहाँसे नये स्टीमरमें सवार होना था।

मुझपर कप्तानके प्रेमका पार नहीं था। मेरे लिए इस प्रेमने उलटा रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैर करनेके लिए न्यौता दिया। एक अंग्रेज मित्रको भी न्यौत रखा था। हम तीनों कप्तानकी नावपर सवार हुए। मैं इस सैरके रहस्यको बिलकुल ही नहीं समझ पाया था। कप्तानको क्या मालूम कि मैं ऐसे मामलोंमें बिलकुल अनाड़ी हूँ। हम लोग हब्शी औरतोंकी बस्तीमें पहुँचे। हमें एक दलाल वहाँ ले गया। हममें से हरएक अलग-अलग कोठरीमें घुस गया। मैं तो शर्मके मारे गुम-सुम ही बैठा रहा। बेचारी उस स्त्रीके मनमें क्या विचार उठे होंगे, सो तो वही जाने। कप्तानने आवाज दी। मैं जैसा गया था, वैसा ही लौट आया। कप्तान मेरे भोलेपनको समझ गया। पहले तो मुझे बड़ी शर्म आई; पर यह बात मुझे किसी भी हालतमें पसन्द नहीं आ सकती थी, इसलिए तत्काल मेरी शर्म दूर हो गई और मैंने इसके लिए ईश्वरका उपकार माना कि मेरे मनमें उस बहनको देखकर तनिक

भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। मुझे अपनी इस दुर्बलतापर अवश्य घृणा हुई कि मैं कोठरीमें घुसनेसे ही इन्कार करनेका साहस क्यों न दिखा सका।[१]

मेरे जीवनकी इस तरहकी यह तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूमें निर्दोष होते हुए भी मिथ्या लज्जाके कारण बुराईमें फँस जाते होंगे। मैं जो बचा था सो अपने पुरुषार्थके कारण नहीं। पुरुषार्थ तो तब माना जाता, जब मैंने कोठरीमें घुसनेसे ही साफ इन्कार कर दिया होता। मुझे तो अपनी रक्षाके लिए केवल ईश्वरका ही उपकार मानना चाहिए। इस घटनाके कारण ईश्वरमें मेरी श्रद्धा बढ़ी और झूठी शर्म छोड़नेकी कुछ हिम्मत मुझमें आई।

जंजीबारमें एक हफ्ता बिताना था, इसलिए एक घर किरायेसे लेकर मैं शहरमें रहा। शहरको खूब घूम-घूम कर देखा। जंजीबारकी हरियालीकी कल्पना भारतमें केवल मलाबारको देखकर ही हो सकती है। वहाँके वृक्षोंकी विशालता और फलोंके आकारको देखकर तो मैं दंग ही रह गया।

जंजीबारसे मौज़ाम्बिक और वहाँसे नेटाल लगभग मईके अन्तमें पहुँचा।

७. अनुभवोंकी बानगी

नेटालके बन्दर-स्थानका नाम डर्बन है। उसे नेटाल बन्दरगाह भी कहा जाता है। मुझे लेनेके लिए अब्दुल्ला सेठ आये थे। स्टीमरके डाकपर पहुँच जानेपर जब नेटालके लोग अपने मित्रोंको लेने स्टीमरपर आये, मैं तभी समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियोंकी अधिक इज्जत नहीं होती। अब्दुल्ला सेठको पहचाननेवाले उनके साथ जैसा बरताव कर रहे थे, उसमें भी मुझे एक प्रकारकी असभ्यता दिखाई दी और उससे मुझे पीड़ा पहुँची। अब्दुल्ला सेठ इस असभ्यताको सह लेते थे। वे उसके आदी हो गये थे। जो लोग मुझे देखते, कुछ कुतूहलकी दृष्टिसे देखते। अपनी पोशाकके कारण मैं दूसरे हिन्दुस्तानियोंसे कुछ अलग दिखाई देता था। मैं उस समय 'फ्राक-कोट' आदि पहने था और मेरे सिर पर बंगाली ढंगकी पगड़ी थी।

अब्दुल्ला सेठ मुझे अपने घर ले गये। उन्होंने मुझे अपने कमरेकी बगलमें एक कमरा दिया। न वे मुझे समझ पा रहे थे, न मैं उन्हें। मैं उनके भाईका जो पत्र लाया था, उन्होंने उसको पढ़ा और वे अधिक घबराये। उन्हें लगा कि भाईने तो उनके सिरपर एक सफेद हाथी ही बाँध दिया है। मेरी साहबी रहन-सहन उन्हें बड़ी खर्चीली जान पड़ी। उस समय उनके पास मेरे लिए कोई खास काम ही नहीं था। मुकदमा तो ट्रान्सवालमें चल रहा था। मुझे एकदम वहाँ भेजकर भी क्या करते। इसके अलावा मेरी चतुराई अथवा प्रामाणिकता पर विश्वास भी किस हद तक किया जाये। प्रतिवादी प्रिटोरियामें रहता था। प्रिटोरियामें अब्दुल्ला सेठ तो मेरे साथ रह नहीं सकते थे। अगर मुझपर वहाँ प्रतिवादीका अनुचित प्रभाव पड़ जाये, तो क्या होगा? फिर यदि वे मुझे इस मुकदमेका काम न सौंपें तो दूसरा कौन-सा काम मुझसे करायें। दूसरे काम तो उनके कारकुन मुझसे बहुत अच्छी तरह कर ही

१. देखिए खण्ड २७, पृष्ठ ११४।

सकते थे। कारकुन गलती कर दें, तो उनसे जवाब तलब किया जा सकता था किन्तु अगर गलती मुझसे हो जाये तो क्या हो? इस तरह काम या तो मुकदमेका था या मुहर्रिरका। तीसरा कोई काम ही नहीं था। ऐसी हालतमें यदि मुझे मुकदमेका काम न सौंपा जाता, तो मेरे रखनेका कोई लाभ ही नहीं था।

अब्दुल्ला सेठका अक्षर-ज्ञान बहुत मामूली था, किन्तु अनुभव-ज्ञान बहुत था। उनकी बुद्धि तीव्र थी और इस बातका उन्हें स्वयं भी भान था। अभ्याससे उन्होंने बातचीत करने लायक अंग्रेजीका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वे अपना सारा काम इस अंग्रेजीसे चला लेते थे। वे बैंक-मैनेजरोंसे बातचीत करते थे, यूरोपीय व्यापारियोंके साथ सौदे कर लेते थे और वकीलोंको अपने मामले समझा सकते थे। हिन्दुस्तानियोंमें उनका बड़ा मान था। उनकी फर्म वहाँकी तत्कालीन हिन्दुस्तानी फर्मोंमें सबसे बड़ी थी; बड़ी फर्मोंमें से एक तो थी ही। किन्तु अब्दुल्ला सेठका स्वभाव शंकालु था।

उन्हें इस्लामका अभिमान था। वे तत्वज्ञानकी चर्चाके शौकीन थे। वे अरबी नहीं जानते थे, फिर भी कह सकते हैं कि उन्हें कुरान-शरीफ और मोटे तौरपर इस्लामके धार्मिक साहित्यकी अच्छी जानकारी थी। दृष्टान्त उनकी जुबान पर रहते। उनके साथ रहनेसे मुझे भी इस्लामका काफी व्यावहारिक ज्ञान हो गया। हम एक-दूसरेको समझने लगे; इसके बाद तो वे मुझसे खूब धर्म-चर्चा करते रहते।

दूसरे या तीसरे दिन वे मुझे डर्बनकी अदालत दिखाने ले गये। वहाँ कुछ जान-पहचान कराई। अदालतमें मुझे अपने वकीलके साथ बैठाया। मजिस्ट्रेट मुझे बार-बार देखता रहा। उसने मुझे पगड़ी उतारनेके लिए कहा। मैंने उतारनेसे इन्कार किया और अदालत छोड़कर चला गया।

मेरे भाग्यमें तो यहाँ भी लड़ाई बदी थी।

सेठ अब्दुल्लाने मुझे समझाया कि यहाँ पगड़ी उतारनेके लिए क्यों कहा जाता है; यदि व्यक्ति मुसलमानी ढंगकी पोशाक पहने हो तो वह मुसलमानी ढंगकी पगड़ी पहने रह सकता है। दूसरे हिन्दुस्तानियोंको अदालतमें प्रवेश करते ही अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिए।

इस सूक्ष्म भेदको समझानेके लिए मुझे कुछ तफसीलमें उतरना पड़ेगा। इन दो या तीन दिनोंमें ही मैंने देख लिया था कि हिन्दुस्तानी आफ्रिकामें अपने छोटे-छोटे समुदाय बनाकर बैठ गये थे। एक भाग मुसलमान व्यापारियोंका था। वे अपनेको अरब कहलवाते थे। दूसरा समुदाय हिन्दू या पारसी कारकुनों, मुनीमों या गुमाश्तोंका था। हिन्दू कारकुन अधरमें लटके हुए थे। इनमेंसे कोई अरबोंमें मिल जाता था। पारसी अपनेको 'पर्शियन' कहते थे। व्यापारके अलावा भी इन तीनों वर्गोंका परस्पर थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य था। एक चौथा वर्ग था — तमिल, तेलुगू और उत्तर हिन्दुस्तानके गिरमिटियों तथा गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानियोंका। यह वर्ग बड़ा था। गिरमिटका अर्थ है वह इकरार जिसके अनुसार उन दिनों गरीब हिन्दुस्तानी पाँच साल तक मजदूरी करनेके लिए नेटाल जाते थे — एग्रीमेंट। गिरमिट 'एग्रीमेंट'का ही अपभ्रंश है और उसीसे यह गिरमिटिया शब्द बना है। इस वर्गसे दूसरोंका व्यवहार केवल कामकी दृष्टिसे ही रहता था। अंग्रेज इन गिरमिटवालोंको 'कुली' कहते थे और चूँकि इनकी

संख्या बहुत थी इसलिए वे दूसरे हिन्दुस्तानियोंको भी 'कुली' ही कहते। कभी 'कुली' की जगह 'सामी' भी कहते। 'सामी' ज्यादातर तमिल नामोंके अन्तमें लगनेवाला पद है। 'सामी' अर्थात् 'स्वामी।' 'स्वामी'का मतलब हुआ मालिक। इसलिए जब कोई हिन्दुस्तानी 'सामी' शब्दसे चिढ़ जाता और वह कुछ साहसी होता तो सामी कहनेवाले अंग्रेजसे कहता, "तुम मुझसे 'सामी' कहते हो, तब तुम क्या जानते हो कि 'सामी'का मतलब मालिक होता है? मैं तुम्हारा मालिक तो नहीं हूँ।" यह सुनकर कोई अंग्रेज शर्मा जाता, कोई चिढ़कर ज्यादा गालियाँ देता और कोई-कोई तो मार ही उठता, क्योंकि उसकी दृष्टिसे तो 'सामी' शब्द अपमानसूचक ही हो सकता था और यह तो एक अपमानकी ही बात थी कि कोई उस शब्दका अर्थ मालिक बताता।

इसलिए मैं 'कुली बैरिस्टर' कहलाया। हिन्दुस्तानी व्यापारी 'कुली व्यापारी' कहलाते थे। 'कुली' का मूल अर्थ 'मजदूर' तो भुला ही दिया गया था। मुसलमान व्यापारी यह शब्द सुनकर गुस्सा होता और कहता, "मैं कुली नहीं हूँ। मैं तो अरब हूँ।" अथवा कहता, "मैं व्यापारी हूँ।" यदि वह अंग्रेज थोड़ा-बहुत विनयशील होता तो इसपर माफी माँग लेता था।

इस परिस्थितिमें पगड़ीका प्रश्न एक महत्वका प्रश्न बन गया। पगड़ी उतारनेका मतलब था अपमानको सहन कर लेना। मैंने सोचा कि मैं हिन्दुस्तानी पगड़ी छोड़ दूँ और अंग्रेजी टोप पहन लूँ। टोप उतारनेमें अपमानका अनुभव नहीं होगा और मैं झगड़ेसे बच जाऊँगा।

पर अब्दुल्ला सेठको यह सुझाव उचित नहीं लगा। उन्होंने कहा, "अगर आप इस समय ऐसा कोई काम करेंगे तो उससे अनर्थ होगा। जो अन्य लोग देशकी ही पगड़ी पहनते रहना चाहते हैं, उनकी स्थिति नाजुक बन जायेगी। इसके अलावा आपके लिए तो देशी पगड़ी ही शोभाकी चीज है। यदि आप अंग्रेजी किस्मका टोप लगायेंगे, तो आपको लोग 'वेटर' समझेंगे।"

इन वाक्योंमें व्यावहारिक समझ, देशाभिमान और थोड़ी संकीर्णता भी थी। व्यावहारिक समझ तो स्पष्ट ही है। देशाभिमान न होता तो पगड़ीका आग्रह भी न होता और 'वेटर' कहकर जो छींटा मारा उसमें थोड़ी संकीर्णता थी। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंमें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई—ऐसे तीन वर्ग थे। जो गिरमिटिया हिन्दुस्तानी ईसाई बन गये उनकी सन्तान ईसाई हुई। सन् १८९३में ही इनकी संख्या काफी हो गई थी। ये सब अंग्रेजी पोशाक ही पहनते थे। इनमेंसे काफी लोग होटलोंमें नौकरी करके अपनी रोजी कमाते थे। अब्दुल्ला सेठके वाक्यमें अंग्रेजी टोपी पर जो छींटा था, वह इन्हीं लोगोंको लक्ष्यमें रखकर था और मूलमें मान्यता यह थी कि होटलमें 'वेटर' का काम करना बुरा है। आज भी अनेक लोगोंके मनमें यह भेद घर किये बैठा है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठकी बात मुझे ठीक लगी। मैंने पगड़ीकी बातको लेकर अपने और पगड़ीके पक्षमें समाचारपत्रोंमें एक पत्र लिखा। समाचारपत्रोंमें मेरी पगड़ीकी बातको लेकर बड़ी चर्चा हुई। 'अनवेल्कम विजिटर' (अनचाहा मेहमान) शीर्षकसे मेरे बारेमें लिखा गया और मैं अनायास ही तीन-चार दिनके भीतर-भीतर

दक्षिण आफ्रिकामें प्रसिद्ध हो गया। किसीने मेरा पक्ष लिया, किसीने मेरी धृष्टता की जी-खोलकर निन्दा की।

लगभग अन्त तक मेरी पगड़ी बनी रही। वह कब गई, सो हम अन्तके भागमें देखेंगे।

८. प्रिटोरिया जाते हुए

मैं डर्बनमें रहनेवाले ईसाई हिन्दुस्तानियोंके सम्पर्कमें भी जल्दी ही आ गया। वहाँकी अदालतके दुभाषिया श्री पाल रोमन-कैथोलिक थे। उनसे परिचय हुआ और प्रोटेस्टेंट मिशनके शिक्षक स्व० श्री सुभान गाडफ्रेसे भी परिचय हुआ। एक वर्ष पहले इन्हींके पुत्र जेम्स गाडफ्रे दक्षिण आफ्रिकाके भारतीय प्रतिनिधिमण्डलमें आये थे। इन्हीं दिनों स्व० पारसी रुस्तमजीसे पहचान हुई और तभी स्व० आदमजी मियाँखाँसे भी मिला। ये सब भाई अभी तक एक-दूसरेसे कामके सिवा नहीं मिलते थे। लेकिन जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, बादमें ये एक-दूसरेसे काफी मिलने-जुलने लगे।

मैं इस प्रकार परिचय प्राप्त कर रहा था कि फर्मके वकीलका पत्र आया कि मुकदमेकी तैयारी की जानी चाहिए और अब्दुल्ला सेठको स्वयं प्रिटोरिया जाना चाहिए या किसीको वहाँ भेजना चाहिए।

अब्दुल्ला सेठने यह पत्र पढ़नेके लिए दिया और पूछा, "आप प्रिटोरिया जायेंगे?" मैंने कहा, "यदि आप मुझे मामला समझायें तो मैं उसके बाद कह सकूँगा। अभी तो वहाँ क्या करना है, सो भी मैं नहीं जानता।" उन्होंने अपने मुनीमोंसे मुझे मामला समझा देनेका कहा।

मैंने देखा कि मुझे तो बारहखड़ीसे शुरू करना पड़ेगा। जब जंजीबार में उतरा था, तब वहाँकी अदालतका काम देखने चला गया था। एक पारसी वकील किसी गवाहका बयान ले रहे थे और उससे जमा-नामेके सवाल पूछ रहे थे। मैं तो जमा-नामेके बारेमें कुछ समझता ही नहीं था। बहीखाता न मैंने पाठशालामें सीखा था, न विलायतमें। मैंने देखा कि इस मामलेका दारमदार बहियोंपर है। जिसे बही-खातेकी जानकारी हो, वही इस मामलेको समझ और समझा सकता है। जब मुनीम जम-नामेकी बात करता तो मैं परेशान होता। मुझे यह भी नहीं मालूम था कि पी० नोटका क्या अर्थ होता है। शब्दकोषमें तो यह शब्द था ही नहीं। मैंने मुनीमके सामने अपना अज्ञान प्रकट किया और तब पता चला कि पी० नोटका मतलब है प्रामिसरी नोट। मैंने बहीखातेसे सम्बन्धित पुस्तक खरीदी और उसे पढ़ डाला। इसके बाद मनमें कुछ भरोसा उपजा। मामला समझमें आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ बहीखाता लिखना नहीं जानते थे किन्तु व्यावहारिक ज्ञान उन्होंने इतना अधिक प्राप्त कर लिया था कि वे हिसाबकी गुत्थियोंको फौरन सुलझा लेते थे। सब समझ लेनेके बाद मैंने उनसे कहा, "मैं प्रिटोरिया जानेको तैयार हूँ।"

सेठने पूछा, "आप कहाँ उतरेंगे?"

मैंने जवाब दिया, "जहाँ आप कहें।"

"तब तो मैं अपने वकीलको लिख दूँगा। वे आपके ठहरनेका प्रबन्ध करेंगे। प्रिटोरियामें मेरे कई मेमन दोस्त हैं। मैं उनको लिखूँगा तो जरूर, पर आपका उनके यहाँ ठहरना ठीक नहीं होगा। वहाँ हमारे प्रतिपक्षीकी अच्छी रसाई है। आपके नाम लिखे गये मेरे निजी कागज-पत्रोंको वहाँ पहुँचने पर अगर और कोई पढ़ ले तो मुकदमेको नुकसान पहुँच सकता है। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध रहे, उतना अच्छा।"

मैंने कहा, "मुझे आपके वकील जहाँ रखेंगे मैं वहीं रहूँगा, या फिर मैं कोई अलग जगह खोज लूँगा। आप निश्चिन्त रहिए। आपकी कोई भी बात बाहर नहीं जायेगी। पर मैं मिलता-जुलता तो सभीसे रहूँगा। मुझे तो प्रतिपक्षीसे मित्रता कर लेनी है। यदि सम्भव हुआ तो मैं इस मुकदमेको आपसमें निपटानेकी भी कोशिश करूँगा। आखिर तैयब सेठ आपके रिश्तेदार ही तो है न?"

प्रतिपक्षी स्व० तैयब हाजी खान मुहम्मद अब्दुल्ला सेठके निकट सम्बन्धी थे।

मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ मेरी इस बातपर थोड़ा चौंके। पर इस समय तक मुझे डर्बनमें छः-सात दिन हो चुके थे। हम एक-दूसरेको जानने-समझने लगे थे। मैं अब 'सफेद हाथी' लगभग नहीं रहा था। वे बोले, "हाँ . . . आँ, आँ। यदि समझौता हो जाये तो उससे ज्यादा अच्छा तो कुछ है ही नहीं। पर सम्बन्धी होनेके कारण हम एक दूसरेको अच्छी तरह पहचानते हैं। तैयब सेठ जल्दी माननेवाले आदमी नहीं हैं। हम भोलेपनसे काम लें, तो वे हमारे पेटकी बात निकलवा लें और फिर हमको फँसा लें। इसलिए आप जो-कुछ करें, होशियार रहकर करें।"

मैंने कहा, "आप तनिक भी चिन्ता न करें। तैयब सेठ या किसी ओरसे मुकदमेकी बात तो मुझे कहनी ही नहीं है। मैं तो इतना ही कहूँगा कि अगर आप दोनों आपसमें झगड़ा निपटा लें, तो वकीलोंके घर न भरने पड़ें।"

मैं सातवें-आठवें दिन डर्बनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दरजेका टिकट लिया गया। रेलमें सोनेकी सुविधाके लिए पाँच शिलिंगका टिकट अलगसे लेना होता था। अब्दुल्ला सेठने आग्रह किया कि मैं वह टिकट भी ले लूँ। लेकिन मैंने जिदमें और अभिमानमें पाँच शिलिंग बचानेके विचारसे सोनेका टिकट लेनेसे इन्कार कर दिया। अब्दुल्ला सेठने मुझे सावधान किया, "देखिए, यह हिन्दुस्तान नहीं है। दूसरा देश है। खुदाका फजल है, आप पैसेकी कंजूसी न करें। जो सुभीता जरूरी है, सो ले लीजिए।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और निश्चिन्त रहनेको कहा।

ट्रेन लगभग नौ बजे नेटालकी राजधानी मैरित्सबर्ग पहुँची। यहाँ यात्रीको बिस्तर चाहिए या नहीं, यह पूछा जाता था। रेलवेके किसी कर्मचारीने आकर पूछा, "आपको बिस्तर चाहिए?" मैंने कहा, "मेरे पास खुदका बिस्तर है।" वह चला गया। तभी एक यात्री आया। उसने मेरी तरफ ताका। मुझे भिन्न वर्णका पाकर वह परेशान हुआ, बाहर निकला और एक-दो अफसरोंको साथ लेकर आया। उनमेंसे किसीने मुझसे कुछ नहीं कहा। अन्तमें एक और अफसर आया। उसने कहा, "इधर आओ, तुम्हें आखिरी डिब्बेमें जाना है।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दरजेका टिकट है।"

उसने जवाबमें कहा, "सो कोई बात नहीं है। मैं कहता हूँ, तुम्हें आखिरी डिब्बेमें जाना है।"

"लेकिन मैं कहता हूँ कि मुझे डर्बनसे इसी डिब्बेमें बिठाया गया है और मेरा इरादा इसीमें यात्रा करते रहनेका है।"

अफसरने कहा, "यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा और अगर खुद नहीं उतरे, तो सिपाही उतारेगा।"

मैंने कहा, "सिपाही उतारे तो उतारे, मैं खुद नहीं उतरूँगा।"

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतार दिया। मेरा सामान भी उतार दिया गया। मैंने दूसरे डिब्बेमें जानेसे इन्कार कर दिया। ट्रेन रवाना हो गई। मैं वेटिंग रूममें जाकर बैठ गया। अपना हैंडबेग साथमें रखा, किन्तु बाकी सामानको छुआ भी नहीं। रेलवेवालोंने उसे कहीं रखवा दिया।

सरदीका मौसम था। ऊँचे प्रदेशोंमें वहाँ सख्त सरदी पड़ती है। मैरित्सबर्ग ऐसे ही हिस्सेमें था। इसलिए मुझे बड़ी ठण्ड लगी। ओवरकोट मेरे सामानमें था, पर सामान माँगनेकी हिम्मत न पड़ी। सोचा, अगर अपमान किया गया तो! मैं बैठा ठण्डसे काँपता रहा। कमरेमें उजाला भी नहीं था। लगभग आधी रातको एक यात्री आया। लगा कि वह मुझसे कुछ बातें करना चाहता था, पर मैं बातचीतकी मनःस्थितिमें नहीं था।

मैंने अपने कर्त्तव्यका विचार किया; "या तो मुझे अपने अधिकारोंके लिए लड़ना चाहिए, या वापस लौट जाना चाहिए। मुझे, जो अपमान हों, उन्हें सहकर प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुकदमा समाप्त करके ही देश लौट जाना चाहिए। मुकदमा अधूरा छोड़कर चले जाना तो कायरता है। मुझे जो कष्ट हुआ है, वह तो सतही है। वह केवल उस महारोगका लक्षण है जो भीतर गहरे तक उतर गया है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि मुझमें इस गहरे रोगको मिटानेकी शक्ति हो, तो मुझे उस शक्तिका प्रयोग करना चाहिए। इस बातका प्रयत्न करते हुए जो कष्ट उठाने पड़ें वे सब स्वयं उठाने चाहिए और विरोध रंग-द्वेषको मिटानेकी दृष्टिसे ही किया जाना चाहिए।"

यह निश्चय करके मैंने किसी भी प्रकार क्यों न हो, दूसरी ट्रेनसे आगे जाना तय किया।

सुबह होते ही मैंने जनरल मैनेजरको शिकायतका लम्बा तार भेजा। दादा अब्दुल्लाको भी खबर भेजी। अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने अपने कर्मचारियोंके व्यवहारका बचाव किया। पर यह भी बताया कि मुझे बिना किसी रुकावटके अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचानेके बारेमें स्टेशन मास्टरको कह दिया गया है। अब्दुल्ला सेठने मैरित्सबर्गके हिन्दू व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने और मेरी सुख-सुविधाका ध्यान रखनेके बारेमें तार भेजा और अन्य स्टेशनोंपर भी इसी आशयके तार रवाना किये। तार पाकर व्यापारी स्टेशनपर मुझसे मिलने आये। उन्होंने उन कष्टोंकी कहानी सुनाई जो उनके ऊपर पड़ते रहते हैं और मुझसे कहा

कि आपपर जो बीती है, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। हिन्दुस्तानी लोग जब पहले या दूसरे दरजेका सफर करते हैं तब कर्मचारियों और गोरे यात्रियोंकी तरफसे परेशानियाँ पैदा की जाती हैं। दिन ऐसी ही बातें सुननेमें बीत गया। रात हुई। ट्रेन आई। मेरे लिए जगह सुरक्षित ही थी। मैंने बिस्तरके लिए डर्बनमें जो टिकट कटानेसे इन्कार कर दिया था, वह यहाँ मैरित्सबर्गमें कटाया।

ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउनकी ओर ले चली।

९. और परेशानी

ट्रेन सुबह चार्ल्सटाउन पहुँचती थी। उन दिनों चार्ल्सटाउनसे जोहानिसबर्ग जानेके लिए ट्रेन नहीं थी, घोड़ोंकी सिकरम थी, और बीचमें एक रात स्टैंडर्टनमें बितानी पड़ती थी। मेरे पास सिकरमका टिकट पहलेसे ही था। एक दिन देरसे पहुँचनेपर भी वह टिकट रद नहीं हो गया था। इसके सिवा अब्दुल्ला सेठने सिकरमवालेको चार्ल्सटाउनके पतेपर तारसे खबर भी दे दी थी।

पर वह तो बहाना खोजना चाहता था, इसीलिए उसने मुझे निरा अजनबी समझकर कहा, "आपका टिकट तो रद हो चुका है।" मैंने उसे ठीक उत्तर दिया। मुझसे टिकट रद होनेकी बात कहनेका कारण कुछ और ही था। सिकरमके यात्री सिकरमके अन्दर ही बैठते थे, लेकिन मैं ठहरा कुली। फिर अजनबी भी दिखलाई पड़ता था। इसलिए सिकरमवालेकी नीयत यह थी कि अगर मुझे गोरे यात्रियोंके पास बैठानेसे बचा जा सके, तो अच्छा हो। सिकरमके बाहर अर्थात् कोचवानकी बगलमें दायें-बायें दो बैठकें थी। उनमें से एक पर सिकरम कम्पनीका एक मुख्य आदमी बैठता था। आज वह भीतर बैठा और मुझे कोचवानकी बगलमें बैठाया गया। मैंने सोचा कि यह तो सरासर अन्याय है, अपमान है। फिर भी मैंने इस अपमानको पी जाना ठीक समझा। स्थिति ऐसी थी ही नहीं कि मैं जबरदस्ती अन्दर बैठ सकूँ। अगर उलझता तो सिकरम रवाना हो जाती और मेरा एक दिन फिर टूट जाता। और फिर दूसरे दिन क्या होगा, सो तो भगवान ही जाने। इसलिए मैंने समझदारीसे काम लिया और बाहर बैठ गया। मन ही मन बहुत झुँझला रहा था।

लगभग तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुँची। सिकरम कम्पनीसे सम्बन्धित जो गोरा मुख्य-कर्मचारी भीतर बैठा था, उसने चाहा कि अब वह वहाँ बैठे जहाँ मैं बैठा हुआ था। उसे सिगरेट पीनी थी। थोड़ी हवा भी खाना चाहता होगा। इसलिए उसने वहीं कोचवानके पास पड़ा हुआ एक मैला-सा बोरा उठाया और पैर रखनेके पटिएपर बिछाकर मुझसे कहा, "सामी, तू यहाँ बैठ। मैं कोचवानके पास बैठना चाहता हूँ।" मैं इस अपमानको सहन नहीं कर सका। इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा, "तुमने मुझे यहाँ बैठाया; मैंने वह अपमान सहन कर लिया। मेरी जगह अन्दर थी लेकिन तुम वहाँ बैठे और मुझे यहाँ बैठाया। अब तुम्हें बाहर बैठनेकी इच्छा हो रही है और सिगरेट पीनी है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरोंके पास

बिठाना चाहते हो। मैं अन्दर जानेको तैयार हूँ, तुम्हारे पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं हूँ।"

मैं मुश्किलसे इतना कह ही पाया था कि मुझपर थप्पड़ोंकी वर्षा होने लगी और वह गोरा मेरे पाँव पकड़कर मुझे नीचे घसीटने लगा। बैठकके पास ही पीतलके सींखचे थे। मैंने उन्हें कसकर पकड़ लिया और तय किया कि कलाई भले टूट जाये, मैं सींखचे नहीं छोड़ूँगा। मुझपर जो बीत रही थी, उसे अन्दर बैठे हुए यात्री देख रहे थे। गोरा मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था और मार भी रहा था और मैं चुप था। वह बलिष्ठ था, मैं कमजोर। यात्रियोंमें से कुछ लोगोंको दया आई और वे बोल उठे, "अरे भाई, उस बेचारेको वहाँ बैठा रहने दो। उसे नाहक मत मारो। उसकी बात सच है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।" गोरेने कहा, "हरगिज नहीं।" लेकिन वह थोड़ा शर्मिंदा हुआ और उसने मुझे मारना बन्द कर दिया और मेरी बाँह छोड़ दी। दो-चार गालियाँ जरूर और सुनाईं। लेकिन एक होटेंटटॉट[1] नौकर दूसरी तरफ बैठा था। उसे पैरोंके सामने बिठाकर वह खुद बाहर बैठ गया।

यात्री अन्दर बैठ गये। सीटी बजी, सिकरम चल दी। मेरी छाती अभी तक धड़क रही थी। सोचता था, मैं जिन्दा मुकामपर पहुँचूँगा या नहीं। वह गोरा बराबर मेरी ओर घूरता ही रहा और बीच-बीचमें अँगुली दिखा-दिखा कर बड़बड़ाता रहा: "याद रख, स्टैंडर्टन पहुँचने दे, फिर मजा चखाऊँगा।" मैं तो गूँगा बना बैठा रहा और भगवानसे अपनी रक्षाकी प्रार्थना करता रहा।

हम अँधेरा हो चुकनेपर स्टैंडर्टन पहुँचे। वहाँ कई हिन्दुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। इससे मुझे कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानी भाइयोंने कहा, "हम आपको ईसा सेठकी दूकानपर ले जानेके लिए आये हैं। हमें दादा अब्दुल्लाका तार मिल गया है।" मैं बहुत खुश हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमारकी दूकानपर पहुँचा। सेठ और मुनीम गुमाश्तोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। मैंने जो बीती थी सो उन्हें सुनाई। वे बहुत दुखी हुए और उन्होंने अपने-अपने कड़वे अनुभवोंका वर्णन करके मुझे शान्ति देनी चाही।

मैं सिकरम कम्पनीके एजेंटको अपने साथके व्यवहारकी जानकारी देना चाहता था। मैंने एजेंटके नाम चिट्ठी लिखी। उस गोरेने मुझे जो धमकी दी थी उसका उल्लेख किया और यह आश्वासन चाहा कि आगेके लिए सुबह यात्रा शुरू करनेके समय मुझे दूसरे यात्रियोंके साथ अन्दरकी जगह दी जाये। चिट्ठी एजेंटको भिजवा दी। एजेंटने खबर भेजी: "स्टैंडर्टनसे बड़ी सिकरम जाती है और कोचवान वगैरा सब बदल जाते हैं। आपने जिस आदमीके खिलाफ शिकायत की है, वह कल वहाँ नहीं होगा। आपको जगह दूसरे यात्रियोंके पास ही दी जायेगी।" इस सन्देशसे मुझे थोड़ी निश्चिन्तता हुई। मैंने उस मारनेवाले गोरेपर किसी तरहका मुकदमा चलानेका विचार तो किया ही नहीं था, इसलिए हमलेका यह अध्याय यहीं समाप्त हो गया।

१. दक्षिण आफ्रिकाके केप नामक अंचलका मूल निवासी।

सवेरे ईसा सेठके लोग मुझे सिकरम तक पहुँचाने गये। मुझे ठीक जगह दी गई और बिना किसी परेशानीके मैं उस रात जोहानिसबर्ग पहुँच गया।

स्टैंडर्टन एक छोटा-सा गाँव है और जोहानिसबर्ग एक विशाल नगर। अब्दुल्ला सेठने तार तो यहाँ भी दे ही दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दूकानका पता-ठिकाना भी दे दिया था। उनका आदमी सिकरम ठहरनेकी जगहपर पहुँचा, पर वह मुझे नहीं पहचान सका और न मैं उसे। मैंने होटलमें जानेका विचार किया। दो-चार होटलोंके नाम जान लिये थे। एक गाड़ी की। गाड़ीवालेसे कहा कि ग्रैंड नेशनल होटलमें ले चलो। वहाँ मैनेजरके पास पहुँचा और जगह माँगी। मैनेजरने क्षण-भर मुझे निहारा। फिर शिष्टाचारयुक्त भाषामें कहा, "मुझे खेद है, सभी कमरे भरे हुए हैं।" उसने मुझे विदा कर दिया। इसलिए मैंने गाड़ीवालेसे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दूकान पर चलनेको कहा। वहाँ अब्दुल गनी सेठ मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटलकी बात उन्हें सुनाई। वे खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले: "वे हमें होटलमें कैसे उतरने देंगे।"

मैंने पूछा, "क्यों नहीं?"

"सो तो आप यहाँ कुछ दिन रहनेके बाद जान जायगे। इस देशमें तो हम ही रह सकते हैं; क्योंकि हमें पैसे कमाने हैं। इसीलिए तरह-तरहके अपमान सहन करते हैं और पड़े रहते हैं।" इसके बाद उन्होंने ट्रान्सवालमें हिन्दुस्तानियोंपर गुजरने-वाले कष्टोंकी कहानी कह सुनाई।

इन अब्दुल गनी सेठका परिचय फिर आगे चलकर आयेगा।

उन्होंने कहा, "यह देश आपके-जैसे लोगोंके लिए नहीं है। देखिए कल आपको प्रिटोरिया जाना है। वहाँ आपको तीसरे दरजेमें ही जगह मिलेगी। ट्रान्सवालमें नेटालसे अधिक कष्ट है। हमारे यहाँके लोगोंको ट्रान्सवालमें पहले या दूसरे दरजेका टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने कहा, "आपने इसके लिए पूरी कोशिश नहीं की होगी।"

अब्दुल करीम बोले, "हमने लिखा-पढ़ी तो की है, पर हमारे यहाँके अधिकतर लोग भी पहले-दूसरे दरजेमें बैठना कहाँ चाहते हैं।"

मैंने रेलवेके नियम मँगाकर उन्हें पढ़ा। उनमें इस बातकी गुंजाइश थी। ट्रान्सवालके मूल कानून बारीकीके साथ नहीं बनाये जाते थे। रेलवेके नियमोंका तो पूछना ही क्या है।

मैंने सेठसे कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लासमें ही जाऊँगा और यदि वह सम्भव नहीं हुआ, तो प्रिटोरिया यहाँसे ३७ ही मील तो है, मैं घोड़ा-गाड़ी करके वहाँ चला जाऊँगा।"

अब्दुल गनी सेठने उसमें लगनेवाले खर्च और समयकी तरफ मेरा ध्यान खींचा। पर वे मेरे विचारसे सहमत ही हुए। मैंने स्टेशन-मास्टरको पत्र लिखा। पत्रमें मैंने अपने बैरिस्टर होनेका उल्लेख किया और यह भी कहा कि मैं हमेशा पहले दरजेमें ही सफर करता हूँ। अपने तुरन्त प्रिटोरिया पहुँचनेकी जरूरतकी तरफ भी उनका ध्यान खींचा और उन्हें लिखा कि उत्तरकी प्रतीक्षा करने योग्य समय मेरे पास नहीं

बचेगा, इसलिए पत्रका उत्तर पानेके लिए खुद ही स्टेशनपर पहुँचूँगा और आशा रखूँगा कि मुझे पहले दर्जेका टिकट दिया जाये। लिखते समय मेरे मनमें एक छोटासा पेच था। ख्याल यह था कि स्टेशनमास्टर लिखित उत्तरमें तो 'ना' ही कह देगा। उसे क्या मालूम, कुली बैरिस्टरकी रहन-सहन कैसी होती है। इसलिए अगर मैं पूरे साहबी ठाठमें जाकर उसके सामने खड़ा हो जाऊँगा और उससे बात करूँगा, तो वह परिस्थिति समझ जायेगा और शायद मुझे टिकट दे देगा। इसलिए मैं फ्रॉक कोट, नेकटाई वगैरा डाँटकर स्टेशन पहुँचा। स्टेशन-मास्टरके सामने मैंने गिनी निकालकर रखी और पहले दरजेका टिकट माँगा।

उसने कहा, "चिट्ठी आपने ही मुझे लिखी है।"

मैंने कहा, 'जी, हाँ। यदि आप मुझे टिकट दे देंगे तो मैं आपका अहसान मानूँगा। मुझे आज प्रिटोरिया पहुँचना ही चाहिए।"

स्टेशन मास्टर हँसा और करुणाके स्वरमें बोला, "मैं ट्रान्सवालका रहनेवाला नहीं हूँ, हॉलैंडका रहनेवाला हूँ। आपकी भावनाको मैं समझ सकता हूँ। मेरी आपके प्रति सहानुभूति है। मैं आपको टिकट देना चाहता हूँ, पर एक शर्त है — अगर गार्ड रास्तेमें आपको उतार दे और तीसरे दरजेमें बैठाये तो आप मुझे नहीं फँसायेंगे। यानी आप रेलवे कम्पनी पर दावा नहीं करेंगे। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह तो देख ही रहा हूँ कि आप सज्जन हैं।"

यों कहकर उसने टिकट काट दिया। मैंने उसका उपकार माना, और उसे निश्चिन्त किया।

अब्दुल गनी सेठ मुझे पहुँचाने आये थे। यह कौतुक देखकर वे खुश हुए। उन्हें आश्चर्य हुआ। पर मुझे सावधान करते हुए बोले, "आप खैरियतसे प्रिटोरिया पहुँच जायें तब समझूँगा कि बेड़ा पार हो गया। मुझे लगता है कि गार्ड आपको पहले दरजेमें आरामसे नहीं बैठने देगा। अगर गार्डने बैठ ही जाने दिया तो यात्री नहीं बैठने देंगे।"

मैं पहले दरजेके डिब्बेमें बैठा। ट्रेन रवाना हुई। जर्मिस्टन पहुँचनेपर गार्ड टिकट जाँचने आया। मुझे देखते ही झल्ला उठा। अँगुलीसे इशारा करके बोला, "तीसरे दरजेमें जाओ।" मैंने अपना पहले दरजेका टिकट दिखाया। उसने कहा, "कोई बात नहीं है; जाओ तीसरे दरजेमें।"

इस डिब्बेमें एक ही अंग्रेज यात्री था। उसने गार्डको आड़े हाथों लिया, "तुम इन भले आदमीको क्यों परेशान करते हो? देखते नहीं हो, इनके पास पहले दरजेका टिकट है। मुझे इनके बैठनेसे तनिक भी कष्ट नहीं है।" इतना कहकर उसने मेरी तरफ देखा और कहा, "आप इतमीनानसे बैठे रहिए।"

गार्ड बड़बड़ाया, "आपको कुलीके साथ बैठना है, तो बैठिए, मेरा क्या बिगड़ता है?" और चला गया।

गाड़ी रातको आठ बजेके करीब प्रिटोरिया पहुँची।

१०. प्रिटोरियामें पहला दिन

मैंने सोचा था कि दादा अब्दुल्लाके वकीलकी ओरसे कोई आदमी मुझे प्रिटोरिया स्टेशनपर मिलेगा। यह तो मैं जानता था कि कोई हिन्दुस्तानी मुझे लेने नहीं आया होगा। मैं यह भी कह चुका था कि मैं किसी हिन्दुस्तानीके घर नहीं ठहरूँगा। स्टेशन पर वकीलने कोई भी आदमी नही भेजा था। बादमें मुझे पता चला कि जिस दिन मैं पहुँचा, वह रविवार था। इसलिए वे जिसको भेजते, उसे कुछ न कुछ असुविधा होती। स्टेशन पर किसीको न पाकर मैं परेशान हुआ। सोचने लगा, कहाँ जाऊँ। कोई होटल मुझे अपने यहाँ जगह नहीं देगा, ऐसा डर था।

सन् १८९३ के प्रिटोरिया स्टेशन और १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशनमें बड़ा फर्क था। धीमी-धीमी रोशनीवाली बत्तियाँ जल रही थीं। यात्री भी अधिक नहीं थे। मैंने सब यात्रियोंको चले जाने दिया और सोचा कि जब टिकट कलेक्टरको थोड़ी फुरसत हो जायेगी तब उसे टिकट दूँगा और यदि उसने मुझे किसी छोटे-से होटल या ठहरने लायक किसी मकानका पता बता दिया तो वहाँ चला जाऊँगा या फिर रात स्टेशन पर ही काट लूँगा। यों अपमानके डरसे इतना पूछनेकी भी हिम्मत नहीं पड़ती थी।

जब यात्रियोंके चले जाने पर स्टेशन सूना हो गया, तब मैंने टिकट देकर टिकट कलेक्टरसे पूछताछ की। उसने उत्तर सभ्यताके साथ दिये, पर मैंने देखा कि वह मेरी मदद करनेमें असमर्थ है। उसकी बगलमें एक अमेरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझसे बातचीत शुरू की:

"देख रहा हूँ कि आप बिलकुल अजनबी हैं और यहाँ आपका कोई परिचित नहीं है। अगर आप मेरे साथ चलें तो मैं आपको एक छोटे-से होटलमें ले चलूँगा। उसका मालिक अमेरिकन है और उसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। मेरा ख्याल है कि वह आपको टिका लेगा।"

मुझे थोड़ा शक तो हुआ, पर मैंने इनका उपकार माना और साथ जाना स्वीकार किया। वे मुझे जॉन्स्टनके 'फैमिली होटल' में ले गये। पहले उन्होंने श्री जॉन्स्टनको एक ओर ले जाकर थोड़ी बात की। श्री जॉन्स्टनने मुझे एक रातके लिए ठहराना कबूल किया और वह भी इस शर्त पर कि भोजन मेरे कमरेमें पहुँचाया जायेगा।

श्री जॉन्स्टनने कहा, "मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे मनमें तो काले-गोरेका कोई भेद नहीं है, पर मेरे सभी ग्राहक गोरे हैं। यदि मैं आपको भोजनगृहमें भोजन कराऊँ, तो वे बुरा मानेंगे और शायद चले ही जायेंगे।"

मैंने जवाब दिया, "आप मुझे एक रातके लिए टिकने दे रहे हैं, यह भी आपका उपकार ही है। इस देशकी स्थितिसे म थोड़ा परिचित हो गया हूँ। मैं आपकी कठिनाई समझ सकता हूँ। आप खुशीसे खाना कमरेमें भेज दीजिए। कल तक मैं दूसरा प्रबन्ध कर लेनेकी आशा रखता हूँ।"

मुझे कमरा दे दिया गया। मैंने उसमें प्रवेश किया और एकान्त मिलनेपर भोजन आनेकी राह देखता हुआ विचारोंमें डूब गया। इस होटलमें अधिक यात्री

नहीं थे। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि भोजन लेकर वेटर नहीं आ रहा है, खुद श्री जॉन्स्टन आ रहे हैं। उन्होंने कहा, "मैंने आपको कमरेमें खाना देनेकी बात बताई थी। पर मुझे ऐसा करनेमें शर्म आई और मैंने अपने ग्राहकोंसे बातचीत करके उनकी राय जाननी चाही। आप भोजन-गृहमें उनके साथ बैठकर भोजन करें तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। इसके अलावा आप चाहे जितने दिन यहाँ रहें, उनकी ओरसे कोई आपत्ति नहीं होगी। इसलिए यदि आप चाहें तो भोजन-गृहमें चलिए और जब-तक जी चाहे यहाँ रहिए।"

मैंने उनका उपकार माना और भोजन-गृहमें गया। वहाँ मैंने निश्चिन्त होकर भोजन किया।

दूसरे दिन सबेरे मैं वकीलके घर गया। उनका नाम था, ए० डब्ल्यू० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने मुझे उनके बारेमें कुछ बता दिया था। इसलिए हमारी पहली मुलाकातसे मुझे कोई आश्चर्य न हुआ। वे मुझसे प्रेमपूर्वक मिले, और मेरे बारेमें कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उन्हें बतला दीं। उन्होंने कहा, "बैरिस्टरके नाते तो आपका यहाँ कोई उपयोग हो ही न सकेगा। इस मुकदमेके लिए हमने अच्छे-से-अच्छे बैरिस्टर कर रखे हैं। मुकदमा लम्बा है और गुत्थियोंसे भरा हुआ है। इसलिए आपसे मैं आवश्यक तथ्य आदि प्राप्त करनेका ही काम ले सकूँगा। पर इतना फायदा अवश्य होगा कि अपने मुवक्किलके साथ पत्र-व्यवहार करनेमें मुझे अब आसानी हो जायेगी, और तथ्यादि की जो जानकारी मुझे प्राप्त करनी होगी, वह मैं आपके द्वारा मँगवा सकूँगा। आपके लिए अभी तक मैंने कोई मकान तो तलाश नहीं किया है। सोचा था कि आपको देखनेके बाद खोज लूँगा। यहाँ रंगभेद बहुत है, इसलिए घर मिलना आसान नहीं है। पर मैं एक बहनको जानता हूँ। वह गरीब है, भटियारेकी स्त्री है। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगी। उसे भी कुछ मदद हो जायेगी। चलिए, हम उसके यहाँ चलें।"

उसके बाद वे मुझे वहाँ ले गये। श्री बेकरने उस बहनको एक ओर ले जाकर उससे कुछ बातें कीं और उसने मुझे ठहराना स्वीकार कर लिया। निश्चय हुआ कि हफ्तेके तैंतीस शिलिंग दिये जायेंगे।

श्री बेकर वकील होनेके साथ-साथ कट्टर पादरी भी थे। वे अभी जीवित हैं। और अब केवल पादरीका ही काम करते हैं। वकालतका धन्धा उन्होंने छोड़ दिया है। रुपये-पैसेसे सुखी हैं। मेरा उनका अबतक पत्र-व्यवहार होता है। पत्रोंका विषय एक ही रहता है। वे अपने पत्रोंमें अलग-अलग ढंगसे ईसाई धर्मकी उत्तमताकी चर्चा करते हैं और इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि ईसाको ईश्वरका एकमात्र पुत्र और तारणहार समझे बिना परम शान्ति नहीं मिलनेकी।

श्री बेकरने पहली ही मुलाकातमें धर्म-सम्बन्धी मेरे विचारोंको पूछ लिया था। मैंने उन्हें बताया, "मैं जन्मसे हिन्दू हूँ। मुझे इस धर्मका भी बहुत ज्ञान नहीं है। दूसरे धर्मोंका ज्ञान भी कम ही है। मैं यह सब नहीं जानता कि मैं क्या हूँ, क्या मानता हूँ और मुझे क्या मानना चाहिए। मैं अपने धर्मका गम्भीरतासे अध्ययन करना चाहता हूँ। मेरा इरादा दूसरे धर्मोंका यथाशक्ति अध्ययन करनेका भी है।"

यह सब सुनकर श्री बेकर खुश हुए। उन्होंने मुझसे कहा, "मैं साउथ आफ्रिका जनरल मिशनका एक डायरेक्टर भी हूँ। मैने स्वयं अपने खर्चसे एक गिरजाघर बनवाया है। मैं समय-समयपर वहाँ धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान देता रहता हूँ। मैं रंग-भेद नहीं मानता। कुछ अन्य लोग भी मेरे साथ काम करते हैं। हम प्रतिदिन एक बजे कुछ मिनटोंके लिए मिलते हैं और आत्माकी शान्ति तथा प्रकाश (ज्ञानके उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। आप उसमें शामिल होंगे, तो मुझे खुशी होगी। मैं वहाँ अपने सहयोगियोंसे भी आपकी पहचान करा दूँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे और मुझे विश्वास है कि आपको भी उनका साथ अच्छा लगेगा। मै आपको कुछ धार्मिक पुस्तकें भी पढ़नेको दूँगा। पर सच्ची पुस्तक तो बाइबल ही है। मेरी सलाह है कि आप उसे अवश्य पढ़िए।"

मैंने श्री बेकरको धन्यवाद दिया और यथासम्भव रोज एक बजे प्रार्थनाके लिए उनके मण्डलमें पहुँचना स्वीकार किया।

"तो कल एक बजे यहीं आ जाइए। हम साथ-साथ प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।"

हम जुदा हुए। अभी मुझे अधिक सोचनेका अवकाश नहीं था।

मैं श्री जॉन्स्टनके पास गया और उनका बिल चुकाकर नई जगह जा पहुँचा। वहाँ भोजन किया। घर मालकिन बड़ी भली स्त्री थी। उसने मेरे लिए अन्नाहार तैयार कर दिया था। मुझे इस कुटुम्बसे घुलने-मिलनेमें देर नहीं लगी।

भोजनसे निश्चिन्त होकर मैं उन मित्रसे मिलने गया जिनके नाम दादा अब्दुल्ला ने पत्र दिया था। उनसे जान-पहचान हुई। हिन्दुस्तानियोंकी दुर्दशाके विषयमें उनसे और भी विशेष बातें जाननेको मिलीं। उन्होंने मुझे अपने घर रहनेका आग्रह किया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और जो व्यवस्था हो चुकी थी उसके विषयमें बताया। उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि जब जिस चीजकी आवश्यकता हो, मैं उनसे माँग लिया करूँ।

शाम हुई और व्यालू करनेके बाद मैं अपने कमरेमें जाकर विचारोंमें तल्लीन हो गया। मैंने देखा कि फिलहाल तो मेरे लिए कोई काम नहीं है। अब्दुल्ला सेठको इसकी सूचना भी भेज दी। मैं सोचने लगा, श्री बेकरकी मित्रताका क्या अर्थ हो सकता है। उनके धर्म-भाइयोंसे मुझे क्या मिल सकेगा? मुझे ईसाईधर्मका अध्ययन किस हद तक करना चाहिए। हिन्दू धर्मका साहित्य कहाँसे प्राप्त हो सकता है? अपने धर्मको समझे बिना मैं ईसाईधर्मके स्वरूपको कैसे समझ सकता हूँ। मैं एक इसी निर्णयपर पहुँच सका कि मुझे जो-कुछ भी पढ़नेको मिले, उसे मैं निष्पक्ष भावसे पढ़ूँ और श्री बेकरके साथियोंको वही उत्तर दूँ जो जिस समय भगवान मुझे सुझा दे। जबतक मैं अपने धर्मको पूरी तरह नहीं समझ लेता, तबतक मुझे अन्य धर्मोंको स्वीकार करनेका विचार नहीं करना चाहिए।

इस तरह सोचते हुए मेरी नींद लग गई।

११. ईसाइयोंसे सम्पर्क

दूसरे दिन एक बजे मैं श्री बेकरके प्रार्थना-समाजमें गया। वहाँ कुमारी हैरिस, कुमारी गेब, श्री कोट्स आदिसे परिचय हुआ। सबने घुटनोंके बल बैठकर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थनामें जिसकी जो इच्छा होती, सो ईश्वरसे माँगता। "दिन शान्तिसे बीते, ईश्वर हमारे हृदयके द्वार खोले", इत्यादि तो माँगा ही जाता था।

मेरे लिए भी प्रार्थना की गई, "हे प्रभु, हमारे बीच जो नये भाई आये हैं, उन्हें तू मार्ग दिखा। जो शान्ति तूने हमें दी है वह उन्हें भी दे। जिस ईसाने हमें मुक्त किया है, वह उन्हें भी मुक्त करें। हम यह सब ईसाके नामपर माँगते हैं।" इस प्रार्थनामें भजन-कीर्तन कुछ नहीं होता था। वे केवल ईश्वरसे कोई विशेष वस्तु माँगते और फिर बिखर जाते। यह समय सबके दोपहरके भोजनका होता था। इसलिए सब प्रार्थना करनेके बाद भोजन करने चले जाते थे। प्रार्थनामें पाँच मिनटसे अधिक नहीं लगता था।

कुमारी हैरिस और कुमारी गेब दोनों प्रौढ़ अवस्थाकी कुमारिकाएँ थीं। श्री कोट्स क्वेकर थे। वे दोनों बहनें साथ रहतीं। उन्होंने मुझे हर रविवारको चार बजेकी चायके लिए अपने घर आते रहनेका निमन्त्रण दिया।

जब श्री कोट्स मिलते तो मुझे हर रविवारको उन्हें हफ्ते-भरकी अपनी धार्मिक डायरी सुनानी पड़ती। उन्हें बताना पड़ता कि मैंने कौन-कौन किताबें पढ़ीं और मेरे मनपर उनका क्या असर हुआ। फिर इनकी चर्चा होती। ये दोनों बहनें अपने मधुर अनुभव सुनातीं और उस परम शान्तिकी बातें करतीं जो उनको प्राप्त हुई थी।

श्री कोट्स एक निर्मल हृदयवाले चुस्त तरुण क्वेकर थे। उनके साथ मेरा गाढ़ सम्बन्ध बन गया था। हम अनेक बार साथ-साथ घूमने भी जाया करते थे। वे मुझे दूसरे ईसाइयोंके घर भी ले जाते।

कोट्सने मुझे पुस्तकोंसे लाद दिया। वे जैसे-जैसे मुझे पहचानते जाते, वैसे-वैसे उन्हें जो पुस्तकें ठीक जान पड़तीं, मुझे पढ़नेके लिए देते। मैंने भी केवल श्रद्धावश होकर उन पुस्तकोंको पढ़ना स्वीकार किया। हम आपसमें इन पुस्तकोंकी चर्चा भी किया करते।

ऐसी पुस्तकें मैंने सन् १८९३ में काफी पढ़ीं। उन सबके नाम तो मुझे याद नहीं, लेकिन उनमें सिटी टेम्पलवाले डा० पार्करकी टीका, पियर्सनकी 'मैनी इन्फेलिबिल प्रूफ्स,' बटलरकी 'एनॉलॉजी' इत्यादि पुस्तकें थीं। इनका कुछ भाग समझमें न आता, कुछ रुचता और कुछ न रुचता। मैं श्री कोट्सको यह सब बता देता। 'मैनी इन्फेलिबिल प्रूफ्स' ('अनेक अचूक प्रमाण') — अर्थात् लेखककी रायमें बाइबलमें जिस धर्मका वर्णन है, उसके समर्थनके प्रमाण। मुझपर इस पुस्तकका कोई असर नहीं पढ़ा। पार्करकी टीकाको नीतिवर्द्धक माना जा सकता है; किन्तु ईसाई धर्मकी प्रचलित मान्यताओंके विषयमें यदि कोई शंका रखता हो, तो उसे इससे कोई मदद नहीं मिल सकती थी। बटलरकी 'एनॉलॉजी' बहुत गम्भीर और कठिन जान पुस्तक पड़ी। उसे

पाँच-सात बार पढ़ा जाना चाहिए। वह नास्तिकको आस्तिक बनानेकी दृष्टिसे लिखी हुई पुस्तक प्रतीत हुई। उसमें ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें जो दलीलें प्रस्तुत की गई थीं, उनका मेरे लिए कोई उपयोग नहीं था, क्योंकि वह समय मेरी नास्तिकताका समय नहीं था। किन्तु उसमें ईसाके अद्वितीय अवतार और उसे मनुष्य तथा ईश्वरके बीच सन्धि करनेवाला होनेके विषयमें जो प्रमाण दिये गये थे, उनका मुझपर कोई असर नहीं हुआ।

पर श्री कोट्स हार माननेवाले व्यक्ति नहीं थे। उनके मोहका पार नहीं था। उन्होंने मेरे गलेमें वैष्णव सम्प्रदायकी कण्ठी देखी। उन्होंने इसे अन्धविश्वास माना और वे दुखी हुए। बोले, "ऐसा अन्धविश्वास तुम जैसोंको शोभा नहीं देता, लाओ मैं इसे तोड़ दूँ।"

"यह कण्ठी तोड़ी नहीं जा सकती। यह माताजीकी दी हुई है।"

"पर तुम क्या इसमें विश्वास करते हो?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मैं इसे नहीं पहनूँगा तो मेरा अकल्याण होगा। किन्तु जो माला माताजीने मुझे प्रेमपूर्वक पहनाई है, जिसे पहनना उन्होंने मेरे लिए कल्याणकारी माना है, उसे मैं अकारण नहीं छोड़ूँगा। समय पाकर यह जीर्ण हो जायेगी और टूट जायेगी, तब ऐसी ही दूसरी प्राप्त करके पहननेका लोभ तो मैं नहीं करूँगा। लेकिन यह कण्ठी अभी नहीं टूटेगी।"

कोट्स मेरी इस बातकी कद्र नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्मके प्रति भी अनास्था थी। वे मुझे अज्ञानके कुएँमें से उबारनेकी आशा करते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि दूसरे धर्मोंमें थोड़ा-बहुत सत्य भले ही हो, किन्तु मोक्ष तो पूर्ण सत्यरूपी ईसाई धर्मको स्वीकार किये बिना मिल ही नहीं सकता; और ईसाकी मध्यस्थताके बिना पाप-प्रक्षालन सम्भव ही नहीं है; अन्य सभी पुण्य-कर्म निरर्थक हैं—वे यही कहना चाहते थे।

श्री कोट्सने जिस प्रकार मेरी पुस्तकोंसे परिचय कराया उसी प्रकार वे जिन्हें ठीक धार्मिक ईसाई मानते थे, उन व्यक्तियोंसे भी मेरा परिचय कराया। 'प्लीमथ ब्रदरन' से सम्बन्धित एक कुटुम्ब ऐसा ही था। 'प्लीमथ ब्रदरन' एक ईसाई सम्प्रदाय है।

कोट्सने जो परिचय कराये उनमेंसे अनेक मुझे अच्छे लगे। वे लोग ईश्वरसे डरनेवाले थे, ऐसा मुझे लगा। इस कुटुम्बमें से एक भाईने मुझसे कहा,

"आप हमारे धर्मकी खूबी ही नहीं समझ सकते। आप जो-कुछ कहते हैं उससे मुझे ऐसा लगता है कि आपको हमेशा प्रतिक्षण अपनी भूलोंपर विचार करना पड़ता है, हमेशा उन्हें सुधारना पड़ता है। यदि वे नहीं सुधरतीं, तो पश्चात्ताप करना पड़ता है, प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इस क्रिया-काण्डसे आपको मुक्ति कैसे मिल सकती है? शान्ति तो आपको मिल ही नहीं सकती। आप यह तो स्वीकार करते ही हैं कि हम सब पापी हैं। अब हमारी मान्यताकी परिपूर्णता देखिए। हम मानते हैं कि हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी मुक्तिकी आवश्यकता तो है ही। पापका बोझ कैसे समाप्त हो? हम उसे ईसा पर डाल दें। वह तो ईश्वरका एकमात्र निष्पाप

पुत्र है। उसे वरदान प्राप्त है कि जो तुझे मानेगा उसका पाप धुल जायेगा। यह ईश्वरकी अगाध उदारता है। हमने ईशुकी इस मुक्ति-योजनाको स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमें नहीं पकड़ते। पाप तो होते ही रहते हैं। इस जगतमें पाप अवश्यम्भावी है। इसीसे ईशुने सारे संसारके पापोंका एक ही बारमें प्रायश्चित्त कर डाला। जो उनके महाबलिदानमें विश्वास ला सकते हैं, वे शान्ति यों ही प्राप्त कर सकते हैं। कहाँ आपकी अशान्ति और कहाँ हमारी शान्ति?"

उनका यह कथन मेरे गले बिलकुल ही न उतरा। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया:

"यदि सर्वमान्य ईसाई धर्म यही है, तो वह मेरे किसी कामका नहीं है। मैं पापके परिणामसे मुक्त नहीं होना चाहता, मैं तो पाप-वृत्तिसे, पाप-कर्मसे ही छुटकारा चाहता हूँ। जबतक मुझे वह छुटकारा नहीं मिलता, तबतक मुझे अपनी यह अशान्ति प्रिय रहेगी।"

प्लीमथ ब्रदरने उत्तर दिया, "मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपका प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बातपर फिर विचार कीजियेगा।"

और इन भाईने जैसा कहा था, व्यवहार द्वारा वैसा करके भी दिखा दिया — जान-बूझकर अनीति कर दिखाई।

पर सभी ईसाइयोंकी ऐसी मान्यता नहीं होती, सो तो मैं इन सज्जनोंसे परिचय करनेके पूर्व भी जान सका था। कोट्स स्वयं पापसे डरकर चलनेवाले व्यक्ति थे। उनका हृदय निर्मल था। वे मानते थे कि हृदय-शुद्धि एक सम्भावना है। उक्त बहनें भी ऐसा ही मानती थीं। मुझे जो पुस्तकें हाथ लगी थीं, उनमेंसे कई भक्तिपूर्ण थीं। अतएव इस परिचयके कारण कोट्सको जो परेशानी हुई थी, उसे मैंने शान्त किया और उन्हें विश्वास दिलाया कि एक 'प्लीमथ ब्रदर'की अनुचित मान्यताके आधारपर मैं ईसाई धर्मके विरुद्ध कोई गलत राय नहीं बना सकता।

मेरी कठिनाइयाँ तो बाइबल और उसके रूढ़ार्थको लेकर थीं।

१२. हिन्दुस्तानियोंसे परिचय

ईसाइयोंसे सम्बन्धके विषयमें और कुछ लिखनेसे पहले उसी समय जो दूसरे अनुभव हुए, उनका उल्लेख कर देना आवश्यक है।

नेटालमें जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था, वही स्थान प्रिटोरियामें सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मदका था। उनके बिना एक भी सार्वजनिक काम आगे नहीं बढ़ सकता था। मैंने पहले ही हफ्तेमें उनसे परिचय प्राप्त कर लिया। मैंने उन्हें बताया कि मैं प्रिटोरिया निवासी हर हिन्दुस्तानीके सम्पर्कमें आना चाहता हूँ। मैंने हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका अध्ययन करनेकी इच्छा प्रकट की और इन सब कामोंमें उनकी मदद चाही। उन्होंने खुशीसे मदद देना स्वीकार किया।

सबसे पहला काम तो मैंने यह किया कि सारे हिन्दुस्तानियोंकी एक सभा करके उनके सामने समूची परिस्थितिका चित्र खड़ा करनेकी कोशिश की। यह सभा सेठ

हाजी मुहम्मद हाजी यूसफके यहाँ हुई। मेरे पास इनके नाम एक सिफारिशी पत्र भी था। इस सभामें विशेष रूपसे मेमन व्यापारी आये हुए थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरियामें हिन्दुओंकी आबादी बहुत कम थी।

यह मेरे जीवनका पहला भाषण कहा जा सकता है। मैंने तैयारी ठीक कर ली थी। मेरे भाषणका विषय सत्य था। मैं अभी तक व्यापारियोंके मुँहसे यह सुनता आ रहा था कि व्यापारमें सत्य नहीं चल सकता। मैं यह बात तब भी नहीं मानता था, अब भी नहीं मानता। आज भी ऐसे व्यापारी मित्र मौजूद हैं जो कहते हैं कि व्यापारके साथ सत्यका मेल नहीं बैठ सकता। वे व्यापारको व्यवहार कहते हैं और सत्यको धर्म। फिर कहते हैं कि व्यवहार एक चीज है, धर्म दूसरी। व्यवहारमें शुद्ध सत्य चल ही नहीं सकता। उसमें तो सत्य यथाशक्ति ही बोला-बरता जा सकता है। मैंने अपने भाषणमें इस मान्यताका डटकर विरोध किया और व्यापारियोंको उनके दुहरे कर्त्तव्यका भान कराया। विदेशमें आनेपर उनकी जिम्मेदारी देशकी अपेक्षा कहीं अधिक हो गई है, क्योंकि मुट्ठी-भर हिन्दुस्तानियोंकी रहन-सहनसे हिन्दुस्तानके करोड़ों लोगोंको नापा-तोला जाता है।

मैं देख चुका था कि हम लोगोंकी रहन-सहन अंग्रेजोंकी रहन-सहनकी तुलनामें गन्दी है। मैंने इस ओर भी उनका ध्यान खींचा और हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मद्रासी, पंजाबी, सिन्धी, कच्छी, सूरती इत्यादि भेदोंको भुला देनेपर जोर दिया।

अन्तमें मैंने यह सुझाया कि एक मण्डलकी स्थापना की जाये और अधिकारियोंसे मिलकर और अर्जियाँ देकर हिन्दुस्तानियोंके कष्टों और उनकी कठिनाइयोंका इलाज किया जाये। मैंने कहा कि मुझे जितना समय मिलेगा, मैं बिना वेतनके उतना समय इस कामके लिए दूँगा।

मैंने देखा कि सभापर मेरी बातोंका अच्छा प्रभाव पड़ा।

भाषणके बाद परस्पर चर्चा हुई। कइयोंने कहा कि वे मुझे तथ्योंसे अवगत करेंगे। मेरा साहस बढ़ा। मैंने देखा कि सभामें अंग्रेजी जाननेवाले लोग थोड़े ही थे। मुझे लगा कि इस तरहके बाहरी देशोंमें अंग्रेजीका ज्ञान होना अच्छा है। इसलिए मैंने सलाह दी कि जिन्हें समय हो, वे अंग्रेजी सीख लें। मैंने यह भी कहा कि अधिक उम्र हो जानेपर भी पढ़ाई की जा सकती है और इस तरहके कुछ लोगोंके उदाहरण भी दिये। यदि कोई वर्ग खोला जाये और थोड़े-बहुत पढ़नेवाले मिल जायें, तो उन्हें पढ़ानेकी जिम्मेदारी मैंने अपने ऊपर ली।

कोई वर्ग तो नहीं खुला, किन्तु तीन व्यक्ति इस शर्तपर पढ़नेके लिए तैयार हुए कि उन्हें उनकी सुविधासे उनके घरपर पढ़ाया जाये। इनमें से दो सज्जन मुसलमान थे। एक हज्जाम था और एक कारकुन। तीसरा एक छोटा हिन्दू दूकानदार था। मैंने सभीकी बात मान ली। मुझे पढ़ानेकी अपनी शक्तिके विषयमें तो कोई अविश्वास था ही नहीं। कहा जा सकता है कि शिष्य थक गये, किन्तु मैं तो नहीं थका। कभी ऐसा भी होता कि मैं उनके घर जाता और उन्हें फुरसत न होती। पर

मैंने धीरज नहीं छोड़ा। उनमें से किसीको अंग्रेजीका गहरा अध्ययन तो करना ही नहीं था, फिर भी ऐसा कहा जा सकता है कि करीब आठ महीनोंमें दो लोगोंने अच्छी प्रगति कर ली थी। दोनोंने हिसाब-किताब रखना और साधारण पत्र-व्यवहार करना सीख लिया। हज्जाम तो अपने ग्राहकोंके साथ बातचीत कर लेने लायक अंग्रेजी ही सीखना चाहता था। अन्य दो व्यक्तियोंने इस तरह पढ़कर ठीक जीविका कमानेकी शक्ति भी प्राप्त कर ली थी।

सभाका जो असर हुआ, उससे मैं सन्तुष्ट हुआ। निश्चय किया गया कि हर हफ्ते अथवा हर महीने इस तरहकी सभा की जाये। न्यूनाधिक नियमित रूपसे सभा होने लगी और उसमें विचारोंका आदान-प्रदान शुरू हो गया। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरियामें शायद ही कोई ऐसा हिन्दुस्तानी बच गया जिसे मैं पहचानने न लगा होऊँ अथवा जिसकी स्थितिसे मैं परिचित न हो गया होऊँ। भारतीयोंकी स्थितिको इस तरह जान लेनेके परिणामस्वरूप प्रिटोरियामें रहनेवाले ब्रिटिश एजेंटसे परिचय की मुझे इच्छा हुई। मैंने श्री जैकोब्स डीवेटसे मुलाकात की। वे हिन्दुस्तानियोंके साथ सहानुभूति रखते थे। उनका प्रभाव कम था। फिर भी उन्होंने कहा कि वे यथासम्भव मदद करेंगे और मैं आवश्यकतानुसार उनसे मिलता रह सकता हूँ।

मैंने रेलवे अधिकारियोंसे पत्र-व्यवहार शुरू किया और यह स्पष्ट किया कि उनके अपने ही कायदोंके अनुसार भारतीयोंको ऊँचे दरजेमें यात्रा करनेसे नहीं रोका जा सकता। परिणामस्वरूप पत्र द्वारा उत्तर मिला कि ठीक पोशाक पहने हुए हिन्दुस्तानियोंको ऊँचे दरजेके टिकट दिये जायेंगे। इससे पूरी सुविधा नहीं मिली, क्योंकि ठीक पोशाकका निर्णय तो स्टेशन-मास्टरके द्वारा ही किया जाना था न?

ब्रिटिश एजेंटने हिन्दुस्तानियोंके बारेमें पत्र-व्यवहार सम्बन्धी सभी कागज मुझे पढ़नेके लिए दिये। सेठ तैयबजीने भी मुझे कुछ कागजात दिये। मुझे उनसे पता चला कि आरेंज फ्री स्टेटसे किस निर्दयताके साथ भारतीयोंको निकाल बाहर किया गया था।

सारांश यह कि मैं प्रिटोरियामें हिन्दुस्तानियोंकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितिका गहरा अध्ययन कर सका। तब मुझे इस बातकी कोई कल्पना ही नहीं थी कि मुझे आगे चलकर इस अध्ययनका बड़ा लाभ मिलेगा। क्योंकि मैंने तो यह सोचा था कि मुझे तो एक साल पूरा होनेपर अथवा यदि मुकदमा पहले समाप्त हो गया तो उससे भी पहले स्वदेश लौट जाना था।

किन्तु ईश्वरने तो कुछ और ही सोचा था।

१३. कुलीपनका अनुभव

ट्रान्सवाल और आरेंज फ्री स्टेटके हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका पूरा चित्रण यहाँ नहीं किया जा सकता। उसकी जानकारीकी इच्छा रखनेवालेको 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रह का इतिहास'[१] पढ़ना चाहिए। पर यहाँ उसकी रूपरेखा देना आवश्यक है।

आरेंज फ्री स्टेटमें तो एक कानून बनाकर सन् १८८८में या उससे पहले हिन्दुस्तानियोंके सारे हक छीन लिये गये थे। वहाँ हिन्दुस्तानियोंके लिए होटलके वेटरके रूपमें काम करने या ऐसी ही कोई दूसरी मजदूरी करनेके सिवाय कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी। हिन्दुस्तानी व्यापारियोंको नाममात्रका मुआवजा देकर निकाल दिया गया था। किन्तु उनकी वह तूतीकी आवाज कौन सुनता?

सन् १८८५में ट्रान्सवालमें एक सख्त कानून बना। सन् १८८६में उसमें कुछ सुधार किये गये। उसके परिणामस्वरूप यह तय हुआ कि हरएक हिन्दुस्तानीको प्रवेश-फीसके रूपमें तीन पौंड जमा कराने चाहिए। जमीनकी मालिकी उन्हें बस्तीके उसी हिस्सेमें मिल सकती थी, जो उनके लिए निश्चित कर दिया गया था। किन्तु वहाँ भी उन्हें मालिकी नहीं दी गई। उन्हें मताधिकार दिया ही नहीं गया। यह तो हुई खास एशियाइयोंके लिए बने हुए कानूनोंकी बात। इसके अलावा जो कानून काले रंगके लोगोंपर लागू होते थे, वे भी एशियाइयों पर लागू होते थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तानियोंको पैदल पटरीपर चलनेका अधिकार नहीं था और वे रातको नौ बज जानेके बाद बिना परवानेके बाहर नहीं निकल सकते थे। हिन्दुस्तानियोंपर न्यूनाधिक प्रमाणमें इस अन्तिम कानूनका अमल किया जाता था। जिनकी गिनती अरबोंमें होती थी, वे बतौर मेहरबानीके इस नियमसे मुक्त समझे जाते थे। अर्थात् इस तरहकी राहत देना पुलिसकी मर्जीपर अवलम्बित रहता था।

इन दोनों नियमोंका स्वयं मुझपर क्या प्रभाव पड़ेगा, मुझे इसकी जाँच करानी पड़ी थी। मैं अक्सर श्री कोट्सके साथ रातको घूमने जाया करता था। मुझे कभी-कभी लौटते हुए दस भी बज जाते थे। इसलिए अगर मुझे पुलिस पकड़ ले तो? मुझसे अधिक यह डर श्री कोट्सको था। क्योंकि वे अपने हब्शियोंको तो परवाने देते ही थे; किन्तु वे मुझे परवाना कैसे दे सकते थे। मालिक सिर्फ अपने नौकरको ही परवाना देनेका अधिकारी था। यदि मैं लेना चाहता और श्री कोट्स तैयार हो जाते, तो भी वह विश्वासघात होता। इसीलिए यह काम करने योग्य नहीं था।

फलतः श्री कोट्स या उनके कोई मित्र मुझे वहाँके सरकारी वकील डॉ० क्राउज़े के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन'के बैरिस्टर निकले। नौ बजे रातके बाद निकलनेके लिए मेरे परवाना लेनेकी बात उन्हें असह्य जान पड़ी। उन्होंने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की। उन्होंने मुझे परवाना तो नहीं दिया, एक पत्र लिखकर दे दिया, जिसका यह आशय था कि मैं चाहे जिस समय चाहे जहाँ जाऊँ, पुलिसको इसमें दखल नहीं देना चाहिए। मैं हमेशा इस पत्रको साथ रखकर घूमने निकलता।

१. देखिए खण्ड २९।

यद्यपि इसका उपयोग कभी नहीं करना पड़ा, फिर भी इसे केवल एक संयोग ही समझना चाहिए।

डॉ० क्राउज़ेने मुझे अपने घर आनेका निमन्त्रण दिया। मैं कह सकता हूँ कि हम दोनोंके बीच मित्रता हो गई। मैं कभी-कभी उनके यहाँ जाने लगा। उन्हींकी मारफत मेरी पहचान उनके भाईके साथ हुई जो अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध थे। वे जोहानिसबर्गमें पब्लिक प्रासीक्यूटरकी तरह नियुक्त हुए थे। उनपर बोअर युद्धके समय किसी अंग्रेज अधिकारीकी हत्या करानेके षड्यन्त्रके लिए मुकदमा भी चला और उन्हें सात सालका कारावास दिया गया था। बेंचरोंने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई समाप्त होनेपर डॉ० क्राउज़े जेलसे छूटे। उन्हें सम्मानपूर्वक ट्रान्सवालकी अदालतमें प्रवेश दिया गया और वे फिर अपना काम करने लगे।

बादमें ये सम्बन्ध मेरे लिए सार्वजनिक कार्योंमें उपयोगी सिद्ध हुए और इनके कारण मेरे कई सार्वजनिक कार्य आसानीसे हो सके।

पटरी पर चलनेका प्रयत्न मेरे लिए कुछ गम्भीर सिद्ध हुआ। मैं हमेशा प्रेसिडेंट स्ट्रीटसे होकर एक खुले मैदानमें घूमने जाया करता था। प्रेसिडेंट क्रूगरका घर इस मोहल्लेमें था। यह घर सभी तरहके आडम्बरोंसे हीन था। इसके आसपास कोई अहाता भी नहीं था। पासके दूसरे घरोंमें और इसमें कोई फर्क नहीं मालूम होता था। इसकी तुलनामें प्रिटोरियामें कई लखपतियोंके घर बहुत बड़े शानदार और अहातेवाले थे। प्रेसिडेंट अपनी सादगीके लिए प्रसिद्ध थे। घरके सामने पहरा देनेवाले सन्तरीको देखकर ही यह पता चलता था कि घर किसी अधिकारीका है। प्रायः हमेशा ही मैं इस सिपाहीके बिलकुल करीबसे गुजरता था, पर उसने मुझे कभी नहीं टोका था।

सिपाही कभी-कभी बदल जाया करते थे। एक बार एक सिपाहीने चेतावनी दिए बिना, पटरी परसे उतर जानेके लिए कहे बिना मुझे धक्का मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया। मैं बड़े सोचमें पड़ गया। लात मारनेका कारण पूछूँ इससे पहले ही श्री कोट्सने जो उसी समय घोड़े परसे सवार होकर उधरसे गुजर रहे थे, मुझे पुकारा और कहा:

"गांधी, मैंने सब-कुछ देखा है। अगर आप मुकदमा चलाना चाहेंगे तो मैं गवाही दूँगा। आपपर इस तरहका हमला होते देखकर मुझे बहुत दुःख हुआ है।"

मैंने कहा, "इसमें खेदकी कोई बात नहीं है। सिपाही बेचारा क्या जाने। उसके लेखे तो काले-काले सब एक-से ही हैं। वह हब्शियोंको पैदल पटरीसे इसी तरह उतारता आया होगा। इसलिए उसने मुझे भी धक्का मारा। मैंने तो नियम ही बना लिया है कि मेरे अपने ऊपर जो-कुछ बीतेगी मैं उसके लिए कभी अदालतमें नहीं जाऊँगा। इस बातको लेकर मुझे अदालतमें नहीं जाना है।"

"यह तो आपने अपने स्वभावके अनुरूप ही कहा। पर आप इसपर फिरसे विचार करें। ऐसे आदमीको थोड़ा-बहुत सबक तो सिखाना ही चाहिए।" इतना कहकर उन्होंने उस सिपाहीसे बात की और उसे भला-बुरा कहा। सारी बात तो मेरी समझमें नहीं आई। सिपाही डच था और उसके साथ वे डच भाषामें बोल रहे थे। सिपाहीने मुझसे माफी माँगी। मैं तो उसे पहले ही माफ कर चुका था।

लेकिन मैंने उस दिनसे वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाहियोंको इस घटनाके बारेमें क्या मालूम? मैं जान-बूझकर फिर किस लिए लात खानेकी राह चलूँ? मैंने घूमने जानेके लिए दूसरा रास्ता चुन लिया।

इस घटनासे प्रवासी भारतीयोंके प्रति मेरी भावना और भी तीव्र हो गई। इन कायदोंके बारेमें ब्रिटिश एजेंटसे चर्चा करके मैंने हिन्दुस्तानियोंसे कहा कि प्रसंग आनेपर इस बातको लेकर एक परीक्षात्मक मुकदमा दायर किया जाये।

इस तरह मैंने भारतीयोंकी परेशानियोंके विषयमें पढ़कर, सुनकर और अनुभव करके जानकारी प्राप्त की थी। मेरी समझमें आ गया कि स्वाभिमानकी रक्षाकी इच्छा करनेवाले हिन्दुस्तानियोंके लिए दक्षिण आफ्रिका अनुकूल देश नहीं है। मेरा मन अधिकाधिक इस विचारमें व्यस्त रहने लगा कि यह स्थिति किस प्रकार बदली जा सकती है।

किन्तु फिलहाल तो मेरा मुख्य काम दादा अब्दुल्लाके मुकदमेको ही सँभालनेका था।

१४. मुकदमेकी तैयारी

मुझे प्रिटोरियामें जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवनका अमूल्य वर्ष था। सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अनुमान मुझे यहीं हुआ और सीखनेका अवसर मिला। मेरी धार्मिक भावना अपने आप तीव्र होने लगी और कहना होगा कि सच्ची वकालत भी मैंने यहीं सीखी। नया बैरिस्टर पुराने बैरिस्टरके दफ्तरमें रहकर जो बातें सीखता है, वे मैं यहीं सीख सका। यहीं मुझमें यह विश्वास भी पैदा हुआ कि मैं वकीलकी तरह बिलकुल अयोग्य सिद्ध नहीं होऊँगा। वकील बननेकी चाबी भी यहीं मेरे हाथ लगी।

दादा अब्दुल्लाका मुकदमा छोटा-मोटा नहीं था। चालीस हजार पौंड अर्थात् ७ लाख रुपयोंका दावा था। दावा व्यापारके सिलसिलेमें था इसलिए उसमें हिसाबकी अनेक गुत्थियाँ थीं। दावेका आधार कुछ हद तक प्रोमिसरी नोटपर और कुछ हद तक प्रोमिसरी नोट लिख देनेके वचनका पालन करवानेपर था। बचावकी तरफसे यह कहा जा रहा था कि प्रोमिसरी नोट धोखा देकर लिखवाया गया है और उसके बदलेमें जो-कुछ मिलना था, सो पूरा-पूरा मिला ही नहीं था। इसमें तथ्य और कानूनकी बहुत-सी गुंजाइशें थीं। बही-खातेकी उलझनें भी काफी थीं।

दोनों पक्षोंकी ओरसे अच्छे-से-अच्छे सालिसिटर और बैरिस्टर किये गये थे। इसलिए मुझे दोनों ओरसे काम करनेवाले बैरिस्टरोंके तरीकेका अनुभव प्राप्त करनेका सुन्दर अवसर मिला। सालिसिटरके लिए वादीकी ओरसे मुकदमा तैयार करने और तथ्य संग्रह करनेका सारा काम मुझे सौंपा गया था। इकट्ठी की गई सामग्रीमें से सालिसिटर कितनी लेता है और उसके द्वारा तैयार की गई सामग्रीमें से कितनी सामग्रीका उपयोग बैरिस्टर करता है, सो मुझे देखनेको मिलता था। मैं समझ गया कि इस मुकदमेको तैयार करते हुए मुझे अपनी ग्रहण-शक्ति और व्यवस्था-शक्तिका ठीक अन्दाज लग जायेगा।

मैंने मुकदमेमें पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें डूब गया। आगे-पीछेके सारे कागजात पढ़ गया। मुवक्किलके विश्वास और उसकी होशियारी का पार नहीं था। बहीखातेका अध्ययन मैंने बारीकीसे कर डाला। बहुत-से पत्र गुजरातीमें थे। उनका अनुवाद भी मुझे ही करना पड़ता था। इससे अनुवाद करनेकी मेरी शक्ति बढ़ी।

मैंने कड़ा परिश्रम किया। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, मुझे धार्मिक चर्चा आदिमें और सार्वजनिक काममें खूब दिलचस्पी थी और मैं उसमें समय भी देता था। किन्तु वह वस्तु मेरे निकट गौण थी। मैं मुकदमेकी तैयारीको प्रधानता देता था। इसके लिए कानून या दूसरी पुस्तकोंका जो अध्ययन आवश्यक होता, मैं उसे हमेशा पहले कर लेता। नतीजा यह हुआ कि मुकदमेके तथ्योंके विषयमें मुझे इतना मालूम हो गया जितना वादी-प्रतिवादीको भी मालूम नहीं था। क्योंकि मेरे पास तो दोनोंके ही कागजात थे।

मुझे स्व० श्री पिंकटके शब्द याद आये। दक्षिण आफ्रिकाके सुप्रसिद्ध बैरिस्टर स्व० श्री लेनर्डने एक प्रसंगपर बादमें इन वचनोंका और भी प्रबल समर्थन किया था। श्री पिंकटका कथन था: "तथ्य तीन-चौथाई कानून हैं।" एक मुकदमेमें मैं तो जानता था कि न्याय मुवक्किलके पक्षमें है, पर कानून उसके विरुद्ध जाता दिखता था। मैं निराश हो गया और श्री लेनर्डकी मदद लेने दौड़ा। उन्हें भी तथ्यकी दृष्टिसे मुकदमा मजबूत मालूम हुआ। उन्होंने कहा, "गांधी, मैं एक बात सीखा हूँ और वह यह है कि यदि हम तथ्योंको ठीक-ठीक समझ लें, तो कानून अपने-आप हमारे हाथमें आ जायेगा। हम इस मुकदमेके तथ्य समझ लें।" इतना कहकर उन्होंने मुझे सलाह दी कि मैं एक बार फिरसे तथ्योंको पढ़कर समझ लूँ और बादमें उनसे मिलूँ। उन्हीं तथ्योंको फिरसे जाँचनेपर और फिरसे उनका मनन करनेपर मैंने उन्हें दूसरे रूपमें देखा और उसी-जैसे एक पुराने मुकदमेका भी पता चला जो दक्षिण आफ्रिकामें चलाया गया था। मैं हर्ष-विभोर होकर श्री लेनर्डके यहाँ पहुँचा। वे खुश होकर बोले, "बिलकुल ठीक, यह मुकदमा हम जरूर जीतेंगे। जरा इस बातका ध्यान रखना होगा कि मामला किस जजकी अदालतमें चलेगा।"

दादा अब्दुल्लाके मुकदमेको तैयार करते हुए मैं तथ्यकी महिमाको इस हद तक नहीं पहचान सका था। तथ्य अर्थात् सच बात। सच बातको पकड़े रहनेसे कानून अपने-आप हमारी मददके लिए आ जाते हैं। मैंने दादा अब्दुल्लाके मुकदमेकी तैयारी करते-करते अन्तमें यह समझ लिया कि उनका पक्ष मजबूत है और इसलिए कानूनको उनके पक्षमें जाना ही चाहिए। पर मैंने यह भी देखा कि दोनों पक्ष जो आपसमें रिश्तेदार हैं और एक ही नगरके निवासी हैं, बरबाद हो जायेंगे। कोई कह नहीं सकता था कि मुकदमेका अन्त कब होगा। अदालतमें तो मुकदमा चाहे जितने दिनों तक खिंच सकता था। मुकदमेको लम्बा करते चले जानेमें दोनोंमें से किसी एक भी पक्षका लाभ नहीं था। दोनों मुकदमेका यथासम्भव शीघ्र अन्त चाहते थे।

मैंने तैयब सेठसे विनती की। सलाह दी कि झगड़ेको आपसमें निपटा लेना चाहिए। मैंने उन्हें अपने वकीलसे बात करनेको कहा। यदि दोनों पक्ष अपने भरोसेके किसी व्यक्तिको पँच मान लें तो मामला जल्दी निपट सकता है। वकीलोंका खर्च

इतना बढ़ता जा रहा था कि उनके जैसे बड़े व्यापारी भी उसमें बरबाद हो जाते। दोनों इतनी चिन्ताके साथ मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम नहीं कर सकता था। इस बीच आपसमें बैर भी बढ़ता चला जा रहा था। मुझे वकालतके धन्धेके प्रति घृणा हुई। वकीलके नाते तो दोनोंके वकीलोंको अपने-अपने मुवक्किलकी जीतके लिए कानूनकी गुंजाइशें खोजकर पेश करनी थीं। इस मुकदमेमें मैंने पहले-पहल यह जाना कि जीतनेवालेको अपना खर्च भी कभी पूरा नहीं मिल सकता। दूसरे पक्षसे कितना खर्च वसूल किया जा सकता है इसकी एक मर्यादा निश्चित होती है, जब कि मुवक्किलका खर्च उससे कहीं ज्यादा हो जाता है। मुझे यह सब असह्य जान पड़ा। मैंने तो अनुभव किया कि मेरा धर्म दोनोंकी मित्रता साध कर इन दोनों रिश्तेदारोंमें मेल करा देना ही है। मैंने समझौतेके लिए जी-तोड़ मेहनत की। तैयब सेठ मान गये। आखिर पंच नियुक्त हुए। उनके सामने मुकदमा चला। मुकदमेमें दादा अब्दुल्ला जीते।

पर इतनेसे ही मुझे सन्तोष नहीं हुआ। यदि पंच-फैसले पर अमल होता तो तैयब खाँ मुहम्मद एकाएक इतना पैसा दे ही नहीं सकते थे। दक्षिण आफ्रिकामें बसे हुए पोरबन्दरोंके मेमनोंमें एक ऐसा आपसी अलिखित नियम था कि मर भले ही जायें, पर दीवाला न निकालें। तैयब सेठ सैंतीस हजार पौंड और मुकदमेका खर्च एक मुश्त दे ही नहीं सकते थे। वे न तो एक दमड़ी कम देना चाहते थे और न दीवाला ही निकालना चाहते थे। इसका एक ही रास्ता था कि दादा अब्दुल्ला उन्हें जितनी चाहिए, उतनी मुहलत दें। दादा अब्दुल्लाने उदारतापूर्वक खूब लम्बी मुहलत दे दी। पंच नियुक्त करानेमें मुझे जितनी मेहनत पड़ी थी, उससे अधिक मेहनत यह लम्बी अवधि निश्चित करानेमें पड़ी। दोनों पक्षोंको प्रसन्नता हुई। दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे सन्तोषकी सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत सीखा, मनुष्यके उजले पक्ष को देखना सीखा। और व्यक्तिके हृदयमें प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का धर्म दोनों पक्षोंके बीच पड़ गई खाईको पाटना है। इस शिक्षाने मेरे मनमें ऐसी जड़ जमाई कि अपनी बीस सालकी वकालतका मेरा अधिकांश समय अपने दफ्तरमें बैठकर सैकड़ों मामलोंको आपसमें सुलझानेमें ही बीता। मैंने इस तरह कुछ खोया नहीं। पैसा खोया, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा तो खोई ही नहीं।

१५. धार्मिक मन्थन

अब फिरसे मैं अपने ईसाई मित्रोंके साथ अपने सम्पर्क पर विचार कर सकता हूँ।

मेरे भविष्यके बारेमें श्री बेकरकी चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ले गये। प्रोटेस्टेंट ईसाइयोंमें थोड़े-थोड़े वर्षोंके अन्तरसे धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धिके लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा अथवा धर्मके पुनरुद्धारका नाम दे सकते हैं। ऐसा ही एक सम्मेलन वेलिंग्टनमें था। उसके सभापति थे वहाँके प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ पादरी रेव० एन्ड्रयू मरे। श्री बेकरको यह आशा

थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, वहाँ आनेवाले लोगोंके धार्मिक उत्साह और उनकी शुद्धताका मेरे हृदयपर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ेगा कि मैं ईसाई बने बिना नहीं रह सकूँगा।

किन्तु इसके लिए श्री बेकरका अन्तिम आधार था — प्रार्थनाकी शक्ति। प्रार्थनामें उन्हें अटूट श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्तःकरणसे की गई प्रार्थनाको ईश्वर अवश्य सुनता है। प्रार्थनासे ही मुलर (एक प्रसिद्ध श्रद्धालु ईसाई) जैसे व्यक्ति अपना संसार चलाते हैं। इसके दृष्टान्त भी वे मुझे सुनाते रहते थे। प्रार्थनाकी महिमाके बारेमें मैंने सब-कुछ तटस्थ भावसे सुना। मैंने उनसे कहा कि यदि मेरे भीतर ईसाई बननेका अन्तर्नाद गूँजा तो उसे स्वीकार करनेम कोई भी वस्तु मेरे आड़े नहीं आ सकेगी। अन्तर्नादके वशमें होना तो मैं कई वर्ष पहले सीख चुका था। अन्तर्नादका अनुसरण करनेमें मुझे आनन्द आता था। उसके विरुद्ध जाना मेरे लिए कठिन और दुःखद था।

हम विलिंग्टन गये। मुझ 'साँवले साथी' को साथ रखना श्री बेकरके लिए भारी पड़ा। उन्हें कई बार मेरे कारण असुविधा झेलनी पड़ती थी। हमें रास्तेमें रुकना था। क्योंकि श्री बेकरकी मण्डली रविवारको सफर नहीं करती थी और बीचमें रविवार पड़नेवाला था। रास्तेमें और स्टेशन पर मुझे होटलमें लेनेसे इन्कार किया गया और जब झिकझिकके बाद प्रवेश मिला, तो होटलके मालिकने मुझे भोजन-गृहमें भोजन करानेसे इन्कार कर दिया। किन्तु श्री बेकर इस तरह झुकनेवाले नहीं थे। वे होटलमें ठहरनेवालेके हक पर डट गये। लेकिन मैं उनकी कठिनाइयोंको समझ गया। वेलिंग्टनमें भी मैं उनके साथ ठहरा था। वहाँ भी उन्हें छोटी-छोटी दिक्कतोंका सामना करना पड़ता था। वे सद्भावपूर्वक उन्हें छुपाना चाहते थे, लेकिन वे मेरी नजरोंमें आ जाती थीं।

सम्मेलनमें श्रद्धालु ईसाई एकत्रित हुए। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं श्री मरेसे मिला। मैंने देखा कि मेरे लिए अनेक लोग प्रार्थना कर रहे हैं। कई भजन मुझे बहुत मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिनों तक चला। मैं सम्मेलनमें आनेवालोंकी धार्मिकताको समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपनी मान्यतामें — अपने धर्ममें परिवर्तन करनेका कारण नहीं मिला। मुझे यह प्रतीति नहीं हुई कि मैं ईसाई बनकर भी स्वर्ग अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रोंसे कही, तो उन्हें चोट पहुँची। किन्तु मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गहरी थीं। यह बात मेरे गले भी नहीं उतरती थी, कि "एक ईसामसीह ही ईश्वरके पुत्र हैं, जो उन्हें मानता है वह तर जाता है।" यदि ईश्वरके पुत्र हैं तो हम सब उसके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वर तुल्य है, ईश्वर ही है, तो मनुष्य-मात्र ईश्वरके समान है; मनुष्य-मात्र ईश्वर बन सकता है। ईसाकी मृत्युसे और उनके रक्तसे संसारके पाप धुलते हैं, इसे अक्षरशः सत्य माननेके लिए बुद्धि तैयार नहीं होती थी। रूपककी तरह इसमें सत्य भले ही हो। इसके अतिरिक्त ईसाइयोंका विश्वास है कि आत्मा मनुष्यके ही है, दूसरे जीवोंके नहीं। और वे देहके नाशके

साथ सम्पूर्ण रूपसे नाशको प्राप्त हो जाते हैं। मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसाको एक त्यागी महात्मा, दैवी शिक्षकके रूपमें स्वीकार कर सकता था, किन्तु उन्हें अद्वितीय पुरुषकी तरह स्वीकार करना मेरे लिए सम्भव नहीं था। ईसाकी मृत्युने संसारके सामने एक जबरदस्त दृष्टान्त उपस्थित किया। किन्तु इस बातको मेरा हृदय स्वीकार नहीं कर पाता था कि उनकी मृत्युमें कोई गूढ़ चमत्कारी प्रभाव छुपा हुआ था। ईसाइयोंके पवित्र जीवनमें मुझे ऐसी कोई चीज नहीं मिली, जो अन्य धर्मावलम्बियोंमें न मिली हो। उनके जैसे ही परिवर्तन मैंने दूसरोंके जीवनमें होते देखे थे। सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी ईसाई सिद्धान्तोंमें मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखी। त्यागकी दृष्टिसे हिन्दू धर्मावलम्बियोंका त्याग मुझे अधिक मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्मको सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्मके रूपमें स्वीकार नहीं कर सका।

प्रसंग आने पर मैंने अपना यह हृदय-मन्थन ईसाई मित्रोंके सामने रखा। वे कोई सन्तोषजनक उत्तर मुझे नहीं दे सके।

किन्तु जिस तरह मैं ईसाई धर्मको स्वीकार नहीं कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्मकी सम्पूर्णताके विषयमें अथवा उसके सर्वोपरि होनेके विषयमें भी मैं उस समय निश्चय नहीं कर सका। हिन्दू धर्मकी त्रुटियाँ मेरी आँखोंके सामने तैरती रहती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्मका अंग है तो ऐसा जान पड़ा कि वह एक सड़ा और बादमें जोड़ा गया अंग है। अनेक सम्प्रदायों और अनेक जाति-भेदोंका होना भी मेरी समझमें नहीं आता था। केवल वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं, इस बातका क्या अर्थ है। यदि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, तो बाइबिल और कुरान क्यों नहीं हैं?

मुझे प्रभावित करनेके लिए जिस तरह ईसाई मित्र प्रयत्नशील थे,उसी प्रकार मुसलमान मित्र भी प्रयत्नशील थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेके लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो वे किया ही करते थे।

मैंने रायचन्दभाईके सामने अपनी कठिनाइयाँ रखीं।[1] हिन्दुस्तानके दूसरे धर्मशास्त्रियोंके साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओरसे उत्तर भी मिले। रायचन्दभाईके पत्रसे मुझे बड़ी शान्ति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्मका गहरा अध्ययन करनेकी सलाह दी। उनके एक वाक्यका भावार्थ यह था: "निष्पक्ष भावसे विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्ममें जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मोंमें नहीं है।"

मैंने सेलका[2] कुरान खरीदा और उसे पढ़ना शुरू किया। इस्लाम धर्मसे सम्बन्धित कुछ दूसरी पुस्तकें भी प्राप्त कीं। विलायतके ईसाई मित्रोंसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। इनमेंसे एक मित्रने एडवर्ड मेटलेंडसे मेरा परिचय कराया। उनके साथ पत्रव्यवहार शुरू हुआ। उन्होंने एना किंग्सफर्डके साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह उन्होंने मुझे पढ़नेके लिए भेजी। उसमें प्रचलित

१. इन प्रश्नोंके लिए देखिए खण्ड १ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३३-३४ और रायचंदभाई द्वारा दिये गये उत्तरोंके लिए देखिए खण्ड ३२, ५९५-६०४।

२. एसोटेरिक क्रिश्चियन यूनियनके सभापति; देखिए खण्ड १ द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७३-१७५ और १९९।

ईसाई धर्मका खण्डन था। उन्होंने मेरे नाम 'न्यू इन्टरप्रिटेशन ऑफ द बाइबिल' (बाइबिलकी नयी व्याख्या) नामक पुस्तक भी भेजी। मुझे ये पुस्तकें पसन्द आईं। इनसे हिन्दू मतकी पुष्टि हुई। टॉल्स्टॉयकी पुस्तक 'किंग्डम ऑफ गाड इज विदिन यू' (वैकुण्ठ तेरे हृदयमें है)ने मुझे अभिभूत कर लिया। उसकी मुझपर बड़ी गहरी छाप पड़ी। इस पुस्तककी स्वतन्त्र विचार-शैली, इसकी प्रौढ़ नीति और इसमें निरूपित सत्यके सम्मुख श्री कोट्स द्वारा दी गई सारी पुस्तकें मुझे रूखी लगीं।

इस प्रकार मेरा अध्ययन मुझे उस दिशामें ले गया, जिस दिशामें जाना मेरे ईसाई मित्रोंको अभीष्ट नहीं था। एडवर्ड मेटलेंडके साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी लम्बे अरसे तक चला। कवि (रायचन्दभाई) के साथ तो अन्त तक बना रहा। उन्होंने कई पुस्तकें भेजीं। उन्हें भी मैं पढ़ गया। 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', 'योगवाशिष्ठ'का मुमुक्षु प्रकरण, हरिभद्र सूरीका 'षड्दर्शन समुच्चय,' इत्यादि पुस्तकें उनमें थीं।

इस प्रकार मैंने ऐसा मार्ग पकड़ लिया था जिसकी ईसाई मित्रोंने कल्पना नहीं की थी। फिर भी मैं उनके समागमसे मुझमें जागृत हुई धर्म-जिज्ञासाके कारण हमेशाके लिए उनका ऋणी बन गया। ये मधुर और पवित्र सम्बन्ध घटे नहीं, भविष्यमें बढ़ते ही चले गये।

१६. को जाने कल की?

"खबर नहीं इस जगमें पलकी
समझ मन! को जाने कलकी?"

मुकदमा समाप्त हो गया। इसलिए अब मेरे प्रिटोरियामें रहनेका कोई प्रयोजन नहीं बचा। मैं डर्बन गया। वहाँ पहुँचकर वापस हिन्दुस्तान जानेकी तैयारी की। यह सम्भव नहीं था कि अब्दुल्ला सेठ मेरा मान-सम्मान किये बिना मुझे जाने देते। उन्होंने मेरे निमित्त से सिडनहममें एक सामूहिक भोजका आयोजन किया। पूरा दिन वहीं बिताया जाना था।

मेरे पास कुछ अखबार पड़े हुए थे। मैं उन्हें देख रहा था। मैंने किसी अखबारके एक कोनेमें एक छोटा-सा संवाद देखा। शीर्षक था 'इंडियन फ्रैंचाइज' यानी हिन्दुस्तानी मताधिकार। संवादका आशय यह था कि हिन्दुस्तानियोंको नेटालकी धारासभाके लिए सदस्य चुननेका जो अधिकार है वह छीन लिया जाये। धारासभामें इससे सम्बन्ध रखनेवाले कानूनपर बहस चल रही थी। मैंने इस कानूनके बारेमें नहीं सुना था। भोजमें सम्मिलित सदस्योंमें से किसीको भी हिन्दुस्तानियोंके मताधिकार छीननके इस विधेयककी कोई खबर नहीं थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठसे पूछा। उन्होंने कहा, "हम इन बातोंको क्या जानें। व्यापार पर कोई बादल घिरता है, तो हम उसकी खबर रखते हैं। देखिए न, ऑरेंज फ्री स्टेटसे हमारी जड़ ही उखड़ गई। उसके लिए हमने प्रयत्न किया, पर हम तो अपंग

ठहरे। अखबार पढ़ते भी हैं तो केवल भाव-ताव समझ लेते हैं। कानूनी बातोंका हमें क्या पता चले। हमारे आँख-कान तो हमारे गोरे वकील हैं।"

मैंने पूछा, "पर यहाँ पैदा हुए और अंग्रेजी जाननेवाले इतने सारे नौजवान हिन्दुस्तानी क्या करते हैं?"

अब्दुल्ला सेठने सिर पर हाथ लगाकर कहा, "अरे भाई, उनके पाससे हमें क्या मिल सकता है? वे बेचारे इसमें क्या समझें? वे तो हमारे पास नही फटकते। और सच पूछो तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे ईसाई हैं, इसलिए पादरियोंके पंजेमें हैं। और पादरी सब गोरे हैं; वे सरकारके हाथमें हैं।"

मेरी आँख खुली। इस समाजको अपनाना चाहिए। क्या ईसाई धर्मका यही अर्थ है? वे ईसाई हैं, इसलिए क्या हिन्दुस्तानी नहीं रहे? परदेशी बन गये?

किन्तु मुझे तो देश लौटना था, इसलिए मैंने उपर्युक्त विचारोंको प्रकट नहीं किया। मैंने अब्दुल्ला सेठसे कहा, "लेकिन यह कानून अगर इसी रूपमें पास हो गया, तो आप सब बड़ी मुश्किलमें पड़ जायेंगे। यह तो हिन्दुस्तानियोंकी बस्तीको नेस्तनाबूद करनेका पहला कदम है। यह हमारे स्वाभिमान पर चोट है।"

"हो सकता है। पर मैं आपको इस 'फरेन्चाइज' (इस तरह अंग्रेजी भाषाके कई शब्द अपना रूप बदल कर देशवासियोंमें प्रचलित हो गये थे। 'मताधिकार' कहो तो कोई समझता ही नहीं था)का इतिहास सुनाऊँ। हम तो इस मामलेमें कुछ भी नहीं समझते। पर आप यह तो जानते ही हैं कि श्री एस्कम्ब हमारे बड़े वकील हैं। वे जबरदस्त लड़नेवाले हैं। उनके और यहाँके घाट-इंजीनियरके बीच खासी चलती है। श्री एस्कम्बके धारासभामें जानेमें यह अनबन बाधक होती थी। उन्होंने हमें अपनी स्थितिका भान कराया। उनके कहनेसे हमने मतदाता सूचीमें अपने नाम लिखवाये और अपने सब मत श्री एस्कम्बको दिये। अब आप देखेंगे कि हमने अपने इन मतोंका मूल्य आपकी तरह क्यों नहीं आँका। लेकिन अब हम आपकी बात समझ सकते हैं। अच्छा तो कहिए, आप हमें क्या सलाह देते हैं?"

दूसरे मेहमान इस चर्चाको ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उनमेंसे एकने कहा, "मैं आपसे सच बात कहूँ? अगर आप इस स्टीमरसे न जायें और एकाध महीना रुक जायें, तो आप जिस तरह कहेंगे, हम लड़ेंगे।"

दूसरे सब एक-साथ बोल उठे: "यह ठीक बात है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीभाईको रोक लीजिए।"

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद ठहरे। उन्होंने कहा, "अब उन्हें रोकनेका मुझे कोई अधिकार नहीं, अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है। पर आप जो कहते हैं सो ठीक है। हम सब उन्हें रोक लें। पर ये तो बैरिस्टर हैं। इनकी फीसका क्या होगा?"

म दुखी! आ और बात काटकर बोला: "अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीसकी बात ही नहीं उठती। सार्वजनिक सेवाकी फीस कैसी? मैं ठहरूँ तो एक सेवकके रूपमें ही ठहर सकता हूँ। मैं इन सब भाइयोंको ठीकसे पहचानता नहीं हूँ। पर

आपको भरोसा हो कि ये सब मेहनत करेंगे, तो मैं एक महीना रुक जानेके लिए तैयार हूँ। यह सच है कि आपको मुझे तो कुछ भी नहीं देना होगा, फिर भी ऐसे काम बिलकुल बिना पैसेके नहीं हो सकते। हमें तार करने होंगे, कुछ साहित्य छपाना पड़ेगा; जहाँ-तहाँ जाना होगा, उसका गाड़ी-किराया लगेगा। सम्भव है, हमें स्थानीय वकीलोंकी भी सलाह लेनी पड़े। मैं यहाँके कानूनोंसे परिचित नहीं हूँ। मुझे कानूनकी पुस्तकें देखनी होंगी। इसके सिवा, ऐसे काम एक हाथसे नहीं होते, बहुतोंको उनमें जुटना चाहिए।"

बहुत-सी आवाजें एक-साथ सुनाई पड़ीं: "खुदाकी मेहरबानी है। पैसे इकट्ठा हो जायेंगे, लोग भी बहुत हैं। आप रहना कबूल कर लें तो बस है।"

सभा, सभा न रही। उसने कार्यकारिणी समितिका रूप ले लिया। मैंने सलाह दी कि भोजनसे जल्दी निबटकर घर पहुँचना चाहिए। मैंने मनमें लड़ाईकी रूपरेखा तैयार कर ली। मताधिकार कितनोंको प्राप्त है, सो जान लिया। और मैंने एक महीना रुक जानेका निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण आफ्रिकामें मेरे स्थायी निवासकी नींव डाली, और स्वाभिमानकी लड़ाईका बीज रोपा गया।

१७. नेटालमें रुक गया

सन् १८९३ में सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटालके हिन्दुस्तानी समाजके अग्रगण्य नेता माने जाते थे। सम्पन्नताकी दृष्टिसे सेठ अब्दुल्ला हाजी आदम मुख्य थे, पर वे और दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामोंमें सेठ हाजी मुहम्मदको ही पहला स्थान देते थे। अतएव उनके सभापतित्वमें अब्दुल्ला सेठके घर एक सभा हुई। उसमें 'फ्रेंचाइज़ बिल' का विरोध करनेका निश्चय किया गया।

स्वयंसेवकोंके नाम लिखे गये। इस सभामें नेटालमें पैदा हुये हिन्दुस्तानियोंको, अर्थात् ईसाई नौजवानोंको इकट्ठा किया गया था। श्री पाल डर्बनकी अदालतके दुभाषिया थे। श्री सुभान गॉडफ्रे मिशन स्कूलके हेडमास्टर थे। वे भी सभामें उपस्थित रहे थे, और उनके प्रभावसे उस समाजके नौजवान अच्छी संख्यामें आये थे। ये सब स्वयंसेवक बन गये।

अधिकतर व्यापारी तो थे ही। उनमेंसे जानने योग्य नाम ये हैं: सेठ दाऊद मुहम्मद, मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियाँखाँ, ए० कोलन्दावेल्लू पिल्ले, सी० लछीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा आदि। पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन-समाजमें से पारसी माणेकजी, जोशी, नरसीराम वगैरा दादा अब्दुल्ला इत्यादिकी बड़ी-बड़ी फर्मोंके नौकर थे। इन सबको सार्वजनिक काममें सम्मिलित होते हुए आश्चर्य हुआ। इस प्रकार सार्वजनिक कामके लिए न्योते जाने और उसमें हाथ बँटानेका उनका यह पहला अनुभव था। उपस्थित संकटके सामने नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मद्रासी, सिन्धी आदि भेद समाप्त हो चुके थे। सब भारतकी सन्तान और सेवक थे।

बिलका दूसरा वाचन हो चुका था या होनेवाला था। उस समय धारासभामें किये गये भाषणोंमें यह कहा गया था कि इतने कठोर कानूनका भी हिन्दुस्तानियोंकी ओरसे कोई विरोध नहीं हो रहा है, यह हिन्दुस्तानी समाजकी लापरवाहीका और मताधिकारका उपभोग करनेकी उनकी अयोग्यताका प्रमाण है।

मैंने सभाको वस्तुस्थिति समझाई। पहला काम तो यह सोचा गया कि धारा-सभाके अध्यक्षको ऐसा तार भेजा जाये कि वे बिलपर आगे विचार करना मुलतवी कर दें। इसी आशयका तार प्रधानमन्त्री सर जॉन राबिन्सनको भी भेजा, और दूसरा दादा अब्दुल्लाके मित्रके नाते श्री एस्कम्बको भेजा गया। इस तारके जवाबमें अध्यक्षका तार मिला कि बिलकी चर्चा दो दिन तक मुलतवी रहेगी। सब खुश हुए।

प्रार्थना-पत्र[1] तैयार किया गया। उसकी तीन प्रतियाँ भेजनी थीं। प्रेसके लिए भी प्रतियाँ तैयार करनी थीं। प्रार्थनापत्र पर जितनी मिल सकें उतनी सहियाँ लेनी थीं। यह सारा काम एक रातमें पूरा करना था। शिक्षित स्वयंसेवक और दूसरे लोग लगभग सारी रात जागे। उनमें अच्छे अक्षर लिखनेवाले श्री आर्थर नामके एक वृद्ध सज्जन थे। उन्होंने सुन्दर अक्षरोंमें प्रार्थना-पत्रकी प्रति तैयार की। दूसरोंने उसकी दूसरी प्रतियाँ तैयार कीं। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते थे। यों एक-साथ पाँच प्रतियाँ लिखी गईं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियाँ लेकर अथवा अपने खर्चसे गाड़ियाँ किराये पर लेकर सहियाँ लेनेके लिए निकल पड़े। प्रार्थनापत्र गया। अखबारोंमें छपा। उसपर अनुकूल टीकाएँ हुईं। धारासभा पर भी असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। प्रार्थना-पत्रमें दी गई दलीलोंका खण्डन करते हुए उत्तर दिये गये। पर वे देनेवालोंको भी लचर जान पड़े। बिल तो फिर भी पास हो गया।

सब जानते थे कि यही नतीजा निकलेगा, पर कौममें नवजीवनका संचार हुआ। सबकी समझमें यह आ गया कि हम एक कौम हैं, केवल व्यापार-सम्बन्धी अधिकारोंके लिए ही नहीं, बल्कि कौमके अधिकारोंके लिए भी लड़ना हम सबका धर्म है।

उन दिनों लॉर्ड रिपन उपनिवेश-मन्त्री थे। उन्हें एक बहुत बड़ी अर्जी देनेका निश्चय किया गया। इस अर्जीपर यथासम्भव अधिकसे-अधिक लोगोंकी सहियाँ लेनी थीं। यह काम एक दिनमें तो हो ही नहीं सकता था। स्वयंसेवक नियुक्त हुए और सबने काम निबटानेका जिम्मा लिया।

अर्जी[2] लिखनेमें मैंने बहुत मेहनत की। जो साहित्य मुझे मिला, सो सब मैं पढ़ गया। हिन्दुस्तानमें हम एक प्रकारके मताधिकारका उपभोग करते हैं, इस सिद्धान्तिक दलीलको और ऐसे हिन्दुस्तानियोंकी आबादी जिन्हें मताधिकार मिल सकता है, कम है, इस व्यावहारिक दलीलको मैंने केन्द्र-बिन्दु बनाया।

अर्जी पर दस हजार सहियाँ हुईं। एक पखवाड़ेमें अर्जी भेजने लायक सहियाँ प्राप्त हो गईं। इतने समयमें नेटालमें दस हजार सहियाँ प्राप्त की गईं, इसे पाठक छोटी-मोटी बात न समझें। सहियाँ समूचे नेटालसे प्राप्त करनी थीं। लोग ऐसे कामसे

१. देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १३५-३९।

२. देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २०८-२१।

अपरिचित थे। निश्चय यह था कि सही करनेवाला किस बात पर सही कर रहा है, इसे जबतक वह समझ न ले तबतक सही न ली जाये। इसलिए स्वयंसेवकोंको खास तौर पर भेजकर ही सहियाँ प्राप्त की जा सकती थी। गाँव दूर-दूर थे, इसलिए अधिकतर काम करनेवाले लगनसे काम करें तभी ऐसा काम शीघ्रतापूर्वक हो सकता था। ऐसा ही हुआ। इसमें सबने उत्साहपूर्वक काम किया। काम करनेवालोंमें से सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियाँखाँ और आमद जीवाकी मूर्तियाँ इस समय भी मेरी आँखोंके सामने खड़ी हैं। इन्होंने बहुत हस्ताक्षर करवाये थे। दाऊद सेठ दिन-भर अपनी गाड़ी लेकर घूमा करते थे। किसीने जेब-खर्च तक नहीं माँगा। दादा अब्दुल्लाका घर धर्मशाला अथवा सार्वजनिक दफ्तर-सा बन गया था। पढ़े-लिखे भाई तो मेरे पास ही बने रहते थे। उनका और अन्य काम करनेवालोंका भोजन दादा अब्दुल्लाके घर ही होता था। इस प्रकार इन सब पर खर्चका बड़ा बोझ पड़ा।

अर्जी गई। उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवाई गई थी। उस अर्जीके कारण हिन्दुस्तानके आम लोगोंको नेटालका पहली बार परिचय हुआ। मैं जितने अखबारों और सार्वजनिक नेताओंके नाम जानता था, उन सभीको अर्जीकी प्रतियाँ भेजीं गई।

'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने उसपर अग्रलेख लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी माँगका अच्छा समर्थन किया। विलायतमें भी अर्जीकी प्रतियाँ सब पक्षोंके नेताओंको भेजी गई थीं। वहाँ लन्दनके 'टाइम्स' का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे आशा बँधी कि बिल मंजूर न हो सकेगा।

अब मैं नेटाल छोड़ सकूँ, ऐसी मेरी स्थिति नहीं रही। लोगोंने मुझे चारों तरफसे घेर लिया और नेटालमें ही स्थायी रूपसे रहनेका बड़ा आग्रह किया। मैंने अपनी कठिनाइयाँ बताई। मैंने अपने मनमें निश्चय कर लिया था कि मुझे सार्वजनिक खर्चपर नहीं रहना चाहिए। मुझे अलग घर बसानेकी आवश्यकता जान पड़ी। उस समय मैंने यह माना था कि घर भी अच्छा और अच्छी बस्तीमें लेना चाहिए। मैंने सोचा कि मेरे दूसरे बैरिस्टरोंकी तरह रहनेसे हिन्दुस्तानी समाजकी इज्जत बढ़ेगी। मुझे लगा कि सालमें ३०० पौंडके खर्चके बिना ऐसा घर मैं चला ही नही सकूँगा। मैंने निश्चय किया कि इतनी रकमकी वकालतकी गारंटी मिलनेपर ही मैं रह सकता हूँ; मैंने वहाँवालोंको यह बात बताई।

साथियोंने तर्क पेश किया, "इतनी रकम आप सार्वजनिक कामके लिए लें; यह हमें पुसा सकता है, और इसे इकट्ठा करना हमारे लिए आसान है। वकालत करते हुए आपको जो मिले, सो आपका।"

मैंने जवाब दिया, "मैं इस तरह पैसे नहीं ले सकता। अपने सार्वजनिक कामकी मैं इतनी कीमत नहीं समझता। मुझे इसमें कोई वकालत तो करनी नहीं है। मुझे तो लोगोंसे काम लेना होगा। इसके पैसे मैं कैसे ले सकता हूँ? फिर, मुझे सार्वजनिक कामके लिए आपसे पैसे निकलवाने होंगे। अगर मैं अपने लिए पैसे लूँ तो आपके पाससे बड़ी रकमें निकलवानेमें मुझे संकोच होगा, और आखिर हमारी नाव अटक जायेगी। समाजसे तो मैं हर साल ३०० पौंडसे अधिक ही खर्च कराऊँगा।"

"पर हम आपको पहचानने लगे हैं। आप कौन अपने लिए पैसे माँगते हैं? आपके रहनेका खर्च तो हमें देना चाहिए न?"

"यह बात तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह कहलवा रहा है। यही उत्साह और यही स्नेह सदा बना रहेगा, यह हम कैसे मान लें? मौका आनेपर मुझे तो कभी-कभी आपको कड़वी बातें भी कहनी पड़ेंगी। उस दशामें भी मैं आपके स्नेहकी रक्षा कर सकूँगा या नहीं, सो तो दैव जाने। पर असल बात यह है कि सार्वजनिक सेवाके लिए मुझे पैसे लेने ही नहीं चाहिए। आप सब वकालत सम्बन्धी अपना काम मुझे देनेके लिए वचनबद्ध हो जायें, तो उतना मेरे लिए बस है। शायद यह भी आपके लिए भारी पड़ेगा। मैं कोई गोरा बैरिस्टर नहीं हूँ। कोर्ट मुझे न्याय देगी या नहीं, मैं क्या जानूँ? मैं तो यह भी नहीं जानता कि मुझसे वकालत कैसी बनेगी। इसलिए मुझे पहलेसे वकालतका मेहनताना देना जोखिम उठाना है। इतने पर भी अगर आप मुझे वकालतका मेहनताना देंगे, तो वह मेरी सार्वजनिक सेवाके कारण ही माना जायेगा न?"

इस चर्चाका परिणाम यह निकला कि कोई बीस व्यापारियोंने मेरे लिए एक वर्षका वर्षाशन बाँध दिया। इसके उपरान्त, दादा अब्दुल्ला विदाईके समय मुझे जो भेंट देनेवाले थे उसके बदले उन्होंने मेरे लिए आवश्यक फर्नीचर खरीद किया।

और मैं नेटालमें बस गया।

१८. रंग-भेद

न्यायालयका चिह्न तराजू है। एक निष्पक्ष, अन्धी परन्तु चतुर बुढ़िया उसे थामे हुए है। विधाताने उसे अन्धी बनाया है, जिससे वह मुँह देखकर तिलक न करे, बल्कि जो गुणमें योग्य हो उसीको टीका लगाये। इसके विपरीत, नेटालके न्यायालयसे वहाँकी वकील-सभा मुँह देखकर तिलक करवानेके लिए कटिबद्ध थी। परन्तु अदालतने इस अवसर पर अपने चिह्नकी प्रतिष्ठा रख ली।

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मेरे पास बम्बईके हाईकोर्टका प्रमाणपत्र था। विलायतका प्रमाणपत्र बम्बईके हाईकोर्टके कार्यालयमें था। प्रवेशके प्रार्थनापत्रके साथ सदाचरणके दो प्रमाणपत्रोंकी आवश्यकता मानी जाती थी। मने सोचा कि ये प्रमाण-पत्र गोरोंके होंगे तो ठीक रहेगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठके द्वारा मेरे सम्पर्कमें आये हुए दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके प्रमाणपत्र मैंने प्राप्त कर लिये थे। प्रार्थना-पत्र किसी वकीलके द्वारा भेजा जाना चाहिए था, और साधारण नियम यह था कि ऐसा प्रार्थनापत्र अटर्नी जनरल बिना पारिश्रमिकके प्रस्तुत करे। श्री एस्कम्ब अटर्नी जनरल थे। हम यह तो जानते हैं कि वे अब्दुल्ला सेठके वकील थे। मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशीसे मेरा प्रार्थनापत्र प्रस्तुत करना स्वीकार किया।

इतनेमें अचानक वकील-सभाकी ओरसे मुझे नोटिस मिला। नोटिसमें न्यायालयमें मेरे प्रवेशका विरोध किया गया था। उसमें एक कारण यह दिया गया था कि

वकालतके लिए दिये गये प्रार्थनापत्रके साथ मैंने मूल प्रमाणपत्र नत्थी नहीं किया था। पर विरोधका मुख्य मुद्दा यह था कि अदालतमें वकीलोंकी भरती करनेके नियम बनाते समय यह सम्भव न माना गया होगा कि कोई काला या पीला आदमी कभी प्रवेशके लिए प्रार्थनापत्र देगा। नेटाल गोरोंकी करतबगीरीसे बना था, इसलिए उसमें गोरोंकी ही प्रधानता होनी चाहिए। यदि काले वकील प्रवेश पाने लगेंगे, तो धीरे-धीरे गोरोंकी प्रधानता जाती रहेगी, और उनकी रक्षाकी दीवार गिर जायेगी।

इस विरोधके समर्थनके लिए वकील-सभाने एक प्रसिद्ध वकीलको नियुक्त किया था। इन वकीलका भी दादा अब्दुल्लाके साथ सम्बन्ध था। उन्होंने मुझे उनकी मारफत बुलवाया। मेरे साथ शुद्ध भावसे चर्चा की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने उन्हें वह बताया। इसपर वे बोले:

"मुझे तो आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। मुझे डर इस बातका था कि कहीं आप यहीं जन्मे हुए कोई धूर्त तो नहीं हैं! दूसरे, आपके पास असल प्रमाण-पत्र नहीं है, इससे मेरे सन्देहको बल मिला। ऐसे भी लोग मौजूद हैं, जो दूसरोंके प्रमाणपत्रोंका उपयोग करते हैं। आपने गोरोंके जो प्रमाण-पत्र पेश किये हैं, उनका मुझपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे आपको क्या जानें? आपके साथ उनकी पहचान कितनी?"

मैं बीचमें बोला: "लेकिन यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठने भी मुझे यहीं पहचाना है।"

"ठीक है। लेकिन आप तो कहते हैं कि वे आपके गाँवके हैं, और आपके पिता वहाँके दीवान थे। इसलिए आपके परिवारको तो वे पहचानते ही होंगे न? आप उनका शपथ-पत्र पेश कर दें, तो फिर मुझे कोई आपत्ति न रह जायेगी। मैं वकील-सभाको लिख दूँगा कि मुझसे आपका विरोध नहीं हो सकेगा।"

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने उसे रोक लिया। मैंने सोचा, "यदि मैंने अब्दुल्ला सेठका ही प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया होता, तो उसकी अवगणना की जाती और गोरेका परिचय-पत्र माँगा जाता। इसके सिवा, मेरे जन्मके साथ वकालतकी मेरी योग्यताका क्या सम्बन्ध हो सकता है? यदि मैं दुष्ट अथवा कंगाल माता-पिताका लड़का होऊँ, तो मेरी योग्यताकी जाँच करते समय मेरे विरुद्ध उसका उपयोग क्यों किया जाये?" पर इन सब विचारोंको अंकुशमें रखकर मैंने जवाब दिया:

"यद्यपि मैं यह स्वीकार नहीं करता कि ये सब तथ्य माँगनेका वकील-सभाको अधिकार है, फिर भी आप जैसा चाहते हैं वैसा शपथ-पत्र प्राप्त करनेके लिए मैं तैयार हूँ।"

अब्दुल्ला सेठका शपथ-पत्र तैयार हुआ और वह वकीलको दे दिया गया। उन्होंने सन्तोष प्रकट किया। पर वकील-सभाको सन्तोष न हुआ। उसने मेरे प्रवेशके विरुद्ध अपना विरोध न्यायालयके सामने प्रस्तुत किया। न्यायालयने श्री एस्कम्बका जवाब सुने बिना ही वकील-सभाका विरोध रद कर दिया। मुख्य न्यायाधीशने कहा:

"प्रार्थीके असल प्रमाणपत्र प्रस्तुत न करनेकी दलीलमें कोई सार नहीं है। यदि उसने झूठी शपथ ली होगी, तो उसके लिए उसपर झूठी शपथका फौजदारी

मुकदमा चल सकेगा, और उसका नाम वकीलोंकी सूचीमें से निकाल दिया जायेगा। न्यायालयके नियमोंमें काले-गोरेका भेद नहीं है। हमें श्री गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका अधिकार नहीं है। उनका प्रार्थनापत्र स्वीकार किया जाता है। श्री गांधी, आप शपथ ले सकते हैं।"

मैं उठा। रजिस्ट्रारके सम्मुख मैंने शपथ ली। शपथ लेते ही मुख्य न्यायाधीशने कहा:

"अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिए। एक वकीलके नाते वकीलोंसे सम्बन्ध रखनेवाले न्यायालयके पोशाक-विषयक नियमका पालन आपके लिए भी आवश्यक है!"

मैं अपनी मर्यादा समझ गया। डर्बनके मजिस्ट्रेटकी कचहरीमें जिस पगड़ीको पहने रहनेका मैंने आग्रह रखा था, उसे मैंने यहाँ उतार दिया। उतारनेके विरोधमें तर्क तो थे। पर मुझे बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी थीं। पगड़ी पहने रहनेका हठ करनेमें मुझे लड़नेकी अपनी कला समाप्त नहीं करनी थी। इससे तो शायद उसे बट्टा ही लगता।

अब्दुल्ला सेठको और दूसरे मित्रोंको मेरी यह नरमी (या निर्बलता?) अच्छी न लगी। उनका ख्याल था कि मुझे वकीलके नाते भी पगड़ी पहने रहनेका आग्रह रखना चाहिए था। मैंने उन्हें समझानेका प्रयत्न किया। 'जैसा देस वैसा भेस' इस कहावतका रहस्य समझाया और कहा, "हिन्दुस्तानमें गोरे अफसर या जज पगड़ी उतारनेके लिए विवश करें, तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल-जैसे देशमें और यहाँके न्यायालयके एक अधिकारीके नाते न्यायालयकी रीति-नीतिका ऐसा विरोध करना मुझे शोभा नहीं देता।"

इस और ऐसी ही दूसरी दलीलोंसे मैंने मित्रोंको कुछ शान्त तो किया, पर मुझे नहीं लगता कि एक ही वस्तुको भिन्न परिस्थितिमें भिन्न रीतिसे देखनेके औचित्यको मैं उस अवसर पर उन्हें सन्तोषजनक रीतिसे समझा सका था। पर मेरे जीवनमें आग्रह और अनाग्रह हमेशा साथ-साथ ही चलते रहे हैं। सत्याग्रहमें यह अनिवार्य है, इसका अनुभव मैंने बादमें कई बार किया है। इस समझौता-वृत्तिके कारण मुझे कितनी ही बार अपने प्राणोंको संकटमें डालना पड़ा है और मित्रोंका असन्तोष सहना पड़ा है। पर सत्य वज्रके समान कठिन है, और कमलके समान कोमल है।

वकील-सभाके विरोधने दक्षिण आफ्रिकामें मेरे लिए दूसरे विज्ञापनका काम किया। ज्यादातर अखबारोंने मेरे प्रवेशके विरोधकी निन्दा की, और वकीलोंपर ईर्ष्याका दोष लगाया। इस विज्ञापनसे मेरा काम किसी हद तक सरल हो गया।

१९. नेटाल इंडियन कांग्रेस

वकालतका धन्धा मेरे लिए गौण वस्तु थी और सदा गौण ही रही। नेटालमें अपने निवासको सार्थक करनेके लिए तो मुझे सार्वजनिक काममें तन्मय हो जाना था। भारतीय मताधिकार प्रतिबन्धक कानूनके विरुद्ध केवल प्रार्थनापत्र भेजकर ही चुप नहीं बैठा जा सकता था। उपनिवेश-मन्त्री पर उसका असर उसके बारेमें आन्दोलन चलते रहनेसे ही पड़ सकता था। इसके लिए एक संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। इस सम्बन्धमें मैंने अब्दुल्ला सेठसे सलाह की, दूसरे साथियोंसे मिला, और हमने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करनेका निश्चय किया।

संस्थाके नामकरणमें थोड़ा धर्म-संकट था। संस्थाको किसी पक्षके साथ पक्ष-पात नहीं करना था। मैं जानता था कि कांग्रेसका नाम कंजर्वेटिव (पुराणपंथी) पक्षमें अप्रिय था। पर कांग्रेस हिन्दुस्तानका प्राण थी। उसकी शक्ति तो बढ़नी ही चाहिए। उस नामको छिपानेमें अथवा अपनाते हुए संकोच करनेमें नामर्दीकी गन्ध आती थी। अतएव मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्थाका नाम 'कांग्रेस' ही रखनेका सुझाव दिया और सन् १८९४ के मई महीनेकी २२ तारीखको नेटाल इंडियन कांग्रेसका जन्म हुआ।[1]

उस दिन दादा अब्दुल्लाके मकानकी ऊपरवाली मंजिल लोगोंसे भर गई थी। लोगोंने इस संस्थाका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। उसका विधान[2] सादा रखा गया था। चन्दा भारी था। हर महीने कमसे-कम पाँच शिलिंग देनेवाला ही उसका सदस्य बन सकता था। निश्चय हुआ कि धनी व्यापारी प्रसन्नतापूर्वक अधिकसे-अधिक जितना दे सकें, दें। अब्दुल्ला सेठसे महीनेके दो पौंड लिखवाये। दूसरे भी दो सज्जनोंसे इतने ही लिखवाये। मैंने सोचा कि मुझे तो संकोच करना ही नहीं चाहिए, इसलिए मैंने महीनेका एक पौंड लिखाया। मेरे लिए यह कुछ बड़ी रकम थी। पर मैंने सोचा कि अगर मेरा खर्च चलने ही वाला हो, तो मेरे लिए हर महीने एक पौंड देना अधिक नहीं होगा। ईश्वरने मेरी गाड़ी चला दी। एक पौंड देनेवालोंकी संख्या काफी रही। दस शिलिंगवाले उनसे भी अधिक। इसके अलावा, सदस्य बने बिना कोई अपनी इच्छासे भेंटके रूपमें जो कुछ दे, सो स्वीकार करना भी निश्चित हुआ।

अनुभवसे पता चला कि बिना तकाजेके कोई चन्दा नहीं देता। डर्बनसे बाहर रहनेवालोंके यहाँ बार-बार जाना असम्भव था। आरम्भ-शूरताका दोष तुरन्त स्पष्ट हो गया। डर्बनमें भी कई चक्कर लगानेपर पैसे मिलते थे।

मैं मन्त्री था। पैसे उगाहनेका बोझ मेरे सिर था। मेरे लिए अपने मुहर्रिरको लगभग सारा दिन उगाहीके काममें ही लगाये रखना जरूरी हो गया। मुहर्रिर भी तंग आ गया। मैंने अनुभव किया कि चन्दा मासिक नहीं, वार्षिक होना चाहिए, और वह सबको पेशगी ही दे देना चाहिए। सभा की गई। सबने मेरी सूचनाका

१. औपचारिक रूपसे इसकी स्थापना २२-८-१८९४ को हुई थी। खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १९७।
२. देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १९७-७१।

स्वागत किया, और कमसे-कम तीन पौंड वार्षिक चन्दा लेनेका निश्चय हुआ। इससे वसूलीका काम आसान हो गया।

मैंने आरम्भमें ही यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नहीं करना चाहिए। दूसरे कामोंके बारेमें भले ही लोगोंका विश्वास किया जाये, पर पैसे देनेके वादेपर विश्वास नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि लिखाई हुई रकम चुकानेका धर्म लोग कहीं भी नियमित रूपसे नहीं पालते। इसमें नेटालके भारतीय अपवाद-रूप नहीं थे। अतएव नेटाल इंडियन कांग्रेसने कभी कर्ज लेकर काम किया ही नहीं।

सदस्य बनानेमें साथियोंने असीम उत्साहका परिचय दिया था। इसमें उन्हें आनन्द आता था और अनमोल अनुभव प्राप्त होते थे। बहुतेरे लोग खुश होकर नाम लिखाते और तुरन्त पैसे दे देते थे। दूरके गाँवोंके लिए थोड़ी कठिनाई होती थी। लोग सार्वजनिक कामका अर्थ नहीं समझते थे। बहुत-सी जगहोंमें तो लोग अपने यहाँ आनेका न्योता भेजते और प्रमुख व्यापारीके यहाँ ठहरानेकी व्यवस्था करते।

पर इन यात्राओंमें एक जगह शुरूमें ही हमें मुश्किलका सामना करना पड़ा। वहाँ एक व्यापारीसे छ: पौंड मिलने चाहिए थे, पर वह तीनसे आगे बढ़ता ही न था। अगर इतनी रकम ले लेते, तो फिर दूसरोंसे अधिक न मिलती। पड़ाव उन्हींके घर था। हम सब भूखे थे। पर जब तक चन्दा न मिले, भोजन कैसे करें? उन भाईको खूब समझाया-मनाया। पर वे टससे-मस न होते थे। गाँवके दूसरे व्यापारियोंने भी उन्हें समझाया। सारी रात झक-झकमें बीत गई। गुस्सा तो कई साथियोंको आया, पर किसीने विनयका त्याग न किया। ठेठ सवेरे वे भाई पिघले और उन्होंने छः पौंड दिये। हमें भोजन कराया। यह घटना टोंगाटमें घटी थी। इसका प्रभाव उत्तरी किनारे पर ठेठ स्टेंगर तक और अन्दर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा। इससे चन्दा-वसूली का हमारा काम आसान हो गया।

पर हमारा हेतु केवल पैसे इकट्ठे करनेका ही न था। आवश्यकतासे अधिक पैसा न रखनेका तत्व भी मैं समझ चुका था।

सभा हर हफ्ते या हर महीने आवश्यकताके अनुसार होती थी। उसमें पिछली सभाका विवरण पढ़ा जाता, और अनेक प्रकारकी चर्चाएँ होतीं। चर्चा करनेकी और थोड़ेमें मुद्देकी बात कह देनेकी आदत तो लोगोंको थी ही नहीं। लोग खड़े होकर बोलनेमें झिझकते थे। सभाके नियम समझाये गये, और लोगोंने उनकी कद्र की। इससे होनेवाले अपने लाभको वे देख सके, और जिन्हें पहले कभी सार्वजनिक रूपसे बोलनेकी आदत नहीं थी, वे सार्वजनिक कामोंके विषयमें बोलने और विचारने लग गये।

मैं यह भी जानता था कि सार्वजनिक काम करते हुए छोटे-छोटे कामोंपर ही बहुत खर्च हो जाता है। शुरूमें तो मैंने निश्चय कर लिया था कि रसीद बुक तक न छपाई जाये। मेरे दफ्तरमें साइक्लोस्टाइल मशीन थी। उसपर रसीदें छपा लीं। रिपोर्ट भी मैं इसी तरह छपा लेता था। जब तिजोरीमें काफी पैसा जमा हो गया, सदस्य बढ़े, काम बढ़ा, तभी रसीदें आदि छपाना शुरू किया। ऐसी किफायत हरएक

संस्थाके लिए आवश्यक है। फिर भी मैं जानता हूँ कि हमेशा यह मर्यादा रह नहीं पाती। इसीलिए इस छोटी-सी उगती हुई संस्थाके आरम्भिक निर्माणकालका विवरण देना मैंने उचित समझा है।

लोग रसीदकी परवाह नहीं करते थे। फिर भी उन्हें आग्रहपूर्वक रसीद दी जाती थी। इसके कारण आरम्भसे ही पाई-पाईका हिसाब साफ रहा, और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल कांग्रेसके दफ्तरमें सन् १८९४ के पूरे पूरे ब्योरेवाले बही-खाते प्राप्त हो सकते हैं। किसी भी संस्थाका बारीकीसे रखा गया हिसाब उसकी नाक है। इसके अभावमें वह संस्था अंतमें गन्दी और प्रतिष्ठारहित हो जाती है। शुद्ध हिसाबके बिना शुद्ध सत्यकी रक्षा असम्भव है।

कांग्रेसका दूसरा अंग उपनिवेशोंमें जन्मे, पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियोंकी सेवा करना था। इसके लिए 'कलोनियल बार्न इंडियन एज्युकेशनल एसोसिएशन'की स्थापना की गई। नवयुवक ही मुख्यतः उसके सदस्य थे। उन्हें बहुत थोड़ा चन्दा देना होता था। इस संस्थाके द्वारा उनकी आवश्यकताओंका पता चलता था और उनकी विचार-शक्ति बढ़ती थी। हिन्दुस्तानी व्यापारियोंके साथ उनका सम्बन्ध कायम होता था और स्वयं उन्हें भी समाजकी सेवा करनेके अवसर प्राप्त होते थे। यह संस्था वाद-विवाद मण्डल-जैसी थी। इसकी नियमित सभाएँ होती थीं। उनमें वे लोग भिन्न-भिन्न विषयोंपर भाषण करते और निबन्ध पढ़ते थे। इस निमित्तसे एक छोटे-से पुस्तकालयकी भी स्थापना हुई।

कांग्रेसका तीसरा अंग था — बाहरी कार्य। इसमें दक्षिण आफ्रिकाके अंग्रेजोंमें और बाहर इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तानमें नेटालकी सच्ची स्थिति पर प्रकाश डालनेका काम होता था। इस उद्देश्यसे मैंने दो पुस्तिकाएँ[1] लिखीं। पहली पुस्तिकाका नाम था 'दक्षिण आफ्रिकामें रहनेवाले प्रत्येक अंग्रेजसे विनती।' उसमें नेटाल-निवासी भारतीयोंकी स्थितिका साधारण दिग्दर्शन प्रमाणों-सहित कराया गया था। दूसरी पुस्तिकाका नाम था 'भारतीय मताधिकार — एक विनती।' उसमें भारतीय मताधिकारका इतिहास आँकड़ों और प्रमाणों-सहित दिया गया था। ये दोनों पुस्तिकाएँ काफी अध्ययन और परिश्रमके बाद लिखी गई थीं। इनका फल भी वैसा ही मिला। इनका व्यापक प्रचार किया गया था।

इस कार्यके निमित्तसे दक्षिण आफ्रिकामें हिन्दुस्तानियोंके मित्र पैदा हो गये। इंग्लैंडमें और हिन्दुस्तानमें सब पक्षोंकी तरफसे मदद मिली, कार्य करनेकी दिशा प्राप्त हुई, और उसने निश्चित रूप धारण किया।

१. देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ १७५-१९५ और पृष्ठ २७६-३०१।

२०. बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना वैसा उसका फल। इस नियमको मैंने अपने बारेमें अनेक बार घटित होते देखा है। जनताकी अर्थात गरीबोंकी सेवा करनेकी मेरी प्रबल इच्छाने गरीबोंके साथ मेरा सम्बन्ध हमेशा ही अनायास जोड़ दिया है।

यद्यपि नेटाल इंडियन कांग्रेसमें उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंने प्रवेश किया था और मुहर्रिरोंका समाज उसमें प्रवेश हुआ था, फिर भी मजदूरोंने, गिरमिटिया समाजके लोगोंने, उसमें प्रवेश नहीं किया था। कांग्रेस उनकी नहीं हुई थी। वे उसमें चन्दा देकर और दाखिल होकर उसे अपना नहीं सकते थे। उनके मनमें कांग्रेसके प्रति प्रेम तो तभी पैदा हो सकता था, जब कांग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा प्रसंग अपने-आप आ गया और वह भी ऐसे समय जब कि मैं स्वयं अथवा कांग्रेस उसके लिए शायद ही तैयार थे। मुझे वकालत शुरू किये अभी मुश्किलसे दो चार महीने हुए थे। कांग्रेसका भी शैशव-काल था। इतनेमें एक दिन बालासुन्दरम् नामका एक मद्रासी हिन्दुस्तानी हाथमें साफा लिये रोता-रोता मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके कपड़े फटे हुए थे, वह थर-थर काँप रहा था, उसके मुँहसे खून बह रहा था और उसके आगेके दो दाँत टूटे हुए थे। उसके मालिकने उसे बुरी तरह मारा था। तमिल समझनेवाले अपने मुहर्रिरके द्वारा मैंने उसकी स्थिति जान ली। बालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरेके यहाँ मजदूरी करता था। मालिक किसी वजहसे गुस्सा हुआ होगा। वह क्रोधमें आपा खो बैठा और उसने बालासुन्दरम्की बहुत ज्यादा पिटाई की। परिणामस्वरूप बालासुन्दरम्के दो दाँत टूट गये।

मैंने उसे डाक्टरके यहाँ भेजा। उन दिनों गोरे डाक्टर ही मिलते थे। मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाणपत्रकी आवश्यकता थी। उसे प्राप्त करके मैं बालासुन्दरम्को मजिस्ट्रेटके पास ले गया। वहाँ बालासुन्दरम्का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया। उसे पढ़कर मजिस्ट्रेट मालिक पर गुस्सा हुआ। उसने मालिकके नाम समन जारी करनेका हुक्म दिया।

मेरी नीयत मालिकको सजा करानेकी नहीं थी। मुझे तो बालासुन्दरम्को उसके पंजेसे छुड़ाना था। मैंने गिरमिटियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले कानूनकी छान-बीन कर ली। यदि साधारण नौकर नौकरी छोड़ता, तो मालिक उसके खिलाफ दीवानीमें दावा दायर कर सकता था, पर उसे फौजदारीमें नहीं ले जा सकता था। गिरमिटमें और साधारण नौकरीमें बहुत फर्क था। पर खास फर्क यह था कि अगर गिरमिटिया मालिकको छोड़े तो वह फौजदारी गुनाह माना जाता था, और उसके लिए उसे कैद भुगतनी होती थी। इसीलिए सर विलियम विल्सन हंटरने इस स्थितिको लगभग गुलामीकी-सी स्थिति माना था। गुलामकी तरह गिरमिटिया मालिककी मिल्कियत माना जाता था।

बालासुन्दरम्को छुड़ानेके केवल दो उपाय थे: या तो गिरमिटियोंके लिए नियुक्त अधिकारी, जो कानूनकी दृष्टिसे उनका रक्षक कहा जाता था, उसका गिरमिट रद करे या दूसरेके नाम लिखवा दे, अथवा मालिक स्वयं उसे छोड़नेको तैयार हो

जाये। मैं मालिकसे मिला। उससे मैंने कहा, "मैं आपको सजा नहीं कराना चाहता। इस आदमीको सख्त चोट लगी है, सो तो आप जानते ही हैं। आप इसका गिरमिट दूसरेके नाम लिखानेको राजी हो जायें, तो मुझे सन्तोष होगा।" मालिक तो यही चाहता था। फिर मैं रक्षकसे मिला। उसने भी सहमत होना स्वीकार किया, पर शर्त यह रखी कि मैं बालासुन्दरम्के लिए नया मालिक खोज दूँ।

मुझे नये अंग्रेज मालिककी खोज करनी थी। हिन्दुस्तानियोंको गिरमिटिया मजदूर रखनेकी इजाजत नहीं थी। मैं अभी कुछ ही अंग्रेजोंको पहचानता था। उनमेंसे एकसे मैं मिला।[1] उन्होंने मुझपर मेहरबानी करके बालासुन्दरम्को रखना मंजूर कर लिया। मैंने उनकी कृपाको साभार स्वीकार किया। मजिस्ट्रेटने मालिकको अपराधी ठहराकर यह लिख दिया कि उसने बालासुन्दरम्का गिरमिट दूसरेके नाम लिखाना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम्के मामलेकी बात गिरमिटियोंमें चारों तरफ फैल गई, और मैं उनका बन्धु मान लिया गया। मुझे इससे बड़ी खुशी हुई। मेरे दफ्तरमें गिरमिटियोंका ताँता-सा लग गया, और मुझे उनके सुख-दुःख जाननेकी बड़ी सुविधा हो गई।

बालासुन्दरम्के मामलेकी भनक ठेठ मद्रास प्रान्त तक पहुँची। उस प्रान्तके विभिन्न हिस्सोंसे नेटालमें गिरमिटपर आये हुए लोगोंको गिरमिटियोंसे ही इस मामलेकी जानकारी मिली।

वैसे, मामला महत्त्वका नहीं था, पर लोगोंको यह जानकर आनन्द और आश्चर्य हुआ कि उनके लिए प्रकट रूपसे काम करनेवाला कोई आदमी निकल आया है। इस बातसे उन्हें आश्वासन मिला।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि बालासुन्दरम् अपना साफा उतारकर और उसे अपने हाथमें रखकर मेरे पास आया था। इस घटनामें बड़ी करुणा भरी है; और इससे हमारी दीनता भी प्रकट होती है। पगड़ी उतारनेका मेरा किस्सा तो आप जान ही चुके हैं। गिरमिटिया और दूसरे अनजान हिन्दुस्तानी जब किसी भी गोरेके घरमें दाखिल होते, तो उसके सम्मानके लिए पगड़ी उतार लिया करते थे — फिर वह टोपी हो या बाँधी हुई पगड़ी हो या लपेटा हुआ साफा हो। दोनों हाथोंसे सलाम करना काफी नहीं था। बालासुन्दरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह आना चाहिए। इसके पहले मेरे निकट कभी कोई इस तरह नहीं आया था। मैं शरमाया। मैंने बालासुन्दरम्को साफा बाँधनेके लिए कहा। बड़े संकोचके साथ उसने साफा बाँधा। पर इससे उसे जो खुशी हुई, सो मैं ताड़ गया।

दूसरोंको अपमानित करके लोग अपनेको सम्मानित कैसे समझ सकते हैं, इस बातको मैं आज तक नहीं समझ सका हूँ।

१. श्र एसक्यू; देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २५८-५९।

२१. तीन पौंडका कर

बालासुन्दरम्‌के किस्सेने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंके साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु उनपर कर लगानेका जो आन्दोलन चला, उसके परिणामस्वरूप मुझे उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन करना पड़ा।

सन् १८९४में गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर हर साल २५ पौंडका अर्थात् ३७५ रुपयोंका कर लगानेके कानूनका मसविदा नेटालकी सरकारने तैयार किया। उस मसविदेको पढ़कर मैं तो दंग ही हो गया। मैंने उसे स्थानीय कांग्रेसके सामने रखा। इस मामलेमें जो आन्दोलन करना उचित था, वह करनेका एक प्रस्ताव कांग्रेसने पास किया।

इस कर के मूलको थोड़ा समझ लें।

लगभग १८६०में जब नेटालमें बसे हुए गोरोंने देखा कि वहाँ ईखकी फसल अच्छी हो सकती है, तो उन्होंने मजदूरोंकी खोज शुरू की। मजदूर न मिलें, तो न ईख पैदा हो सकती थी और न चीनी ही बन सकती थी। नेटालके हब्शी इतनी मेहनत नहीं कर सकते थे। इसलिए नेटाल-निवासी गोरोंने भारत सरकारके साथ विचार-विमर्श करके हिन्दुस्तानी मजदूरोंको नेटाल जाने देनेकी अनुमति प्राप्त की। उन्हें यह लालच दिया गया कि पाँच साल तक मजदूरी करनेका बन्धन रहेगा और पाँच सालके बाद उन्हें स्वतन्त्र रीतिसे नेटालमें बसनेकी छूट रहेगी। उनको जमीनका मालिक बननेका पूरा अधिकार भी दिया गया था। उस समय गोरे चाहते थे कि हिन्दुस्तानी मजदूर अपने पाँच साल पूरे होनेके बाद जमीन जोतें और अपने उद्यमका लाभ नेटालको दें।

हिन्दुस्तानी मजदूरोंने इस दिशामें आशासे अधिक लाभ दिया। उन्होंने खूब साग-सब्जी बोई और हिन्दुस्तानकी अनेक उत्तम तरकारियाँ पैदा कीं। जो साग-सब्जियाँ वहाँ पहलेसे पैदा होती थीं उनके दाम सस्ते हो गये। हिन्दुस्तानसे आम लाकर लगाये। पर इसके साथ ही उन्होंने व्यापार भी शुरू कर दिया। घर बनानेके लिए जमीनें खरीद लीं और बहुतेरे लोग मजदूर न रहकर अच्छे जमींदार और मकान-मालिक बन गये। इस तरह मजदूरोंमें से मकान-मालिक बन जानेवालोंके पीछे-पीछे वहाँ स्वतन्त्र व्यापारी भी पहुँचे। स्व० सेठ अबूबकर आमद उनमें सबसे पहले पहुँचे थे। उन्होंने वहाँ अपना कारबार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौंके। जब पहले-पहले उन्होंने हिन्दुस्तानी मजदूरोंका स्वागत किया था, तब उन्हें उनकी व्यापार करनेकी शक्तिका कोई अन्दाज न था। वे किसानके नाते स्वतन्त्र रहें, इस हदतक तो गोरोंको उस समय कोई आपत्ति न थी, पर व्यापारमें उनकी प्रतिद्वन्द्विता उन्हें असह्य जान पड़ी।

हिन्दुस्तानियोंके साथ उनके विरोधके मूलमें यह चीज थी। उसमें दूसरी चीजें और मिल गईं। हमारी अलग प्रकारकी रहन-सहन, हमारी सादगी, हमारा कम नफेसे सन्तुष्ट रहना, आरोग्यके नियमोंके बारेमें हमारी लापरवाही, घर-आँगनको

साफ रखनेका आलस्य, उनकी मरम्मतमें कंजूसी, हमारे अलग-अलग धर्म — ये सारी बातें विरोधको भड़कानेवाली सिद्ध हुई।

यह विरोध प्राप्त मताधिकारको छीन लेने और गिरमिटियों पर कर लगानेवाले कानूनके रूपमें प्रकट हुआ। कानूनके बाहर तो अनेक प्रकारसे उन्हें परेशान करना शुरू हो ही चुका था।

पहला सुझाव तो यह था कि गिरमिट पूरा होनेके कुछ दिन पहले ही हिन्दुस्तानियोंको जबरदस्ती वापस भेज दिया जाये, ताकि उनके इकरारनामेकी मुद्दत हिन्दुस्तानमें पूरी हो। पर इस सुझावको भारत सरकार माननेवाली नहीं थी। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि:

१. मजदूरीका इकरार पूरा हो जाने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाये; अथवा,

२. हर दूसरे साल नया गिरमिट लिखाये और उस हालतमें हर बार उसके वेतनमें कुछ बढ़ोतरी की जाये;

३. अगर वापस न जाये और मजदूरीका नया इकरारनामा भी न लिखे, तो हर साल २५ पौंडका कर दे।

इन सुझावोंको स्वीकार करानेके लिए सर हेनरी बीन्स और श्री मेसनका शिष्टमण्डल हिन्दुस्तान भेजा गया। तब लॉर्ड एलविन वाइसराय थे। उन्होंने २५ पौंडका कर तो नामंजूर कर दिया; पर गिरमिटमुक्त हिन्दुस्तानीसे ३ पौंडका कर लेनेकी स्वीकृति दे दी। मुझे उस समय ऐसा लगा था और अब तक लगता है कि वाइसरायकी यह गम्भीर भूल थी। इसमें उन्होंने हिन्दुस्तानके हितका तनिक भी विचार नहीं किया। नेटालके गोरोंके लिए ऐसी सुविधा कर देना उनका कोई कर्त्तव्य नहीं था। तीन-चार सालके बाद यह कर हर वैसे (गिरमिट-मुक्त) हिन्दुस्तानीकी स्त्रीसे और उसके हर १६ साल और उससे बड़ी उम्रके लड़के और १३ साल या उससे बड़ी उम्रकी लड़कीसे भी लेनेका निश्चय किया गया। इस प्रकार पति-पत्नी और दो बच्चोंवाले कुटुम्बसे, जिसमें पतिको अधिक-से-अधिक १४ शिलिंग प्रतिमास मिलते हों, १२ पौंड अर्थात् १८० रुपयेका कर लेना भारी जुल्म माना जायेगा। दुनियामें कहीं भी इस स्थितिके गरीब लोगोंसे ऐसा भारी कर नहीं लिया जाता था।

इस कर के विरुद्ध जोरोंकी लड़ाई छिड़ी।[1] यदि नेटाल इंडियन कांग्रेसकी ओरसे कोई आवाज ही न उठाई जाती, तो शायद वाइसराय २५ पौंड भी मंजूर कर लेते। यह पूरी तरह सम्भव है कि २५ पौंडके ३ पौंड होना भी कांग्रेस आन्दोलनका ही प्रताप हो, पर इस कल्पनामें मेरी भूल भी हो सकती है। सम्भव है कि भारत सरकारने २५ पौंडके प्रस्तावको शुरूसे ही अस्वीकार कर दिया हो, और हो सकता है कि कांग्रेसके विरोध न करने पर भी वह ३ पौंडका ही कर स्वीकार करती।

१. देखिए खण्ड १, द्वितीय संस्करण पृष्ठ २४०-५४।

तो भी उसमें हिन्दुस्तानके हितकी हानि तो थी ही। हिन्दुस्तानके हित-रक्षकके नाते वाइसरायको ऐसा अमानुषी कर कभी स्वीकार नही करना चाहिए था।

२५ से ३ पौंड (३७५ रुपयेसे ४५ रुपये) होनेका कांग्रेस यश क्या लेती? उसे तो दुःख हुआ कि वह गिरमिटियोंके हितकी पूरी रक्षा न कर सकी। और ३ पौंडका कर किसी-न-किसी दिन हटना ही चाहिए, इस निश्चयको कांग्रेसने कभी भुलाया नहीं। पर इस निश्चयको पूरा करनेमें बीस वर्ष बीत गय। इस युद्धमें नेटालके ही नहीं, बल्कि समूचे दक्षिण आफ्रिकाके हिन्दुस्तानियोंको सम्मिलित होना पड़ा। उसमें गोखलेको निमित्त बनना पड़ा। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंको पूरी तरह हाथ बँटाना पड़ा। उसके कारण कुछ लोगोंको गोलियाँ खाकर मरना पड़ा और दस हजारसे अधिक हिन्दुस्तानियोंको जेल भुगतनी पड़ी।

पर अन्तमें सत्यकी जय हुई। हिन्दुस्तानियोंकी तपस्यामें सत्य मूर्तिमान हुआ। इसके लिए अटल श्रद्धाकी, अटूट धैर्यकी और सतत कार्य करते रहनेकी आवश्यकता थी। यदि कौम हारकर बैठ जाती, कांग्रेस लड़ाईको छोड़कर, और करको अनिवार्य समझकर झुक जाती, तो वह कर आजतक गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंसे वसूल होता रहता, और इसका कलंक स्थानीय हिन्दुस्तानियोंको और समूचे हिन्दुस्तानको लगता।

२२. धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाजकी सेवामें ओतप्रोत हो गया, और इसका कारण आत्म-दर्शनकी अभिलाषा थी। ईश्वरकी पहचान सेवासे ही होगी, यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं हिन्दुस्तानकी सेवा करता था, क्योंकि वह सेवा मुझे अनायास प्राप्त हुई थी। मुझे उसमें रुचि थी। मुझे उसे खोजने नहीं जाना पड़ा था। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़के षड्यन्त्रोंसे बचने और आजीविकाको खोजनेके लिए दक्षिण आफ्रिका गया था। पर पड़ गया ईश्वरकी खोजमें——आत्मदर्शनके प्रयत्नमें।

ईसाई भाइयोंने मेरी जिज्ञासाको बहुत तीव्र कर दिया था। वह किसी भी तरह शान्त होनेवाली न थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहन मुझे शान्त होने न देते। क्योंकि डर्बनमें श्री स्पेन्सर वाल्टनने, जो दक्षिण आफ्रिकाके मिशनके मुखिया थे, मुझ पर बहुत ध्यान दिया। उनके घरमें मैं कुटुम्बी-जैसा हो गया। इस सम्बन्ध का मूल प्रिटोरियाका समागम था। श्री वाल्टनकी रीति-नीति कुछ दूसरे प्रकारकी थी। उन्होंने मुझे ईसाई बननेको कहा हो, सो याद नहीं। पर अपना जीवन उन्होंने मेरे सामने रख दिया, और अपनी प्रवृत्तियाँ, कार्यकलाप मुझे देखने दिये। उनकी धर्मपत्नी बहुत नम्र परन्तु तेजस्वी महिला थीं। मुझे इस दम्पत्तिकी पद्धति अच्छी लगती थी। अपने बीचके मूलभूत मतभेदोंको हम दोनों जानते थे। ये मतभेद आपसी चर्चा द्वारा मिटनेवाले नहीं थे। जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य होता

है, वहाँ मतभेद भी लाभदायक सिद्ध होते हैं। मुझे दम्पत्तिकी नम्रता, उद्यमशीलता और कार्यपरायणता प्रिय थी। इसलिए हम समय-समयपर मिलते रहते थे।

इस सम्बन्धने मुझे जाग्रत रखा। धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययनके लिए जो फुरसत मुझे प्रिटोरियामें मिल गई थी, वह अब असम्भव थी। पर जो थोड़ा समय बचता, उसका उपयोग मै वैसे अध्ययनमें करता था। मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचन्द-भाई मेरा मार्गदर्शन कर रहे थे। किसी मित्रने मुझे नर्मदाशंकरकी 'धर्म-विचार' पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। मैने नर्मदाशंकरके विलासी जीवनकी बातें सुनी थी। प्रस्तावनामें उनके जीवनमें हुए परिवर्तनोंका वर्णन था। उसने मुझे आकर्षित किया, और इस कारण उस पुस्तकके प्रति मेरे मनमें आदर उत्पन्न हुआ। मैं उसे ध्यानपूर्वक पढ़ गया। मैक्समूलरकी 'हिन्दुस्तान क्या सिखाता है?' पुस्तक मैंने बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़ी। थियोसॉफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदोंका भाषान्तर पढ़ा। इससे हिन्दू धर्मके प्रति मेरा आदर बढ़ा। उसकी खूबियाँ मैं समझने लगा। पर दूसरे धर्मोंके प्रति मेरे मनमें अनादर उत्पन्न नहीं हुआ। वाशिंग्टन इरविंग कृत मुहम्मदका चरित्र और कार्लाइलकी मुहम्मद-स्तुति पढ़ी। मुहम्मद पैगम्बरके प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। 'जरथुस्तके वचन' नामक पुस्तक भी मैंने पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंका थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो पढ़ा और पसन्द किया उसे आचरणमें लानेकी आदत दृढ़ हुई। अतएव हिन्दू धर्मम सूचित प्राणायाम-सम्बन्धी कुछ क्रियाएँ, जितनी पुस्तककी मददसे समझ सका उतनी, मैंने शुरू कीं। पर वे मुझे सधी नहीं। मैं उनमें आगे न बढ़ सका। सोचा था कि वापस हिन्दुस्तान जाने पर उनका अभ्यास किसी शिक्षककी देख-रेखमें करूँगा। पर वह विचार कभी पूरा नहीं हो सका।

टॉल्स्टॉयकी पुस्तकोंका अध्ययन मैंने बढ़ा लिया। उनकी 'गॉस्पेल्स इन ब्रीफ' (नये करारका सार), 'व्हॉट टु डू' (तब क्या करें?) आदि पुस्तकोंने मेरे मन पर गहरी छाप डाली। विश्व-प्रेम मनुष्यको कहाँ तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।

इसी समय एक दूसरे ईसाई कुटुम्बके साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ा। उसकी इच्छासे मैं हर रविवारको वेस्लियन गिरजेमें जाया करता था। अक्सर हर रविवारकी शामको मुझे उनके घर भोजन भी करना पड़ता था। वेस्लियन गिरजेका मुझपर अच्छा असर नहीं पड़ा। वहाँ जो प्रवचन होते थे, वे मुझे शुष्क जान पड़े। प्रेक्षकोंमें भक्तिभावके दर्शन नहीं हुए। यह ग्यारह बजेका समाज मुझे भक्तोंका नहीं, बल्कि कुछ दिल बहलाने और कुछ रिवाज पालनेके लिए आये हुये संसारी जीवोंका समाज जान पड़ा। कभी-कभी इस सभामें मुझे बरबस नींदके झोंके आ जाते। इससे मैं शरमाता। पर अपने आसपास किसी और को भी ऊंघते देखता तो मेरी शर्म कुछ कम हो जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी नहीं लगी। आखिर मने उस गिरजेमें जाना छोड़ दिया।

मैं जिस परिवारमें हर रविवारको जाता था, कहना होगा कि वहाँसे तो मुझे छुट्टी ही मिल गई। घरकी मालकिन भोली-भली परन्तु संकुचित मनकी मालूम हुई। हर बार उनके साथ कुछ-न-कुछ धर्म-चर्चा तो होती ही रहती थी। उन दिनों मैं घर पर 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्धके जीवनकी तुलना करने लगे। मैंने कहा: "गौतमकी दयाको देखिए। यह मनुष्य जातिको लाँघकर दूसरे प्राणियों तक पहुँच गई थी। उनके कन्धे पर खेलते हुए मेमनेका चित्र आँखोंके सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेमसे उमड़ नहीं पड़ता? प्राणिमात्रके प्रति ऐसा प्रेम मैं ईसाके चरित्रमें नही देख सका।" उन बहनका दिल दुखा। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात आगे न बढ़ाई। हम भोजनालयमें पहुँचे। कोई पाँच वर्षका उनका हँसमुख बालक भी हमारे साथ था। मुझे बच्चे मिल जायें तो फिर और क्या चाहिए? उनके साथ मैंने दोस्ती तो कर ही ली थी। मैंने उसकी थालीमें पड़े माँसके टुकड़ेका मजाक किया, और अपनी रकाबीमें सजे हुए सेवकी स्तुति शुरू की। निर्दोष बालक पिघल गया और सेवकी स्तुतिमें सम्मिलित हो गया।

पर माता? वह बेचारी दुखी हुई।

मैं चेता। चुप्पी साध गया। मैंने चर्चाका विषय बदल दिया। दूसरे हफ्ते सावधान रहकर मैं उनके यहाँ गया तो सही, पर मेरे पाँव भारी पड़ गये थे। मुझे यह न सूझा कि मैं खुद ही वहाँ जाना बन्द कर दूँ, और न ऐसा करना उचित जान पड़ा। पर उन भली बहनने मेरी कठिनाई दूर कर दी। वे बोलीं,

"श्री गांधी, आप बुरा न मानिएगा, पर मुझे आपसे कहना चाहिए कि मेरे बालक पर आपकी सोहबतका बुरा असर होने लगा है। अब वह रोज माँस खानेमें आनाकानी करता है और आपकी उस चर्चाकी याद दिलाकर फल माँगता है? मुझसे यह निभ न सकेगा। मेरा बच्चा मांसाहार छोड़नेसे बीमार चाहे न पड़े, पर कमजोर तो हो ही जायेगा। इसे मैं कैसे सह सकती हूँ? आप जो चर्चा करते हैं, वह हम सयानोंके बीच शोभा दे सकती है। लेकिन बालकों पर तो उसका बुरा ही असर पड़ सकता है।"

"मिसेज . . .[1] मुझे दुःख है। माताके नाते मैं आपकी भावनाको समझ सकता हूँ। मेरे भी बच्चे हैं। इस आपत्तिका अन्त सरलतासे हो सकता है। मेरे बोलनेका जो असर होगा, उसकी अपेक्षा मैं जो खाता हूँ या नहीं खाता हूँ, उसे देखनेका असर बालक पर बहुत अधिक होगा। इसलिए अच्छा रास्ता तो यह है कि अब आगेसे मैं रविवारको आपके यहाँ न आऊँ। इससे हमारी मित्रतामें कोई बाधा न पहुँचेगी।"

बहनने प्रसन्न होकर उत्तर दिया, "मैं आपका आभार मानती हूँ।"

१. मूलमें यहाँ नाम नाम दिया गया है।

२३. घरकी व्यवस्था

मैं बम्बईमें और विलायतमें घर बसा चुका था, पर उसमें और नेटालकी घरकी व्यवस्थामें फर्क था। नेटालमें कुछ खर्च केवल प्रतिष्ठाके लिए चला रखा था। मैंने मान लिया था कि नेटालमें हिन्दुस्तानी बैरिस्टरके नाते और हिन्दुस्तानियोंके प्रतिनिधिके रूपमें मुझे काफी खर्च करना चाहिए, इसलिए मैंने अच्छे मुहल्लेमें अच्छा घर लिया था। घरको अच्छी तरह सजाया भी था। भोजन सादा था, पर अंग्रेज मित्रोंको न्योतना होता था, और हिन्दुस्तानी साथियोंको भी न्योतता था, इस कारण स्वभावतः वह खर्च भी बढ़ गया था।

नौकरकी कमी तो सब कहीं जान पड़ती थी। किसीको नौकरके रूपमें रखना मुझे आया ही नहीं।

एक साथी[1] मेरे साथ रहता था। एक रसोइया रखा था। वह घरके आदमी जैसा बन गया था। दफ्तरमें जो मुहर्रिर रखे थे, उनमें से भी जिन्हें रख सकता था, घरमें रख लिया था।

मैं मानता हूँ कि यह प्रयोग काफी सफल रहा। पर उसमें से मुझे संसारके कड़वे अनुभव भी हुए।

मेरा साथी बहुत चतुर था, और मेरी समझमें मेरे प्रति वफादार था। पर उसे पहचाननेमें मुझसे भूल हुई। दफ्तरके एक मुहर्रिरको मैंने घरमें रख लिया था। उसके प्रति इस साथीके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न हुई। उसने ऐसा जाल रचा कि मैं मुहर्रिर पर शक करने लगा। यह मुहर्रिर बहुत स्वतन्त्र स्वभावका था। उसने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। कहीं उसके साथ अन्याय तो नहीं हुआ, यह विचार मुझे कुरेदने लगा।

इसी बीच मैंने जिस रसोइएको रखा था, उसे किसी कारणसे दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे मित्रकी सार-सँभालके लिए रखा था। इसलिए उसके बदले दूसरा रसोइया लगाया। बादमें मैंने देखा कि यह आदमी उड़ती चिड़िया भाँपनेवाला था। मेरे लिए वह इस तरह उपयोगी सिद्ध हुआ, मानो मुझे वैसे ही आदमीकी जरूरत रही हो। इस रसोइएको रखे मुश्किलसे दो या तीन दिन हुए होंगे कि उसने मेरे घरमें मेरे अनजाने चलनेवाले अनाचारको देख लिया, और मुझे चेतानेका निश्चय किया। लोगोंकी यह धारणा बन गई थी कि मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ। इसलिए इस रसोइएको मेरे ही घरमें चलनेवाला भ्रष्टाचार भयानक प्रतीत हुआ। मैं दोपहरके भोजनके लिए दफ्तरसे एक बजे घर जाया करता था। एक दिन कोई बारह बजे होंगे, यह रसोइया हाँफता-हाँफता आया और मुझसे कहने लगा, "आपको कुछ देखना हो तो खड़े पैरों घर चलिए।"

१. शेख महताब; देखिए प्यारेलालकी पुस्तक **महात्मा गांधी द अर्ली फेज** खण्ड १ पृष्ठ ४९८।

मैंने कहा, "इसका अर्थ क्या है? तुम्हें मुझे बताना चाहिए कि काम क्या है। ऐसे समय मुझे घर चलकर क्या देखना है?"

रसोइया बोला, "न चलेंगे तो पछतायेंगे। मै आपको इससे अधिक कहना नही चाहता।"

उसकी दृढ़तासे मैं आकर्षित हुआ। मै अपने मुहर्रिरको साथ लेकर घर गया। रसोइया आगे चला। घर पहुँचने पर वह मुझे दूसरी मंजिल पर ले गया। जिस कमरेमें वह साथी रहता था, उसे दिखाकर बोला, "इस कमरेको खोलकर देखिए।"

अब मैं समझ गया। मैंने कमरेका दरवाजा खटखटाया। जवाब क्यों मिलता? मैंने बहुत जोरसे दरवाजा खटखटाया। दीवार काँप उठी। दरवाजा खुला। मैंने अन्दर एक बदचलन औरतको देखा। मैंने उससे कहा, "बहन, तुम तो यहाँसे चली ही जाओ। अब फिर कभी इस घरमें पैर न रखना।"

साथीसे कहा, "आजसे तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध समाप्त होता है। मै खूब ठगा गया और बड़ा मूर्ख बना। मेरे विश्वासका यह बदला नही मिलना चाहिए था।"

साथी बिगड़ा। उसने मेरा सारा पर्दाफाश करनेकी धमकी दी।

"मेरे पास कोई छिपी चीज है ही नहीं। मैंने जो-कुछ किया है, उसे तुम खुशीसे प्रकट करो। पर तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध तो अब समाप्त हुआ।"

साथी और गरमाया। मैंने नीचे खड़े मुहर्रिरसे कहा, "तुम जाओ। पुलिस सुपरिंटेंडेंटसे मेरा सलाम बोलो और कहो कि मेरे एक साथीने मुझे धोखा दिया है। मैं उसे अपने घरमें रखना नहीं चाहता। फिर भी वह निकलनेसे इन्कार करता है। मेहरबानी करके मुझे मदद भेजिए।"

अपराधमें दीनता होती है। मेरे इतना कहनेसे ही साथी ढीला पड़ा। उसने माफी माँगी। सुपरिंटेंडेंटके यहाँ आदमी न भेजनेके लिए वह गिड़गिड़ाया और तुरन्त घर छोड़कर जाना कबूल किया। उसने घर छोड़ दिया।

इस घटनाने मुझे जीवनमें ठीक समय पर सचेत कर दिया। यह साथी मेरे लिए मोहरूप और अवांछनीय था, इसे मैं इस घटनाके बाद ही स्पष्ट रूपसे देख सका। इस साथीको रखकर मैंने अच्छे कामके लिए बुरे साधनको पसन्द किया था। बबूलके पेड़से आमके फलकी आशा रखी थी। साथीका चाल-चलन अच्छा नहीं था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे प्रति वफादार है। उसे सुधारनेका प्रयत्न करते हुए मैं स्वयं लगभग गन्दगीमें सन गया था। मैंने अपने हितैषियोंकी सलाहका अनादर किया था। मोहने मुझे बिलकुल अन्धा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटनासे मेरी आँखें न खुली होतीं, मुझे सत्यका पता न चलता, तो सम्भव है कि जो स्वार्पण मैं कर सका हूँ, उसे करनेमें मैं कभी समर्थ न हो पाता। मेरी सेवा सदा अधूरी रहती, क्योंकि वह साथी मेरी प्रगतिको अवश्य रोकता। अपना बहुत-सा समय मुझे उसके लिए देना पड़ता। उसमें मुझको अन्धकारमें रखने और गलत रास्ते ले जानेकी शक्ति थी।

पर जिसे राम रखे, उसे कौन मारे? मेरी निष्ठा शुद्ध थी, इसलिए अपनी गलतियोंके बावजूद मैं बच गया और मेरे पहले अनुभवने मुझे सावधान कर दिया।

उस रसोइएको शायद भगवानने ही मेरे पास भेजा था। वह रसोई बनाना नहीं जानता था, इसलिए उस कामके लिए उसका मेरे यहाँ रखा जाना सम्भव नहीं था। पर उसके आये बिना दूसरा कोई मुझे जाग्रत नहीं कर सकता था। वह स्त्री मेरे घरमें पहली ही बार आई हो, सो बात नहीं। पर इस रसोइए जितनी हिम्मत दूसरोंको हो ही कैसे सकती थी? इस साथीके प्रति मेरे बेहद विश्वाससे सब लोग परिचित थे।

इतनी सेवा करके रसोइएने उसी दिन और उसी क्षण जानेकी इजाजत चाही। वह बोला: "मैं आपके घरमें नहीं रह सकता। आप भोले भण्डारी ठहरे। यहाँ मेरा काम नहीं।"

मैंने आग्रह नहीं किया।

उक्त मुहर्रिर पर शक पैदा करानेवाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब मालूम हुई। उसके साथ हुए अन्यायको मिटानेका मैंने बहुत प्रयत्न किया, पर मैं उसे पूरी तरह सन्तुष्ट न कर सका। मेरे लिए यह सदा ही दुःखकी बात रही। फूटे बर्तनको कितना ही पक्का क्यों न जोड़ा जाये, वह जोड़ा हुआ ही कहलायेगा, सम्पूर्ण कभी नहीं होगा।

२४. देशकी ओर

अब मैं दक्षिण आफ्रिकामें तीन साल रह चुका था। मैं लोगोंको पहचानने लगा था और वे मुझे पहचानने लगे थे। सन् १८९६ में मैंने छः महीनोंके लिए देश जानेकी इजाजत माँगी। मैंने देखा कि मुझे दक्षिण आफ्रिकामें लम्बे समय तक रहना होगा। कहा जा सकता है कि मेरी वकालत ठीक चल रही थी। सार्वजनिक काममें लोग मेरी उपस्थितिकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे; मैं भी करता था। इससे मैंने दक्षिण आफ्रिकामें सपरिवार रहनेका निश्चय किया और उसके लिए देश हो आना ठीक समझा। फिर, मैंने यह भी देखा कि देश जानेसे कुछ सार्वजनिक कार्य भी हो सकता है। मुझे लगा कि देशमें लोकमत जाग्रत करके यहाँके भारतीयोंके प्रश्नमें लोगोंकी अधिक दिलचस्पी पैदा की जा सकती है। तीन पौंडका कर एक नासूर था — सदा बहनेवाला घाव था। जबतक वह रद न हो, चित्तको शान्ति नहीं मिल सकती थी।

लेकिन मेरे देश जाने पर कांग्रेसका और शिक्षा-मण्डलका काम कौन सँभाले? दो साथियोंपर मेरी दृष्टि पड़ी — आदमजी मियाँखाँ और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी समाजमें बहुत-से काम करनेवाले निकल आये थे, पर मन्त्रीका काम सँभाल सकने, नियमित काम करने और दक्षिण आफ्रिकामें जन्मे हुए हिन्दुस्तानियोंका मन जीत सकनेकी योग्यता रखनेवालोंमें ये दो प्रथम पंक्तिमें खड़े किये जा सकते थे। मन्त्रीके लिए साधारण अंग्रेजी जाननेकी जरूरत तो थी ही। मैंने इन दोमें से स्व० आदमजी मियाँखाँको मन्त्रिपद देनेकी सिफारिश कांग्रेससे की और वह स्वीकार की

गई। अनुभवसे यह चुनाव बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। अपनी लगन, उदारता, मिठास और विवेकसे सेठ आदमजी मियाँखानने सबको सन्तुष्ट किया, और सबको विश्वास हो गया कि मन्त्रीका काम करनेके लिए वकील-बैरिस्टरकी या बहुत अंग्रेजी पढ़े हुए उपाधिधारीकी आवश्यकता नहीं है।

सन् १८९६ के मध्यमें मैं देश जानेके लिए 'पोंगोला' स्टीमरमें रवाना हुआ। यह स्टीमर कलकत्ते जानेवाला था।

स्टीमरमें मुसाफिर बहुत थे। दो अंग्रेज अधिकारी थे। उनसे मेरी मित्रता हो गई। एकके साथ रोज एक घंटा मैं शतरंज खेलनेमें बिताता था। स्टीमरके डाक्टरने मुझे एक 'तमिल-शिक्षक' पुस्तक दी। अतएव मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया। नेटालमें मैंने अनुभव किया कि मुसलमानोंके साथ अधिक निकटका सम्बन्ध जोड़नेके लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिए, और मद्रासी भाइयोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए तमिल सीखनी चाहिए।

उर्दूके लिए उक्त अंग्रेज मित्रकी माँग पर मैंने डेकके मुसाफिरोंमें से एक अच्छा मुंशी ढूँढ़ निकाला और हमारी पढ़ाई अच्छी तरह चलने लगी। उन अंग्रेज सज्जनकी स्मरण-शक्ति मुझसे बढ़ी-चढ़ी थी। उर्दू अक्षर पहचाननेमें मुझे मुश्किल होती थी, पर वह तो एक बार जिस शब्दको देख लेते उसे कभी भूलते ही न थे। मैं अधिक मेहनत करने लगा। फिर भी उनकी बराबरी नहीं कर सका।

तमिलका अभ्यास भी ठीक चलता रहा। उसमें किसीकी मदद नहीं मिल सकती थी। पुस्तक ऐसे ढंगसे लिखी गई थी कि मददकी अधिक आवश्यकता न पड़े।

मुझे आशा थी कि इस तरह शुरू किये गये अभ्यासको मैं देशमें पहुँचनेके बाद भी जारी रख सकूँगा। पर वैसा न हो पाया। सन् १८९३ के बादका मेरा वाचन और अध्ययन मुख्यतः जेलमें ही हुआ। इन दोनों भाषाओंका ज्ञान मैंने आगे बढ़ाया तो सही, पर वह सब जेलमें ही। तमिलका दक्षिण आफ्रिकाकी जेलमें और उर्दूका यरवदा जेलमें। पर तमिल बोलना मैं कभी सीख न सका; पढ़ना ठीक तरहसे सीख गया था, पर अभ्यासके अभावमें अब उसे भी भूलता जा रहा हूँ।

इस अभावका दुःख मुझे आज भी व्यथित करता है। दक्षिण आफ्रिकाके मद्रासी भाइयोंसे मैंने भर-भर कर प्रेम-रस पाया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण बना रहता है। उनकी श्रद्धा, उनका उद्योग, उनमें से बहुतोंका निःस्वार्थ त्याग किसी भी तमिल-तेलुगु भाषीको देखनेपर मुझे याद आये बिना रहता ही नहीं। और ये सब लगभग निरक्षरोंकी गिनतीमें थे। जैसे पुरुष थे वैसी ही स्त्रियाँ थीं। दक्षिण आफ्रिकाकी लड़ाई ही निरक्षरोंकी थी, और उसके योद्धा भी निरक्षर थे — वह गरीबोंकी लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे थे। इन भोले और भले भारतवासियोंका चित्त चुरानेमें मुझे भाषाकी बाधा कभी न पड़ी। उन्हें टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी और टूटी-फूटी अंग्रेजी आती थी और उससे हमारी गाड़ी चल जाती थी। पर मैं तो इस प्रेमके प्रतिदानके रूपमें तमिल-तेलुगु सीखना चाहता था। तमिल तो कुछ सीख भी ली। तेलुगु सीखनेका प्रयास हिन्दुस्तानमें किया, पर वह ककहरेके ज्ञानसे आगे

नहीं बढ़ सका। मै तमिल-तेलुगु नहीं सीख पाया और अब तो शायद ही सीख पाऊँ, इसलिए यह आशा रखे हुए हूँ कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिन्दुस्तानी भाषा सीखेंगे। दक्षिण आफ्रिकाके द्राविड़ 'मद्रासी' तो थोड़ी-बहुत हिन्दी अवश्य बोल लेते हैं। मुश्किल अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अंग्रेजीका ज्ञान हमारे लिए अपनी भाषाएँ सीखनेमें बाधारूप हो!

पर यह तो विषयान्तर हो गया। हम अपनी यात्रा पूरी करें। अभी 'पोंगोला'के कप्तानका परिचय कराना बाकी है। हम परस्पर मित्र बन गये थे। यह भला कप्तान 'प्लीमथ ब्रदरन' सम्प्रदायका था। इससे हमारे बीच नौका-शास्त्रकी बातोंकी अपेक्षा अध्यात्म-विद्याकी बातें ही अधिक हुई। वह नीति और धर्म-श्रद्धामें फर्क मानता था। उसके विचारमें बाइबिलकी शिक्षा बच्चोंका खेल था, उसकी खूबी ही उसकी सरलतामें थी; बालक, स्त्री, पुरुष सब ईसाको और उनके बलिदानको मान लें, तो उनके पाप धुल जायें। इस प्लीमथ ब्रदरने प्रिटोरियावाले ब्रदरके मेरे परिचयको ताजा कर दिया। जिस धर्ममें नीतिकी रखवाली करनी पड़े, वह धर्म उसे नीरस प्रतीत हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चाकी जड़में मेरा अन्नाहार था। मै मांस क्यों नहीं खाता? गोमांस खानेमें क्या दोष है? क्या पेड़-पौधोंकी तरह ही पशु-पक्षियोंको भी ईश्वरने मनुष्यके आहार और आनन्दके लिए नहीं सिरजा है? ऐसी प्रश्नावली आध्यात्मिक चर्चा उत्पन्न किये बिना रह ही नहीं सकती थी।

हम एक-दूसरेको अपने विचार समझा न सके। मैं अपने इस विचारमें दृढ़ था कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं। कप्तानको अपने मतके सत्य होनेमें कोई भी शंका नहीं थी।

चौबीस दिनके बाद यह आनन्दप्रद यात्रा पूरी हुई और हुगलीका सौन्दर्य निहारता हुआ मैं कलकत्ता उतरा। उसी दिन मैंने बम्बई जानेका टिकट कटाया।

२५. हिन्दुस्तानमें

कलकत्तासे बम्बई जाते हुए प्रयाग बीचमें पड़ता था। वहाँ ट्रेन ४५ मिनट रुकती थी। इस बीच मैंने शहरका एक चक्कर लगा आनेका विचार किया। मुझे केमिस्टकी दुकानसे दवा भी खरीदनी थी। केमिस्ट ऊँघता हुआ बाहर निकला। दवा देनेमें उसने काफी देर कर दी। मै स्टेशन पर पहुँचा तो गाड़ी चलती दिखाई पड़ी। भले स्टेशन मास्टरने मेरे लिए गाड़ी एक मिनट रोकी थी, पर मुझे वापस आते न देखकर उसने मेरा सामान उतरवा लेनेकी सावधानी बरती।

मैं केलनरके होटलमें ठहरा और वहींसे मैंने अपने कामका श्रीगणेश करनेका निश्चय किया। प्रयागके 'पायोनियर' पत्रकी ख्याति मैंने सुन रखी थी। मैं जानता था कि वह जनताकी आकांक्षाओंका विरोधी है। मेरा ख्याल है कि उस समय छोटे श्री चेज़नी सम्पादक थे। मुझे तो सभी पक्षवालोंसे मिलकर प्रत्येककी सहायता लेनी थी। इसलिए मैंने श्री चेज़नीको मुलाकातके लिए पत्र लिखा। ट्रेन छूट जानेकी

बात लिखकर यह सूचित किया कि अगले ही दिन मुझे प्रयाग छोड़ देना है। उत्तरमें उन्होंने मुझे तुरन्त मिलनेके लिए बुलाया। मुझे खुशी हुई। उन्होंने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी। बोले, "आप जो भी लिखकर भेजेंगे उसपर मैं तुरन्त टिप्पणी लिखूँगा।" और साथ ही यह कहा, "लेकिन मै आपसे यह नहीं कह सकता कि मैं आपकी सभी माँगोंको स्वीकार कर ही सकूँगा। हमें तो 'कलोनियल' (उपनिवेशवालोंका) दृष्टि-बिन्दु भी समझना और देखना होगा।"

मैंने उत्तर दिया, "आप इस प्रश्नका अध्ययन करेंगे और इसे चर्चाका विषय बनायेंगे, इतना ही मेरे लिए बस है। मैं शुद्ध न्यायके सिवा न तो कुछ माँगता हूँ और न कुछ चाहता हूँ।"

बाकीका दिन मैंने प्रयागके भव्य त्रिवेणी-संगमका दर्शन करनेमें और अपने सम्मुख पड़े हुए कामका विचार करनेमें बिताया। इस आकस्मिक भेंटने मुझपर नेटालमें हुए हमलेका बीज बोया।

बम्बईमें बिना रुके मैं सीधा राजकोट गया और वहाँ एक पुस्तिका लिखनेकी तैयारीमें लगा। पुस्तिका लिखने और छपानेमें लगभग एक महीना बीत गया।[१] उसका आवरण हरा था, इसलिए बादमें वह 'हरी पुस्तिका'के नामसे प्रसिद्ध हुई। उसमें दक्षिण आफ्रिकाके हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका मैंने जान-बूझकर हलका चित्रण किया था। नेटालमें लिखी हुई दो पुस्तिकाओंमें, जिनका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ मैंने जिस भाषाका प्रयोग किया था, इसमें उससे नरम भाषाका प्रयोग किया था, क्योंकि मैं जानता था कि छोटा दुःख भी दूरसे देखने पर बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका'की दस हजार प्रतियाँ छपाई गई और उन्हें सारे हिन्दुस्तानके अखबारों और सब पक्षोंके प्रसिद्ध लोगोंको भेजा। 'पायोनियर'में उसपर सबसे पहले लेख निकला। उसका सारांश विलायत गया और उस सारांशका सारांश फिर रायटरके द्वारा नेटाल पहुँचा। वह तार तो तीन पंक्तियोंका था। नेटालमें हिन्दुस्तानियोंके साथ होनेवाले व्यवहारका जो चित्र मैंने खींचा था, उसका वह लघु संस्करण था। वह मेरे शब्दोंमें नहीं था। उसका जो असर हुआ उसे हम आगे देखेंगे। धीरे-धीरे सब प्रमुख पत्रोंमें इस प्रश्नकी विस्तृत चर्चा हुई।

इस पुस्तिकाको डाकसे भेजनेके लिए इसके पैकेट तैयार करानेका काम मुश्किल था और पैसा देकर इसे कराना खर्चीला था। मैंने सरल युक्ति खोज ली। मुहल्लेके सब लड़कोंको इकट्ठा किया और उनसे सवेरेके दो-तीन घंटोंमें से जितना समय वे दे सकें उतना देनेको कहा। लड़कोंने इतनी सेवा खुशीसे स्वीकार करली। अपनी तरफसे मैंने उन्हें अपने पास जमा होनेवाले काममें आये हुए डाकके टिकट और आशीर्वाद देना कबूल किया। लड़कोंने हँसते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। इस प्रकार छोटे बच्चोंको स्वयंसेवक बनानेका यह मेरा पहला प्रयोग था। इन बालकोंमें से दो आज मेरे साथी हैं।

१. पुस्तिकाका लेखन १४-८-१८९६ को राजकोटमें समाप्त हुआ था; देखिए खण्ड २, पृष्ठ १-५९।

इन्हीं दिनों बम्बईमें पहली बार प्लेगका प्रकोप हुआ। चारों तरफ घबराहट फैल रही थी। राजकोटमें भी प्लेग फैलनेका डर था। मैंने सोचा कि मैं आरोग्य-विभागमें काम तो कर ही सकता हूँ। मैंने अपनी सेवा राज्यको अर्पण करनेके लिए पत्र लिखा। राज्यने जो कमेटी नियुक्त की उसमें मुझे भी स्थान दिया। मैंने पाखानोंकी सफाई पर जोर दिया और कमेटीने निश्चय किया कि गली-गली जाकर पाखानोंका निरीक्षण किया जाये। गरीब लोगोंने अपने पाखानोंका निरीक्षण करने देनेमें बिलकुल आनाकानी नहीं की; यही नहीं, बल्कि जो सुधार उन्हें सुझाये गये वे भी उन्होंने कर लिये। पर जब हम मुतवड्डी वर्गके यानी बड़े लोगोंके घरोंका मुआईना करने निकले, तो कई जगहोंमें तो हमें पाखानेका निरीक्षण करनेकी इजाजत तक न मिली, सुधारकी तो बात ही क्या की जाये? हमारा साधारण अनुभव यह रहा कि धनिक समाजके पाखाने ज्यादा गन्दे थे। उनमें अँधेरा, बदबू और बेहद गन्दगी थी। खुड्डीमें कीड़े बिलबिलाते थे। जीते-जी रोज नरकमें ही प्रवेश करने-जैसी वह स्थिति थी। हमारे सुझाये हुए सुधार बिलकुल साधारण थे। मैला जमीनपर न गिराकर कूंडेमें गिरायें। पानीकी व्यवस्था ऐसी की जाये कि वह जमीनमें जज्ब होनेके बदले कूंडेमें इकट्ठा हो। खुडडी और भंगीके आनेकी जगहके बीच जो दीवार रखी जाती है वह तोड़ दी जाये, जिससे भंगी सारी जगहको अच्छी तरह साफ कर सके, पाखाने कुछ बड़े हो जायें तथा उनमें हवा-उजाला पहुँच सके। बड़े लोगोंने इन सुधारोंको स्वीकार करनेमें बहुत आपत्ति की और आखिर उनपर अमल तो किया ही नहीं।

कमेटीको भंगियोंको बस्तीमें भी जाना तो था ही। कमेटीके सदस्योंमें से एक ही सदस्य मेरे साथ वहाँ जानेको तैयार हुए। भंगियोंकी बस्तीमें जाना और सो भी पाखानोंका निरीक्षण करनेके लिए। पर मुझे तो भंगियोंकी बस्ती देखकर सानन्द आश्चर्य ही हुआ। अपने जीवनमें मैं पहली ही बार उस दिन भंगी-बस्ती देखने गया था। भंगी भाई-बहनोंको हमें देखकर अचम्भा हुआ। मैंने उनके पाखाने देखनेकी इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा:

"हमारे यहाँ पाखाने कैसे? हमारे पाखाने तो जंगलमें हैं। पाखाने तो आप बड़े आदमियोंके यहाँ होते हैं।"

मैंने पूछा, "तो क्या अपने घर आप हमें देखने देंगे?"

"आइए न भाई साहब। जहाँ आपकी इच्छा हो, जाइए। ये ही हमारे घर हैं।"

मैं अन्दर गया और घरकी तथा आँगनकी सफाई देखकर खुश हो गया। घरके अन्दर सब लिपा-पुता देखा। आँगन झाड़ा-बुहारा था, और जो इने-गिने बरतन थे, वे सब साफ और चमचमाते हुए थे। मुझे इस बस्तीमें बीमारीके फैलनेका डर नहीं दिखाई दिया।

मैं यहाँ एक पाखानेका वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। हरएक घरमें नाली तो थी ही। उसमें पानी भी गिराया जाता और पेशाब भी किया जाता। इसलिए ऐसी कोठरी क्वचित् ही मिलती, जिसमें दुर्गन्ध न हो। पर एक घरमें तो सोनेके कमरेमें ही मोरी और पाखाना दोनों देखा; और घरकी वह सारी गन्दगी नालीके

रास्ते नीचे उतरती थी। उस कोठरीमें खड़ा भी नहीं रहा जा सकता था। घरके लोग उसमें सो कैसे सकते होंगे, इसे पाठक ही सोच लें।

कमेटीने हवेली (वैष्णव-मन्दिर)का भी निरीक्षण किया। हवेलीके मुखियाजीसे गांधी-परिवारका मीठा सम्बन्ध था। मुखियाजीने हवेली देखने देना और सब सम्भव सुधार करा देना स्वीकार किया। उन्होंने खुद वह हिस्सा कभी नहीं देखा था। हवेलीमें रोज जो जूठन और पत्तलें इकट्ठा होतीं, उन्हें पिछवाड़ेकी दीवारके ऊपरसे फेंक दिया जाता था। वह हिस्सा कौओं तथा चीलोंका अड्डा बन गया था। पाखाने तो गन्दे थे ही। मुखियाजीने कितना सुधार किया, सो मैं देख न सका।

हवेलीकी गन्दगी देखकर दुःख तो हुआ ही। जिस हवेलीको हम पवित्र स्थान मानते हैं, वहाँ तो आरोग्यके नियमोंका अधिक-से-अधिक पालन होनेकी आशा रखी जानी चाहिए। स्मृतिकारोंने अन्तर्बाह्य शौचपर बहुत जोर दिया है, यह बात उस समय भी मेरे ध्यानसे बाहर नहीं थी।

२६. राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा जितनी मैंने अपनेमें अनुभव की है, उतनी शायद ही मैंने दूसरेमें देखी हो। मैं देख पाता हूँ कि इस राजनिष्ठाके मूल सत्यपर मेरा स्वाभाविक प्रेम था। राजनिष्ठाका अथवा दूसरी किसी वस्तुका स्वाँग मुझसे कभी भरा ही न जा सका। नेटालमें जब मैं किसी सभामें जाता, तो वहाँ 'गाड सेव दि किंग' (ईश्वर राजाकी रक्षा करे) गीत अवश्य गाया जाता था। मैंने अनुभव किया कि मुझे भी वह गीत गाना चाहिए। ब्रिटिश राजनीतिमें दोष तो मैं तब भी देखता था, फिर भी कुल मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी लगती थी। उस समय मैं मानता था कि ब्रिटिश शासन और शासकोंका रुख मोटे तौरपर जनताका पोषण करनेवाला है।

दक्षिण आफ्रिकामें मैं इससे उलटी नीति देखता था, वर्ण-द्वेष देखता था। मैं मानता था कि यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठामें मैं अंग्रेजोंसे भी आगे बढ़ जानेका प्रयत्न करता था। मैंने लगनके साथ मेहनत करके अंग्रेजोंके राष्ट्रगीत 'गॉड सेव दि किंग'की लय सीख ली थी। जब वह सभाओंमें गाया जाता, तो मैं अपना सुर उसमें मिला दिया करता था। और भी जो अवसर आडम्बरके बिना राजनिष्ठा प्रदर्शित करनेके आते उनमें मैं सम्मिलित होता था।

इस राजनिष्ठाको अपनी पूरी जिन्दगीमें मैंने कभी भुलाया नहीं। इससे व्यक्तिगत लाभ उठानेका मैंने कभी विचार तक नहीं किया। राजभक्तिको ऋण समझकर मैंने सदा ही उसे चुकाया है।

मैं जब हिन्दुस्तान आया तब महारानी विक्टोरियाकी डायमंड जुबिली (हीरक जयन्ती) की तैयारियाँ चल रही थीं। राजकोटमें भी एक समिति बनी। मुझे उसका निमन्त्रण मिला। मैंने उसे स्वीकार किया। उसमें मुझे दम्भकी गन्ध आई। मैंने देखा कि उसमें दिखावा बहुत होता है। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। समितिमें रहने या

न रहनेका प्रश्न मेरे सामने खड़ा हुआ। अन्तमें मैंने निश्चय किया कि अपने कर्त्तव्य का पालन करके सन्तोष करूँ।

एक सुझाव यह था कि वृक्षारोपण किया जाये। इसमें मुझे दम्भ दिखाई पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि वृक्षारोपण केवल साहबोंको खुश करनेके लिए हो रहा है। मैंने लोगोंको समझानेका प्रयत्न किया कि वृक्षारोपणके लिए कोई विवश नहीं करता, वह एक सुझाव-मात्र है। वृक्ष लगाने हों तो पूरे दिलसे लगाने चाहिए, नहीं तो बिलकुल नहीं लगाने चाहिए। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसा कहता था, तो लोग मेरी बातको हँसीमें उड़ा देते थे। अपने हिस्सेका पेड़ मैंने अच्छी तरह लगाया और वह पल-पुसकर बढ़ा, इतना मुझे याद है।

'गॉड सेव दि किंग' गीत मैं अपने परिवारके बालकोंको सिखाता था। मुझे याद है कि मैंने उसे ट्रेनिंग कालेजके विद्यार्थियोंको सिखाया था। लेकिन वह यही अवसर था अथवा सातवें एडवर्डके राज्यारोहणका अवसर था, सो मुझे ठीक याद नहीं है। आगे चलकर मुझे यह गीत खटका। जैसे-जैसे अहिंसा सम्बन्धी विचार मेरे मनमें दृढ़ होते गये, वैसे-वैसे मैं अपनी वाणी और विचारों पर अधिक निगरानी रखने लगा। उस गीतमें दो पंक्तियाँ ये भी हैं:

उसके शत्रुओंका नाश कर,
उनके षड्यन्त्रोंको विफल कर।

इन्हें गाना मुझे खटका। अपने मित्र डा० बूथको[1] मैंने अपनी कठिनाई बताई। उन्होंने भी स्वीकार किया कि यह गाना अहिंसक मनुष्यको शोभा नहीं देता। शत्रु कहलाने-वाले दगा ही करेंगे, यह कैसे मान लिया जाये? यह कैसे कहा जा सकता है कि जिन्हें हमने अपने शत्रु माना वे बुरे ही होंगे? ईश्वरसे तो न्याय ही माँगा जा सकता है। डा० बूथने इस दलीलको माना। उन्होंने अपने समाजमें गानेके लिए एक नये ही गीतकी रचना की। डा० बूथका विशेष परिचय हम आगे करेंगे।

राजनिष्ठाकी तरह शुश्रूषाका गुण भी मुझमें स्वाभाविक था। यह कहा जा सकता है कि बीमारोंकी सेवा करनेका मुझे शौक था, फिर वे अपने हों या पराये।

राजकोटमें मेरा दक्षिण आफ्रिकाका काम चल रहा था, इसी बीच मैं बम्बई हो आया। खास-खास शहरोंमें सभाएँ करके विशेष रूपसे लोकमत तैयार करनेका मेरा इरादा था। इसी ख्यालसे मैं वहाँ गया था। पहले मैं न्यायमूर्ति रानडेसे मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यानसे सुनी, और मुझे सर फीरोजशाह मेहतासे मिलनेकी सलाह दी। बादमें मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। उन्होंने भी मेरी बात सुनकर वही सलाह दी और कहा: "जस्टिस रानडे और मैं आपका बहुत कम मार्गदर्शन कर सकेंगे। हमारी स्थिति तो आप जानते हैं। हम सार्वजनिक काममें हाथ नहीं बँटा सकते। पर हमारी भावना तो आपके साथ है ही। सच्चे मार्गदर्शक तो सर फीरोजशाह हैं।"

१. डर्बनके सेंट एडेन्स चर्चके पादरी।

सर फीरोजशाहसे तो मुझे मिलना ही था। पर इन दो गुरुजनोंके मुँहसे उनकी सलाहके अनुसार चलनेकी बात सुनकर मुझे इस बातका विशेष बोध हुआ कि सर फीरोजशाहका जनतापर कितना प्रभुत्व था। मैं सर फीरोजशाहसे मिला। उनके तेजसे चकाचौंध हो जानेको तो मैं तैयार था ही। उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले विशेषणोंको मैं सुन चुका था। मुझे 'बम्बईके शेर' और बम्बईके 'बेताजके बादशाह' से मिलना था। पर बादशाहने मुझे डराया नहीं। पिता जिस प्रेमसे अपने नौजवान बेटेसे मिलता है, उसी तरह वे मुझसे मिले। उनसे मुझे उनके 'चेम्बर' में मिलना था। उनके पास उनके अनुयायियोंका दरबार तो भरा ही रहता था। वाच्छा थे, कामा थे। इनसे उन्होंने मेरी पहचान कराई। वाच्छाका नाम मैं सुन चुका था। वे सर फीरोजशाहके दाहिने हाथ माने जाते थे। वीरचन्द गांधीने अंकशास्त्रीके रूपमें मुझे उनका परिचय दिया था। उन्होंने कहा, "गांधी, हम फिर मिलेंगे।"

इस सारी बातचीतमें मुश्किलसे दो मिनट लगे होंगे। सर फीरोजशाहने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजीसे मिल चुकनेकी बात भी मैंने उन्हें बतला दी। उन्होंने कहा : "गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी। मुझे तुम्हारी मदद करनी चाहिए।" फिर अपने मुहर्रिरकी ओर मुड़े और उसे सभाका दिन निश्चित करनेको कहा। दिन निश्चित करके मुझे बिदा किया। सभासे एक दिन पहले आकर मिलनेकी आज्ञा की। मैं निर्भय होकर मन ही मन खुश होता हुआ घर लौटा।

बम्बईकी इस यात्रामें मैं वहाँ रहनेवाले अपने बहनोईसे मिलने गया। वे बीमार थे। घरमें गरीबी थी। अकेली बहनसे[1] उनकी सेवा-शुश्रूषा हो नहीं पाती थी। बीमारी गम्भीर थी। मैंने उन्हें अपने साथ राजकोट चलनेको कहा। वे राजी हो गये। बहन-बहनोईको लेकर मैं राजकोट पहुँचा। बीमारी अपेक्षासे अधिक गम्भीर हो गई। मैंने उन्हें अपने कमरेमें रखा। मैं सारा दिन उनके पास ही रहता था। रातमें भी जागना पड़ता था। उनकी सेवा करते हुए मैं दक्षिण आफ्रिकाका काम कर रहा था। बहनोईका स्वर्गवास हो गया। पर उनके अन्तिम दिनोंमें उनकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिला, इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

शुश्रूषाके मेरे इस शौकने आगे चलकर विशाल रूप धारण कर लिया। वह भी इस हद तक कि उसे करते हुए मैं अपना धन्धा छोड़ देता था। अपनी धर्मपत्नीको और सारे परिवारको भी उसमें लगा देता था।

इस वृत्तिको मैंने शौक कहा है, क्योंकि मैंने देखा है कि जब ये गुण आनन्ददायक हो जाते हैं, तभी निभ सकते हैं। खींच-तानकर अथवा दिखावेके लिए या लोकलाजके कारण की जानेवाली सेवा आदमीको कुचल देती है और ऐसी सेवा करते हुए आदमी मुरझा जाता है। जिस सेवामें आनन्द नहीं मिलता, वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको रुचिकर लगती है। जिस सेवामें आनन्द मिलता है, उस सेवाके सम्मुख ऐश-आराम या धनोपार्जन इत्यादि कार्य तुच्छ प्रतीत होते हैं।

१. रलियातबहन।

२७. बम्बईमें सभा

बहनोईके देहान्तके दूसरे ही दिन मुझे बम्बईकी सभाके लिए जाना था। सार्वजनिक सभाके लिए भाषणकी बात सोचने योग्य समय मुझे मिला नहीं था। लम्बे जागरणकी थकावट मालूम हो रही थी। आवाज भारी हो गई थी। ईश्वर जैसे-तैसे मुझे निबाह लेगा, यह सोचता हुआ मैं बम्बई पहुँचा। भाषण लिखनेकी बात तो मैंने सपनेमें भी नहीं सोची थी।

सभाकी तारीखके एक दिन पहले शामको पाँच बजे आज्ञानुसार मै सर फीरोज-शाहके दफ्तरमें हाजिर हुआ।

उन्होंने पूछा, "गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है?"

मैंने डरते-डरते उत्तर दिया, "जी नहीं, मैंने तो जबानी ही बोलनेकी बात सोच रखी है।"

"बम्बईमें यह नहीं चलेगा। यहाँका रिपोर्टिंग खराब है। यदि सभासे हमें कुछ फायदा उठाना हो तो तुम्हारा भाषण लिखा हुआ ही होना चाहिए और वह रातों-रात छप जाना चाहिए। भाषण रात ही में लिख सकोगे न?"

मैं घबराया। पर मैंने लिखनेका प्रयत्न करनेकी हामी भरी।

बम्बईके सिंह बोले, "तो मुंशी तुम्हारे पास भाषण लेने कब पहुँचे?"

मैंने उत्तर दिया, "ग्यारह बजे।"

सर फीरोजशाहने अपने मुंशीको उस वक्त भाषण प्राप्त करके रातों-रात छपा लेनेका हुक्म दिया और मुझे बिदा किया।

दूसरे दिन मैं सभामें गया। वहाँ मैं यह अनुभव कर सका कि भाषण लिखनेका आग्रह करनेमें कितनी बुद्धिमानी थी। फरामजी कावसजी इन्स्टिट्यूटके हालमें सभा थी। मैंने सुन रखा था कि जिस सभामें सर फीरोजशाह बोलनेवाले हों, उस सभामें खड़े रहनेको जगह नहीं मिलती। ऐसी सभाओंमें विद्यार्थी-समाज खास रस लेता था। ऐसी सभाका मेरा यह पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज कोई सुन न सकेगा। मैंने काँपते-काँपते भाषण[1] पढ़ना शुरू किया। सर फीरोजशाह मुझे प्रोत्साहित करते जाते थे। "जरा और ऊँची आवाजसे," यों कहते जाते थे। मुझे कुछ ऐसा ख्याल है कि इस प्रोत्साहनसे मेरी आवाज और धीमी पड़ती जाती थी।

पुराने मित्र केशवराव देशपाण्डे मेरी मददको बढ़े। मैंने भाषण उनके हाथमें दिया। उनकी आवाज तो अच्छी थी, पर श्रोतागण क्यों सुनने लगे? 'वाच्छा', 'वाच्छा' की पुकारसे हाल गूंज उठा। वाच्छा उठे। उन्होंने देशपाण्डेके हाथसे कागज ले लिया और मेरा काम बन गया। सभामें तुरन्त शान्ति छा गई और अथसे इति तक सभाने भाषण सुना। प्रथाके अनुसार जहाँ जरूरी था वहाँ 'शेम-शेम' (धिक्कार-धिक्कार)की और तालियोंकी आवाज भी होती रही। मुझे खुशी हुई।

१. भाषणकी छपी प्रति उपलब्ध नहीं है। समाचारपत्रोंमें भाषणके विवरणके लिये देखिए खण्ड २, पृष्ठ ७७-९०।

सर फीरोजशाहको मेरा भाषण अच्छा लगा। मुझे गंगा नहानेका-सा सन्तोष हुआ।

इस सभाके परिणामस्वरूप देशपाण्डे और एक पारसी सज्जनकी इच्छा हुई और दोनोंने मेरे साथ दक्षिण आफ्रिका जानेका अपना निश्चय प्रकट किया। पारसी सज्जन आज एक सरकारी पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए मैं डरता हूँ। उनके निश्चयको सर खुरशेदजीने डिगा दिया, और उस डिगनेके मूलमें एक पारसी बहन थी। उनके सामने प्रश्न था: ब्याह करें या दक्षिण आफ्रिका जायें? उन्होंने ब्याह करना अधिक उचित समझा। पर इन पारसी मित्रकी ओरसे पारसी रुस्तमजीने प्रायश्चित्त किया, और पारसीबहनकी तरफका प्रायश्चित्त दूसरी पारसी बहनें सेविकाका काम करके और खादीके पीछे वैराग्य लेकर कर रही हैं। इसलिए इस दम्पतीको मैंने क्षमा कर दिया है। देशपाण्डेके सामने ब्याहका प्रलोभन न था, पर वे नहीं आ सके। उसका प्रायश्चित्त तो वे खुद ही कर रहे हैं। वापस दक्षिण आफ्रिका जाते समय जंजीबारमें तैयबजी नामके एक सज्जन मिले थे। उन्होंने भी आनेकी आशा बँधाई थी। पर वे दक्षिण आफ्रिका क्यों आने लगे? उनके न आनेके अपराधका बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं। बैरिस्टर मित्रोंको दक्षिण आफ्रिका आनेके लिए ललचानेके मेरे प्रयत्न इस प्रकार निष्फल हुए।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाहकी याद आ रही है। उनके साथ विलायतसे ही मेरा मीठा सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजीसे मेरा परिचय लन्दनके एक अन्नाहारी भोजनालयमें हुआ था। मैं जानता था कि उनके भाई बरजोरजी 'दीवाना' के नामसे प्रख्यात थे। मैं उनसे मिला नहीं था, पर मित्र-मण्डलीका कहना था कि वे 'सनकी' हैं। घोड़ेपर दया करके ट्राममें नहीं बैठते थे। शतावधानीके समान स्मरणशक्ति होते हुए भी डिग्रियाँ नहीं लेते थे। स्वभावके इतने स्वतन्त्र कि किसीसे भी दबते न थे। और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी थे! पेस्तनजी ठीक वैसे नहीं माने जाते थे पर उनकी होशियारी प्रसिद्ध थी। उनकी यह ख्याति विलायतमें भी थी। किन्तु हमारे बीचके सम्बन्धका मूल तो उनका अन्नाहार था। उनकी बुद्धिमत्ताकी बराबरी करना मेरी शक्तिके बाहर था।

बम्बईमें मैंने पेस्तनजीको खोज निकाला। वे हाईकोर्टके प्रोथोनोटरी (मुख्य लेखक) थे। मैं जब मिला तब वे बृहत् गुजराती शब्दकोशके काममें लगे हुए थे। दक्षिण आफ्रिकाके काममें मदद माँगनेकी दृष्टिसे मैंने एक भी मित्रको छोड़ा नहीं था। पेस्तनजी पादशाहने तो मुझे भी दक्षिण आफ्रिका न जानेकी सलाह दी। बोले:

"मुझसे आपकी मदद तो क्या होगी? पर मुझे आपका दक्षिण आफ्रिका लौटना ही पसन्द नहीं है। यहाँ अपने देशमें ही कौन कम काम है? देखिए, अपनी भाषाकी ही सेवाका कितना बड़ा काम पड़ा है? मुझे विज्ञान-सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दोंके पर्याय ढूँढ़ने हैं। यह तो एक ही क्षेत्र हुआ। देशकी गरीबीका विचार कीजिए। दक्षिण आफ्रिकामें हमारे भाई कष्टमें अवश्य हैं, पर उसमें आपके जैसे आदमीका खप जाना मैं सहन नहीं कर सकता। यदि हम यहाँ अपने हाथमें राजसत्ता ले लें,

तो वहाँ उनकी मदद अपने-आप हो जायेगी। आपको तो मैं समझा नहीं सकता, पर आपके-जैसे दूसरे सेवकोंको आपके साथ करानेमें मैं कभी मदद नहीं करूँगा।"

मुझे ये वचन अच्छे न लगे। पर पेस्तनजी पादशाहके प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देशप्रेम और भाषा-प्रेम देखकर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रसंगसे हमारे बीचकी प्रेमगाँठ अधिक पक्की हो गई। मैं उनके दृष्टिकोणको अच्छी तरह समझ गया। पर मुझे लगा कि दक्षिण आफ्रिकाका काम छोड़नेके बदले उनकी दृष्टिसे भी मुझे उसमें अधिक जोरसे लगे रहना चाहिए। देशभक्तको देशसेवाके एक भी अंगकी यथासम्भव उपेक्षा नहीं करनी चाहिए और मेरे लिए तो गीताका यह श्लोक तैयार ही था :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (३, ३५)

ऊँचे परधर्मसे नीचा स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्ममें मौत भी अच्छी है, परधर्म तो भयावह है।

२८. पूना और मद्रास

सर फीरोजशाह मेहताने मेरा मार्ग सरल कर दिया था। बम्बईसे मैं पूना गया।[१] मुझे मालूम था कि पूनामें दो दल थे। मुझे तो सबकी मददकी जरूरत थी। मैं लोकमान्य तिलकसे मिला। उन्होंने कहा :

"सब पक्षोंकी मदद लेनेका आपका विचार बिलकुल ठीक है। आपके मामलेमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। लेकिन आपके लिए तटस्थ सभापति चाहिए। आप प्रो० भाण्डारकरसे मिलिए। वे आजकल किसी आन्दोलनमें सम्मिलित नहीं होते। पर सम्भव है कि इस कामके लिए आगे आ जायें। उनसे मिलनेके बाद मुझे सूचित कीजिए, क्या हुआ। मैं आपकी पूरी मदद करना चाहता हूँ। आप प्रो० गोखलेसे तो मिलेंगे ही। मेरे पास आप जब आना चाहें, निःसंकोच आइए।"

लोकमान्यका यह मेरा प्रथम दर्शन था। मैं उनकी लोकप्रियताका कारण तुरन्त समझ गया।

यहाँसे मैं गोखलेके पास गया। वे फर्ग्यूसन कालेजमें थे। मुझसे बड़े प्रेमसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनसे भी मेरा यह पहला ही परिचय था। पर ऐसा जान पड़ा, मानो हम पहले मिल चुके हों। सर फीरोजशाह मुझे हिमालय जैसे, लोकमान्य समुद्र-जैसे और गोखले गंगा-जैसे लगे। मैं गंगामें नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ा नहीं जा सकता था। समुद्रमें डूबनेका डर था। गंगाकी गोदमें तो खेला जा सकता था। उसमें डोंगियाँ लेकर सैर की जा सकती थी। गोखलेने बारीकीसे

१. पूना यात्राके अन्य विवरणोंके लिए देखिए खण्ड २९ पृष्ठ ४१-३ और खण्ड २०, पृष्ठ ३८२-८६।

मेरी जाँच की — उसी तरह, जिस तरह स्कूलमें भरती होते समय किसी विद्यार्थी की की जाती है। उन्होंने मुझे बताया कि मैं किस-किससे और कैसे मिलूँ और मेरा भाषण देखनेको माँगा। मुझे कालेजकी व्यवस्था दिखाई। जब जरूरत हो तब फिर मिलनेको कहा। डा० भाण्डारकरके जवाबकी खबर देनेको कहा और मुझे विदा किया। राजनीतिके क्षेत्रमें जो स्थान गोखलेने जीते-जी मेरे हृदयमें प्राप्त किया, और स्वर्गवासके बाद आज भी जो स्थान उन्हें प्राप्त है, वह और कोई पा नहीं सका।

रामकृष्ण भाण्डारकरने मेरा वैसा ही स्वागत किया, जैसा कोई बाप बेटेका करता है। उनके यहाँ गया तब दुपहरीका समय था। ऐसे समयमें भी मैं अपना काम कर रहा था, यह चीज ही उस उद्यमी शास्त्रज्ञको प्यारी लगी। और तटस्थ सभापतिके लिए मेरे आग्रहकी बात सुनकर 'देट्स इट, देट्स इट' (यही ठीक है, यही ठीक है)के उद्‌गार उनके मुँहसे सहज ही निकल पड़े।

बातचीतके अन्तमें वे बोले, "तुम किसीसे भी पूछोगे तो वह बतलायेगा कि आजकल मैं किसी राजनीतिक काममें हिस्सा नहीं लेता हूँ, पर तुम्हें मैं खाली हाथ नहीं लौटा सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है, और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभामें आनेसे इनकार कर ही नहीं सकता। यह अच्छा हुआ कि तुम श्री तिलक और श्री गोखलेसे मिल लिये। उनसे कहो कि मैं दोनों पक्षों द्वारा बुलाई गई सभामें खुशीसे आऊँगा और सभापति-पद स्वीकार करूँगा। समयके बारेमें मुझसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। दोनों पक्षोंको जो समय अनुकूल होगा, मुझे वह अनुकूल होगा।" यों कहकर उन्होंने धन्यवाद और आशीर्वादके साथ मुझे विदा किया।

बिना किसी हो-हल्ले और आडम्बरके एक सादे मकानमें पूनाकी इस विद्वान और त्यागी मण्डलीने सभा की और मुझे सम्पूर्ण प्रोत्साहनके साथ विदा किया।

वहाँसे मैं मद्रास गया। मद्रास तो पागल हो उठा। बालासुन्दरम्‌के किस्सेका सभापर गहरा असर पड़ा। मेरे लिए मेरा भाषण[1] अपेक्षाकृत लम्बा था। पूरा छपा हुआ था। पर सभाने उसका एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक सुना। सभाके अन्तमें उस 'हरी पुस्तिका' पर लोग टूट पड़े। मद्रासमें संशोधन और परिवर्धनके साथ उसकी दस हजारकी दूसरी आवृत्ति छपाई थी। उसका अधिकांश निकल गया। पर मैंने देखा कि दस हजारकी जरूरत नहीं थी। मैंने लोगोंके उत्साहका कुछ अधिक अन्दाज लगा लिया था। मेरे भाषणका प्रभाव तो अंग्रेजी जाननेवाले समाज पर ही पड़ा था। उस समाजके लिए अकेले मद्रास शहरमें दस हजार प्रतियोंकी आवश्यकता नहीं हो सकती थी।

यहाँ मुझे सबसे अधिक मदद स्व० जी० परमेश्वरन् पिल्लेसे मिली। वे 'मद्रास स्टैंडर्ड'के सम्पादक थे। उन्होंने इस प्रश्नका अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे मुझे अपने दफ्तरमें समय-समय पर बुलाते और मेरा मार्गदर्शन करते रहते थे। 'हिन्दू'के जी० सुब्रह्मण्यम्‌से भी मैं मिला था। उन्होंने और डा० सुब्रह्मण्यम्‌ने भी पूरी सहानुभूति

१. देखिए खण्ड २, पृष्ठ १०१-२३।

दिखाई थी। पर जी० परमेश्वरन् पिल्लेने तो मुझे इस कामके लिए अपने समाचार-पत्रका मनचाहा उपयोग करनेको कहा, और मैंने निःसंकोच उसका उपयोग किया भी। सभा पाच्याप्पा हालमें हुई थी और मेरा ख्याल है कि डा० सुब्रह्मण्यम् उसके सभापति बने थे।

मद्रासमें सबके साथ विशेषकर अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था, फिर भी मैंने बहुतोंसे इतना प्रेम और उत्साह पाया कि मुझे घर-जैसा ही लगा। प्रेम किन बन्धनों को नहीं तोड़ सकता?

२९. 'जल्दी लौटिए'

मद्राससे मैं कलकत्ते गया। कलकत्तेमें मेरी कठिनाइयोंका पार न रहा। वहाँ मैं 'ग्रेट ईस्टर्न' होटलमें ठहरा। किसीसे जान-पहचान नहीं थी। होटलमें 'डेली टेलीग्राफ' के प्रतिनिधि श्री एलर थार्पसे पहिचान हुई। वे बंगाल क्लबमें रहते थे। उन्होंने मुझे वहाँ आनेके लिए न्योता। उस समय उन्हें पता नही था कि होटलके दीवानखानेमें किसी हिन्दुस्तानीको नहीं ले जाया जा सकता। बादमें उन्हें इस प्रतिबन्धका पता चला। इससे वे मुझे अपने कमरेमें ले गये। हिन्दुस्तानियोंके प्रति स्थानीय अंग्रेजोंका तिरस्कार देखकर उन्हें खेद हुआ। मुझे दीवानखानेमें न ले जानेके लिए उन्होंने क्षमा माँगी।

'बंगालके आराध्य देव' सुरेन्द्रनाथ बेनर्जीसे तो मुझे मिलना ही था। उनसे मिला। जब मैं मिला, उनके आसपास दूसरे मिलनेवाले भी बैठे थे। उन्होंने कहा:

"मुझे डर है कि लोग आपके काममें रस नहीं लेंगे। आप देखते हैं कि देशमें ही कुछ कम विडम्बनाएँ नहीं हैं। फिर भी आपसे जो हो सके अवश्य कीजिए। इस काममें आपको महाराजाओंकी मददकी जरूरत होगी। आप ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशनके प्रतिनिधियोंसे मिलिए; राजा सर प्यारीमोहन मुखर्जी और महाराजा टैगोरसे भी मिलियेगा। दोनों उदार वृत्तिके हैं, और सार्वजनिक कामोंमें काफी हिस्सा लेते हैं।"

मैं इन सज्जनोंसे मिला। वहाँ मेरी दाल न गली। दोनोंने कहा, "कलकत्तेमें सार्वजनिक सभा करना आसान काम नहीं है। पर करनी ही हो, तो उसका बहुत-कुछ आधार सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी पर होगा।"

मेरी कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही थीं। मैं 'अमृतबाजार पत्रिका' के कार्यालयमें गया। वहाँ भी जो सज्जन मुझे मिले उन्होंने यह मान लिया था कि मैं कोई रमता-राम हूँ। 'बंगवासी' ने तो हद कर दी। मुझे एक घंटे तक बैठाये रखा। सम्पादक महोदय दूसरोंके साथ बातचीत करते जाते थे। लोग आते-जाते रहते थे, पर सम्पादकजी मेरी तरफ देखते भी न थे। एक घंटे तक राह देखनेके बाद जब मैंने अपनी बात छेड़ी, तो उन्होंने कहा, "आप देखते नहीं हैं, हमारे पास कितना काम पड़ा है? आप-जैसे तो कई हमारे यहाँ आते रहते हैं। आप वापस जायें यही अच्छा है।

हमें आपकी बात नहीं सुननी है।" मुझे क्षण-भर दुःख तो हुआ, पर मैं सम्पादकका दृष्टिकोण समझ गया। 'बंगवासी' की ख्याति मैंने सुन रखी थी। सम्पादकके पास लोग आते-जाते रहते हैं, यह भी मैं देख सका था। वे सब उनके परिचित थे। उनका अखबार हमेशा भरा-पूरा रहता था। उस समय दक्षिण आफ्रिकाका नाम भी कोई मुश्किलसे जानता था।

नित नये आदमी अपने दुखड़े लेकर आते ही रहते थे। उनके लिए तो अपना दुःख बड़ी-से-बड़ी समस्या होती, पर सम्पादकके पास ऐसे दुखियोंकी भीड़ लगी रहती थी। वह बेचारा सबके लिए क्या कर सकता था? पर दुखियाकी दृष्टिमें सम्पादककी सत्ता बड़ी चीज होती है, हालाँकि सम्पादक स्वयं तो जानता है कि उसकी सत्ता उसके दफ्तरकी दहलीज भी नहीं लांघ पाती। मैं हारा नहीं। दूसरे सम्पादकोंसे मिलता रहा। अपने रिवाजके अनुसार मैं अंग्रेजोंसे भी मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण आफ्रिकाके सवालका महत्व समझते थे। उन्होंने लम्बी मुलाकातें छापीं।[1]

'इंग्लिशमैन' के श्री सांडर्सने मुझे अपनाया। मुझे उनके दफ्तर और अखबारका उपयोग करनेकी पूरी अनुकूलता प्राप्त हो गई। उन्होंने अपने अग्रलेखमें काटछाँट करनेकी भी छूट मुझे दे दी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे बीच स्नेहका सम्बन्ध हो गया। उन्होंने मुझे वचन दिया कि जो मदद उनसे हो सकेगी, वे करते रहेंगे। मेरे दक्षिण आफ्रिका लौट जानेपर भी उन्होंने मुझसे पत्र लिखते रहनेको कहा और वचन दिया कि स्वयं उनसे जो-कुछ हो सकेगा, वे करेंगे। मैंने देखा कि इस वचनका उन्होंने अक्षरशः पालन किया, और जब तक वे बहुत बीमार नहीं हो गये, मुझसे पत्र-व्यवहार करते रहे।

मेरे जीवनमें ऐसे अनचीते मीठे सम्बन्ध अनेक जुड़े हैं। श्री सांडर्सको मेरी जो बात अच्छी लगी, वह थी अतिशयोक्तिका अभाव और सत्यपरायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करनेमें कोई कसर नहीं रखी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण आफ्रिकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्ष भावसे रखनेमें और भारतीय पक्षसे उसकी तुलना करनेमें मैंने कोई कमी नहीं रखी थी।

मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि प्रतिपक्षीको न्याय देकर हम जल्दी न्याय पा जाते हैं।

इस प्रकार मुझे अनसोची मदद मिल जानेसे कलकत्तेमें भी सार्वजनिक सभा होनेकी आशा बँधी। इतनेमें डर्बनसे तार मिला: "पार्लियामेंट जनवरीमें बैठेगी। जल्दी लौटिए।"

इससे अखबारोंमें एक पत्र[2] लिखकर मैंने तुरन्त लौट जानेकी जरूरत जता दी और कलकत्ता छोड़ा। दादा अब्दुल्लाके बम्बईके एजेंटको तार दिया कि पहले स्टीमरसे मेरे जानेकी व्यवस्था करें। दादा अब्दुल्लाने स्वयं 'कूरलैंड' नामका स्टीमर खरीद

१. देखिए खण्ड २, पृष्ठ १३५-१३८ और १४२-४७।
२. देखिए खण्ड २, पृष्ठ १३८-४२।

लिया था। उन्होंने उसमें मुझे और मेरे परिवारको मुफ्त ले जानेका आग्रह किया। मैंने उसे धन्यवाद-सहित स्वीकार कर लिया और दिसम्बरके आरम्भमें मैं 'कूरलैंड' स्टीमरसे अपनी धर्मपत्नी, दो लड़कों और अपने स्व० बहनोईके एकमात्र लड़केको[१] लेकर दूसरी बार दक्षिण आफ्रिकाके लिए रवाना हुआ। इस स्टीमरके साथ ही दूसरा 'नादरी' स्टीमर भी डर्बनके लिए रवाना हुआ। दादा अब्दुल्ला उसके एजेंट थे। दोनों स्टीमरोंमें[२] कुल मिलाकर करीब ८०० हिन्दुस्तानी यात्री रहे होंगे। उनमें आधेसे अधिक लोग ट्रान्सवाल जानेवाले थे।

तीसरा भाग

१. तूफानकी आगाही

कुटुम्बके साथ यह मेरी पहली समुद्री यात्रा थी। मैंने कितनी ही बार लिखा है कि हिन्दू समाजमें ब्याह बचपनमें होनेके कारण और मध्यम श्रेणीके लोगोंमें पतिके प्रायः साक्षर और पत्नीके निरक्षर होनेके कारण पति-पत्नीके जीवनमें अन्तर रहता है और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्मपत्नी और बालकोंकी वेश-भूषाकी, खाने-पीनेकी और बोलचालकी सँभाल रखनी होती थी। मुझे उन्हें रीति-रिवाज सिखाने होते थे। उन दिनोंकी कितनी ही बातोंकी याद करके मुझे आज भी हँसी आ जाती है।

हिन्दू पत्नी पति-परायणतामें अपने धर्मकी पराकाष्ठा मानती है; हिन्दू पति अपनेको पत्नीका ईश्वर मानता है। इसलिए पत्नीको पति जैसा नचाये वैसा नाचना होता है।

जिस समयकी बात लिख रहा हूँ, उस समय मैं मानता था कि सभ्य माने जानेके लिए हमारा बाहरी आचार-व्यवहार यथासम्भव यूरोपीयोंसे मिलता-जुलता होना चाहिए। ऐसा करनेसे ही लोगों पर प्रभाव पड़ता है, और बिना प्रभाव पड़े देश-सेवा नहीं हो सकती।

इस कारण पत्नीकी और बच्चोंकी वेश-भूषा मैंने ही पसन्द की। स्त्री-बच्चोंका परिचय काठियावाड़ी बनियोंके रूपमें कराना मुझे कैसे अच्छा लगता? भारतीयोंमें पारसी अधिक-से-अधिक सुधरे हुए माने जाते थे। अतएव जहाँ यूरोपीय पोशाकका अनुकरण करना अनुचित प्रतीत हुआ, वहाँ पारसी पोशाक अपनाई। पत्नीके लिए साड़ियाँ पारसी बहनोंके ढंगकी खरीदीं। बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून खरीदे। सबके लिए बूट और मोजे तो जरूरी थे ही। पत्नी और बच्चोंको दोनों चीजें कई महीने तक पसन्द नहीं पड़ीं। जूते काटते। मोजे बदबू करते। पैर सूज जाते। लेकिन

१. गोकुलदास।

२. एस० एस० नादरी बम्बईसे २८-११-१८९६ को और एस० एस० कूरलैंड ३०-११-१८९६ को रवाना हुए थे।

इन सारी अड़चनोंके जवाब मेरे पास तैयार थे। उत्तरकी योग्यताकी अपेक्षा आज्ञाका बल तो अधिक था ही। इसलिए पत्नी और बालकोंने पोशाकके फेरफारको लाचारीसे स्वीकार कर लिया। उतनी ही लाचारी और उससे भी अधिक अरुचिसे खानेमें उन्होंने छुरी-काँटेका उपयोग शुरू किया। बादमें जब मेरा मोह दूर हुआ, तो उन्होंने बूट-मोजे, छुरी-काँटे इत्यादिका त्याग किया। शुरूमें जिस तरह ये परिवर्तन दुःखदायक थे, उसी तरह आदत पड़नेके बाद उनका त्याग भी कष्टप्रद था। पर आज तो मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारोंकी कैंचुली उतारकर हलके हो गये हैं।

इसी स्टीमरमें दूसरे कुछ रिश्तेदार और जान-पहचानवाले भी थे। मैं उनसे और डेकके दूसरे यात्रियोंसे भी खूब मिलता-जुलता रहता था। क्योंकि स्टीमर मेरे मुवक्किल और मित्रका था, इसलिए वहाँ घर जैसा लगता था, और मै हर जगह आजादीसे घूम-फिर सकता था।

स्टीमर दूसरे बन्दरगाहों पर ठहरे बिना सीधा नेटाल पहुँचनेवाला था। इसलिए केवल अठारह दिनकी यात्रा थी। हमारे पहुँचनेमें तीन-चार दिन बाकी थे कि इतनेमें समुद्रमें भारी तूफान उठा, मानो वह हमारे पहुँचते ही उठनेवाले तूफानकी हमें चेतावनी दे रहा हो! इस दक्षिणी प्रदेशमें दिसम्बरका महीना गरमी और वर्षाका महीना होता है, इसलिए दक्षिण समुद्रमें इन दिनों छोटे-मोटे तूफान तो उठते ही रहते हैं। लेकिन यह तूफान इतने जोरका था और इतनी देर तक रहा कि यात्री घबरा उठे। वह भव्य दृश्य था। दुःखमें सब एक हो गये। सारे भेद-भाव भूल गये। ईश्वरको हृदयपूर्वक याद करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर भगवान्का स्मरण करने लगे। कुछ लोगोंने मनौतियाँ मानीं। कप्तान भी यात्रियोंसे मिला-जुला और सबको आश्वासन देते हुए बोला, "यद्यपि यह तूफान बहुत जोरका माना जा सकता है, तो भी इससे कहीं ज्यादा जोरके तूफानोंका मैंने स्वयं अनुभव किया है। स्टीमर मजबूत हो तो अचानक डूबता नहीं है।" इस प्रकार उसने यात्रियोंको बहुत-कुछ समझाया, पर इससे उन्हें तसल्ली न हुई। स्टीमरमें आवाजें ऐसी होती थीं, मानो अभी कहींसे टूट जायेगा, अभी कहीं छेद हो जायेगा। जब वह हचकोले खाता तो ऐसा लगता, मानो अभी उलट जायेगा। डेक पर तो कोई रह ही कैसे सकता था? सबके मुँहसे एक ही बात सुनाई पड़ती थी, "जैसी भगवानकी मर्जी।" जहाँ तक मुझे याद है, इस चिन्तामें चौबीस घंटे बीते होंगे। आखिर बादल बिखरे। सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तानने कहा, "तूफान चला गया है।" लोगोंके चेहरों परसे चिन्ता दूर हुई, और उसीके साथ ईश्वर भी लुप्त हो गया। लोग मौतका डर भूल गये और तत्काल ही गाना-बजाना तथा खाना-पीना शुरू हो गया। फिर मायाका आवरण छा गया। लोग नमाज पढ़ते और भजन भी गाते, पर तूफानके समय उनमें जो गम्भीरता दीख पड़ी वह चली गई थी!

पर इस तूफानने मुझे यात्रियोंके साथ ओतप्रोत कर दिया था। कहा जा सकता है कि मुझे तूफानका डर न था अथवा कमसे-कम था। लगभग ऐसे ही तूफानका अनुभव मैं कर चुका था। यात्राके दौरान मुझपर न तो समुद्रका कुप्रभाव पड़ता

था, न चक्कर आते थे। इसलिए मै यात्रियोंमें निर्भय होकर घूम सकता था, उन्हें हिम्मत बँधा सकता था और कप्तानकी भविष्य-वाणियाँ उन्हें सुनाता रहता था। यह स्नेह-गाँठ मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

हमने अठारह या उन्नीस दिसम्बरको डर्बनमें लंगर डाला। 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा।

पर वास्तविक तूफानका अनुभव तो अभी होना बाकी था।

२. तूफान

अठारह दिसम्बरके आसपास दोनों स्टीमरोंने लंगर डाले। दक्षिण आफ्रिकाके बन्दरगाहोंमें यात्रियोंके स्वास्थ्यकी पूरी जाँच की जाती है। यदि रास्तेमें किसीको कोई छूतवाली बीमारी हुई हो तो स्टीमरको सूतकमें — क्वारंटीनमें — रखा जाता है। हमारे बम्बई छोड़ते समय वहाँ प्लेगकी शिकायत थी, इसलिए हमें इस बातका डर जरूर था कि सूतककी कुछ बाधा होगी। बन्दरमें लंगर डालनेके बाद स्टीमरको सबसे पहले पीला झण्डा फहराना होता है। डाक्टरी जाँचके बाद डाक्टरके मुक्ति देने पर पीला झण्डा उतरता है और फिर यात्रियोंके रिश्तेदारों आदिको स्टीमरपर आनेकी इजाजत मिलती है।

तदनुसार हमारे स्टीमर पर भी पीला झण्डा फहरा रहा था। डाक्टर आये। जाँच करके उन्होंने पाँच दिनका सूतक घोषित किया, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेगके कीटाणु तेईस दिन तक जिन्दा रह सकते हैं। इसलिए उन्होंने आदेश दिया कि बम्बई छोड़नेके बाद तेईस दिनकी अवधि पूरी होने तक स्टीमरोंको सूतकमें रखा जाये। पर इस सूतककी आज्ञाका हेतु केवल स्वास्थ्य-रक्षा न था।

डर्बनके गोरे नागरिक हमें उलटे पैरों लौटा देनेका जो आन्दोलन कर रहे थे, वह भी इस आज्ञाके मूलमें एक कारण था। दादा अब्दुल्लाकी तरफसे हमें शहरमें चल रहे इस आन्दोलनकी खबरें मिलती रहती थीं। गोरे लोग एकके बाद एक विराट सभाएँ कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाके नाम धमकियाँ भेजते थे, उन्हें लालच भी देते थे। अगर दादा अब्दुल्ला दोनों स्टीमरोंको वापस ले जायें, तो गोरे नुकसान की भरपाई करनेको तैयार थे। दादा अब्दुल्ला किसीकी धमकीसे डरनेवाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अब्दुल करीम हाजी आदम दुकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि कितना ही नुकसान क्यों न उठाना पड़े, वे स्टीमरको बन्दर पर लायेंगे और यात्रियोंको उतारेंगे। मेरे नाम उनके विस्तृत पत्र बराबर आते थे। सौभाग्यसे इस समय स्व० मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझसे मिलनेके लिए डर्बन आ पहुँचे थे। वे होशियार और बहादुर आदमी थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी कौमको नेक सलाह दी। श्री लाटन वकील थे। वे भी वैसे ही बहादुर थे। उन्होंने गोरोंकी करतूतोंकी निन्दा की और इस अवसर पर कौमको जो सलाह दी, वह सिर्फ वकीलके नाते पैसे लेकर नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्रके नाते दी।

इस प्रकार डर्बनमें द्वन्द्व-युद्ध छिड़ गया। एक ओर मुट्ठी-भर गरीब हिन्दुस्तानी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र थे; दूसरी ओर धनबल, बाहुबल, विद्याबल और संख्याबलमें भरे-पूरे अंग्रेज थे। इन बलवान प्रतिपक्षियोंको राज्यका बल भी प्राप्त हो गया था, क्योंकि नेटालकी सरकारने खुल्लमखुल्ला उनकी मदद की थी। श्री हेरी एस्कम्बने, जो मन्त्रिमण्डलमें थे और उनके कर्त्ताधर्ता थे, इन गोरोंकी सभाओंमें प्रकट रूपसे हिस्सा लिया।

मतलब यह कि हमारा सूतक केवल स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंके ही कारण न था। उसका हेतु किसी भी तरह एजेंटको अथवा यात्रियोंको दबाकर हमें वापस भेजना था। एजेंटको तो धमकी मिलती ही थी। अब हमारे नाम भी धमकियाँ आने लगीं: "अगर तुम वापस न गये तो तुम्हें समुद्रमें डुबो दिया जायेगा। लौट जाओगे तो शायद लौटनेका भाड़ा भी तुम्हें मिल जाये।" मैं यात्रियोंके बीच खूब घूमा-फिरा। उन्हें धीरज बँधाया। 'नादरी' के यात्रियोंको भी धीरजसे काम लेनेके सन्देश भेजे। यात्री शान्त रहे और उन्होंने हिम्मतका परिचय दिया।

यात्रियोंके मनोरंजनके लिए स्टीमर पर खेलोंका प्रबन्ध किया गया था। बड़े दिनका त्यौहार आया। कप्तानने उस दिन पहले दर्जेके यात्रियोंको भोज दिया। यात्रियोंमें मुख्यत: मैं और मेरे परिवारके लोग ही थे। भोजनके बाद भाषण करनेकी प्रथा तो है ही। मैंने पश्चिमी सभ्यता पर भाषण किया। मैं जानता था कि यह अवसर गम्भीर भाषणका नहीं होता, पर मैं दूसरा कोई भाषण दे ही नहीं सकता था। मैं आनन्दमें सम्मिलित हुआ था, पर मेरा दिल तो डर्बनमें चल रही लड़ाईमें ही लगा हुआ था। क्योंकि इस हमलेमें मध्यबिन्दु मैं था। मुझपर दो आरोप थे:

१. मैंने हिन्दुस्तानमें नेटाल-वासी गोरोंकी अनुचित निन्दा की है;

२. मैं नेटालको हिन्दुस्तानियोंसे भर देना चाहता हूँ, और इसलिए खासकर नेटालमें बसानेके लिए हिन्दुस्तानियोंको 'कूरलैंड' और 'नादरी' में भर लाया हूँ।

मुझे अपनी जिम्मेदारीका ख्याल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्ला भारी नुकसानमें पड़ गये थे। यात्रियोंके प्राण संकटमें थे, और अपने परिवारको साथ लाकर मैंने उसे भी दु:खमें डाल दिया था।

पर मैं स्वयं बिलकुल निर्दोष था। मैंने किसीको नेटाल आनेके लिए प्रलोभन नहीं दिया था। 'नादरी' के यात्रियोंको मैं पहचानता भी न था। 'कूरलैंड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारोंको छोड़कर बाकीके सैकड़ों यात्रियोंके नामधाम तक मैं नहीं जानता था। मैंने हिन्दुस्तानमें नेटालके अंग्रेजोंके विषयमें ऐसा एक भी शब्द नहीं कहा, जो मैं नेटालमें कह नहीं चुका था और जो कुछ मैंने कहा था, उसके लिए मेरे पास काफी प्रमाण थे।

अतएव नेटालके अंग्रेज जिस सभ्यताकी उपज थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हिमायती थे, उस सभ्यताके प्रति मेरे मनमें खेद उत्पन्न हुआ। मैं उसीका विचार करता रहता था, इसलिए इस छोटी-सी सभाके सामने मैंने अपने वे ही विचार रखे, और श्रोतावर्गने उन्हें सहन कर लिया। जिस भावसे मैंने उन्हें रखा, कप्तान आदिने

उसी भावमें उन्हें ग्रहण किया। उन विचारोंसे उनके जीवनमें कोई फेरफार हुआ या नहीं, सो मैं नहीं जानता। पर इस भाषणके बाद कप्तान और दूसरे अधिकारियोंके साथ पश्चिमी सभ्यताके विषयमें मेरी बहुत बातें हुई। मैंने पश्चिमकी सभ्यताको प्रधानतया हिंसक बतलाया और पूर्वकी सभ्यताको अहिंसक। प्रश्नकर्ताओंने मेरे सिद्धान्त मुझीपर लागू किये। बहुत करके कप्तानने ही पूछा:

"गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं, उसीके अनुसार वे आपको चोट पहुँचायें, तो आप अहिंसाके अपने सिद्धान्तपर किस प्रकार अमल करेंगे?" मैंने जवाब दिया: "मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देनेकी और उनपर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। आज भी मुझे उनपर रोष नहीं है। उनके अज्ञान, उनकी संकुचित दृष्टिके लिए मुझे खेद होता है। मैं समझता हूँ कि वे जो कह रहे हैं और कर रहे ह वह उचित है, ऐसा वे शुद्ध भावसे मानते हैं। अतएव मेरे लिए रोषका कोई कारण नहीं।"

पूछनेवाला हँसा। शायद मेरी बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ।

इस प्रकार हमारे दिन बीतते और लम्बे होते गये। सूतक समाप्त करनेकी अवधि अन्त तक निश्चित नहीं हुई। इस विभागके अधिकारीसे पूछनेपर वह कहता, "यह मेरी शक्तिसे बाहरकी बात है। सरकार मुझे आदेश दे, तो मैं आप लोगोंको उतरनेकी इजाजत दे दूँ।"

अन्तमें यात्रियोंको और मुझे अल्टिमेटम मिले। दोनोंको धमकी दी गई कि तुम्हारी जान खतरेमें है। दोनोंने नेटालके बन्दरपर उतरनेके अपने अधिकारके विषयमें लिखा और अपना यह निश्चय घोषित किया कि कैसा भी संकट क्यों न हो, हम अपने इस अधिकार पर डटे रहेंगे।

आखिर तेईसवें दिन, अर्थात् १३ जनवरी, १८९७ के दिन, स्टीमरोंको मुक्ति मिली और यात्रियोंको उतरनेका आदेश मिला।

३. कसौटी[१]

जहाज डेक पर लगा। यात्री उतरे। पर मेरे बारेमें श्री एस्कम्बने कप्तानको कहलाया था: "गांधीको और उनके परिवारको शामके समय उतारियेगा। उनके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो गये हैं और उनके प्राण संकटमें हैं। पोर्ट सुपरिंटेंडेंट श्री टेटम उन्हें शामको अपने साथ ले जायेंगे।" कप्तानने मुझे इस सन्देशकी खबर दी। मैंने तदनुसार चलना स्वीकार किया। लेकिन इस सन्देशको मिले आधा घंटा भी न हुआ था कि इतनेमें श्री लाटन आये और कप्तानसे मिलकर बोले, "यदि श्री गांधी मेरे साथ चलें तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले जाना चाहता हूँ। स्टीमरके

१. देखिए खण्ड २९, पृष्ठ ४६-५२ और खण्ड २, पृष्ठ १९८-३२०।

एजेंटके वकीलके नाते मैं आपसे कहता हूँ कि श्री गांधीके बारेमें जो सन्देश आपको मिला है उसके बन्धनसे आप मुक्त हैं।" इस प्रकार कप्तानसे बातचीत करके वे मेरे पास आये और मुझसे कुछ इस आशयकी बातें कहीं: "आपको जीवनका डर न हो तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके घर जायें और आप तथा मैं आम रास्तेसे पैदल चलें। मुझे यह बिलकुल अच्छा नहीं लगता कि आप अँधेरा होनेपर चुपचाप शहरमें दाखिल हों।[1] मेरा ख्याल है कि आपका बाल भी बाँका न होगा। अब तो सब कुछ शान्त है। गोरे सब तितर-बितर हो गये हैं। पर कुछ भी क्यों न हो, मेरी राय है कि आपको छिपे तौर पर शहरमें कदापी न जाना चाहिए।" मैं सहमत हो गया। मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ीमें बैठकर रुस्तमजी सेठके घर सही-सलामत पहुँच गये। कप्तानकी अनुमति लेकर मैं श्री लाटनके साथ उतरा। रुस्तमजी सेठका घर वहाँसे लगभग दो मील दूर था।

जैसे ही हम जहाजसे उतरे, कुछ लड़कोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने लगे। तुरन्त ही कुछ लोग इकट्ठा हो गये और चिल्लाहट बढ़ गई। श्री लाटनने देखा कि भीड़ बढ़ जायेगी, इसलिए उन्होंने रिक्शा मँगवाया। मुझे उसमें बैठना कभी अच्छा न लगता था। उसपर सवार होनेका मुझे यह पहला ही अनुभव होने जा रहा था। पर लड़के क्यों बैठने देते? उन्होंने रिक्शावालेको धमकाया और वह भाग खड़ा हुआ। हम आगे बढ़े। भीड़ भी बढ़ती गई। खासी भीड़ जमा हो गई। सबसे पहले तो भीड़वालोंने मुझे श्री लाटनसे अलग कर दिया। फिर मुझपर कंकरों और सड़े अंडोंकी वर्षा शुरू हुई। किसीने मेरी पगड़ी उछाल कर फेंक दी। फिर लातें शुरू हुई। मुझे गश आ गया। मैंने पासके घरकी जाली पकड़ ली और दम लिया। वहाँ खड़ा रहना तो सम्भव ही न था। तमाचे पड़ने लगे। इतनेमें पुलिस अधिकारी [श्री अलेक्ज़ेन्डर]की स्त्री, जो मुझे पहचानती थी, उस रास्तेसे गुजरी। मुझे देखते ही वह मेरी बगलमें आकर खड़ी हो गई और धूपके न रहते भी उसने अपनी छत्री खोल ली। इससे भीड़ कुछ नरम पड़ी। अब मुझपर प्रहार करने हों, तो श्रीमती अलेक्जेंडरको बचाकर ही किये जा सकते थे।

इस बीच मुझपर मार पड़ते देखकर कोई हिन्दुस्तानी नौजवान पुलिस थाने पर दौड़ गया। सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरने[2] एक टुकड़ी मुझे घेरकर बचा लेनेके लिए भेजी। वह समय पर आ पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस थानेके पास ही होकर जाता था। सुपरिंटेंडेंटने मुझे थानेमें आश्रय लेनेकी सलाह दी। मैंने इन्कार किया और कहा, "जब लोगोंको अपनी भूल मालूम हो जायेगी तो वे शान्त हो जायेंगे। मुझे उनकी न्यायबुद्धिपर विश्वास है।" पुलिस दस्तेके साथ मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुँचा। मेरी पीठ पर छिपी मार पड़ी थी। एक जगह थोड़ा खून निकल आया था। स्टीमरके डाक्टर दादी बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी सेवा-शुश्रूषा की।

१. गांधीजीने औपनिवेशिक सचिवको पत्र लिखकर इस सलाहको 'बुरी' कहनेका खण्डन किया था; देखिए खण्ड २, पृष्ठ ३२९।

२. देखिए खण्ड २, पृष्ठ ३२१ और ३२२ और खण्ड ६, पृष्ठ २८८ और ४३०।

यों भीतर शान्ति थी, पर बाहर गोरोंने घरको घेर लिया था। शाम हो चुकी थी। अँधेरा हो चला था। बाहर हजारों लोग तीखी आवाजमें शोर कर रहे थे, और 'गांधीको हमें सौंप दो' की पुकार मचा रहे थे। परिस्थितिका ख्याल करके सुपरिंटेंडेंट अलेक्ज़ेंडर वहाँ पहुँचे गये थे और भीड़को धमकीसे नहीं, बल्कि उसका मन बहलाकर वशमें रख रहे थे। फिर भी वे निश्चिन्त तो नहीं थे। उन्होंने मुझे इस आशयका सन्देशा भेजा: "यदि आप अपने मित्रके मकान, माल-असबाब और अपने बाल-बच्चोंको बचाना चाहते हों, तो जिस तरह मैं कहूँ उस तरह आपको इस घरसे छिपे तौर पर निकल जाना चाहिए।"

एक ही दिनमें मुझे परस्पर विरोधी दो काम करनेका प्रसंग आया। जब प्राणोंका भय केवल काल्पनिक प्रतीत होता था, तब श्री लाटनने मुझे प्रकट रूपसे बाहर निकलनेकी सलाह दी और मैंने उसे मान लिया। जब संकट प्रत्यक्ष मेरे सामने आकर खड़ा हो गया, तब दूसरे मित्रने इससे उलटी सलाह दी और मैंने उसे भी मान लिया! कौन कह सकता है कि मैं अपने प्राणोंके संकटसे डरा या मित्रके जान-मालकी जोखिमसे अथवा अपने परिवारकी प्राणहानिसे या तीनोंसे? कौन निश्चयपूर्वक कह सकता है कि मेरा स्टीमरसे हिम्मत दिखाकर उतरना और बादमें संकटके प्रत्यक्ष सामने आनेपर छिपकर भाग निकलना उचित था? पर घटित घटनाओंके बारेमें इस तरहकी चर्चा ही व्यर्थ है। उनका उपयोग यही है कि जो हो चुका है उसे समझ लें, और उससे जितना सीखनेको मिले, सीख लें। अमुक प्रसंगमें अमुक मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चयपूर्वक कहा ही नहीं जा सकता। इसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्यके बाहरी आचरणसे उसके गुणोंकी जो परीक्षा की जाती है वह अधूरी और अनुमान-मात्र होती है।

जो कुछ भी हो, भागनेकी तैयारीमें उलझ जानेसे मैं अपनी चोटोंको भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहनी। कभी सिर पर मार पड़े तो उससे बचनेके लिए माथे पर पीतलकी एक तश्तरी रखी और ऊपर मद्रासी तर्जका बड़ा साफा बाँधा। साथमें खुफिया पुलिसके दो जवान थे। उनमें से एकने हिन्दुस्तानी व्यापारीकी पोशाक पहनी और अपना चेहरा हिन्दुस्तानीकी तरह रँग लिया। दूसरेने क्या पहना, सो मैं भूल गया हूँ। हम बगलकी गलीमें होकर पड़ोसकी एक दुकानमें पहुँचे और गोदाममें लगी हुई बोरोंकी थप्पियोंको अँधेरेमें लाँघते हुए दुकानके दरवाजेसे भीड़में घुसकर आगे निकल गये। गलीके नुक्कड़ पर गाड़ी खड़ी थी, उसमें बैठाकर मुझे अब उसी थानेमें ले गये, जिसमें आश्रय लेनेकी सलाह सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरने पहली दी थी। मैंने सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरको और खुफिया पुलिसके अधिकारियोंको धन्यवाद दिया।

इस प्रकार जब एक तरफसे मुझे ले जाया जा रहा था, तब दूसरी तरफ सुपरिंटेंडेंट अलेक्ज़ेंडर भीड़से गाना गवा रहे थे। उस गीतका अनुवाद यह है:

'चलो, हम गांधीको फाँसी पर लटका दें,
इमलीकी डालसे फाँसी पर लटका दें।'

जब सुपरिंटेंडेंट अलेक्ज़ेंडरको मेरे सही-सलामत थाने पर पहुँच जानेकी खबर मिली तो उन्होंने भीड़से कहा : "आपका शिकार तो इस दुकानमें से सही-सलामत निकल भागा है।" भीड़में किसीको गुस्सा आया, कोई हँसा, बहुतोंने इस बातको माननेसे इन्कार किया।

इसपर सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरने कहा, "तो आप लोग अपनेमें से जिसे नियुक्त कर दें उसे मैं अन्दर ले जाऊँ और वह तलाश करके देख ले। अगर आप गांधीको ढूँढ़ निकालें तो मैं उसे आपके हवाले कर दूंगा। न ढूँढ़ सकें तो आपको बिखर जाना होगा। मुझे यह विश्वास तो है ही कि आप पारसी रुस्तमजीका मकान हरगिज नहीं जलायेंगे और न गांधीके स्त्री-बच्चोंको कष्ट पहुँचायेंगे।"

भीड़ने प्रतिनिधि नियुक्त किये। उन्होंने तलाशके बाद उसे निराशाजनक समाचार सुनाये। सब सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरकी सूझ-बूझ और चतुराईकी प्रशंसा करते हुए, पर मन-ही-मन कुछ गुस्सा होते हुए बिखर गये।

उस समयके उपनिवेश-मन्त्री स्व० मि० चेम्बरलेनने तार द्वारा सूचित किया कि मुझपर हमला करनेवालों पर मुकदमा चलाया जाये और मुझे न्याय दिलाया जाये। श्री एस्कम्बने मुझे अपने पास बुलाया। मुझे पहुँची हुई चोटके लिए खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "आप यह तो मानेंगे ही कि आपका बाल भी बाँका हो तो मुझे उससे कभी खुशी नहीं हो सकती। आपने श्री लाटनकी सलाह मानकर तुरन्त उतर जानेका साहस किया। आपको ऐसा करनेका हक था, पर आपने मेरे सन्देशको मान लिया होता, तो यह दुःखद घटना न घटती। अब अगर आप हमला करनेवालोंको पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ्तार करवाने और उनपर मुकदमा चलानेको तैयार हूँ। श्री चेम्बरलेन भी यही चाहते हैं।"

मैंने जवाब दिया :

"मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है। सम्भव है, हमला करनेवालोंमें से एक-दोको मैं पहचान लूँ, पर उन्हें सजा दिलानेसे मुझे क्या लाभ होगा? फिर, मैं हमला करनेवालोंको दोषी भी नहीं मानता। उन्हें तो यह कहा गया है कि मैंने हिन्दुस्तानमें अतिशयोक्तिपूर्ण बातें कहकर नेटालके गोरोंको बदनाम किया है। वे इस बातको मानकर गुस्सा हों, तो इसमें आश्चर्य क्या है? दोष तो बड़ोंका, और मुझे कहनेकी इजाजत दें तो, आपका माना जाना चाहिए। आप लोगोंको सही रास्ता दिखा सकते थे, पर आपने भी रायटरके तारको ठीक माना और यह कल्पना कर ली कि मैंने अतिशयोक्ति की होगी। मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है। जब वस्तु-स्थिति प्रकट होगी और लोगोंको पता चलेगा, तो वे खुद पछतायेंगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे श्री चेम्बरलेनको इस आशय का तार भेजना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि आप जल्दीमें कुछ लिखकर दे दें। मेरी इच्छा यह है कि आप श्री लाटनसे और अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो उचित जान पड़े सो करें। हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि आप हमला करनेवालों पर मुकदमा नहीं चलायेंगे, तो सब ओर शान्ति स्थापित करनेमें मुझे बहुत मदद मिलेगी, और आपकी प्रतिष्ठा तो निश्चय ही बढ़ेगी।"

मैंने जवाब दिया, "इस विषयमें मेरे विचार पक्के हो चुके हैं। यह निश्चय समझिए कि मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है, इसलिए मैं आपको यहीं लिखकर दे देना चाहता हूँ।"

यह कहकर मैंने आवश्यक पत्र लिखकर दे दिया।[१]

४. शान्ति

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं श्री एस्कम्बसे मिला तब मैं पुलिस थानेमें ही था। रक्षाके लिए मेरे साथ एक-दो सिपाही रहते थे, पर दरअसल जब मुझे श्री एस्कम्बके पास ले जाया गया तब रक्षाकी आवश्यकता रही नहीं थी।

जिस दिन मैं जहाजसे उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झंडा उतरनेके बाद तुरन्त, 'नेटाल एडवर्टाइजर' नामक पत्रका प्रतिनिधि मुझसे मिल गया था।[२] उसने मुझे कई प्रश्न पूछे थे, और उनके उत्तरमें मैं प्रत्येक आरोपका पूरा-पूरा जवाब दे सका था। सर फीरोजशाह मेहताकी कृपासे उस समय मैंने हिन्दुस्तानमें एक भी भाषण बिना लिखे नहीं किया था। अपने उन सब भाषणों और लेखोंका संग्रह तो मेरे पास था ही। मैंने वह सब उसे दिया और सिद्ध कर दिखाया कि मैंने हिन्दुस्तानमें ऐसी एक भी बात नहीं कही, जो अधिक तीव्र शब्दोंमें दक्षिण आफ्रिकामें न कही हो। मैंने यह भी बता दिया कि 'कूरलैंड' और 'नादरी' के यात्रियोंको लानेमें मेरा हाथ बिलकुल न था। उनमें अधिकतर तो पुराने ही थे, और बहुतेरे नेटालमें रहने-वाले नहीं, बल्कि ट्रान्सवाल जानेवाले थे। उन दिनों नेटालमें मन्दी थी। ट्रान्सवालमें बहुत अधिक कमाई होती थी। इस कारण अधिकतर हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इस खुलासेका और हमलावरों पर मुकदमा दायर करनेसे मेरे इन्कार करनेका असर इतना ज्यादा पड़ा कि गोरे शरमिन्दा हुए। समाचारपत्रोंने मुझे निर्दोष सिद्ध किया और हुल्लड़ करनेवालोंकी निन्दा की। इस प्रकार परिणाममें तो मुझे लाभ ही हुआ और मेरा लाभ मेरे कार्यका ही लाभ था। इससे भारतीय समाजकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा मार्ग अधिक सरल हो गया।

तीन या चार दिन बाद मैं अपने घर गया[३] और कुछ ही दिनोंमें व्यवस्थित रीतिसे अपना कामकाज करने लगा। इस घटनाके कारण मेरी वकालत भी बढ़ गई।

परन्तु इस तरह यदि हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी, तो उनके प्रति गोरोंका द्वेष भी बढ़ा। गोरोंको विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तानियोंमें दृढ़तापूर्वक लड़नेकी शक्ति

१. देखिए खण्ड २, पृष्ठ १७९।

२. भेंटके विवरणके लिए देखिए खण्ड २, पृष्ठ १६६-१७८।

३. तत्कालीन समाचारपत्रोंकी खबरके अनुसार पुलिस स्टेशनमें एक दिन रहनेके बाद गांधीजी अपने निवास 'बीच ग्रूव' भेज दिये गये थे। पुलिस स्टेशनके ऊपरकी मंज़िलमें श्री अलेक्जेंडरने उन्हें अफ़सरोंके निवासमें जगह दी थी।

है। फलतः उनका डर बढ़ गया। नेटालकी धारासभामें दो कानून पेश हुए, जिससे हिन्दुस्तानियोंकी कठिनाइयाँ बढ़ गईं। एकसे भारतीय व्यापारियोंके धन्धेको नुकसान पहुँचा, दूसरे हिन्दुस्तानियोंके आने-जाने पर अंकुश लग गया। सौभाग्यसे मताधिकारकी लड़ाईके समय यह फैसला हो चुका था कि हिन्दुस्तानियोंके खिलाफ हिन्दुस्तानीके नाते कोई कानून नहीं बनाया जा सकता। मतलब यह कि कानूनमें रंगभेद या जातिभेद नहीं होना चाहिए। इसलिए ऊपरके दोनों कानून उनकी भाषाको देखते हुए तो सबपर लागू होते जान पड़ते थे, पर उनका मूल उद्देश्य केवल हिन्दुस्तानी कौम पर दबाव डालना था।

इन कानूनोंने मेरा काम बहुत बढ़ा दिया। इनसे हिन्दुस्तानियोंमें जागृति भी बढ़ी। हिन्दुस्तानियोंको ये कानून इस तरह समझा दिये गये कि इनकी बारीकसे बारीक बातोंसे भी कोई हिन्दुस्तानी अपरिचित न रह पाये। हमने उनके अनुवाद भी प्रकाशित कर दिये। झगड़ा आखिर विलायत पहुँचा। पर कानून नामंजूर नही हुए।

मेरा अधिकतर समय सार्वजनिक काममें ही बीतने लगा। मनसुखलाल नाजर मेरे साथ रहे। उनके नेटालमें होनेकी बात मैं ऊपर लिख चुका हूँ। वे सार्वजनिक काममें अधिक हाथ बँटाने लगे, जिससे मेरा काम कुछ हलका हो गया।

मेरी अनुपस्थितिमें सेठ आदमजी मियाँखाँने अपने मन्त्रिपदको खूब सुशोभित किया था। उन्होंने सदस्य बढ़ाये थे और स्थानीय कांग्रेसके कोषमें लगभग एक हजार पौंडकी वृद्धि की थी। यात्रियों पर हुए हमलेका कारण और उपर्युक्त कानूनोंके कारण जो जागृति पैदा हुई, उससे मैंने इस वृद्धिमें भी वृद्धि करनेका विशेष प्रयत्न किया और कोषमें लगभग पाँच हजार पौंड जमा हो गये। मेरे मनमें लोभ यह था कि यदि कांग्रेसका स्थायी कोष हो जाये, उसके लिए जमीन ले ली जाये और उसका भाड़ा आने लगे तो कांग्रेस निश्चिन्त हो जाये। सार्वजनिक संस्थाका यह मेरा पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार साथियोंके सामने रखा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे भाड़ेपर उठा दिये गये। उनके किरायेसे कांग्रेसका मासिक खर्च आसानीसे चलने लगा। सम्पत्तिका सुदृढ़ ट्रस्ट बन गया। वह सम्पत्ति आज भी मौजूद है, पर अन्दर ही अन्दर वह आपसी कलहका कारण बन गई है और जायदादका किराया आज अदालतमें जमा होता है।

यह दुःखद घटना तो मेरे दक्षिण आफ्रिका छोड़नेके बाद घटी, पर सार्वजनिक संस्थाओंके लिए स्थायी कोष रखनेके सम्बन्धमें मेरे विचार दक्षिण आफ्रिकामें ही बदल चुके थे। अनेकानेक सार्वजनिक संस्थाओंके निर्माण और उनके प्रबन्धकी जिम्मेदारी सँभालनेके बाद मैं इस दृढ़ निर्णय पर पहुँचा हूँ कि किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोषपर निभनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसमें उसकी नैतिक अधोगतिका बीज छिपा रहता है। सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है, लोगोंकी स्वीकृति और लोगोंके धनसे चलनेवाली संस्था। ऐसी संस्थाको जब लोगोंकी सहायता न मिले, तो उसे जीवित रहनेका अधिकार ही नहीं रहता। देखा यह गया है कि स्थायी सम्पत्तिके भरोसे चलनेवाली संस्था लोकमतसे मुक्त हो जाती है, और कितनी ही बार वह

उलटा आचरण भी करती है। हिन्दुस्तानमें हमें पग-पग पर इसका अनुभव होता है। कितनी ही धार्मिक मानी जानेवाली संस्थाओंके हिसाब-किताबका कोई ठिकाना ही नहीं रहता। उनके ट्रस्टी ही उनके मालिक बन बैठे हैं और वे किसीके प्रति उत्तरदायी भी नहीं हैं। जिस तरह प्रकृति स्वयं प्रतिदिन उत्पन्न करती है और प्रतिदिन खाती है, वैसी ही व्यवस्था सार्वजनिक संस्थाओंकी भी होनी चाहिए, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है। जिस संस्थाको लोग मदद देनेके लिए तैयार न हों, उसे सार्वजनिक संस्थाके रूपमें जीवित रहनेका अधिकार ही नहीं है। प्रतिवर्ष मिलनेवाला चन्दा ही उन संस्थाओंकी अपनी लोकप्रियता और उनके संचालकोंकी प्रामाणिकताकी कसौटी है, और मेरी यह राय है कि हरएक संस्थाको इस कसौटीपर कसा जाना चाहिए। मेरे यह लिखनेसे कोई गलतफहमी न होनी चाहिए। ऊपरकी टीका उन संस्थाओंपर लागू नहीं होती, जिन्हें मकान इत्यादिकी आवश्यकता होती है। सार्वजनिक संस्थाओंके दैनिक खर्चका आधार लोगोंसे मिलनेवाला चन्दा ही होना चाहिए।

ये विचार दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहके दिनोंमें दृढ़ हुए। छः वर्षोंकी वह महान लड़ाई स्थायी कोषके बिना चली, यद्यपि उसके लिए लाखों रुपयेकी आवश्यकता थी। मुझे ऐसे अवसरोंकी याद है कि जब अगले दिनका खर्च कहाँसे आयेगा, इसकी मुझे खबर नहीं रहती थी। लेकिन आगे जिन विषयोंकी चर्चाकी जानेवाली है, उनका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा। पाठकोंको मेरे इस मतका समर्थन इस कथा में उचित प्रसंगपर यथास्थान मिल जायेगा।

५. बच्चोंकी शिक्षा

सन् १८९७की जनवरीमें मैं डर्बन उतरा, तब मेरे साथ तीन बालक थे। मेरा भानजा[1] लगभग दस वर्षकी उम्रका, मेरा बड़ा लड़का[2] नौ वर्षका और दूसरा लड़का[3] पाँच वर्षका। इन सबको कहाँ पढ़ाया जाये?

मैं अपने लड़कोंको गोरोंके लिए चलनेवाले स्कूलोंमें भेज सकता था, पर वह केवल उनकी मेहरबानीसे और अपवाद-रूपमें होता। दूसरे सब हिन्दुस्तानी बालक वहाँ पढ़ नहीं सकते थे। हिन्दुस्तानी बालकोंको पढ़ानेके लिए ईसाई-मिशनके स्कूल थे। पर उनमें मैं अपने बालकोंको भेजनेके लिए तैयार न था। वहाँ दी जानेवाली शिक्षा मुझे पसंद न थी। वहाँ गुजराती द्वारा तो शिक्षा मिलती ही कहाँसे? सारी शिक्षा अंग्रेजीमें ही दी जाती थी, अथवा बहुत प्रयत्न किये जाने पर वह अशुद्ध तमिल या हिन्दीमें मिल सकती थी। पर इन और ऐसी अन्य त्रुटियोंको सहन करना मेरे लिए सम्भव न था। मैं स्वयं बालकोंको पढ़ानेका थोड़ा प्रयत्न करता था। पर वह अत्यन्त

१. गोकुलदास।

२. हरिलाल।

३. मणिलाल।

अनियमित था। मैं अपनी रुचिके अनुकूल गुजराती शिक्षक नहीं खोज सका। मैं परेशान हुआ। मैंने ऐसे अंग्रेजो शिक्षकके लिए विज्ञापन दिया, जो बच्चोंको मेरी रुचिके अनुकूल शिक्षा दे सके। मैंने सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिलेगा उसके द्वारा थोड़ी नियमित शिक्षा होगी और बाकी मैं स्वयं, जैसे बन पड़ेगी, दूँगा। एक अंग्रेज महिलाको ७ पौंडके वेतनपर रखकर गाड़ी कुछ आगे बढ़ाई। बच्चोंके साथ मै केवल गुजरातीमें ही बातचीत करता था। इससे उन्हें थोड़ी गुजराती सीखनेको मिल जाती थी। मैं उन्हें देश भेजनेके लिए तैयार न था। उस समय भी मेरा यह ख्याल था कि छोटे बच्चोंको माता-पितासे अलग नहीं रहना चाहिए। सुव्यवस्थित घरमें बालकोंको जो शिक्षा सहज ही मिल जाती है, वह छात्रालयोंमें नहीं मिल सकती। अतएव अधिकतर वे मेरे साथ ही रहे। भानजे और बड़े लड़केको मैंने कुछ महीनोंके लिए देशमें अलग-अलग छात्रालयोंमें भेजा अवश्य था, पर वहाँसे उन्हें तुरन्त वापस बुला लिया था। बादमें मेरा बड़ा लड़का, वयस्क होने पर, अपनी इच्छासे अहमदाबादके हाईस्कूलमें पढ़नेके लिए दक्षिण आफ्रिका छोड़कर देश चला गया था।[1] अपने भानजे को जो शिक्षा मैं दे सका, उससे उसे सन्तोष था, ऐसा मेरा ख्याल है। भरी जवानीमें, कुछ ही दिनोंकी बीमारीके बाद, उसका देहान्त हो गया। मेरे दूसरे तीन लड़के कभी किसी स्कूलमें गये ही नहीं। दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहके सिलसिलेमें मैंने जो विद्यालय खोला था, उसमें उन्होंने थोड़ी नियमित पढ़ाई की थी।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। लड़कोंको मैं स्वयं जितना समय देना चाहता था उतना दे नहीं सका। इस कारण और दूसरी अनिवार्य परिस्थितियोंके कारण मैं अपनी इच्छाके अनुसार उन्हें किताबीज्ञान नहीं दे सका। इस विषयमें मेरे सब लड़कोंको न्यूनाधिक मात्रामें मुझसे शिकायत भी रही है। क्योंकि जब-जब वे 'बी० ए', 'एम० ए०' और 'मैट्रिक्युलेट' के भी सम्पर्कमें आते, तब स्वयं किसी स्कूलमें न पढ़ सकनेकी कमीका अनुभव करते।

तिसपर भी मेरी अपनी राय यह है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिताका जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतन्त्रताका जो पदार्थ-पाठ उन्हें सीखनेको मिला है, यदि मैंने उनको चाहे जिस तरह स्कूल भेजनेका आग्रह रखा होता तो वह सब उन्हें न मिलता। उनके बारेमें जो निश्चिन्तता आज मुझे है वह न होती, और जो सादगी तथा सेवाभाव उन्होंने आत्मज्ञान किया वह मुझसे अलग रहकर विलायतमें या दक्षिण आफ्रिकामें कृत्रिम शिक्षा प्राप्त करके वे न कर पाते; बल्कि उनकी बनावटी रहन-सहन देश-कार्यमें मेरे लिए कदाचित् विघ्नरूप हो जाती। अतएव यद्यपि मैं उन्हें जितनी चाहता था उतनी किताबी शिक्षा नहीं दे सका, तो भी अपने पिछले वर्षोंका विचार करते समय मेरे मनमें यह खयाल नहीं उठता कि उनके प्रति मैंने अपने धर्मका यथाशक्ति पालन नहीं किया, और न मुझे उसके लिए पश्चात्ताप होता है। इसके विपरीत, अपने बड़े लड़केमें मैं जो दुःखद बातें देखता हूँ, वह मेरे अधकचरे

१. हरिलाल गांधी ट्रान्सवालमें पिताका घर छोड़कर सन् १९११ में भारत आ गये थे। देखिए खण्ड ११, पृष्ठ ७५-७६।

पूर्वकालकी प्रतिध्वनि है, ऐसा सदा ही मुझे लगा है। जिसे मैंने हर प्रकारसे अपना मूर्च्छाकाल, और विलासकाल माना है उस समय वह नादान नहीं था और उसके मन पर उसकी छाप पड़ सकती थी, वह क्यों माने कि वह मेरा मूर्च्छाकाल था? वह ऐसा क्यों न माने कि वह मेरा ज्ञानकाल था और उसके बादके परिवर्तन अयोग्य और मोहजन्य थे? वह क्यों न माने कि उस समय मैं संसारके राजमार्गपर चल रहा था इस कारण सुरक्षित था तथा बादमें किये हुए परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभिमान और अज्ञानकी निशानी थे? यदि मेरे लड़के बैरिस्टर आदिकी पदवी पाते तो क्या बुरा होता? मुझे उनके पंख काट देनेका क्या अधिकार था? मैंने उन्हें ऐसी स्थिति में क्यों नहीं रखा कि वे उपाधियाँ प्राप्त करके मनचाहा जीवन-मार्ग पसंद कर सकते? इस तरहकी दलीलें मेरे कितने ही मित्रोंने मेरे सम्मुख रखी हैं।

मुझे इन दलीलोंमें कोई तथ्य नहीं दिखाई दिया। मैं अनेक विद्यार्थियोंके सम्पर्कमें आया हूँ। दूसरे बालकों पर मैंने दूसरे प्रयोग भी किये हैं अथवा करानेमें सहायक हुआ हूँ। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के, आज समान अवस्थाके हैं। मैं नहीं मानता कि वे मनुष्यतामें मेरे लड़कोंसे आगे बढ़े हुए हैं, अथवा उनसे मेरे लड़के कुछ अधिक सीख सकते हैं।

फिर भी, मेरे प्रयोगका अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। यहाँ इस विषयकी चर्चा करनेका हेतु तो यह है कि मनुष्य-जातिकी उत्क्रान्तिका अध्ययन करनेवाले लोग गृह-शिक्षा और स्कूली शिक्षाके भेदका और माता-पिता द्वारा अपने जीवनमें किये हुये परिवर्तनोंका उनके बालकों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका कुछ अन्दाज लगा सकें। इसके अतिरिक्त, इस प्रकरणका एक उद्देश्य यह भी है कि सत्यका पुजारी इस प्रयोगसे यह देख सके कि सत्यकी आराधना उसे कहाँतक ले जाती है, और स्वतन्त्रता देवीका उपासक देख सके कि वह देवी कैसा बलिदान चाहती है। बालकोंको अपने साथ रखते हुए भी यदि मैंने स्वाभिमानका त्याग किया होता, दूसरे भारतीय बालक जिसे न पा सकें, अपने बालकोंके लिए उसकी इच्छा न रखनेके विचारका पोषण न किया होता, तो मैं अपने बालकोंको किताबी-शिक्षा अवश्य दे सकता था। किन्तु उस दशामें स्वतन्त्रता और स्वाभिमानका जो पदार्थ-पाठ वे सीखे, वह न सीख पाते। और जहाँ स्वतन्त्रता तथा किताबी-शिक्षाके बीच ही चुनाव करना हो, वहाँ कौन कहेगा कि स्वतन्त्रता उससे हजार गुनी अधिक अच्छी नहीं है?

सन् १९२०में जिन नौजवानोंको मैंने स्वतन्त्रता-घातक स्कूलों और कालेजोंको छोड़नेके लिए आमन्त्रित किया था, और जिनसे मैंने कहा था कि स्वतन्त्रताके लिए निरक्षर रहकर आम रास्ते पर गिट्टी फोड़ना गुलामीमें रहकर किताबीज्ञान प्राप्त करनेसे कहीं अच्छा है, वे अब मेरे कथनके मर्मको कदाचित् समझ सकेंगे।

६. सेवा-वृत्ति

वकालतका मेरा धन्धा अच्छा चल रहा था, पर उससे मुझे सन्तोष नहीं था। जीवन अधिक सादा होना चाहिए, कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिये, यह मन्थन मनमें चलता ही रहता था। इतनेमें एक दिन कोढ़से पीड़ित एक अपंग मनुष्य मेरे यहाँ आ पहुँचा। उसे खाना देकर विदा कर देनेके लिए दिल तैयार न हुआ। मैंने उसको एक कोठरीमें ठहराया, उसके घाव साफ किये और उसकी सेवा की। पर यह व्यवस्था अधिक दिन तक नही चल सकती थी। उसे हमेशाके लिए घरमें रखनेकी सुविधा मेरे पास न थी, न मुझमें इतनी हिम्मत थी। इसलिए मैने उसे गिरमिटियोंके लिए चलनेवाले सरकारी अस्पतालमें भेज दिया।

पर इससे मुझे आश्वासन न मिला। मनमें हमेशा यह विचार बना रहता कि सेवा-शुश्रूषाका ऐसा कुछ काम मैं हमेशा करता रहूँ, तो कितना अच्छा हो। डा० बूथ सेंट एडम्स मिशनके मुखिया थे। वे हमेशा अपने पास आनेवालोंको मुफ्त दवा दिया करते थे। बहुत भले और दयालु आदमी थे। पारसी रुस्तमजीकी दानशीलताके कारण डा० बूथकी देखरेखमें एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। मेरी प्रवल इच्छा हुई कि मैं इस अस्पतालमें नर्सका काम करूँ। उसमें दवा देनेके लिए एकसे दो घंटोंतक का काम रहता था। उसके लिए दवा बनाकर देनेवाले किसी वेतनभोगी मनुष्यकी अथवा स्वयंसेवककी आवश्यकता थी। मैंने यह काम अपने जिम्मे लेने और अपना उतना समय बचाकर देनेका निर्णय किया। वकालतका मेरा बहुत-सा काम तो दफ्तरमें बैठकर सलाह देने, दस्तावेज तैयार करने अथवा झगड़ोंका फैसला करानेका होता था। कुछ मामले मजिस्ट्रेटकी अदालतमें चलते थे। उनमेंसे अधिकांश विवादास्पद नहीं होते थे। ऐसे मामलोंको चलानेकी जिम्मेदारी श्री खानने, जो मुझसे बादमें आये थे और जो उस समय मेरे साथ ही रहते थे, अपने सिर ले ली और मैं उस छोटे-से अस्पतालमें काम करने लगा। रोज सबेरे वहाँ जाना होता था। आने-जानेमें और अस्पतालका काम करनेमें प्रतिदिन लगभग दो घंटे लगते थे। इस कामसे मुझे थोड़ी शान्ति मिली। मेरा काम बीमारकी हालत समझकर उसे डाक्टरको समझाने और डाक्टरकी लिखी दवा तैयार करके बीमारको देनेका था। इस कामसे मैं दुखी-दर्दी हिन्दुस्तानियोंके निकट सम्पर्कमें आया। उनमेंसे अधिकांश तमिल, तेलुगु अथवा उत्तर हिन्दुस्तानके गिरमिटिया होते थे।

यह अनुभव मेरे लिए भविष्यमें बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बोअर-युद्धके समय घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाके काममें और दूसरे बीमारोंकी परिचर्यामें मुझे इससे बड़ी मदद मिली।

बालकोंके पालन-पोषणका प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण आफ्रिकामें मेरे दो लड़के और हुए। उन्हें किस तरह पाल-पोसकर बड़ा किया जाये, इस प्रश्न को हल करनेमें मुझे इस कामने अच्छी मदद दी। मेरा स्वतन्त्र स्वभाव मेरी कड़ी कसौटी करता था और आज भी करता है। हम पति-पत्नीने निश्चय किया था कि प्रसूति आदि काम शास्त्रीय पद्धतिसे करेंगे। अतएव यद्यपि डाक्टर और नर्सकी

व्यवस्था की गई थी, तो भी प्रश्न था कि कहीं ऐन मौके पर डाक्टर न मिला और दाई भाग गई, तो मेरी क्या दशा होगी? दाई तो हिन्दुस्तानी ही रखनी थी। तालीम पाई हुई हिन्दुस्तानी दाई हिन्दुस्तानमें भी मुश्किलसे मिलती है, तब दक्षिण आफ्रिकाकी तो बात ही क्या कही जाये? अतएव मैंने बाल-संगोपनका अध्ययन कर लिया। डा० त्रिभुवनदासकी 'माने शिखामण' (माताकी सीख) नामक पुस्तक मैंने पढ़ डाली। यह कहा जा सकता है कि उसमें संशोधन-परिवर्धन करके अन्तिम दो बच्चोंको मैंने स्वयं पाला-पोसा। हर बार दाईकी मदद कुछ ही समय के लिए ली — दो महीनेसे ज्यादा तो ली ही नहीं; वह भी मुख्यतः धर्मपत्नीकी सेवाके लिए ही। बालकोंको नहलाने-धुलानेका काम शुरूमें मैं ही करता था।

अन्तिम शिशुके जन्मके समय मेरी पूरी-पूरी परीक्षा हो गई। पत्नीको प्रसव-वेदना अचानक शुरू हुई। डाक्टर घर पर न थे। दाईको बुलवाना था। वह पास होती तो भी उससे प्रसव करानेका काम न हो पाता। अतः प्रसवके समयका सारा काम मुझे अपने हाथों ही करना पड़ा। सौभाग्यसे मैंने इस विषयको 'माने शिखामण' पुस्तकमें ध्यानपूर्वक पढ़ लिया था। इसलिए मुझे कोई घबराहट न हुई।

मैंने देखा कि अपने बालकोंके समुचित पालन-पोषणके लिए माता-पिता दोनोंको बाल-संगोपन आदिका साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। मैंने तो इस विषयकी अपनी सावधानीका लाभ पग-पग पर अनुभव किया है। मेरे बालक आज जिस सामान्य स्वास्थ्यका लाभ उठा रहे हैं, उसे वे उठा न पाते, यदि मैंने इस विषयका सामान्य ज्ञान प्राप्त करके उसपर अमल न किया होता। हम लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि पहले पाँच वर्षोंमें बालकको शिक्षा प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। पर सच तो यह है कि पहले पाँच वर्षोंमें बालकको जो मिलता है वह बादमें कभी नहीं मिलता। मैं यह अनुभवसे कह सकता हूँ कि बच्चेकी शिक्षा माँके पेटसे शुरू होती है। गर्भाधान-कालकी माता-पिताकी शारीरिक और मानसिक स्थितिका प्रभाव बालक पर पड़ता है। गर्भके समयकी माताकी प्रकृति और माताके आहार-विहारके भले-बुरे फलोंकी विरासत लेकर बालक जन्म लेता है। जन्मके बाद वह माता-पिताका अनुकरण करने लगता है और स्वयं असहाय होनेके कारण उसके विकासका आधार माता-पिता पर रहता है।

जो समझदार दम्पती इन बातोंको सोचेंगे वे पति-पत्नीके संगको कभी विषय-वासनाकी तृप्तिका साधन नहीं बनायेंगे, बल्कि जब उन्हें सन्तानकी इच्छा होगी तभी सहवास करेंगे। रतिसुख एक स्वतन्त्र वस्तु है, इस धारणामें मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखाई पड़ता है। जनन-क्रिया पर संसारके अस्तित्वका आधार है। संसार ईश्वरकी लीलाभूमि है, उसकी महिमाका प्रतिबिम्ब है। उसकी सुव्यवस्थित वृद्धिके लिए ही रतिक्रियाका निर्माण हुआ है, इस बातको समझनेवाला मनुष्य विषय-वासनाको महा-प्रयत्न करके भी अंकुशमें रखेगा, और रतिसुखके परिणामस्वरूप होनेवाली सन्ततिकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षाके लिए जिस ज्ञानकी प्राप्ति आवश्यक हो उसे प्राप्त करके उसका लाभ अपनी सन्तानको देगा।

७. ब्रह्मचर्य — १

अब ब्रह्मचर्यके विषयमें विचार करनेका समय आ गया है। एकपत्नी-व्रतका तो विवाहके समयसे ही मेरे हृदयमें स्थान था। पत्नीके प्रति वफादारी मेरे सत्यव्रतका अंग था। पर अपनी स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए, इसका स्पष्ट बोध मुझे दक्षिण आफ्रिकामें ही हुआ। किस प्रसंगसे अथवा किस पुस्तकके प्रभावसे यह विचार मेरे मनमें उत्पन्न हुआ, सो आज मुझे स्पष्ट याद नहीं आता। इतना स्मरण है कि इसमें रायचन्दभाईके प्रभावकी प्रधानता थी। उनके साथके एक संवादका मुझे स्मरण है। एक बार मैं ग्लैडस्टनके प्रति श्रीमती ग्लैडस्टनके प्रेमकी प्रशंसा कर रहा था। मैंने कहीं पढ़ा था कि पार्लियामेंटकी सभामें भी श्रीमती ग्लैडस्टन अपने पतिको चाय बनाकर पिलाती थीं। इस बातका पालन इस नियम-बद्ध दम्पतीके जीवनका एक नियम बन गया था। मैंने कविको वह प्रसंग पढ़कर सुनाया और उसके सन्दर्भमें दम्पती-प्रेमकी स्तुति की। रायचन्दभाई बोले, "इसमें तुम्हें महत्वकी कौन-सी बात मालूम होती है? श्रीमती ग्लैडस्टनका पत्नीत्व या उनका सेवाभाव? यदि वे ग्लैडस्टनकी बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफादार नौकरानी होतीं और उतने ही प्रेमसे चाय देतीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियोंके दृष्टान्त क्या हमें आज नहीं मिलते? और, नारी-जातिके बदले ऐसा प्रेम यदि तुमने नर-जातिमें देखा होता, तो क्या तुम्हें सानन्द आश्चर्य न होता? मेरे इस कथनपर विचार करना।"

रायचन्दभाई स्वयं विवाहित थे। याद पड़ता है कि उस समय तो मुझे उनके ये वचन कठोर लगे थे, पर इन वचनोंने मुझे चुम्बककी तरह पकड़ लिया। मुझे लगा कि पुरुष-सेवककी ऐसी स्वामि भक्तिका मूल्य पत्नीकी पति-निष्ठाके मूल्यसे हजार गुना अधिक है। पति-पत्नीमें ऐक्य होता है, इसलिए उनमें परस्पर प्रेम हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मालिक और नौकरके बीच वैसा प्रेम प्रयत्नपूर्वक विकसित करना होता है। दिन-पर-दिन कविके वचनोंका बल मेरी दृष्टिमें बढ़ता प्रतीत हुआ।

मैंने अपने-आपसे पूछा, मुझे पत्नीके साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिए? पत्नीको विषय-भोगका वाहन बनानेमें पत्नीके प्रति वफादारी कहाँ रहती है? जब तक मैं विषय-वासनाके अधीन रहता हूँ, तब तक मेरी वफादारीका मूल्य साधारण ही माना जायेगा। यहाँ मुझे यह कहना चाहिए कि हमारे आपसके सम्बन्धमें पत्नीकी ओरसे कभी आक्रमण हुआ ही नहीं। इस दृष्टिसे मैं जब चाहता तभी मेरे लिए ब्रह्मचर्यका पालन सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जाग्रत होनेके बाद भी दो बार तो मैं विफल ही रहा। प्रयत्न करता परन्तु गिर पड़ता। प्रयत्नमें मुख्य उद्देश्य ऊँचा नहीं था। मुख्य उद्देश्य था, सन्तानोत्पत्तिको रोकना। उसके बाह्य उपचारोंके बारेमें मैंने विलायतमें कुछ पढ़ा था। डा० एलिन्सनके इन उपायोंके प्रचारका उल्लेख मैं अन्नाहार-विषयक प्रकरण मैं कर चुका हूँ। उसका थोड़ा और क्षणिक प्रभाव मुझपर पड़ा था। पर श्री हिल्सने उसका जो विरोध किया था और आन्तरिक साधनके — संयमके — समर्थनमें जो कहा था, उसका

प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा, और अनुभवसे वह चिरस्थायी बन गया। इसलिए सन्तानोत्पत्तिकी अनावश्यकता ध्यानमें आते ही मैंने संयम-पालनका प्रयत्न शुरू कर दिया। संयम-पालनकी कठिनाइयोंका पार न था। हमने अलग-अलग खाटें रखीं। रातमें पूरी तरह थकनेके बाद ही सोनेका प्रयत्न किया। इस सारे प्रयत्नका विशेष परिणाम मैं तुरन्त नहीं देख सका। पर भूतकाल पर आज निगाह डालते हुए देखता हूँ कि इन सब प्रयत्नोंने मुझे अन्तिम निश्चयका बल दिया।

अन्तिम निश्चय तो मैं सन् १९०६ में ही कर सका। उस समय सत्याग्रहका आरम्भ नहीं हुआ था। मुझे उसका सपना तक नहीं आया था। बोअर युद्धके बाद नेटालमें जुलू 'विद्रोह' हुआ। उस समय मैं जोहानिसबर्गमें वकालत करता था। पर मैंने अनुभव किया कि इस 'विद्रोह' के मौके पर भी मुझे अपनी सेवा नेटाल सरकारको अर्पण करनी चाहिए। मैंने सेवा अर्पण की और वह स्वीकृत हुई। उसका वर्णन आगे आयेगा। पर इस सेवाके सिलसिलेमें मेरे मनमें संयम-पालनके तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार मैंने साथियोंसे इसकी चर्चा की। मैंने अनुभव किया कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तानका लालन-पालन सार्वजनिक सेवाके विरोधी हैं। इस 'विद्रोह' में सम्मिलित होनेके लिए मुझे जोहानिसबर्गकी अपनी गृहस्थी उजाड़ देनी पड़ी थी। टीम-टामसे बसाये गये घरका और साज-सामानका, जिसे बिसाये मुश्किलसे एक महीना हुआ होगा, मैंने त्याग कर दिया। पत्नी और बच्चोंको फीनिक्समें रख दिया और मैं डोली उठानेवालोंकी टुकड़ी लेकर निकल पड़ा। कठिन कूच करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोकसेवामें ही तन्मय हो जाना हो, तो पुत्रैषणा और विषयैषणाका त्याग करना चाहिए और वानप्रस्थ-धर्म पालना चाहिए।

'विद्रोह' में तो मुझे डेढ़ महीनेसे अधिक समय नहीं देना पड़ा, पर छः हफ्तोंका यह समय मेरे जीवनका अत्यन्त मूल्यवान समय था। इस समय मैंने व्रतके महत्वको अधिक-से-अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बन्धन नहीं, बल्कि स्वतन्त्रताका द्वार है। आज तक मुझे अपने प्रयत्नोंमें जितनी चाहिए उतनी सफलता न मिलनेका कारण यह है कि मैं दृढ़निश्चयी नहीं था। मुझे अपनी शक्ति पर अविश्वास था। ईश्वरकी कृपा पर अविश्वास था, और इस कारण मेरा मन अनेक तरंगों और अनेक विकारोंके चक्करमें पड़ा रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बद्ध न होनेसे मनुष्य मोहमें पड़ता है। व्रतसे बँधना व्यभिचारसे छुटकारा पाकर एकपत्नी व्रतका पालन करनेके समान है। "मै प्रयत्न करनेमें विश्वास रखता हूँ, व्रतसे बँधना नहीं चाहता" यह वचन निर्बलताकी निशानी है, और इसमें सूक्ष्म रूपसे भोगकी वासना छिपी होती है। जो वस्तु त्याज्य है, उसका सर्वथा त्याग करनेमें हानि कैसे हो सकती है? जो साँप मुझे डसनेवाला है, उसका त्याग मै निश्चय-पूर्वक करता हूँ, त्यागका केवल प्रयत्न नहीं करता। मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्नके भरोसे रहनेमें मृत्यु निहित है। प्रयत्नमें साँपकी विकरालताके स्पष्ट ज्ञानका अभाव है। इसी तरह जिस वस्तुके त्यागका हम केवल प्रयत्न करते हैं उस वस्तुके त्यागके औचित्यके बारेमें हमें स्पष्ट दर्शन नहीं हुआ है, यह सिद्ध होता है। 'आगे चलकर मेरे विचार बदल जायें तो?' ऐसी शंका करके प्रायः हम व्रत

लेनेसे डरते हैं। इस विचारमें स्पष्ट दर्शनका अभाव ही है। इसीलिए निष्कुलानन्दने कहा है,

त्याग न टके रे वैराग बिना

जहाँ अमुक वस्तुके प्रति सम्पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो गया है, वहाँ उसके विषयमें व्रत लेना अनिवार्य हो जाता है।

८. ब्रह्मचर्य — २

अच्छी तरह चर्चा करने और गहराईसे सोचनेके बाद सन् १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्यका व्रत लिया। व्रत लेनेके दिन तक मैंने धर्मपत्नीके साथ सलाह नहीं की थी; पर व्रत लेते समयकी। उसकी ओरसे मेरा कोई विरोध नहीं हुआ। यह व्रत मेरे लिए बहुत कठिन सिद्ध हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मैं सोचता, विकारोंको किस प्रकार दबा सकूँगा? अपनी पत्नीके साथ विकारयुक्त सम्बन्धका त्याग मुझे एक अनोखी बात मालूम होती थी। फिर भी मैं यह साफ देख सकता था कि यही मेरा कर्त्तव्य है। मेरी नीयत शुद्ध थी। यह सोचकर कि भगवान शक्ति देगा, मैं इसमें कूद पड़ा।

आज बीस बरस बाद उस व्रतका स्मरण करते हुए मुझे सानन्द आश्चर्य होता है। संयम पालनेकी वृत्ति तो मुझमें १९०१ से ही प्रबल थी, और मैं संयम पाल भी रहा था; पर जिस स्वतन्त्रता और आनन्दका उपभोग मैं अब करने लगा, सन् १९०६ के पहले उसके वैसे उपभोगका कोई स्मरण मुझे नहीं है। क्योंकि उस समय मैं वासना-बद्ध था, किसी भी समय उसके वश हो सकता था। अब वासना मुझपर सवारी करनेमें असमर्थ हो गई। साथ ही, मैं अब ब्रह्मचर्यकी महिमा अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फीनिक्समें लिया था। घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाके कामसे छुट्टी पानेपर मैं फीनिक्स गया था। वहाँसे मुझे तुरन्त जोहानिसबर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीनेके अन्दर ही सत्याग्रहकी लड़ाईका श्रीगणेश हुआ। मानो कोई कल्पना मैंने पहलेसे करके नहीं रखी थी। उसकी उत्पत्ति अनायास, अनिच्छापूर्वक ही हुई। पर मैंने देखा कि उससे पहलेके मेरे सारे कदम—फीनिक्स जाना, जोहानिसबर्गका भारी घर-खर्च कम कर देना और अन्तमें ब्रह्मचर्य-व्रत लेना मानो उसकी तैयारीके रूपमें ही थे।

ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण पालनका अर्थ है ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्र द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र-वाक्य मैंने बादमें पढ़े। ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्माका रक्षण है, इसे मैं व्रत लेनेके बाद दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। अब ब्रह्मचर्यको एक घोर तपश्चर्याके रूपमें रहने देनेके बदले उसे रसमय बनाना था, उसीके सहारे निभना था, इसलिए अब उसकी विशेषताओंके मुझे नित नये दर्शन होने लगे।

इस प्रकार यद्यपि मैं इस व्रतसे रस लूट रहा था, तो भी कोई यह न माने कि मैं उसको कठिनाईका अनुभव नहीं करता था। आज मुझे छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं, फिर भी इसकी कठिनताका अनुभव तो मुझे होता ही है। यह एक असि-धाराव्रत है, जिसे मैं अधिकाधिक समझ रहा हूँ और निरन्तर जागृतिकी आवश्यकताका अनुभव करता हूँ।

ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियपर प्रभुत्व प्राप्त करना ही चाहिए। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि यदि स्वादको जीत लिया जाये, तो ब्रह्मचर्यका पालन बहुत सरल हो जाता है। इस कारण अबसे आगेके मेरे आहार-सम्बन्धी प्रयोग केवल अन्नाहारकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। मैंने प्रयोग करके अनुभव किया कि आहार थोड़ा, सादा, बिना मिर्च-मिसालेका और प्राकृतिक स्थिति-वाला होना चाहिए।

ब्रह्मचारीका आहार वनपक्व फल हैं, इसे अपने विषयमें तो मैंने छः वर्षतक प्रयोग करके देखा है। जब मैं सूखे और ताजे वनपक्व फलोंपर रहता था, तब जिस निर्विकार अवस्थाका अनुभव मैंने किया, वैसा अनुभव आहारमें परिवर्तन करनेके बाद मुझे नही हुआ। फलाहारके दिनोंमें ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो गया था। दुग्धा-हारके कारण वह कष्ट-साध्य बन गया है। मुझे फलाहारसे दुग्धाहारपर क्यों जाना पड़ा, इसकी चर्चा यथास्थान करूँगा। यहाँ तो यही कहना काफी है कि ब्रह्मचारीके लिए दूधका आहार व्रत-पालनमें बाधक है, इस विषयमें मुझे शंका नहीं है। इसका कोई यह अर्थ न करे कि ब्रह्मचारी-मात्रके लिए दूधका त्याग इष्ट है। ब्रह्मचर्यपर आहारका कितना प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्धमें बहुत प्रयोग करनेकी आवश्यकता है। दूधके समान स्नायु-पोषक और उतनी ही सरलतासे पचनेवाला फलाहार मुझे अभी तक मिला नहीं; और न कोई वैद्य, हकीम या डाक्टर ऐसे फलों अथवा अन्न की जानकारी दे सका है। अतएव दूधको विकारोत्पादक वस्तु जानते हुए भी मैं उसके त्यागकी सलाह अभी किसीको नहीं दे सकता।

बाह्य उपचारोंमें जिस तरह आहारके प्रकार और परिमाणकी मर्यादा आवश्यक है, उसी तरह उपवासके बारेमें भी समझना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान है कि उन्हें चारों तरफसे, ऊपरसे और नीचेसे यों दसों दिशाओंसे घेरा जाये तभी वे अंकुशमें रहती हैं। सब जानते है कि आहारके बिना वे काम नहीं कर सकतीं। अतएव इन्द्रिय-दमनमें इस हेतु स्वेच्छापूर्वक किया गया उपवास बहुत मदद देता है, इसमें मुझे कोई सन्देह नही। कई लोग उपवास करते हुए भी इसमें विफल होते हैं। उसका कारण यह है कि उपवास ही सब कुछ कर सकेगा, ऐसा मानकर वे केवल स्थूल उपवास करते हैं, और मनसे छप्पन भोगोंका स्वाद लेते रहते हैं। उपवासके दिनोंमें वे उपवासकी समाप्तिपर क्या खायेंगे, इसके विचारोंका स्वाद लेते रहते हैं, और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेन्द्रियका संयम सधा और न जननेन्द्रियका। उपवासकी सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहाँ मनुष्यका मन भी देह-दमनमें साथ देता है। तात्पर्य यह कि मनमें विषय-भोगके प्रति विरक्ति आनी चाहिए। विषयकी

जड़ें मनमें रहती है। उपवास आदि साधनोंसे यद्यपि बहुत सहायता मिलती है, फिर भी वह अपेक्षाकृत कम ही होती है। कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता है। पर बिना उपवासके विषयासक्तिको जड़मूलसे मिटाना सम्भव नही है। अतएव ब्रह्मचर्यका प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे लोग विफल होते हैं, क्योंकि वे खाने-पीने, देखने-सुनने इत्यादिमें अब्रह्मचारीकी तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य-पालनकी इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायेगा, जैसा गरमीमें जाड़ेका अनुभव करनेका प्रयत्न। संयमीके और स्वैराचारीके, भोगीके और त्यागीके जीवनमें भेद होना ही चाहिए। साम्य होता है, पर वह ऊपरसे देखने-भरका। भेद स्पष्ट प्रकट होना चाहिए। आँखका उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमा में लीन रहता है। दोनों कानका उपयोग करते हैं। पर एक ईश्वर भजन सुनता है, दूसरा जाग्रत अवस्थामें हृदय-मन्दिरमें विराजे हुए रामकी आराधना करता है, दूसरेको नाच-गानकी धुनमें सोनेका होश ही नहीं रहता। दोनों भोजन करते हैं। पर एक शरीर रूपी तीर्थक्षेत्रको निबाहने-भरके लिए देहको भाड़ा देता है, दूसरा स्वादके लिए देहमें अनेक वस्तुएँ भरकर उसे दुर्गन्धका घर बना डालता है। इस प्रकार दोनोंके आचार-विचारमें भेद बना ही रहता है, और यह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नही।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है, मन-वचन-कायासे समस्त इन्द्रियोंका संयम। इस संयमके लिए ऊपर बताये गये त्यागोंकी आवश्यकता है, इसे मैं दिन-प्रतिदिन अनुभव करता रहा हूँ और आज भी कर रहा हूँ। त्यागके क्षेत्रकी सीमा ही नही है, जैसे ब्रह्मचर्यकी महिमाकी कोई सीमा नही है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्नसे सिद्ध नही होता। करोड़ों लोगोंके लिए वह सदा केवल आदर्श-रूप ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्न-शील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियोंका नित्य दर्शन करेगा, अपने अन्दर ओने-कोनेमें छिपकर बैठे हुए विकारोंको पहचान लेगा, और उन्हें निकालनेका सतत् प्रयत्न करेगा। जबतक विचारोंपर इतना नियन्त्रण प्राप्त नही होता कि इच्छाके बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नही कहा जा सकता। विचार-मात्र विकार हैं। उन्हें वशमें करनेका मतलब है, मनको वशमें करना और मनको वशमें करना तो वायुको वशमें करनेसे भी कठिन है। फिर भी यदि आत्मा है, तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे मार्गमें कठिनाइयाँ आकर बाधा डालती हैं, इससे कोई यह न माने कि वह असाध्य है। वह परम अर्थ है। और परम अर्थके लिए परम प्रयत्नकी आवश्यकता हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

परन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है, इसे मैंने हिन्दुस्तानमें आनेके बाद अनुभव किया। कहा जा सकता है कि तब तक मैं अज्ञानके वशमें था। मैंने यह मान लिया था कि फलाहारसे विकार समूल नष्ट हो जाते हैं, और मैं अभिमान-पूर्वक यह मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं है।

पर इस विचारके प्रकरण तक पहुँचनेमें अभी देर है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कारके लिए जो लोग मेरी व्याख्यावाले ब्रह्मचर्यका

पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले हों, तो उनके लिए निराशाका कोई कारण नहीं रहेगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (गीता २, ५९)

निराहारीके विषय तो शान्त हो जाते है, पर उसकी वासनाका शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शनसे वासना भी शान्त हो जाती।

अतएव आत्मार्थीके लिए रामनाम और रामकृपा ही अन्तिम साधन है, इस वस्तुका साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तानमें ही किया।

९. सादगी

भोग भोगना मैंने शुरू तो किया, पर वह टिका नहीं। घरके लिए साज-सामान भी बिसाया, पर मेरे मनमें उसके प्रति कभी मोह उत्पन्न नहीं हो सका। इसलिए घर बसानेके साथ ही मैंने खर्च कम करना शुरू कर दिया। धोबीका खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। इसके अलावा, धोबी निश्चित समय पर कपड़े नहीं लौटाता था। इसलिए दो-तीन दर्जन कमीजों और उतने ही कालरोंसे भी मेरा काम चल नहीं पाता था। कालर मैं रोज बदलता था। कमीज रोज नहीं तो एक दिनके अन्तरसे बदलता था। इससे दोहरा खर्च होता था। मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ। अतएव मैंने धुलाईका सामान जुटाया। धुलाई-कला पर पुस्तक पढ़ी और धोना सीखा। पत्नीको भी सिखाया। कामका कुछ बोझ तो बढ़ा ही, पर नया काम होनेसे उसे करनेमें आनन्द आता था।

पहली बार अपने हाथोंसे धोये हुए कालरको तो मैं कभी भूल नहीं सकता। उसमें कलफ अधिक लग गया था और इस्तरी पूरी गरम नही थी। तिसपर कालरके जल जानेके डरसे इस्तरीको मैंने अच्छी तरह दबाया भी नहीं था। इससे कालरमें कड़ापन तो आ गया, पर उसमेंसे कलफ झड़ता रहा! ऐसी हालतमें मै कोर्ट गया और वहाँ बैरिस्टरोंके लिए मजाकका साधन बन गया। पर इस तरहका मजाक सह लेनेकी शक्ति उस समय भी मुझमें काफी थी।

मैंने सफाई देते हुए कहा, "अपने हाथों कालर धोनेका मेरा यह पहला प्रयोग है, इस कारण इसमेंसे कलफ झड़ रहा है। मुझे इससे कोई अड़चन नहीं होती; तिसपर आप सब लोगोंके लिए विनोदकी इतनी सामग्री जुटा रहा हूँ, सो घातेमें।"

एक मित्रने पूछा, "पर क्या धोबियोंका अकाल पड़ गया है?"

"यहाँ धोबीका खर्च मुझे तो असह्य मालूम होता है। कालरकी कीमतके बराबर धुलाई हो जाती है और उतनी धुलाई देनेके बाद भी धोबीकी गुलामी करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा अपने हाथसे धोना मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ।"

स्वावलम्बनकी यह खूबी मैं मित्रोंको समझा नहीं सका। मुझे कहना चाहिए कि आखिर धोबीके धन्धेमें अपने काम लायक कुशलता मैंने प्राप्त कर ली थी, और

घरकी धुलाई धोबीकी धुलाईसे जरा भी घटिया नहीं होती थी। कालरका कड़ापन और चमक धोबीके धोये कालरसे कम न रहती थी।

जब गोखले दक्षिण आफ्रिका आये, उनके पास स्व० महादेव गोविन्द रानडेकी प्रसादी-रूप एक दुपट्टा था। गोखले उस दुपट्टेको अतिशय जतनसे रखते थे और विषेष अवसर पर ही उसका उपयोग करते थे। जोहानिसबर्गमें उनके सम्मानमें जो भोज दिया गया था, वह एक महत्वपूर्ण अवसर था। उस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया वह दक्षिण आफ्रिकामें उनका सबसे बड़ा भाषण था। उस अवसर पर वे उक्त दुपट्टेका उपयोग करना चाहते थे। उसमें सिलवटें पड़ी हुई थीं, और उसपर इस्तरी करनेकी जरूरत थी। धोबीका पता लगाकर उससे तुरन्त इस्तरी कराना सम्भव न था। मैंने अपनी कलाका उपयोग करने देनेकी अनुमति गोखलेसे चाही।

"मै तुम्हारी वकालतका तो विश्वास कर लूंगा, पर इस दुपट्टे पर तुम्हें अपनी धोबी-कलाका उपयोग नहीं करने दूँगा। इस दुपट्टे पर तुम दाग लगा दो तो? इसकी कीमत तुम जानते हो?" यों कहकर अत्यन्त उल्लाससे उन्होंने प्रसादी की कथा मुझे सुनाई।

मैंने फिर विनती की और दाग न पड़ने देनेकी जिम्मेदारी ली। मुझे इस्तरी करनेकी अनुमति मिली। और अपनी कुशलताका प्रमाण-पत्र मुझे मिल गया! अब दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो भी क्या?

जिस तरह मैं धोबीकी गुलामीसे छूटा, उसी तरह नाईकी गुलामीसे भी छूटनेका अवसर आ गया। दाढ़ी तो विलायत जानेवाले सभी लोग हाथसे बनाने सीख ही लगते हैं, पर कोई बाल छाँटना भी सीखता होगा, इसका मुझे ख्याल नहीं है। एक बार प्रिटोरियामें मैं एक अंग्रेज हज्जामकी दुकान पर पहुँचा। उसने मेरी हजामत बनानेसे साफ इन्कार कर दिया, और इन्कार करते हुए तिरस्कार प्रकट किया, सो अलग। मुझे दुःख हुआ। मैं बाजार पहुँचा। मैंने बाल काटनेकी मशीन खरीदी और आईने सामने खड़े रहकर बाल काटे। बाल जैसे-तैसे कट तो गये, पर पीछेके बाल काटनेमें बड़ी कठिनाई हुई। सीधे तो कट ही न पाये। कोर्टमें खूब कहकहे लगे।

"तुम्हारे बाल ऐसे क्यों हो गये हैं? सिर पर चूहे तो नहीं चढ़ गये थे?"

मैंने कहा : "जी नहीं, मेरे काले सिरको गोरा हज्जाम कैसे छू सकता है? इसलिए कैसे भी क्यों न हों, अपने हाथसे काटे हुए बाल मुझे अधिक प्रिय हैं।"

इस उत्तरसे मित्रोंको आश्चर्य नहीं हुआ।

असलमें उस हज्जामका कोई दोष न था। अगर वह काली चमड़ीवालोंके बाल काटने लगता तो उसकी रोजी मारी जाती। हम भी अपने अछूतोंके बाल ऊँची जातिके हिन्दुओंके हज्जामोंको कहाँ काटने देते हैं?[1] दक्षिण आफ्रिकामें मुझे इसका बदला एक नहीं, बल्कि अनेकों बार मिला है; और चूँकि मैं यह मानता था कि यह हमारे दोषका परिणाम है, इसलिए मुझे इस बातसे कभी गुस्सा नहीं आया।

स्वावलम्बन और सादगीके मेरे शौकने आगे चलकर जो तीव्र स्वरूप धारण किया, यथास्थान उसका वर्णन करूँगा। इस चीजकी जड़ तो मेरे अन्दर शुरूसे ही

१. पहले यह परिस्थिति थी।

थी। उसके फूलने-फलनेके लिए केवल सिंचाईकी आवश्यकता थी। सिंचाईका वह अवसर अनायास ही मिल गया।

१०. बोअर युद्ध

सन् १८९७ से १८९९ के बीचके अपने जीवनके दूसरे अनेक अनुभवोंको छोड़कर अब मैं बोअर युद्ध पर आता हूँ।

जब यह युद्ध हुआ तब मेरी अपनी सहानुभूति केवल बोअरोंकी तरफ ही थी। पर मै मानता था कि ऐसे मामलोंमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इस सम्बन्धके मन्थन-चिन्तनका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' में किया है, इसलिए यहाँ नहीं करना चाहता।[1] जिज्ञासुओंको मेरी सलाह है कि वे उस इतिहासको पढ़ जायें। यहाँ तो इतना ही कहना काफी होगा कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए जबरदस्ती घसीट ले गई। मैंने अनुभव किया कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाजनके नाते अधिकार माँग रहा हूँ, तो उसी नाते ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें हाथ बँटाना भी मेरा धर्म है। उस समय मेरी यह राय थी कि हिन्दुस्तानकी सम्पूर्ण उन्नति ब्रिटिश साम्राज्यके अन्दर रहकर हो सकती है। अतएव जितने साथी मिले उतनोंको लेकर और अनेक कठिनाइयाँ सहकर हमने घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी खड़ी की।

अबतक साधारणतया यहाँके अंग्रेजोंकी यही धारणा थी कि हिन्दुस्तानी संकटके अवसर पर काम नहीं आते। उन्हें स्वार्थके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कई अंग्रेज मित्रोंने मुझे निराश करनेवाले उत्तर दिये थे। अकेले डाक्टर बूथने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने हमें घायल सैनिकोंकी सार-सँभाल करना सिखाया। अपनी योग्यताके विषयमें हमने डाक्टरी प्रमाणपत्र प्राप्त किये। श्री लाटन और स्व० श्री एस्कम्बने भी हमारे इस कार्यको पसन्द किया। अन्तमें लड़ाईके समय सेवा करने देनेके लिए हमने सरकारसे विनती की।[2] जवाबमें सरकारने हमें धन्यवाद दिया, पर यह सूचित किया कि इस समय हमें आपकी सेवाकी आवश्यकता नहीं है।

पर मुझे ऐसी 'ना' से सन्तोष मानकर बैठना तो था नहीं। डा० बूथकी मदद लेकर मैं नेटालके बिशपसे मिला। हमारी टुकड़ीमें बहुतसे ईसाई हिन्दुस्तानी थे। बिशपको मेरी माँग बहुत पसन्द आई। उन्होंने मदद करनेका वचन दिया।

इस बीच परिस्थितियाँ भी अपना काम कर रही थीं। बोअरोंकी तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अपेक्षासे अधिक तेजस्वी सिद्ध हुई। सरकारको बहुत-से रंगरूटोंकी जरूरत पड़ी और अन्तमें हमारी विनती स्वीकृत हुई।

१. देखिए खण्ड २९, ।

२. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ १२२-२३।

हमारी इस टुकड़ीमें लगभग ग्यारह सौ आदमी थे। उनमें करीब चालीस व्यक्ति मुखिया थे। दूसरे कोई तीन सौ स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भी रंगरूटोंमें भरती हुए थे। बाकीके गिरमिटिये थे। डा० बूथ भी हमारे साथ थे। उस टुकड़ीने अच्छा काम किया। यद्यपि उसे गोला-बारूदकी हदके बाहर रहकर ही काम करना होता था और 'रेडक्रॉस' का संरक्षण प्राप्त था, फिर भी संकटके समय गोला-बारूदकी सीमाके अन्दर काम करनेका अवसर भी हमें मिला। ऐसे संकटमें न पड़नेका इकरार सरकारने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था, पर स्पियाँकोपकी हारके बाद हालत बदल गई। इसलिए जनरल बुलरने सन्देशा भेजा कि यद्यपि आप लोग जोखिम उठानेके लिए वचनबद्ध नहीं हैं, तो भी यदि आप जोखिम उठाकर घायल सिपाहियों और अफसरोंको रणक्षेत्रसे उठाकर और डोलियोंमें डालकर ले जानेको तैयार हो जायेंगे, तो सरकार आपका उपकार मानेगी। हम तो जोखिम उठानेको तैयार ही थे। अतएव स्पियाँकोपकी लड़ाईके बाद हम गोला-बारूदकी सीमाके अन्दर काम करने लगे। इन दिनोंमें सबको कई बार दिनमें बीस-पचीस मीलतककी मंजिल तय करनी पड़ती थी और घायलोंको डोलीमें डालकर एक बार तो इतना ही चलना पड़ा था। जिन घायल योद्धाओंको हमें इस प्रकार उठाकर ले जाना पड़ा, उनमें जनरल वुडगेट वगैरा भी थे।

छः हफ्तोंके बाद हमारी टुकड़ीको बिदा दी गई। स्पियाँकोप और वालक्रांजकी हारके बाद लेडीस्मिथ आदि स्थानोंको बोअरोंके घेरेमें से बड़ी तेजीके साथ छुड़ानेका विचार ब्रिटिश सेनापतिने छोड़ दिया था, और इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तानसे और अधिक सेनाके आनेकी राह देखने तथा धीमी गतिसे काम करनेका निश्चय किया था।

हमारे छोटे-से कामकी उस समय तो बड़ी स्तुति हुई। इससे हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिन्दुस्तानी साम्राज्यके वारिस तो हैं ही' इस आशयके गीत गाये गये।

जनरल बुलरने अपने खरीतेमें हमारी टुकड़ीके कामकी तारीफ की। मुखियोंको युद्धके पदक[१] भी मिले।

इससे हिन्दुस्तानी कौम अधिक संगठित हो गई। मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंके बहुत अधिक संपर्कमें आ सका। उनमें अधिक जागृति आई और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिन्धी, सब हिन्दुस्तानी हैं, यह भावना अधिक दृढ़ हुई। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियोंके दुःख दूर होने ही चाहिए। उस समय तो गोरोंके व्यवहारमें भी स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया। लड़ाईमें गोरोंके साथ जो सम्पर्क हुआ, वह मधुर था। हमें हजारों टामियोंके साथ रहनेका मौका मिला। वे हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करते थे और यह जानकर कि हम उनकी सेवाके लिए आये हैं, हमारा उपकार मानते थे।

दुःखके समय मनुष्यका स्वभाव किस तरह पिघलता है, इसका एक मधुर संस्मरण यहाँ दिये बिना रह नहीं सकता। हम चीवली छावनीकी तरफ जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहाँ लार्ड राबर्ट्सके पुत्र लेफ्टिनेंट राबर्ट्सको प्राणघातक चोट लगी थी।

१. पदकके चित्रके लिए, देखिए खण्ड ३, पृष्ठ १३७।

लेफ्टिनेंट राबर्ट्सके शवको ले जानेका सम्मान हमारी टुकड़ीको मिला था। अगले दिन धूप तेज थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना दिखा। पहले पानी कौन पिये? मैंने सोचा कि पहले टामी पानी पी लें, बादमें हम पियेंगे। पर टामियोंने हमारी जरूरत समझकर देखकर तुरन्त हमसे पानी पी लेनेका आग्रह शुरू किया, और इस तरह बड़ी देर तक हमारे बीच 'आप पहले, हम पीछे'का मीठा झगड़ा चलता रहा।

११. सफाई आन्दोलन और अकाल-कोष

समाजके एक भी अंगका निरुपयोगी रहना मुझे हमेशा अखरा है। जनताके दोष छिपाकर उसका बचाव करना अथवा दोष दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर लगा है। इसलिए दक्षिण आफ्रिकामें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंपर लगाये जानेवाले एक आरोपका, जिसमें कुछ तथ्य था, इलाज करनेका काम मैंने वहाँ के अपने निवास-कालमें ही सोच लिया था। हिन्दुस्तानियोंपर जब-तब यह आरोप लगाया जाता था कि वे अपने घर-बार साफ नहीं रखते और बहुत गन्दे रहते हैं। इस आरोपको निःशेष करनेके लिए आरम्भमें हिन्दुस्तानियोंके मुखिया माने जानेवाले लोगोंके घरोंमें तो सुधार आरम्भ हो ही चुके थे। पर घर-घर घूमनेका सिलसिला तब शुरू हुआ जब डर्बनमें प्लेगके प्रकोपका डर पैदा हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटीके अधिकारियोंका भी सहयोग और सम्मति थी। हमारी सहायता मिलनेसे उनका काम हलका हो गया और हिन्दुस्तानियोंको कम कष्ट उठाने पड़े; क्योंकि साधारणतः जब प्लेग आदिका उपद्रव होता हैं तब अधिकारी घबरा जाते हैं और उपायोंकी योजनामें मर्यादासे आगे बढ़ जाते हैं। जो लोग उनकी दृष्टिमें खटकते हैं, उनपर उनका दबाव असह्य हो जाता है। भारतीय समाजने खुदही सख्त उपायोंसे काम लेना शुरू कर दिया था, इसलिए वह इन सख्तियोंसे बच गया।

मुझे कुछ कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकारसे अधिकारोंकी माँग करनेमें जितनी सरलतासे मैं अपने समाजकी सहायता पा सकता था, उतनी सरलतासे लोगोंसे उनके कर्तव्यका पालन करानेके काममें सहायता प्राप्त न कर सका। कुछ जगहों पर मेरा अपमान किया जाता, कुछ जगहों पर विनय-पूर्वक उपेक्षाका परिचय दिया जाता। गन्दगी साफ करनेके लिए कष्ट उठाना उन्हें बहुत अखरता था। तब पैसा खर्च करनेकी तो बात ही क्या? लोगोंसे कुछ भी काम कराना हो तो धीरज रखना चाहिए, यह पाठ मैंने अच्छी तरह सीख लिया। सुधारकी गरज तो सुधारककी अपनी होती है। जिस समाजमें वह सुधार करना चाहता है, उससे तो उसे विरोध, तिरस्कार और प्राणोंके संकटकी भी आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिसे सुधार मानता है, समाज उसे बिगाड़ क्यों न माने? अथवा बिगाड़ न माने तो भी उसके प्रति उदासीन क्यों न रहे?

इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजमें घर-बार साफ रखने के महत्त्वको न्यूनाधिक मात्रामें स्वीकार कर लिया गया। अधिकारियोंकी दृष्टिमें मेरी

साख बढ़ी। वे समझ गये कि मेरा धन्धा केवल शिकायतें करने या अधिकार माँगनेका ही नहीं है; बल्कि शिकायतें करने या अधिकार माँगनेमें मैं जितना तत्पर हूँ, उतना ही उत्साह और दृढ़ता भीतरी सुधारके लिए भी मुझमें है।

पर अभी समाजकी वृत्तिको दूसरी एक दिशामें विकसित करना बाकी था। इन उपनिवेशवासी भारतीयोंको भारतवर्षके प्रति अपना धर्म भी अवसर आनेपर समझना और पालना था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमानेके लिए परदेश जाते हैं। उनकी कमाईका कुछ हिस्सा भारतवर्षको आपत्तिके समयमें मिलना चाहिए। सन् १८९७ में यहाँ अकाल पड़ा था और सन् १८९९ में दूसरा भारी अकाल पड़ा।[1] इन दोनों अकालोंके समय दक्षिण आफ्रिकासे अच्छी मदद आई थी। पहले अकालके समय जितनी रकम इकट्ठा हो सकी थी, दूसरे अकालके मौकेपर उससे कहीं अधिक रकम इकट्ठा हुई थी। इस चन्देमें हमने अंग्रेजोंसे भी मदद माँगी थी और उनकी ओरसे अच्छा उत्तर मिला था। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों भी अपने हिस्सेकी रकम जमा कराई थी। इस प्रकार इन दो अकालोंके समय जो प्रथा शुरू हुई वह अबतक कायम है, और हम देखते हैं कि जब भारतवर्षमें कोई सार्वजनिक संकट उपस्थित होता है, तब दक्षिण आफ्रिकाकी ओरसे वहाँ बसनेवाले भारतीय हमेशा अच्छी रकमें भेजते हैं।

इस तरह आफ्रिकाके भारतीयोंकी सेवा करते हुए मैं स्वयं धीरे-धीरे कई बातें अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यों-ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमेंसे नये-नये फल पैदा होते दिखाई पड़ते हैं। उसका अन्त ही नहीं होता। हम जैसे-जैसे सेवामें गहरे उतरते हैं, वैसे-वैसे उसमेंसे अधिक रत्न मिलते जाते हैं, सेवाके अवसर प्राप्त होते रहते हैं।

१२. देश-गमन

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेके बाद मैंने अनुभव किया कि अब मेरा काम दक्षिण आफ्रिकामें नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानमें है। मैंने देखा कि दक्षिण आफ्रिकामें बैठा-बैठा मैं कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूँगा, पर वहाँ मेरा मुख्य धन्धा धन कमाना ही हो जायेगा।

देशका मित्रवर्ग भी देश लौट आनेके लिए बराबर आग्रह करता रहता था। मुझे भी लगा कि देश जानेसे मेरा उपयोग अधिक हो सकेगा। नेटालमें श्री खान और मनसुखलाल नाजर थे ही। मैंने साथियोंके सामने मुक्त होनेकी इच्छा प्रकट की। बड़ी कठिनाईसे और एक शर्तके साथ वह पूरी की गई। शर्त यह थी कि यदि एक वर्षके अन्दर कौमकी मेरी आवश्यकता मालूम हुई, तो मुझे वापस दक्षिण आफ्रिका पहुँचना होगा। मुझे यह शर्त कड़ी लगी, पर मैं प्रेमपाशमें बँधा हुआ था:

१. देखिए खण्ड २, पृष्ठ १७९-१९२; और खण्ड ३, पृष्ठ १६२-६३।

काचे रे तांतणे मने हरिजीये बाँधी
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे

हरिजीने मुझे कच्चे (प्रेम के) धागेसे बाँध रखा है। वे ज्यों-ज्यों उसे खींचते हैं, त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूँ। मुझे प्रेमकी कटारी लगी है।

मीराबाईकी यह उपमा थोड़े-बहुत अंशोंमें मुझपर घटित हो रही थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रोंकी बातको मैं ठुकरा नहीं सकता था। मैंने वचन दिया और उनकी अनुमति प्राप्त की।

कहना होगा कि इस समय मेरा निकट सम्बन्ध नेटालके साथ ही था। नेटालके हिन्दुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला दिया। जगह-जगह मानपत्र समर्पणकी सभाएँ[1] हुई और हर जगहसे कीमती भेंटें मिलीं।

सन् १८९६ में[2] जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं। पर इस बारकी भेंटोंसे और सभाओंके दृश्यसे मैं अकुला उठा। भेंटोंमें सोने-चाँदीकी चीजें तो थीं ही, पर हीरेकी चीजें भी थीं।

इन सब चीजोंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार था? यदि मैं उन्हें स्वीकार करता तो अपने मनको यह कैसे समझाता कि कौमकी सेवा मैं पैसे लेकर नहीं करता? इन भेंटोंमें से मुवक्किलोंकी दी हुई थोड़ी चीजोंको छोड़ दें, तो बाकी सब मेरी सार्वजनिक सेवाके निमित्तसे ही मिली थीं। फिर, मेरे मनमें तो मुवक्किलों और दूसरे साथियोंके बीच कोई भेद नहीं था। सभी खास-खास मुवक्किल सार्वजनिक कामोंमें भी मदद देनेवाले थे।

साथ ही, इन भेंटोंमें पचास गिन्नियोंका एक हार कस्तूरबाईके लिए था। पर वह वस्तु भी मेरी सेवाके कारण ही मिली थी। इसलिए वह दूसरी भेंटोंसे अलग नहीं की जा सकती थी।

जिस शामको इनमेंसे मुख्य भेंटें मिली थीं, वह रात मैंने पागलकी तरह जागकर बिताई। मैं अपने कमरेमें चक्कर काटता रहा, पर उलझन किसी तरह सुलझती न थी। सैकड़ोंकी कीमतके उपहारोंको छोड़ना कठिन मालूम होता था; रखना उससे भी अधिक कठिन लगता था।

मन प्रश्न करता: मैं शायद भेंटोंको पचा पाऊँ, पर मेरे बच्चोंका क्या होगा? स्त्रीका क्या होगा? उन्हें शिक्षा तो सेवाकी मिलती थी। उन्हें हमेशा समझाया जाता था कि सेवाके दाम नहीं लिए जा सकते।

मैं घरमें कीमती गहने वगैरा रखता नहीं था। सादगी बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थितिमें सोनेकी घड़ियोंका उपयोग कौन करता? सोनेकी जंजीरें और हीरेकी अँगूठियाँ कौन पहनता? मैं उस समय भी गहनों-गुरियोंका मोह छोड़नेका उपदेश औरोंको दिया करता था। अब इन गहनों और जवाहरातका मैं क्या करता?

१. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २२१।
२. गांधीजी जून १८९६ में भारत लौटे थे। देखिए खण्ड १, द्वितीय संशोधित संस्करण पृष्ठ ३५१-५२।

मैं इस निर्णयपर पहुँचा कि मुझे ये चीजें रखनी ही नहीं चाहिए। पारसी रुस्तमजी आदिको इन गहनोंका न्यासी नियुक्त करके उनके नाम लिखे जानेवाले पत्र[1] का मसविदा मैंने तैयार किया, और सवेरे स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हलका करनेका निश्चय किया।

मैं यह जानता था कि धर्मपत्नीको समझाना कठिन होगा। बच्चोंको समझानेमें जरा भी कठिनाई नहीं होगी, इसका मुझे विश्वास था। अतः उन्हें इस मामलेमें वकील बनानेका मैंने निश्चय किया।

लड़के तो तुरन्त समझ गये। उन्होंने कहा, "हमें इन गहनोंकी आवश्यकता नही है। हमें यह सब लौटा ही देने चाहिए और जीवनमें कभी हमें इन वस्तुओंकी आवश्यकता हुई, तो क्या हम स्वयं खरीद न सकेंगे?"

मै खुश हुआ। मैने पूछा, "तो तुम अपनी माँ को समझाओगे न?"

"जरूर, जरूर। यह काम हमारा समझिए। उसे कौन ये गहने पहनने है? वह तो हमारे लिए ही रखना चाहती है। हमें उनकी जरूरत नहीं है, फिर वह हठ क्यों करेगी?"

पर काम जितना सोचा था उससे अधिक कठिन सिद्ध हुआ।

"भले तुम्हें जरूरत न हो और तुम्हारे लड़कोंको भी न हो। बच्चोंको तो जिस रास्ते लगा दो, उसी रास्ते वे लग जाते है। भले मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओंका क्या होगा? ये चीजें उनके तो काम आयेंगी न? और कौन जानता है कल क्या होगा? इतने प्रेमसे दी गई चीजें वापस नहीं की जा सकतीं।"

पत्नीकी वाग्धारा चली, और उसके साथ अश्रुधारा मिल गई। बच्चे दृढ़ रहे। मुझे तो डिगना था ही नहीं।

मैंने धीरेसे कहा: "लड़कोंका ब्याह होने तो दो। हमें कौन उन्हें बचपनमें ब्याहना है? बड़े होनेपर तो ये स्वयं ही जो करना चाहेंगे, करेंगे। और गहनोंकी शौकीन बहुएँ कहाँ खोजनी हैं हमें? इतनेपर भी कुछ घड़ाना ही पड़ा, तो मैं कहाँ चला जाऊँगा?"

"जानती हूँ आपको। मेरे गहने भी तो आपने ही ले लिये न? जिन्होंने मुझे सुखसे न पहनने दिये, वह मेरी बहुओंके लिए क्या लायेंगे? लड़कोंको आप अभीसे बैरागी बना रहे हैं! ये गहने वापस नहीं दिये जा सकते। और, मेरे हारपर आपका क्या अधिकार है?"

मैंने पूछा, "पर यह हार तुम्हारी सेवाके बदलेमें मिला है या मेरी सेवाके?"

"कुछ भी हो। आपकी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे तुमने रात-दिन जो मजदूरी करवाई वह क्या सेवामें शुमार न होगी? मुझे रुलाकर भी तुमने हर किसीको घरमें ठहराया और उसकी चाकरी करवाई, उसे क्या कहेंगे?"

ये सारे बाण नुकीले थे। इनमेंसे कुछ चुभते थे, पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत-सी बातोंपर मैंने जैसे-तैसे कस्तूरबाकी सहमती प्राप्त कर ली।

१. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २२३।

१८९६में और १९०१में मिली हुई भेंटें मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और सार्वजनिक कामके लिए उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छानुसार किया जाये, इस शर्तके साथ वे बैंकमें रख दी गई।

इन गहनोंको बेचनेके निमित्तसे मैं कई बार पैसे इकट्ठा करनेमें समर्थ हो पाया। आज भी आपत्ति-कोषके रूपमें यह धन मौजूद है, और उसमें वृद्धि होती रहती है।

अपने इस कार्यपर मुझे कभी पश्चात्ताप नही हुआ। दिन बीतनेपर कस्तूरबाको भी इसके औचित्यकी प्रतीति हो गई। इससे हम बहुत-से लालचोंसे बच गये हैं।

मेरा यह मत बना है कि निजी भेंटें सार्वजनिक सेवकके लिए नहीं हो सकतीं।

१३. देशमें

इस प्रकार मै देश जानेके लिए बिदा हुआ। रास्तेमें मारिशस (टापू) पड़ता था। वहाँ जहाज लम्बे समयतक ठहरा था। इसलिए मैं मारिशसमें उतरा[1] और वहाँकी स्थितिकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर ली। एक रात मैंने वहाँके गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूसके यहाँ भी बिताई थी।

हिन्दुस्तान पहुँचनेपर थोड़ा समय मैंने घूमने-फिरनेमें बिताया। यह सन् १९०१ का जमाना था। उस सालकी कांग्रेस कलकत्तेमें होनेवाली थी। दिनशा एदुलजी वाच्छा उसके अध्यक्ष थे। मुझे कांग्रेसमें तो जाना था ही। कांग्रेसका यह मेरा पहला अनुभव था।

बम्बईसे जिस गाड़ीमें सर फीरोजशाह मेहता रवाना हुए उसीमें मैं भी गया था। मुझे उनसे दक्षिण आफ्रिकाके बारेमें बातें करनी थीं। उनके डिब्बेमें एक स्टेशन तक जानेकी मुझे अनुमति मिली थी। उन्होंने तो खास सलूनका प्रबन्ध किया था। उनके शाही खर्च और ठाट-बाटसे मैं परिचित था। जिस स्टेशनपर उनके डिब्बेमें जानेकी मुझे अनुमति मिली थी, उस स्टेशनपर मैं उसमें पहुँचा। उस समय उनके डिब्बेमें तबके दिनशाजी और तबके चिमनलाल सीतलवाड़ (इन दोनोंको 'सर' की उपाधि बादमें मिली थी) बैठे थे। उनके साथ राजनीतिक चर्चा चल रही थी। मुझे देखकर सर फीरोजशाह बोले, "गांधी, तुम्हारा काम पार न पड़ेगा। तुम जो कहोगे सो प्रस्ताव तो हम पास कर देंगे, पर अपने देशमें ही हमें कौन-से अधिकार मिलते हैं? मैं तो मानता हूँ कि जबतक अपने देशमें हमें सत्ता नहीं मिलती, तबतक उपनिवेशोंमें तुम्हारी स्थिति सुधर नहीं सकती।"

मैं तो सुनकर दंग ही रह गया। सर चिमनलालने हाँ-में-हाँ मिलाई। सर दिनशाने मेरी ओर दयार्द्र दृष्टिसे देखा।

१. मारीशसमें दिये गये भाषणके विवरणके लिए देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २२६-२२७।

मैंने समझानेका कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बम्बईके बेताजके बादशाहको मेरे जैसा आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इतनेसे ही सन्तोष माना कि मुझे कांग्रेसमें प्रस्ताव पेश करने दिया जायेगा।

दिनशा वाच्छा मेरा उत्साह बढ़ानेके लिए बोले, "गांधी, प्रस्ताव लिखकर मुझे बताना तो भला।" मैंने उनका उपकार माना। दूसरे स्टेशनपर ज्यों ही गाड़ी खड़ी हुई, मैं भागा और अपने डिब्बेमें घुस गया।

हम कलकत्ते पहुँचे। अध्यक्ष आदि नेताओंको नागरिक धूमधामसे ले गये। मैंने किसी स्यंसेवकसे पूछा, "मुझे कहाँ जाना चाहिए?" वह मुझे रिपन कालेज ले गया। वहाँ बहुत-से प्रतिनिधि ठहराये गये थे। मेरे सौभाग्यसे जिस विभागमें मै था, उसीमें लोकमान्य तिलक भी ठहरे हुए थे। मुझे याद पड़ता है कि वे एक दिन बाद पहुँचे थे।

जहाँ लोकमान्य हों, वहाँ छोटा-सा दरबार तो लग ही जाता था। मैं चित्रकार होता, तो जिस खटियापर वे बैठते थे, उसका चित्र खींच देता। उस जगहका और उनकी बैठकका आज भी मुझे इतना स्पष्ट स्मरण है। उनसे मिलने आनेवाले अनगिनत लोगोंमें से एक ही का नाम मुझे याद है—'अमृतबाजार पत्रिका'के मोती बाबू। उन दोनोंका खिलखिलाकर हँसना और राज्यकर्त्ताओंके अन्यायके विषयमें उनकी बातें भूलने योग्य नहीं हैं।

लेकिन वहाँकी व्यवस्थाको थोड़ा देखें। स्वयंसेवक एक-दूसरेसे टकराते रहते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता वह स्वयं उसे न करता था। वह तुरन्त दूसरेको पुकारता था। दूसरा तीसरेको। बेचारा प्रतिनिधि तो न तीनमें होता, न तेरहमें।

मैंने अनेक स्वयंसेवकोंसे दोस्ती की। उनसे दक्षिण आफ्रिकाकी कुछ बातें की। इससे वे जरा शरमिन्दा हुए। मैंने उन्हें सेवाका मर्म समझानेका प्रयत्न किया। वे कुछ समझे। पर सेवाकी अभिरुचि कुकुरमुत्तेकी तरह बातकी-बातमें तो उत्पन्न नहीं हो जाती। उसके लिए इच्छा चाहिए और बादमें अभ्यास। इन भोले और भले स्वयं-सेवकोंमें इच्छा तो बहुत थी, पर तालीम और अभ्यास वे कहाँसे पाते? कांग्रेस सालमें तीन दिनके लिए इकट्ठा होकर फिर सो जाती थी। सालमें सिर्फ तीन दिनकी तालीमसे कितना सीखा जा सकता था? जैसे स्वयंसेवक थे, वैसे ही प्रतिनिधि थे। उन्हें भी इतने ही दिनोंकी तालीम मिलती थी। वे अपने हाथसे अपना कोई भी काम न करते थे। सब बातोंमें उनके हुक्म छूटते रहते थे। 'स्वयंसेवक, यह लाओ; स्वयंसेवक, वह लाओ' चला ही करता था।

अखा भगत (गुजरातके एक भक्त कवि। इन्होंने अपने एक छप्पयमें छूआछूतको 'आभडछेड अदकेरो अंग' कहकर उसका विरोध किया है और कहा है कि हिन्दू धर्ममें अस्पृश्यताके लिए कोई स्थान नहीं है।) के 'अदकेरा अंग'—'अतिरिक्त अंग'का भी ठीक-ठीक अनुभव हुआ। छुआछूतको माननेवाले वहाँ बहुत थे। द्राविड़ी रसोई बिलकुल अलग थी। उन प्रतिनिधियोंको तो 'दृष्टिदोष' भी लगता था! उनके लिए कालेजके अहातेमें चटाइयोंका रसोईघर बनाया गया था। उसमें धुआँ इतना रहता था कि आदमीका दम घुट जाये। खाना-पीना सब उसीके अन्दर। रसोईघर

क्या था, एक तिजोरी थी। वह कहींसे भी खुला न था। मुझे यह वर्ण-धर्म उलटा लगा। कांग्रेसमें आनेवाले प्रतिनिधि जब इतनी छुआछूत रखते हैं, तो उन्हें भेजनेवाले लोग कितनी रखते होंगे? इस प्रकारका त्रैराशिक लगानेसे जो उत्तर मिला, उसपर मैंने एक लम्बी साँस ली।

गन्दगीकी हद नही थी। चारों तरफ पानी ही पानी फैल रहा था। पाखाने कम थे। उनकी दुर्गन्धकी याद आज भी मुझे हैरान करती है। मैंने एक स्वयंसेवकको यह सब दिखाया। उसने साफ इनकार करते हुए कहा "यह तो भंगीका काम है।" मैंने झाड़ू माँगा। वह मेरा मुँह ताकता रहा। मैंने झाड़ू खोज निकाला। पाखाना साफ किया। पर यह तो मेरी अपनी सुविधाके लिए हुआ। भीड़ इतनी ज्यादा थी और पाखाने इतने कम थे कि हर बारके उपयोगके बाद उनकी सफाई होनी जरूरी थी। यह मेरी शक्तिके बाहरकी बात थी। इसलिए मैंने अपने लायक सुविधा करके सन्तोष माना। मैंने देखा कि दूसरोंको यह गन्दगी जरा भी अखरती न थी।

पर बात यहीं खतम नही होती। रातके समय कोई-कोई तो कमरेके सामनेवाले बरामदेमें ही निबट लेते थे। सवेरे स्वयंसेवकोंको मैंने मैला दिखाया। कोई साफ करनेको तैयार न था। उसे साफ करनेका सम्मान भी मैंने ही प्राप्त किया। यद्यपि अब इन बातोंमें बहुत सुधार हो गया है, फिर भी अविचारी प्रतिनिधि अबतक कांग्रेसके शिविरको जहाँ-तहाँ मलत्याग करके गन्दा करते हैं, और सब स्वयंसेवक उसे साफ करनेके लिए तैयार नही होते।

मैंने देखा कि अगर कांग्रेसकी बैठक ऐसी गन्दगीमें अधिक दिनों तक जारी रहती तो अवश्य बीमारी फैल जाती।

१४. क्लर्क और बैरा

कांग्रेसके अधिवेशनको एक-दो दिनकी देर थी। मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेसके कार्यालयमें मेरी सेवा स्वीकार की जाये, तो सेवा करूँ और अनुभव लूँ। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन नहा-धोकर मैं कांग्रेसके कार्यालयमें गया।

श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मन्त्री थे। मैं भूपेनबाबूके पास पहुँचा और सेवाकी माँग की। उन्होंने मेरी ओर देखा और बोले: "मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद श्री घोषाल आपको कुछ काम दे सकेंगे। उनके पास जाइए।"

मैं घोषाल बाबूके पास गया। उन्होंने मुझे ध्यानसे देखा और जरा हँसकर मुझसे पूछा:

"मेरे पास तो क्लर्कका काम है, आप करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया: "अवश्य करूँगा। मेरी शक्तिसे बाहर न हो, ऐसा हर काम करनेके लिए मैं आपके पास आया हूँ।"

"नौजवान, यही सच्ची भावना है।" और बगलमें खड़े स्वयंसेवकोंकी ओर देखकर बोले: "सुनते हो, यह युवक क्या कह रहा है?"

फिर मेरी ओर मुड़कर बोले: "तो देखिए यह तो है पत्रोंका ढेर, और यह मेरे सामने कुर्सी है। इसकर आप बैठिए। आप देखते हैं कि मेरे पास सैकड़ों आदमी आते रहते हैं। मै उनसे मिलूं या इन बेकार पत्र लिखनेवालोंको उनके पत्रोंका जवाब लिखूं? मेरे पास ऐसे क्लर्क नहीं है, जिनसे यह काम ले सकूँ। इन सब पत्रोमें से बहुतोंमें कामकी एक भी बात न होगी। पर आप सबको देख जाइए। जिसकी पहुँच भेजना उचित समझें उसकी पहुँच भेज दीजिए। जिसके जवाबके बारेमें मुझसे पूछना जरूरी समझें मुझे पूछ लीजिए।"

मै तो इस विश्वाससे मुग्ध हो गया।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-धाम जाननेका काम तो उन्होंने बादमें किया।

पत्रोंका ढेर साफ करनेका काम मुझे बहुत आसान लगा। अपने सामने रखे हुए ढेरको मैंने तुरन्त निबटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उनका स्वभाव बातूनी था। मैं देखता था कि बातोंमें वे अपना बहुत समय बिता देते थे। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो मुझे क्लर्कका काम सौंपनेके लिए वे कुछ लज्जित हुए। पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया: "कहाँ आप और कहाँ मै? आप कांग्रेसके पुराने सेवक हैं। मेरे गुरुजन हैं। मैं एक अनुभवहीन नवयुवक हूँ। यह काम सौंपकर आपने मुझपर उपकार ही किया है, क्योंकि मुझे कांग्रेसमें काम करना है। उसके कामकाजको समझनेका आपने मुझे अलभ्य अवसर दिया है।"

घोषालबाबू बोले, "असलमें यही सच्ची वृत्ति है। पर आजके नवयुवक इसे नहीं मानते। वैसे, मैं तो कांग्रेसको उसके जन्मसे जानता हूँ। उसे जन्म देनेमें श्री ह्यूमके साथ मेरा भी हिस्सा था।"

हमारे बीच अच्छी मित्रता हो गई। दोपहरके भोजनमें उन्होंने मुझे अपने साथ ही रखा।

घोषालबाबूके बटन भी 'बैरा' लगाता था। यह देखकर 'बैरे'का काम मैंने ही ले लिया। मुझे वह पसन्द था। बड़ोंके प्रति मेरे मनमें बहुत आदर था। जब वे मेरी वृत्ति समझ गये, तो अपनी निजी सेवाके सारे काम मुझसे लेने लगे। बटन लगाते समय मुझसे मुस्कुराकर कहते, "देखिए न, कांग्रेसके सेवकको बटन लगानेका भी समय नहीं मिलता, क्योंकि उस समय भी उसे काम रहता है!" इस भोलेपन पर मुझे हँसी तो आई, पर ऐसी सेवाके प्रति मनमें थोड़ी भी अरुचि उत्पन्न न हुई। और मुझे जो लाभ हुआ, उसकी कीमत तो आँकी ही नही जा सकती।

कुछ ही दिनोंमें मुझे कांग्रेसकी व्यवस्थाका ज्ञान हो गया। कई नेताओंसे भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते थे। मैं उनकी रीति-नीति देख सका। वहाँ समयकी जो बरबादी होती थी, उसे भी मैंने अनुभव किया। अंग्रेजी भाषाका प्राबल्य भी देखा। इससे उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमीसे हो सकनेवाले काममें अनेक आदमी लग जाते थे, और यह भी देखा कि कितने ही महत्वपूर्ण काम कोई करता ही न था।

मेरा मन इस सारी स्थितिकी टीका किया करता था। पर चित्त उदार था, इसलिए वह मान लेता था कि जो हो रहा है, उसमें अधिक सुधार करना सम्भव न होगा। फलतः मनमें किसीके प्रति अरुचि पैदा न होती थी।

१५. कांग्रेसमें

कांग्रेसका अधिवेशन शुरू हुआ। पंडालका भव्य दृश्य, स्वयंसेवकोंकी कतारें, मंचपर नेताओंकी उपस्थिति इत्यादि देखकर मैं घबरा गया। इस सभामें मेरा पता कहाँ लगेगा, यह सोचकर मै अकुला उठा।

सभापतिका भाषण तो एक पुस्तक ही थी। स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह पूरा पढ़ा जा सके। अतः उसके कुछ अंश ही पढ़े गये।

बादमें विषय-निर्वाचिनी-समितिके सदस्य चुने गये। उसमें गोखले मुझे ले गये थे।

सर फीरोजशाहने मेरा प्रस्ताव लेनेकी स्वीकृति तो दी थी, पर उसे कांग्रेसकी विषय-निर्वाचिनी समितिमें कौन प्रस्तुत करेगा, कब करेगा, यह सोचता हुआ मैं समितिमें बैठा रहा। हरएक प्रस्तावपर लम्बे-लम्बे भाषण होते थे और सब अंग्रेजीमें। हरएकके साथ प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम जुड़े होते थे। इस नक्कारखानेमें मेरी तूती कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात बीतती जाती थी, त्यों-त्यों मेरे दिलकी धड़कन बढ़ती जाती थी। मुझे याद आ रहा है कि अन्त-अन्तमें पेश होनेवाले प्रस्ताव आजकलके विमानोंकी गतिसे चल रहे थे। सभी भागनेकी तैयारीमें थे। रातके ग्यारह बज गये थे। मुझमें बोलनेकी हिम्मत न थी। मैं गोखलेसे मिल चुका था, और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था। उनकी कुर्सीके पास जाकर मैंने धीरेसे कहा: "मेरे लिए कुछ कीजियेगा।" उन्होंने कहा: "आपके प्रस्तावको मै भूला नहीं हूँ। यहाँकी उतावली आप देख रहे हैं, पर मैं इस प्रस्तावको भूलने नहीं दूँगा।"

सर फीरोजशाह बोले: "कहिए, सब काम निबट गया न?"

गोखले बोल उठे: "दक्षिण आफ्रिकाका प्रस्ताव तो बाकी ही है। श्री गांधी कबसे बैठे राह देख रहे हैं।"

सर फीरोजशाहने पूछा: "आप उस प्रस्तावको देख चुके हैं?"

"हाँ।"

"आपको वह पसन्द आया?"

"काफी अच्छा है।"

"तो गांधी, पढ़ो।"

मैंने कांपते हुए प्रस्ताव पढ़ सुनाया।

गोखलेने उसका समर्थन किया।

सब बोल उठे, "सर्व-सम्मतिसे पास।"

वाच्छा बोले, "गांधी, तुम पाँच मिनट लेना।"

इस दृश्यसे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। किसीने भी प्रस्तावको समझनेका कष्ट नहीं उठाया। सब जल्दीमें थे। गोखलेने प्रस्ताव देख लिया था, इसलिए दूसरोंको देखने-सुननेकी आवश्यकता प्रतीत न हुई।

सवेरा हुआ। मुझे तो अपने भाषणकी फिक्र थी। पाँच मिनटमें क्या बोलूँगा? मैंने तैयारी तो अच्छी कर ली थी पर उपयुक्त शब्द सूझते न थे। लिखित भाषण न पढ़नेका मेरा निश्चय था। पर ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण आफ्रिकामें भाषण करनेकी जो स्वस्थता मुझमें आई थी, उसे मैं यहाँ खो बैठा था।

मेरे प्रस्तावका समय आने पर सर दिनशाने मेरा नाम पुकारा[1]। मैं खड़ा हुआ। मेरा सिर चकराने लगा। जैसे-तैसे मैंने प्रस्ताव पढ़ा। किसी कविने अपनी कविता छपाकर सब प्रतिनिधियोंमें बाँटी थी। उसमें परदेश जानेकी और समुद्र-यात्राकी स्तुति थी। वह मैंने पढ़ सुनाई, और दक्षिण आफ्रिकाके दु:खोंकी थोड़ी चर्चा की। इतनेमें सर दिनशाकी घंटी बजी। मुझे विश्वास था कि मैंने अभी पाँच मिनट पूरे नहीं किये हैं। मुझे पता न था कि यह घंटी मुझे चेतानेके लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गई थी। मैंने बहुतोंको आध-आध, पौन-पौन घंटे बोलते देखा था और घंटी नहीं बजी थी। मुझे दु:ख तो हुआ। घंटी बजते ही मैं बैठ गया। पर उक्त काव्यमें सर फीरोजशाहको उत्तर मिल गया,[2] ऐसा मेरी अल्पबुद्धिने उस समय मान लिया। प्रस्ताव पास होनेके बारेमें तो पूछना ही क्या था? उन दिनों दर्शक और प्रतिनिधिका भेद क्वचित् ही किया जाता था। प्रस्तावोंका विरोध करनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। सब हाथ उठाते ही थे। सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास होते थे। मेरा प्रस्ताव भी इसी तरह पास हुआ। इसलिए मुझे प्रस्तावका महत्व नहीं जान पड़ा। फिर भी कांग्रेसमें मेरा प्रस्ताव पास हुआ, यह बात ही मेरे आनन्दके लिए पर्याप्त थी। जिस पर कांग्रेसकी मुहर लग गई, उसपर सारे भारतकी मुहर है, यह ज्ञान किसके लिए पर्याप्त न होगा?

१६. लार्ड कर्जनका दरबार

कांग्रेस-अधिवेशन समाप्त हुआ, पर मुझे तो दक्षिण आफ्रिकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहकर चेम्बर आफ कामर्स इत्यादि मण्डलोंसे मिलना था। इसलिए मैं कलकत्तेमें एक महीना ठहरा। इस बार मैंने होटलमें ठहरनेके बदले परिचय प्राप्त करके 'इंडिया क्लब' में ठहरनेकी व्यवस्था की। इस क्लबमें अग्रगण्य भारतीय उतरा करते थे। इससे मेरे मनमें यह लोभ हुआ कि उनसे मेलजोल बढ़ाकर उनमें दक्षिण आफ्रिकाके कामके लिए दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लबमें गोखले हमेशा तो नहीं, पर कभी-कभी बिलियर्ड खेलने आया करते थे। जैसे ही उन्हें पता चला कि

१. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २२९-३२।

२. देखिए पृष्ठ १७२।

मैं कलकत्तेमें ठहरनेवाला हूँ, उन्होंने मुझे अपने साथ रहनेके लिए निमन्त्रित किया। मैंने उनका निमन्त्रण साभार स्वीकार किया, पर मुझे अपने-आप वहाँ जाना ठीक न लगा। एक-दो दिन बाट जोहता रहा। इतनेमें गोखले खुद आकर मुझे अपने साथ ले गये। मेरा संकोच देखकर उन्होंने कहा: "गांधी, तुम्हें, इस देशमें रहना है। अतएव ऐसे संकोचसे काम नहीं चलेगा। जितने अधिक लोगोंके साथ मेलजोल बढ़ा सको, तुम्हें बढ़ाना चाहिए। मुझे तुमसे कांग्रेसका काम लेना है।".

गोखलेके स्थान पर जानेसे पहलेका 'इंडिया क्लब' का एक अनुभव यहाँ देता हूँ।

उन्हीं दिनों लार्ड कर्जनका दरबार हुआ था। उसमें आनेवाले कोई राजा इस क्लबमें ठहरे हुए थे। क्लबमें तो मै उनको हमेशा सुन्दर बंगाली धोती, कुर्ता और चादरकी पोशाकमें देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामोंकी-सी पगड़ी और चमकीले बूट पहने थे। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस परिवर्तनका कारण पूछा।

जवाब मिला, "हमारा दुःख हम ही जानते हैं। अपनी सम्पत्ति और अपनी उपाधियोंको सुरक्षित रखनेके लिए हमें जो अपमान सहने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?"

"पर यह खानसामे-जैसी पगड़ी और ये बूट किसलिए?"

"हममें और खानसामोंमें आपने क्या फर्क देखा? वे हमारे खानसामा हैं, तो हम लार्ड कर्जनके खानसामा हैं। यदि मै दरबारमें अनुपस्थित रहूँ, तो मुझे उसका दण्ड भुगतना पड़ेगा। अपनी साधारण पोशाक पहनकर जाऊँ, तो वह अपराध माना जायेगा। और वहाँ जाकर भी क्या मुझे लार्ड कर्जनसे बातें करनेका अवसर मिलेगा? कदापि नहीं।"

मुझे इस स्पष्ट वक्ता भाई पर दया आई।

इसी जगह एक और दरबार मुझे याद आ रहा है।

जब काशीके हिन्दू विश्वविद्यालयकी नीव लार्ड हार्डिगके हाथों रखी गई, तब उनका दरबार हुआ था। उसमें राजा-महाराजा तो आये ही थे। भारतभूषण मालवीयजीने मुझसे भी उसमें उपस्थित रहनेका विशेष आग्रह किया था। मैं वहाँ गया था।

राजा-महाराजाओंकी केवल स्त्रियोंके ही योग्य पोशाकें देखकर मुझे दुःख हुआ था। रेशमी पाजामे, रेशमी अँगरखे और गलेमें हीरे-मोतीकी मालाएँ, हाथ पर बाजूबन्द और पगड़ी पर हीरे-मोतीकी झालरें! इन सबके साथ कमरमें सोनेकी मूठवाली तलवार लटकती थी। किसीने बताया कि ये चीजें उनके राज्याधिकारकी नहीं, बल्कि उनकी गुलामीकी निशानियाँ हैं। मैं मानता था कि ऐसे नामर्दी-सूचक आभूषण वे स्वेच्छासे पहनते होंगे। पर मुझे पता चला कि ऐसे सम्मेलनोंमें अपने सब मूल्यवान आभूषण पहनकर जाना राजाओंके लिए अनिवार्य था। मुझे यह भी मालूम हुआ कि कइयोंको ऐसे आभूषण पहननेसे घृणा थी और ऐसे दरबारके अवसरोको छोड़कर अन्य किसी अवसर पर वे इन गहनोंको पहनते भी न थे।

इस बातमें कितनी सचाई थी, सो मैं नहीं जानता। वे दूसरे अवसरों पर पहनते हों या न पहनते हों, क्या वाइसरायके दरबारमें और क्या दूसरी जगह, औरतोंको ही शोभा देनेवाले आभूषण पहनकर जाना पड़े, यही पर्याप्त दुःखकी बात है।

धन, सत्ता और मान मनुष्यसे कितने पाप और अनर्थ कराते हैं!

१७. गोखलेके साथ एक महीना – १

पहले ही दिनसे गोखलेने मुझे यह अनुभव न करने दिया कि मैं मेहमान हूँ। उन्होंने मुझे अपने सगे छोटे भाईकी तरह रखा। मेरी सब आवश्यकताएँ जान लीं और उनके अनुकूल सारी व्यवस्था कर दी। सौभाग्यसे मेरी आवश्यकताएँ थोड़ी ही थीं। मैंने अपना सब काम स्वयं कर लेनेकी आदत डाल ली थी, इसलिए मुझे दूसरोंसे बहुत थोड़ी सेवा लेनी होती थी। स्वावलम्बनकी मेरी इस आदतकी, उस समयकी मेरी पोशाक आदिकी, सफाईकी, मेरे उद्यमकी और मेरी नियमितताकी उनपर गहरी छाप पड़ी थी और इन सबकी वे इतनी तारीफ करते थे कि मैं घबरा उठता था।

मुझे यह अनुभव न हुआ कि उनके पास मुझसे छिपाकर रखने लायक कोई बात थी। जो भी बड़े आदमी उनसे मिलने आते, उनका मुझसे परिचय कराते थे। ऐसे परिचयोंमें आज मेरी आँखोंके सामने सबसे अधिक डा० प्रफुल्लचन्द्र राय आते हैं। वे गोखलेके मकानके पास ही रहते थे और कह सकता हूँ कि लगभग रोज ही उनसे मिलने आते थे।

"ये प्रोफेसर राय हैं। इन्हें हर महीने आठ सौ रुपये मिलते हैं। ये अपने खर्चके लिए चालीस रुपये रखकर बाकी सब सार्वजनिक कामोंमें दे देते हैं। इन्होंने ब्याह नहीं किया है और न करना चाहते हैं।" इन शब्दोंमें गोखलेने मुझे उनका परिचय कराया।

आजके डा० राय और उस समयके प्रो० रायमें मैं थोड़ा ही फर्क पाता हूँ। जो वेषभूषा उनकी तब थी, लगभग वही आज भी है। हाँ, आज वे खादी पहनते हैं, उस समय खादी थी ही नहीं। स्वदेशी मिलके कपड़े रहे होंगे। गोखले और प्रो० रायकी बातचीत सुनते हुए मुझे तृप्ति ही न होती थी। क्योंकि उनकी बातें देशहितकी ही होती थीं या फिर वह कोई ज्ञान चर्चा होती थी। कई बातें दुःखद भी होतीं, क्योंकि उनमें नेताओंकी टीका रहती थी। इसलिए जिन्हें मैंने महान योद्धा समझ रखा था, ऐसे कई मुझे बौने लगने लगे।

गोखलेकी काम करनेकी रीतिसे मुझे जितना आनन्द हुआ उतनी ही शिक्षा भी मिली। वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। मैंने अनुभव किया कि उनके सारे सम्बन्ध देश-कार्यके निमित्त ही थे। सारी चर्चाएँ भी देश-कार्यकी खातिर ही होती थीं। उनकी बातोंमें मुझे कहीं मलिनता, दम्भ अथवा झूठके दर्शन नहीं हुए। हिन्दुस्तानकी गरीबी और गुलामी उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग अनेक विषयोंमें उनकी रुचि जगानेके लिए आते थे। उन सबको वे एक ही जवाब देते थे: "आप यह काम कीजिए। मुझे अपना काम करने दीजिए। मुझे तो देशकी स्वाधीनता प्राप्त

करनी है। उसके मिलने पर ही मुझे दूसरा कुछ सूझेगा। इस समय तो इस कामसे मेरे पास एक क्षण भी बाकी नही बचता।"

रानडेके[1] प्रति उनका पूज्यभाव बात-बातमें देखा जा सकता था। 'रानडे यह कहते थे', ये शब्द तो उनकी बातचीतमें लगभग 'सूत उवाच' जैसे हो गये थे। मैं वहाँ था उन्हीं दिनों रानडेकी जयन्ती (अथवा पुण्यतिथि, इस समय ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा लगा कि गोखले उसे हमेशा मनाते थे। उस समय वहाँ मेरे सिवा उनके मित्र प्रो० काथवटे और दूसरे एक सज्जन थे, जो सब-जज थे। इनको उन्होंने जयन्ती मनानेके लिए निमन्त्रित किया, और उस अवसरपर उन्होंने हमें रानडेके अनेक संस्मरण सुनाये। रानडे, तेलंग[2] और माण्डलिककी[3] तुलना भी की। मुझ स्मरण है कि उन्होंने तेलंगकी भाषाकी प्रशंसा की थी। सुधारकके रूपमें माण्डलिक की स्तुति की थी। अपने मुवक्किलकी वे कितनी चिन्ता रखते थे, इसके दृष्टान्तके रूपमें उन्होंने यह किस्सा सुनाया कि एक बार रोजकी ट्रेन छूट जानेपर वे किस तरह स्पेशल ट्रेनसे अदालत पहुँचे थे। और, रानडेकी चौमुखी शक्तिका वर्णन करके उस समयके नेताओंमें उनकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की थी। रानडे केवल न्यायमूर्ति नहीं थे। वे इतिहासकार थे, अर्थशास्त्री थे, सुधारक थे। सरकारी जज होते हुए भी वे कांग्रेसमें दर्शककी तरह निडर भावसे उपस्थित होते थे। इसी तरह उनकी बुद्धिमत्ता पर लोगोंको इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयोंको स्वीकार करते थे। यह सब वर्णन करते हुए गोखलेके हर्षकी सीमा न रहती थी।

गोखले घोड़ागाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयाँ समझ नहीं सका था। "आप सब जगह ट्राममें क्यों नहीं जा सकते? क्या इससे नेतावर्गकी प्रतिष्ठा कम होती है?"

कुछ दुःखी होकर उन्होंने उत्तर दिया: "क्या तुम भी मुझे पहचान न सके? मुझे बड़ी धारासभासे जो रुपया मिलता है, उसे मैं अपने काममें नहीं लाता। तुम्हें ट्राममें आते-जाते देखकर मुझे ईर्ष्या होती है, पर मैं वैसा नहीं कर सकता। जितने लोग मुझे पहचानते हैं उतने ही जब तुम्हें भी पहचानने लगेंगे, तब तुम्हारे लिए भी ट्राममें घूमना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायेगा। नेता जो-कुछ करते हैं सो मौज-शौकके लिए ही करते है, यह माननेका कोई कारण नहीं है। तुम्हारी सादगी मुझे पसन्द है। मैं यथासम्भव सादगीसे रहता हूँ। पर तुम निश्चित मानना कि मुझ-जैसोंके लिए कुछ खर्च अनिवार्य हैं।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक ढंगसे रद हो गई।[4] पर दूसरी जो शिकायत मैंने की, उसका कोई सन्तोषजनक उत्तर वे नहीं दे सके।

१. महादेव गोविन्द रानडे (१८४२-१९०१); समाज-सुधारक और लेखक; बम्बई उच्च न्यायालयके न्यायाधीश और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके संस्थापकोंमेंसे एक।

२. काशीनाथ त्र्यंबक तेलंग (१८५०-१८९३); बम्बई उच्चन्यायालयके न्यायाधीश; भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेसके संस्थापकोंमें से एक।

३. विश्वनाथ नारायण माण्डलिक (१८३३-१८८९); प्रसिद्ध वकील व सार्वजनिक कार्यकर्ता।

४. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २४१।

मैंने कहा, "पर आप टहलने भी तो ठीकसे नहीं जाते। ऐसी दशामें आप बीमार रहें तो इसमें आश्चर्य क्या? क्या देशके काममेंसे व्यायामके लिए भी फुरसत नहीं मिल सकती?"

जवाब मिला: "तुम मुझे किस समय फुरसतमें देखते हो कि मैं घूमने जा सकूँ?"

मेरे मनमें गोखलेके लिए इतना आदर था कि मैं उन्हें प्रत्युत्तर नहीं देता था। ऊपरके उत्तरसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ, फिर भी मैं चुप रहा। मैंने यह माना है, और आज भी मानता हूँ, कि चाहे जितने काम होनेपर भी जिस तरह हम खानेका समय निकाले बिना नहीं रहते, उसी तरह व्यायामका समय भी हमें निकालना चाहिए। मेरी यह नम्र राय है कि इससे देशकी सेवा अधिक ही होती है, कम नहीं।

१८. गोखलेके साथ एक महीना — २

गोखलेकी छायातले रहकर मैंने सारा समय घरमें बैठकर नहीं बिताया।

दक्षिण आफ्रिकाके अपने ईसाई मित्रोंसे मैंने कहा कि मैं हिन्दुस्तानके ईसाइयोंसे मिलूँगा और उनकी स्थितिकी जानकारी प्राप्त करूँगा। मैंने कालीचरण बनर्जीका नाम सुना था। वे कांग्रेसके कामोंमें अगुआ बनकर हाथ बँटाते थे, इसलिए मेरे मनमें उनके प्रति आदर था। साधारण हिन्दुस्तानी ईसाई कांग्रेससे और हिन्दू-मुसलमानोंसे अलग रहा करते थे। इसलिए उनके प्रति मेरे मनमें जो अविश्वास था, वह कालीचरण बनर्जीके प्रति नहीं था। मैंने उनसे मिलनेके बारेमें गोखलेसे चर्चा की। उन्होंने कहा: "वहाँ जाकर तुम क्या पाओगे? वे बहुत भले आदमी हैं, पर मेरा ख्याल है कि वे तुम्हें सन्तोष नहीं दे सकेंगे। मैं उन्हें भली-भाँति जानता हूँ। फिर भी तुम्हें जाना हो तो शौकसे जाओ।"

मैंने समय माँगा था। उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं उनके घर गया। उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्यापर पड़ी थीं। घर उनका सादा था। मैंने कांग्रेसमें उनको कोट-पतलूनमें देखा था। घरमें उन्हें मैंने बंगाली धोती और कुर्ता पहने देखा। यह सादगी मुझे पसन्द आई। उन दिनों मैं स्वयं पारसी कोट-पतलून पहनता था, फिर भी मुझे उनकी यह पोशाक और सादगी बहुत भाई। मैंने उनका समय न गँवाते हुए अपनी उलझनें पेश कीं। उन्होंने मुझसे पूछा, "आप मानते हैं कि हम अपने साथ पाप लेकर पैदा होते हैं?"

मैंने कहा, "जी, हाँ।"

"तो इस मूल पापका निवारण हिन्दू धर्ममें नहीं है, जब कि ईसाई धर्ममें है।" यों कहकर वे बोले: "पापका बदला मौत है। बाइबल कहती है कि इस मौतसे बचनेका मार्ग ईसाकी शरण है।"

मैंने भगवद्गीताके भक्तिमार्गकी चर्चा की। पर मेरा बोलना निरर्थक था। भलमनसाहतके लिए मैंने इन भले आदमीका उपकार माना। यद्यपि मुझे सन्तोष न हुआ, फिर भी इस भेंटसे लाभ ही हुआ।

मैं यह कह सकता हूँ कि इसी महीनेमें मैंने कलकत्तेकी एक-एक गली छान डाली। अधिकांश काम मैं पैदल चलकर करता था। इन्हीं दिनों मैं न्यायमूर्ति मित्रसे मिला। सर गुरुदास बनर्जीसे मिला। दक्षिण आफ्रिकाके कामके लिए उनकी सहायता आवश्यक थी। उन्हीं दिनों मैंने राजा सर प्यारीमोहन मुखर्जीके भी दर्शन किये।

कालीचरण बनर्जीने मुझसे काली-मन्दिरकी चर्चा की थी। यह मन्दिर देखनेकी मेरी तीव्र इच्छा थी। मैंने उसका वर्णन पुस्तकमें पढ़ा था। इसलिए एक दिन वहाँ जा पहुँचा। न्यायमूर्ति मित्रका मकान उसी मुहल्लेमें था। अतएव जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली-मन्दिर भी गया। रास्तेमें बलिदानके बकरोंकी लम्बी कतार चली जा रही थी। मन्दिरकी गलीमें पहुँचते ही मैंने भिखारियोंकी भीड़ लगी देखी। वहाँ साधु-संन्यासी तो थे ही। उन दिनों भी मेरा नियम हृष्ट-पुष्ट भिखारियोंको कुछ न देनेका था। भिखारियोंने मुझे बुरी तरह घेर लिया था। एक बाबाजी चबूतरे पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा, "क्यों बेटा, कहाँ जाते हो?" मैंने समुचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे और मेरे साथियोंको बैठनेके लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा, "इन बकरोंके बलिदानको आप धर्म मानते हैं?"

"जीवकी हत्याको धर्म कौन मानता है?"

"तो आप यहाँ बैठकर लोगोंको समझाते क्यों नहीं?"

"हमारा यह काम नहीं है। हम तो यहाँ बैठकर भगवद्-भक्ति करते हैं।"

"पर इसके लिए आपको कोई दूसरी जगह न मिली?"

"बाबाजी बोले: "हम कहीं भी बैठें, हमारे लिए सब जगह समान है। लोग तो भेड़ोंके झुंडकी तरह हैं। बड़े लोग जिस रास्ते ले जाते हैं, उसी रास्ते वे चलते हैं। हम साधुओंको इससे क्या मतलब?"

मैंने संवाद आगे नहीं बढ़ाया। हम मन्दिरमें पहुँचे। सामने लहूकी नदी बह रही थी। दर्शनोंके लिए खड़े रहनेकी मेरी इच्छा न रही। मैं बहुत अकुलाया, बेचैन हुआ। वह दृश्य मैं अब तक भूल नहीं सका हूँ।

उसी दिन मुझे एक बंगाली सभाका निमन्त्रण मिला था। वहाँ मैंने एक सज्जनसे इस क्रूर पूजाकी चर्चा की। उन्होंने कहा: "हमारा ख्याल यह है कि वहाँ जो नगाड़े वगैरा बजते रहते हैं, उनके कोलाहलमें बकरोंको चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।"

उनका यह विचार मेरे गले न उतरा। मैंने उन सज्जनसे कहा कि यदि बकरोंके जबान होती तो वे दूसरी ही बात कहते। मैंने अनुभव किया कि यह क्रूर प्रथा बन्द होनी चाहिए। बुद्धदेववाली कथा मुझे याद आई। पर मैंने देखा कि यह काम मेरी शक्तिसे बाहर है।

उस समय मेरे जो विचार थे वे ही आज भी हैं। मेरे ख्यालमें बकरोंके जीवनका मूल्य मनुष्यके जीवनसे कम नहीं है। अपने मनुष्य-देहकी रक्षाके लिए मैं बकरेकी देह लेनेको तैयार न होऊँगा। मैं यह मानता हूँ कि जो जीव जितना अधिक अपंग है, उतना ही उसे मनुष्यकी क्रूरतासे बचनेके लिए मनुष्यका आश्रय पानेका अधिक अधिकार

है। पर वैसी योग्यताके अभावमें मनुष्य आश्रय देनेमें असमर्थ है। बकरोंको इस पापपूर्ण होमसे बचानेके लिए जितनी आत्मशुद्धि और त्याग मुझमें है, उससे कहीं अधिककी मुझे आवश्यकता है। जान पड़ता है कि अभी तो उस शुद्धि और त्यागका रटन करते हुए ही मुझे मरना होगा। मैं यह प्रार्थना निरन्तर करता रहता हूँ कि ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष और ऐसी कोई तेजस्विनी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातकसे मनुष्यको बचाये, निर्दोष प्राणियोंकी रक्षा करे और मन्दिरको शुद्ध करे। ज्ञानी, बुद्धिशाली, त्यागवृत्तिवाला और भावना-प्रधान बंगाल यह सब कैसे सहन करता है?

१६. गोखलेके साथ एक महीना — ३

कालीमाताके निमित्तके होनेवाला विकराल यज्ञ देखकर बंगाली जीवनको जाननेकी मेरी इच्छा बढ़ गई। ब्रह्मसमाजके[१] बारेमें तो मैं काफी पढ़-सुन चुका था। मैं प्रतापचन्द्र मजूमदारका[२] जीवन-वृत्तान्त थोड़ा जानता था। उनके व्याख्यान मैं सुनने गया था। उनका लिखा केशवचन्द्र सेनका[३] जीवन-वृत्तान्त मैंने प्राप्त किया और उसे अत्यन्त रस-पूर्वक पढ़ गया। मैंने साधारण ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाजका भेद जाना। पण्डित शिवनाथ शास्त्रीके[४] दर्शन किये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके[५] दर्शनोंके लिए मैं प्रो० काथवटेके साथ गया। पर वे उन दिनों किसीसे मिलते न थे, इससे उनके दर्शन न हो सके। उनके यहाँ ब्रह्मसमाजका उत्सव था। उसमें सम्मिलित होनेका निमन्त्रण पाकर हम लोग वहाँ गये थे और वहाँ उच्च कोटिका बंगाली संगीत सुन पाये थे। तभीसे बंगाली संगीतके प्रति मेरा अनुराग बढ़ गया।

ब्रह्मसमाजका यथासम्भव निरीक्षण करनेके बाद यह तो हो ही कैसे सकता था कि मैं स्वामी विवेकानन्दके[६] दर्शन न करूँ? मैं अत्यन्त उत्साहके साथ बेलूर मठ तक लगभग पैदल पहुँचा। मुझे इस समय ठीकसे याद नहीं है कि मैं पूरा चला था या आधा। मठका एकान्त स्थान मुझे अच्छा लगा था। यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं। उनसे मिला नहीं जा सकता, और वे अपने कलकत्तेवाले घरमें हैं।

मैंने भगिनी निवेदिताके[७] निवास-स्थानका पता लगाया। चौरंगीके एक महलमें उनके दर्शन किये। उनकी तड़क-भड़कसे मैं चकरा गया। बातचीतमें भी हमारा मेल नहीं बैठा। मैंने गोखलेसे इसकी चर्चा की। उन्होंने कहा: "वह बड़ी तेज[८] महिला हैं। अतएव उससे तुम्हारा मेल न बैठे, इसे मैं समझ सकता हूँ।"

१. राजा राममोहन राय द्वारा सन् १८२८ में संस्थापित।

२, ३, ४, ५. ब्रह्मसमाजके कर्णधार।

६. (१८६३-१९०२) रामकृष्ण परमहंसके शिष्य; वेदान्त दर्शनके व्याख्याता।

७. मार्गरेट नोबल (१८६७-१९११); आयर्लैंड निवासिनी; स्वामी विवेकानन्दकी शिष्या।

८. अंग्रेजी अनुवादमें 'तेज' के पर्यायवाचीको लेकर बादमें **माडर्न रिव्यूने** आपत्ति की थी। 'तड़क-भड़क' और 'तेज' के अनुवादमें रखे गये शब्द 'वोलेटाइल' के विषयमें गांधीजीने बादमें एक टिप्पणी लिखी थी। देखिए खण्ड ३४, पृष्ठ ८६-८८।

फिर एक बार उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाहके[1] घर हुई थी। वे पेस्तनजीकी वृद्ध माताको उपदेश दे रही थीं, इतनेमें मैं उनके घर जा पहुँचा था। अतएव मैंने उनके बीच दुभाषियेका काम किया था। हमारे बीच मेल न बैठते हुए भी इतना तो मैं देख सकता था कि हिन्दू धर्मके प्रति भगिनीका प्रेम छलका पड़ता था। उनकी पुस्तकोंका परिचय मैंने बादमें किया।

मैंने दिनके दो भाग कर लिये थे। एक भागमें दक्षिण आफ्रिकाके कामके सिलसिलेमें कलकत्तेमें रहनेवाले नेताओंसे मिलनेमें बिताता था, और दूसरा भाग कलकत्तेकी धार्मिक संस्थाएँ और दूसरी सार्वजनिक संस्थाएँ देखनेमें बिताता था। एक दिन बोअर-युद्धमें हिन्दुस्तानी शुश्रूषा-दलने जो काम किया था, उसपर डा० मलिकके सभापतित्वमें मैंने भाषण किया। 'इंग्लिशमैन'के साथकी मेरी पहचान[2] इस समय भी बहुत सहायक सिद्ध हुई। श्री सांडर्स उन दिनों बीमार थे, पर उनकी मदद तो सन् १८९६ में जितनी मिली थी उतनी ही इस समय भी मिली। यह भाषण गोखलेको पसंद आया था, और जब डा० रायने मेरे भाषणकी प्रशंसा की तो वे बहुत खुश हुए थे।

यों, गोखलेकी छायामें रहनेसे बंगालमें मेरा काम बहुत सरल हो गया था। बंगालके अग्रगण्य कुटुम्बोंकी जानकारी मुझे सहज ही मिल गई और बंगालके साथ मेरा निकट सम्बन्ध जुड़ गया।

इस चिरस्मरणीय महीनेके बहुत-से संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उस महीनेमें मैं ब्रह्मदेशका भी एक चक्कर लगा आया था[3]। मैं वहाँके फुंगियोंसे[4] मिला था और उनका आलस्य देखकर मैं दुखी हुआ था। मैंने स्वर्ण-पैगोडाके दर्शन किये। मन्दिरमें असंख्य छोटी छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थीं। वे मुझे अच्छी नहीं लगीं। मन्दिरके गर्भ-गृहमें चूहोंको दौड़ते देखकर मुझे स्वामी दयानन्दके अनुभवका[5] स्मरण हो आया। ब्रह्मदेशकी महिलाओंकी स्वतन्त्रता, उनका उत्साह और वहाँके पुरुषोंका आलस्य देखकर मैंने महिलाओंके लिए अनुराग और पुरुषोंके लिए दुःख अनुभव किया। उसी समय मैंने यह भी अनुभव किया कि जिस तरह बम्बई हिन्दुस्तान नहीं है, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नहीं है; और जिस प्रकार हम हिन्दुस्तानमें अंग्रेज व्यापारियोंके कमीशन एजेंट या दलाल बने हुए हैं, उसी प्रकार ब्रह्मदेशमें हमने अंग्रेजोंके साथ मिलकर ब्रह्मदेशवासियोंको कमीशन एजेंट बनाया है।

ब्रह्मदेशसे लौटनेके बाद मैंने गोखलेसे बिदा ली। उनका वियोग मुझे अखरा, पर बंगालका — अथवा सच कहा जाये तो कलकत्तेका — मेरा काम पूरा हो चुका था।

१. देखिए भाग २, अध्याय २७, पृष्ठ १३९-४०।

२. देखिए भाग २, अध्याय २९, पृष्ठ १४३।

३. ३१-१-१९०२ को गांधीजी रंगून पहुँचे थे।

४. बौद्ध-भिक्षु।

५. शिवरात्रिके उपवास और जागरणके समय बालक मूलचन्द (दयानन्द) ने शिवलिंगपर रखे प्रसादके लिए चूहोंको उस पिण्डीपर ऊधम मचाते देखा था। मूर्तिपूजापर से उनकी आस्था इसी घटनाके बाद तिरोहित हो गई थी।

मैंने सोचा था कि धन्धेमें लगनेसे पहले हिन्दुस्तानकी एक छोटी-सी यात्रा रेलगाड़ीसे तीसरे दर्जेमें करूँगा, और तीसरे दर्जेके यात्रियोंका परिचय प्राप्त करके उनका कष्ट जान लूँगा। मैंने गोखलेके सामने अपना यह विचार रखा। उन्होंने पहले तो उसे हँसकर उड़ा दिया। पर जब मैने इस यात्राके विषयमें अपनी आशाओंका वर्णन किया, तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक मेरी योजनाको स्वीकृति दे दी। मुझे पहले तो काशी जाना था और वहाँ पहुँचकर विदुषी एनी बेसेंटके दर्शन करने थे। वे उस समय बीमार थीं।

इस यात्राके लिए मुझे नया सामान जुटाना था। पीतलका एक डिब्बा गोखलेने ही दिया और उसमें मेरे लिए बेसनके लड्डू और पूरियाँ रखवा दीं। बारह आनेमें मैंने किरमिचका एक थैला लिया। छाया (पोरबन्दरके पासके एक गाँव) की ऊनका एक ओवरकोट बनवाया। थैलेमें यह ओवरकोट, तौलिया, कुर्ता और धोती थी। ओढ़नेको एक कम्बल था। इसके अलावा एक लोटा भी साथमें रख लिया था। इतना सामान लेकर मैं निकला। गोखले और डा० राय मुझे स्टेशनतक पहुँचाने आये। मैंने दोनोंसे स्टेशन न चलनेकी विनती की। पर दोनोंने अपना आग्रह न छोड़ा। गोखले बोले: "तुम पहले दर्जेमें जाते तो शायद मैं न चलता, पर अब तो मुझे चलना ही पड़ेगा।"

प्लेटफार्म पर जाते समय गोखलेको किसीने नहीं रोका। वे अपनी रेशमी पगड़ी, धोती तथा कोट पहने हुए थे। डा० रायने बंगाली पोशाक पहनी थी, इसलिए टिकटबाबूने पहले तो उन्हें अन्दर जानेसे रोका पर जब गोखलेने कहा, "मेरे मित्र हैं" तो डा० राय भी दाखिल हुए।

इस तरह दोनोंने मुझे विदा किया।

२०. काशीमें

यह यात्रा कलकत्तेसे राजकोट तक थी। इसमें काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर और राजकोट जाना था। इतने स्थानोंको देखनेके बाद कहीं और समय देना सम्भव न था। हर जगह मैं एक-एक दिन रहा था। पालनपुरके सिवा सभी जगह मैं धर्मशालामें अथवा यात्रियोंकी तरह पण्डोंके घर ठहरा था। जैसा कि मुझे याद है, इतनी यात्रामें गाड़ी-भाड़े सहित मेरे कुल इकतीस रुपये खर्च हुए थे।

तीसरे दर्जेकी यात्रामें भी मैं अक्सर डाकगाड़ी छोड़ देता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें अधिक भीड़ होती है। उसका किराया भी सवारी (पैसेन्जर) गाड़ीके तीसरे दर्जेके किरायेसे अधिक होता था। यह एक अड़चन तो थी ही।

तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें गन्दगी और पाखानोंकी बुरी हालत तो जैसी आज है, वैसी ही उस समय भी थी। आज शायद थोड़ा सुधार हो गया हो तो बात अलग है। पर पहले और तीसरे दर्जेके बीचके सुभीतोंका फर्क मुझे किरायेके फर्कसे कहीं ज्यादा जान पड़ा। तीसरे दर्जेके यात्री भेड़-बकरी समझे जाते हैं, और सुभीतेके नाम पर उनको भेड़बकरियोंके-से डिब्बे मिलते हैं। यूरोपमें तो मैंने तीसरे ही दर्जेमें

यात्राकी थी। अनुभवकी दृष्टिसे एक बार पहले दर्जेमें भी यात्रा की थी। वहाँ मैंने पहले और तीसरे दर्जेके बीच यहाँके जैसा फर्क नहीं देखा। दक्षिण आफ्रिकामें तीसरे दर्जेके यात्री अधिकतर हब्शी ही होते हैं। लेकिन वहाँके तीसरे दर्जेमें भी यहाँके तीसरे दर्जेसे अधिक सुविधाएँ हैं। कुछ प्रदेशोंमें तो वहाँ तीसरे दर्जेमें सोनेकी सुविधा भी रहती है, और बैठकें गद्दीदार होती हैं। हर खण्डमें बैठनेवाले यात्रियोंको संख्याकी मर्यादाका ध्यान रखा जाता है। यहाँ तो तीसरे दर्जेमें संख्याकी मर्यादा-पालनेका मुझे कोई अनुभव ही नहीं है।

रेलवे-विभागकी ओरसे होनेवाली इन असुविधाओंके अलावा यात्रियोंकी गन्दी आदतें सुघड़ यात्रीके लिए तीसरे दर्जेकी यात्राको दण्ड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूकना, चाहे जहाँ कचरा डालना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तम्बाकू चबाना और जहाँ बैठे हों वहीं उसकी पिचकारियाँ छोड़ना, फर्श पर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्लाकर बातें करना, पासमें बैठे हुए आदमीकी सुख-सुविधाका विचार न करना और गन्दी भाषाका प्रयोग करना तो सार्वत्रिक अनुभव हैं। तीसरे दर्जेकी यात्राके अपने १९०२ के अनुभवमें और १९१५ से १९१९ तकके मेरे दूसरी बारके ऐसे ही अखण्ड अनुभवमें मैंने बहुत अन्तर नहीं पाया।

इस महाव्याधिका एक ही उपाय मेरी समझमें आया है, और वह यह है कि शिक्षित समाजको तीसरे दर्जेमें ही यात्रा करनी चाहिए और लोगोंकी आदतें सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा रेलवे-विभागके अधिकारियोंको शिकायत कर-करके परेशान कर डालना चाहिए तथा अपने लिए कोई सुविधा प्राप्त करने या प्राप्त सुविधाकी रक्षा करनेके लिए घूस-रिश्वत नहीं देनी चाहिए, और उनके एक भी गैरकानूनी व्यवहारको बरदाश्त नहीं करना चाहिए। मेरा यह अनुभव है कि ऐसा करनेसे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है।

अपनी बीमारीके कारण मुझे सन् १९२० से तीसरे दर्जेकी यात्रा लगभग बन्द कर देनी पड़ी है, इसका दुःख और लज्जा मुझे सदा बनी रहती है। और वह भी ऐसे अवसर पर बन्द करनी पड़ी, जब तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी तकलीफोंको दूर करनेका काम कुछ ठिकाने लग रहा था। रेलों और जहाजोंमें गरीब यात्रियों द्वारा अनिवार्य रूपसे भोगे जाने वाले कष्ट, उनकी अपनी कुटेवोंके कारण इन कष्टोंमें होने-वाली वृद्धि, व्यापारके निमित्तसे विदेशी व्यापारको सरकारकी ओरसे दी जानेवाली अनुचित सुविधाएँ, आदि बातें इस समय हमारे लोक-जीवनकी बिलकुल अलग और महत्वकी समस्या बन गई हैं। अगर इसे हल करनेमें एक-दो चतुर और लगनवाले सज्जन अपना पूरा समय लगा दें, तो वह अधिक नहीं कहा जायेगा।

पर तीसरे दर्जेकी यात्राकी इस चर्चाको अब यहीं छोड़कर मैं काशीके अनुभव पर आता हूँ। काशी स्टेशनपर मैं सवेरे उतरा। मुझे किसी पण्डेके ही यहाँ उतरना था। कई ब्राह्मणोंने मुझे घेर लिया। उनमेंसे जो मुझे थोड़ा सुघड़ और सज्जन लगा उसका घर मैंने पसन्द किया। मेरा चुनाव अच्छा सिद्ध हुआ। ब्राह्मणके आँगनमें गाय बँधी थी। ऊपर एक कमरा था। उसमें मुझे ठहराया गया। मैं विधिपूर्वक गंगा-स्नान करना चाहता था। तब तक मुझे उपवास रखना था। पण्डेने सब तैयारी

की। मैंने उससे कह रखा था कि मैं सवा रुपयेसे अधिक दक्षिणा नहीं दे सकूँगा, अतएव वह उसीके लायक तैयारी करे।

पण्डेने बिना झगड़ेके मेरी विनती स्वीकार कर ली। वह बोला: "हम लोग अमीर-गरीब सब लोगोंको पूजा तो एक सी ही कराते हैं। दक्षिणा यजमानकी इच्छा और शक्तिपर निर्भर करती है।" मेरे ख्यालसे पण्डाजीने पूजा-विधिमें कोई गड़बड़ी नहीं की। लगभग बारह बजे इससे फुरसत पाकर मैं काशी-विश्वनाथके दर्शन करने गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे मुझे दुःख ही हुआ। सन् १८९१ में जब मैं बम्बईमें वकालत करता था, तब एक बार प्रार्थना-समाजके मन्दिरमें 'काशीकी यात्रा' विषयपर व्याख्यान सुना था। अतएव थोड़ी निराशाके लिए तो मैं पहलेसे तैयार ही था। पर वास्तवमें जो निराशा हुई, वह अपेक्षासे अधिक थी।

सँकरी, फिसलनवाली गलीमेंसे होकर जाना था। शान्तिका नाम ही नहीं था। मक्खियोंकी भिनभिनाहट तथा यात्रियों और दुकानदारोंका कोलाहल मुझे असह्य प्रतीत हुआ।

जहाँ मनुष्य ध्यान और भगवत्-चिन्तनकी आशा रखता है, वहाँ उसे इनमेंसे कुछ भी नहीं मिलता। यदि ध्यानकी जरूरत हो, तो वह अपने अन्तरमें से पाना होगा। अवश्य ही मैंने ऐसी श्रद्धालु बहनोंको भी देखा, जिन्हें इस बातका बिलकुल पता न था कि उनके आसपास क्या हो रहा है। वे केवल अपने ध्यानमें ही निमग्न थीं। पर इसे प्रबन्धकोंका पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। काशी-विश्वनाथके आसपास शान्त, निर्मल, सुगन्धित और बाह्य एवं आन्तरिक स्वच्छ वातावरण उत्पन्न करना और उसे बनाये रखना प्रबन्धकोंका कर्तव्य होना चाहिए। इसके बदले वहाँ मैंने ठग दुकानदारोंका बाजार देखा, जिसमें नये-से-नये ढंगकी मिठाइयाँ और खिलौने बिकते थे।

मन्दिरमें पहुँचने पर दरवाजेके सामने बदबूदार सड़े हुए फूल मिले। अन्दर बढ़िया संगमरमरका फर्श था। पर किसी अन्धश्रद्धालुने उसे रुपयोंसे जड़कर खराब कर डाला था, और रुपयोंमें मैल भर गया था।

मैं ज्ञानवापीके समीप गया। वहाँ मैंने ईश्वरको खोजा, पर वह न मिला। इससे मैं मन ही मन क्षुब्ध हो रहा था। ज्ञानवापीके आसपास भी गन्दगी देखी। दक्षिणाके रूपमें कुछ चढ़ानेकी मेरी श्रद्धा नहीं थी। इसलिए मैंने सचमुच ही एक पाई चढ़ाई, जिससे पुजारी पण्डाजी तमतमा उठे। उन्होंने पाई फेंक दी। दो-चार गालियाँ देकर बोले, "तू यों अपमान करेगा तो नरकमें पड़ेगा।"

मैं शान्त रहा। मैंने कहा, "मेरा तो जो होना होगा सो होगा, पर आपके मुँहमें गाली शोभा नहीं देती। यह पाई लेनी हो तो लीजिए, नहीं तो यह भी हाथसे जायेगी।"

"जा, तेरी पाई मुझे नहीं चाहिए", कहकर उन्होंने मुझे दो-चार और सुना दीं।

मैं पाई लेकर चल दिया। मैंने माना कि महाराजने पाई खोई और मैंने बचाई। पर महाराज पाई खोनेवाले नहीं थे। उन्होंने मुझे वापस बुलाया और कहा, "अच्छा, धर दे। मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूँ, तो तेरा बुरा हो जायेगा।"

मैंने चुपचाप पाई दे दी और लम्बी साँस लेकर चल दिया।

इसके बाद मैं दो बार और काशी-विश्वनाथके दर्शन कर चुका हूँ, पर वह तो 'महात्मा' बननेके बाद। अतएव १९०२ के अनुभव तो फिर कहाँसे पाता! मेरा 'दर्शन' करनेवाले लोग मुझे दर्शन क्यों करने देते? 'महात्मा' के दुःख तो मेरे-जैसे 'महात्मा' ही जानते हैं। अलबत्ता, गन्दगी और कोलाहल तो मैंने पहलेके जैसा ही पाया।

किसीको भगवानकी दयाके विषयमें शंका हो, तो उसे ऐसे तीर्थक्षेत्र देखने चाहिए। वह महायोगी अपने नामपर कितना ढोंग, अधर्म, पाखण्ड इत्यादि सहन करता है? उसने तो कह रखा है:

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।[1]

अर्थात, 'जैसी करनी वैसी भरनी'। कर्मको मिथ्या कौन कर सकता है? फिर भगवानको बीचमें पड़नेकी जरूरत ही क्या है? वह तो अपने कानून बनाकर निवृत्त-सा हो गया है।

यह अनुभव लेकर मैं श्रीमती बेसेंटके दर्शन करने गया। मैं जानता था कि वे हाल ही बीमारीसे उठी हैं। मैंने अपना नाम भेजा। वे तुरन्त आईं। मुझे तो दर्शन ही करने थे, अतएव मैंने कहा: "मुझे आपके दुर्बल स्वास्थ्यका पता है। मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूँ। दुर्बल स्वास्थ्यके रहते भी आपने मुझे मिलनेकी अनुमति दी, इसीसे मुझे सन्तोष है। मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता।"

यह कहकर मैंने विदा ली।

२१. बम्बईमें स्थिर हुआ?

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बईमें बस जाऊँ, वहाँ बैरिस्टरका धन्धा करूँ और उनके साथ सार्वजनिक सेवामें हाथ बटाऊँ। उस समय सार्वजनिक सेवाका मतलब था, कांग्रेसकी सेवा। उनके द्वारा स्थापित संस्थाका मुख्य कार्य कांग्रेसकी व्यवस्था चलाना था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर काम मिलनेके बारेमें मुझे आत्म-विश्वास न था। पिछले अनुभवोंकी याद भूली नहीं थी। खुशामद करना मुझे विष-तुल्य लगता था।

इस कारण पहले तो मैं राजकोटमें ही रहा। वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे। उन्होंने मुझे तीन मुकदमे सौंपे। दो अपीलें काठियावाड़के ज्युडीशियल असिस्टेंटके सम्मुख थीं, और एक इब्तदाई मुकदमा जामनगरमें था। यह मुकदमा महत्वपूर्ण था। मैंने इस मुकदमेकी जोखिम उठानेसे आनाकानी की। इसपर केवलराम बोल उठे, "हारेंगे तो हम हारेंगे न? तुमसे जितना हो सके, तुम करो। मैं भी तो तुम्हारे साथ रहूँगा ही न?"

इस मुकदमेमें मेरे विरोधमें स्व० समर्थ वकील थे। मैंने तैयारी ठीक की थी। यहाँके कानूनका तो मुझे बहुत ज्ञान नहीं था। केवलराम दवेने मुझे इस विषयमें पूरी तरह तैयार कर दिया था। मेरे दक्षिण आफ्रिका जानेसे पहले मित्र मुझे कहा

१. गीता, ४-११।

करते थे कि सर फीरोजशाह मेहताको कानून-शहादत जबानी याद है, और यही उनकी सफलताकी कुंजी है। मैंने इसे याद रखा था, और दक्षिण आफ्रिका जाते समय यहाँका कानून-शहादत मैं टीकाके साथ पढ़ गया था। इसके अतिरिक्त दक्षिण आफ्रिकाका अनुभव तो मुझे था ही।

मुकदमेमें हम विजयी हुए। इससे मुझमें कुछ विश्वास पैदा हुआ। उक्त दो अपीलोंके बारेमें तो मुझे शुरूसे ही कोई डर न था। इससे मुझे लगा कि यदि बम्बई जाऊँ तो वहाँ भी वकालत करनेमें कोई दिक्कत न होगी।

इस विषयपर आनेके पहले थोड़ा अंग्रेज अधिकारियोके अविचार और अज्ञानका अपना अनुभव सुना दूँ। ज्युडीशियल असिस्टेंट कही एक जगह टिक कर नही बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी — आज यहाँ, कल वहाँ। जहाँ वे महाशय जाते थे, वहाँ वकीलों और मुवक्किलोंको भी जाना होता था। वकीलका मेहनताना जितना केन्द्रीय स्थान पर होता, उससे अधिक बाहर होता था। इसलिए मुवक्किलको सहज ही दुगना खर्च पड़ जाता था। पर जज इसका बिलकुल विचार न करता था।

इस अपीलकी सुनवाई वेरावलमें होनेवाली थी। वहाँ उन दिनों बड़े जोरका प्लेग था। मुझे याद है कि रोजके पचास-पचास केस होते थे। वहाँकी आबादी ५,५०० के लगभग थी। गाँव प्रायः खाली हो गया था। मै वहाँकी निर्जन धर्मशालामें टिका था। वह गाँवसे कुछ दूर थी। पर बेचारे मुवक्किल क्या करते? यदि वे गरीब होते, तो एक भगवान ही उनका मालिक था।

मेरे नाम वकील मित्रोंका तार आया था कि मैं साहबसे प्रार्थना करूँ कि प्लेगके कारण वे अपना मुकाम बदल दें। प्रार्थना करने पर साहबने मुझसे पूछा, "आपको कुछ डर लगता है?"

मैंने कहा, "सवाल मेरे डरनेका नही है। मै मानता हूँ कि मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा, पर मुवक्किलोंका क्या होगा?"

साहब बोले: "प्लेगने हिन्दुस्तानमें घर कर लिया है। उससे क्या डरना? वेरावलकी हवा कैसी सुन्दर है! (साहब गाँवसे दूर समुद्र-किनारे एक महलनुमा तम्बूमें रहते थे।) लोगोंको इस तरह बाहर रहना सीखना चाहिए।"

इस फिलासफीके आगे मेरी क्या चलती? साहबने सरिश्तेदारसे कहा, "श्री गांधीकी बातको ध्यानमें रखिए और अगर वकीलों तथा मुवक्किलोंको बहुत असुविधा होती हो, तो मुझे बतलाइए।"

इसमें साहबने तो शुद्ध भावसे अपनी समझके अनुसार ठीक ही किया। पर उन्हें कंगाल हिन्दुस्तानकी मुश्किलोंका अन्दाज कैसे हो सकता था? वे बेचारे हिन्दुस्तानकी आवश्यकताओं, भली-बुरी आदतों और रीति-रिवाजोंको क्योंकर समझ सकते थे? जिसे गिन्नियोंमें गिनती करनेकी आदत हो, उसे पाइयोंमें हिसाब लगानेको कहिए, तो वह झटसे हिसाब कैसे कर सकेगा? अत्यन्त शुभ हेतु रखते हुए भी जिस तरह हाथी चींटीके लिए विचार करनेमें असमर्थ होता है, उसी तरह हाथीकी आवश्यकतावाला अंग्रेज चींटीकी आवश्यकतावाले भारतीयके लिए विचार करने या नियम बनानेमें असमर्थ ही होगा।

अब मूल विषय पर आता हूँ। ऊपर बताये अनुसार सफलता मिलनेके बाद भी मैं कुछ समयके लिए राजकोटमें ही रहनेकी बात सोच रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास पहुँचे और बोले: "गांधी, तुमको यहाँ नहीं रहने दिया जायेगा। तुम्हें तो बम्बई ही जाना होगा।"

"लेकिन वहाँ मुझे पूछेगा कौन? क्या मेरा खर्च आप चलायेंगे?"

"हाँ, हाँ; मैं तुम्हारा खर्च चलाऊँगा। तुम्हें बड़े बैरिस्टरकी तरह कभी-कभी यहाँ ले आया करूँगा और लिखा-पढ़ी वगैराके काम तुमको वहाँ भेजता रहूँगा। बैरिस्टरोंको छोटा-बड़ा बनाना तो हम वकीलोंका काम है न? तुमने अपनी योग्यताका प्रमाण तो जामनगर और वेरावलमें दे ही दिया है, इसलिए मैं निश्चिन्त हूँ। तुम सार्वजनिक कामके लिए सिरजे गये हो, तुम्हें हम काठियावाड़में दफन न होने देंगे। कहो, कब रवाना होते हो?"

"नेटालसे मेरे कुछ पैसे आने बाकी हैं, उनके आने पर चला जाऊँगा।"

पैसे एक-दो हफ्तोंमें आ गये और मैं बम्बई पहुँचा। पेईन, गिल्बर्ट और सयानीके दफ्तरमें 'चेम्बर्स' (कमरे) किराये पर लिये, और मुझे लगा कि अब मैं बम्बईमें स्थिर हो गया।

२२. धर्म-संकट

मैंने दफ्तर किरायेपर लेनेके साथ-साथ गिरगाँवमें घर भी लिया। पर ईश्वरने मुझे स्थिर न होने दिया। घर लिये अधिक दिन नहीं हुए थे कि इतनेमें मेरा दूसरा लड़का बहुत बीमार हो गया। उसे मोतीझिराने जकड़ लिया। ज्वर उतरता न था। बेचैनी भी थी। फिर रातमें सन्निपातके लक्षण भी दिखाई पड़े। इस बीमारीके पहले बचपनमें उसे चेचक भी बहुत जोरकी निकल चुकी थी।

मैंने डाक्टरकी सलाह ली। उन्होंने कहा, "इसके लिए दवा बहुत कम उपयोगी होगी। इसे तो अण्डे और मुर्गीका शोरबा देनेकी जरूरत है।"

मणिलालकी उम्र दस सालकी थी। उससे मैं क्या पूछता? अभिभावक होनेके नाते निर्णय तो मुझीको करना था। डाक्टर एक बहुत भले पारसी थे। मैंने कहा, "डाक्टर, हम सब अन्नाहारी हैं। मेरी इच्छा अपने लड़केको इन दोमें से एक भी चीज देनेकी नहीं होती। क्या दूसरा कोई उपाय नहीं बताइयेगा?"

डाक्टर बोले: "आपके लड़केके प्राण संकटमें हैं। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर इससे उसे पूरा पोषण नहीं मिल सकेगा। जैसा कि आप जानते हैं, मैं बहुतेरे हिन्दू कुटुम्बोंमें जाता हूँ। पर दवाके नाम पर तो हम उन्हें जो भी चीज दें, वे ले लेते हैं। मैं सोचता हूँ कि आप अपने लड़के पर ऐसी सख्ती न करें तो अच्छा हो।"

"आप कहते हैं, सो ठीक है। आपको यही कहना भी चाहिए। मेरी जिम्मे-दारी बहुत बड़ी है। लड़का बड़ा होता, तो मैं अवश्य ही उसकी इच्छा जाननेका

प्रयत्न करता और वह जो चाहता, उसे करने देता। यहाँ तो मुझे ही इस बालकके बारेमें निर्णय करना है। मेरा ख्याल है कि मनुष्यके धर्मकी परीक्षा ऐसे ही समय होती है। सही हो या गलत, पर मैंने यह धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादि न खाना चाहिए। जीवन-रक्षाके साधनोंको भी सीमा होती है। कुछ बातें ऐसी है, जो जीनेके लिए भी हमें नही करनी चाहिए। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे अपने लिए और अपने परिवारवालोंके लिए ऐसे समय भी मांस इत्यादिका उपयोग करनेसे रोकती है। इसलिए मुझे वह जोखिम उठानी ही होगी, जिसकी आप कल्पना करते हैं। पर आपसे मैं एक चीज माँग लेता हूँ। आपका उपचार तो मैं नही करूँगा, किन्तु मुझे इस बच्चेकी छाती, नाड़ी इत्यादि देखना नहीं आता। मुझे पानीके उपचारोंका थोड़ा ज्ञान है। मैं उन उपचारोंको आजमाना चाहता हूँ। पर यदि आप बीच-बीचमें मणिलालकी तबीयत देखने आते रहेंगे और उसके शरीरमें होनेवाले फेरफारोंकी जानकारी मुझे देते रहेंगे, तो मैं आपका उपकार मानूँगा।"

सज्जन डाक्टरने मेरी कठिनाई समझ ली और मेरी प्रार्थनाके अनुसार मणिलालको देखने आना कबूल कर लिया। यद्यपि मणिलाल स्वयं निर्णय करनेकी स्थितिमें नहीं था, फिर भी मैंने उसे डाक्टरके साथ हुई चर्चा सुना दी और उससे कहा कि वह अपनी राय बताये।

"आप खुशीसे पानीके उपचार कीजिए। मुझे न शोरबा पीना है और न अंडे खाने हैं।"

इस कथनसे मैं खुश हुआ, यद्यपि मैं समझता था कि मैंने उसे ये दोनों चीजें खिलाई होतीं तो वह खा भी लेता।

मैं कूने (लुई कूने)के उपचार जानता था। उसके प्रयोग भी मैंने किये थे। मैं यह भी जानता था कि बीमारीमें उपवासका बड़ा स्थान है। मैंने मणिलालको कूनेकी रीतिसे कटि-स्नान कराना शुरू किया। मैं उसे तीन मिनटसे ज्यादा टबमें नहीं रखता था। तीन दिन तक उसे केवल पानी मिलाये हुए सन्तरेके रसपर रखा।

बुखार उतरता न था। रातमें वह अंट-संट बकता था। तापमान १०४ डिग्री तक जाता था। मैं घबराया। यदि बालकको खो बैठा तो दुनिया मुझे क्या कहेगी? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरको क्यो न बुलाया जाये? वैद्यको क्यों न बुलाया जाये? अपनी ज्ञानहीन बुद्धि लड़ानेका माता-पिताको क्या अधिकार है?

एक ओर ऐसे विचार आते थे; दूसरी ओर इस तरहके विचार भी आते थे: "हे जीव! तू जो अपने लिए करता वही लड़केके लिए भी कर, तो परमेश्वरको सन्तोष होगा। तुझे पानीके उपचार पर श्रद्धा है, दवा पर नही। डाक्टर रोगीको प्राणदान नहीं देता। वह भी तो प्रयोग ही करता है। जीवनकी डोर तो एक ईश्वरके ही हाथमें है। ईश्वरका नाम लेकर, उसपर श्रद्धा रखकर, तू अपना मार्ग मत छोड़।"

मनमें इस तरहका मन्थन चल रहा था। रात हुई। मैं मणिलालको बगलमें लेकर सोया था। मैंने उसे भिगोकर निचोड़ी हुई चादरमें लपेटनेका निश्चय किया। मैं उठा। चादर ली। उसे ठण्डे पानीमें भिगोया, निचोड़ा और उसमें उसे सिरसे

पैर तक लपेट दिया। ऊपरसे दो कम्बल ओढ़ा दिये। सिर पर गीला तौलिया रखा। बुखारसे शरीर तवेकी तरह तप रहा था और बिलकुल सूखा था। पसीना आता ही न था।

मैं बहुत थक गया था। मणिलालको उसकी माँके जिम्मे करके मैं आधे घंटेके लिए चौपाटी पर चला गया —— थोड़ी हवा खाकर ताजा होने और शान्ति प्राप्त करनेके लिए। रातके करीब दस बजे होंगे। लोगोंका आना-जाना कम हो गया था। मुझे बहुत कम होश था। मैं विचार-सागरमें गोते लगा रहा था। हे ईश्वर! इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना। 'राम-राम' की रटन तो मुँहमें थी ही। थोड़े चक्कर लगाकर धड़कती छातीसे वापस आया।

घरमें पैर रखते ही मणिलालने मुझे पुकारा: "बापू, आप आ गये?"

"हाँ, भाई।"

"मुझे अब इसमेंसे निकालिए न? मैं जला जा रहा हूँ।"

"क्यों, क्या पसीना छूट रहा है?"

"मैं तो भीग गया हूँ। अब मुझे निकालिए न, बापूजी!"

मैंने मणिलालका माथा देखा। माथे पर पसीनेकी बूँदें दिखाई दीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वरका आभार माना।

"मणिलाल, अब तुम्हारा बुखार चला जायेगा। अभी थोड़ा और पसीना नहीं आने दोगे?"

"नही, बापूजी! अब तो मुझे निकाल लीजिए। फिर दुबारा और लपेटना हो तो लपेट दीजियेगा।"

मुझे धीरज आ गया था, इसलिए उसे बातोंमें उलझाकर कुछ मिनट और निकाल दिये। उसके माथेसे पसीनेकी धाराएँ बह चलीं। मैंने चादर खोली, शरीर पोंछा और बाप-बेटे साथ सो गये।

दोनोंने गहरी नींद ली। सवेरे मणिलालका बुखार हलका हो गया था। दूध और पानी तथा फलोंके रस पर वह चालीस दिन रहा। मैं निर्भय हो चुका था। ज्वर हठीला था, पर वशमें आ गया था।

आज मेरे सब लड़कोंमें मणिलालका शरीर सबसे अधिक सशक्त है। मणिलाल का नीरोग होना रामकी देन है अथवा पानीके उपचारकी, अल्पाहारकी और सार-सँभालकी, इसका निर्णय कौन कर सकता है? सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार जैसा चाहें, कहें। मैंने तो यह जाना कि ईश्वरने मेरी लाज रखी, और आज भी मैं यही मानता हूँ।

२३. फिर दक्षिण आफ्रिका

मणिलाल स्वस्थ तो हुआ, पर मैंने देखा कि गिरगाँववाला घर रहने योग्य नहीं है। उसमें सील थी। पर्याप्त उजेला नही था। अतएव रेवाशंकरभाईसे सलाह करके हम दोनोंने बम्बईके किसी उपनगरमें खुली जगह बँगला लेनेका निश्चय किया। मै बाँदरा, सांताक्रूज वगैरामें भटका। बाँदरामें कसाईखाना था, इसलिए वहाँ रहनेकी हममेंसे किसीकी इच्छा न हुई। घाटकोपर वगैरा समुद्रसे दूर लगे। आखिर सांताक्रूजमें एक सुन्दर बँगला मिल गया। हम उसमें रहने गये और हमने यह अनुभव किया कि आरोग्यकी दृष्टिसे हम सुरक्षित हो गये हैं।

मैंने चर्चगेट जानेके लिए पहले दर्जेका पास खरीद लिया। पहले दर्जेमें अक्सर मैं अकेला ही होता था, इससे कुछ गर्वका भी अनुभव करता था, ऐसा याद पड़ता है। कई बार बाँदरासे चर्चगेट जानेवाली खास ट्रेन पकड़नेके लिए मै सांताक्रूजसे बाँदरा तक पैदल जाता था।

मैंने देखा कि आर्थिक दृष्टिसे मेरा धंधा मेरी अपेक्षासे अधिक अच्छा चल निकला। दक्षिण आफ्रिकाके मुवक्किल मुझे कुछ-न-कुछ काम देते रहते थे। मुझे लगा कि उससे मेरा खर्च सरलता-पूर्वक चल जायेगा।

हाईकोर्टका काम तो मुझे अभी कुछ मिलता न था। पर उन दिनों 'मूट' (अभ्यासके लिए फर्जी मुकदमेमें बहस) चलती थी, उसमें मैं जाया करता था। चर्चामें सम्मिलित होनेकी हिम्मत नहीं थी। मुझे याद है कि उसमें जमियतराम नानाभाई अच्छा हिस्सा लेते थे। दूसरे नये बैरिस्टरोंकी तरह मैं भी हाईकोर्टमें मुकदमे सुनने जाया करता था। वहाँ जो कुछ जाननेको मिलता, उसकी तुलनामें समुद्रकी फरफराती हुई हवामें झपकियाँ लेनेमें अधिक आनन्द आता था। मैं दूसरे साथियोंको भी झपकियाँ लेते देखता था, इससे मुझे शर्म न मालूम होती थी। मैंने देखा कि झपकियाँ लेना फैशनमें शुमार हो गया था।

मैंने हाईकोर्टके पुस्तकालयका उपयोग करना शुरू किया, और वहाँ कुछसे मिलना-जुलना भी शुरू किया। मुझे लगा कि थोड़े समयमें मैं भी हाईकोर्टमें काम करने लगूँगा।

इस प्रकार एक ओरसे मेरे धन्धेमें कुछ निश्चिन्तता आने लगी। दूसरी ओर गोखलेकी आँख तो मुझपर लगी ही रहती थी। हफ्तेमें दो-तीन बार चेम्बरमें आकर वे मेरी कुशल पूछ जाते और कभी-कभी अपने खास मित्रोंको भी साथमें लाया करते थे। अपनी कार्य-पद्धतिसे भी मुझे परिचित करते रहते थे।

पर यह कहा जा सकता है कि मेरे भविष्यके बारेमें ईश्वरने मेरा सोचा कुछ भी न होने दिया।

मैंने सुस्थिर होनेका निश्चय किया और थोड़ी स्थिरता अनुभव की कि अचानक दक्षिण आफ्रिकाका तार मिला: "चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, आपको आना चाहिए।" मुझे अपने वचनका स्मरण तो था ही। मैंने तार दिया: "खर्च भेजिए, आनेको तैयार हूँ।" उन्होंने तुरन्त रुपये भेज दिये और मैं दफ्तर समेटकर रवाना हो गया।[1]

१. २०-११-१९०२ के आसपास; देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २८५।

मैंने सोचा था कि मुझे एक वर्ष तो सहज ही लग जायेगा। इसलिए बँगला रहने दिया और बाल-बच्चोंको वहीं रखना उचित समझा।

उस समय मैं मानता था कि जो नौजवान देशमें कुछ कमाई न कर पाते हों और साहसी हों, उनके लिए परदेश चला जाना अच्छा है। इसलिए मै अपने साथ चार-पाँच नौजवानोंको लेता गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थे।

गांधी-कुटुम्ब बड़ा था। आज भी है। मेरी भावना यह थी कि उनमें से जो स्वतन्त्र होना चाहें, वे स्वतन्त्र हो जायें। मेरे पिता कइयोंको निभाते थे, पर रियासती नौकरीमें। मुझे लगा कि वे इस नौकरीसे छूट सकें तो अच्छा हो। मैं उन्हें नौकरियाँ दिलानेमें मदद नही कर सकता था। शक्ति होती तो भी ऐसा करनेकी मेरी इच्छा न थी। मेरी धारणा यह थी कि वे और दूसरे लोग भी स्वावलम्बी बनें, तो अच्छा हो।

पर आखिर तो जैसे-जैसे मेरे आदर्श आगे बढ़ते गये (ऐसा मैं मानता हूँ), वैसे-वैसे इन नौजवानोंके आदर्शोंको भी मैंने अपने आदर्शोंकी ओर मोड़नेका प्रयत्न किया। उनमें मगनलाल गांधीको अपने मार्ग पर चलानेमें मुझे बहुत सफलता मिली। पर इस विषयकी चर्चा आगे करूँगा।

बाल-बच्चोंका वियोग, बसाये हुए घरको तोड़ना, निश्चित स्थितिमें से अनिश्चित में प्रवेश — यह सब क्षणभर तो अखरा। पर मुझे तो अनिश्चित जीवनकी आदत पड़ गई थी। इस संसारमें, जहाँ ईश्वर अर्थात् सत्यके सिवा कुछ भी निश्चित नहीं है, निश्चितताका विचार करना ही दोषमय प्रतीत होता है। यह सब जो हमारे आसपास दीखता है और होता है, सो अनिश्चित है, क्षणिक है। उसमें जो एक परमतत्व निश्चित रूपसे छिपा हुआ है, उसकी झाँकी हमें हो जाये, उसपर हमारी श्रद्धा बनी रहे, तभी जीवन सार्थक होता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहा जा सकता कि मैं डर्बन एक दिन भी पहले पहुँचा। मेरे लिए वहाँ काम तैयार ही था। श्री चेम्बरलेनके पास प्रतिनिधि मण्डलके जानेकी तारीख निश्चित हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ा जानेवाला प्रार्थना-पत्र[1] तैयार करना था और साथ जाना था।

चौथा भाग

किया-कराया चौपट?

श्री चेम्बरलेन दक्षिण आफ्रिकासे साढ़े तीन करोड़ पौंड लेने तथा अंग्रेजोंका और हो सके तो बोअरोंका मन जीतने आये थे। इसलिए भारतीय प्रतिनिधियोंको नीचे लिखा ठंडा जवाब मिला:

"आप तो जानते हैं कि उत्तरदायी उपनिवेशों पर साम्राज्य-सरकारका अंकुश नाममात्रका ही है। आपकी शिकायतें तो सच्ची जान पड़ती हैं। मुझसे जो हो

१. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २८६-९०।

सकेगा, मैं करूँगा। पर आपको जिस तरह भी बने, यहाँके गोरोंको प्रसन्न रखकर रहना है।"

जवाब सुनकर प्रतिनिधि ठंडे हो गये। मैं निराश हो गया। 'जब जागे तभी सवेरा' मानकर फिरसे श्रीगणेश करना होगा, यह बात मेरे ध्यानमें आ गई और साथियोंको मैंने समझा दी।

श्री चेम्बरलेनका जवाब क्या गलत था? गोलमोल बात कहनेके बदले उन्होंने साफ बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का कानून उन्होंने थोड़े मीठे शब्दोंमें समझा दिया।

पर हमारे पास लाठी थी ही कहाँ? हमारे पास तो लाठीके प्रहार झेलने लायक शरीर भी मुश्किलसे थे।

श्री चेम्बरलेन कुछ हफ्ते ही रहनेवाले थे। दक्षिण आफ्रिका कोई छोटा-सा प्रान्त नहीं है। वह एक देश है, खण्ड है। आफ्रिकामें तो अनेक उपखण्ड समाये हुए हैं। यदि कन्याकुमारीसे श्रीनगर १९०० मील है, तो डर्बनसे केपटाउन ११०० मीलसे कम नहीं है। इस खण्डमें श्री चेम्बरलेनको तूफानी दौरा करना था।

वे ट्रान्सवालके लिए रवाना हुए। मुझे वहाँके भारतीयोंका केस[1] तैयार करके उनके सामने पेश करना था। प्रिटोरिया किस तरह पहुँचा जाये? वहाँ मैं समय पर पहुँच सकूँ, इसके लिए अनुमति प्राप्त करनेका काम हमारे लोगोंसे बनने जैसा न था। युद्धके बाद ट्रान्सवाल उजाड़-जैसा हो गया था। वहाँ न खानेको अन्न था, न पहनने-ओढ़नेको कपड़े मिलते थे। खाली और बन्द पड़ी हुई दुकानोंको मालसे भरना और खुलवाना था। यह तो धीरे-धीरे ही हो सकता था। जैसे-जैसे माल इकट्ठा होता जाये, वैसे-वैसे ही घरबार छोड़कर भागे हुए लोगोंको वापस आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रान्सवालवासीको परवाना लेना पड़ता था। और लोगोंको तो परवाना माँगते ही मिल जाता था। मुसीबत हिन्दुस्तानियोंकी थी।

लड़ाईके दिनोंमें हिन्दुस्तान और लंकासे बहुत-से अधिकारी और सिपाही दक्षिण आफ्रिका पहुँच गये थे। उनमें से जो लोग वहीं आबाद होना चाहें उनके लिए सुविधा कर देना ब्रिटिश राज्याधिकारियोंका कर्त्तव्य माना गया था। उन्हें अधिकारियोंका नया मण्डल तो बनाना ही था। उसमें इन अनुभवी अधिकारियोंका सहज ही उपयोग हो गया। इन अधिकारियोंकी तीव्र बुद्धिने एक नया विभाग ही खोल डाला। उसमें उनकी अपनी कुशल भी अधिक तो थी ही। हब्शियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक अलग विभाग पहलेसे ही था। ऐसी दशामें एशियावासियोंके लिए भी एक विभाग क्यों न हो? दलील ठीक मानी गई। यह नया विभाग मेरे दक्षिण आफ्रिका पहुँचनेसे पहले ही खुल चुका था और धीरे-धीरे अपना जाल बिछा रहा था। जो अधिकारी भागे हुओंको वापस आनेके परवाने देता था वही सबको परवाने दे सकता था। पर उसे यह कैसे मालूम हो कि एशियावासी कौन है? इसलिए दलील यह दी गई कि नये विभागकी सिफारिश पर ही एशियावासियोंको परवाने मिला करें, तो उस

१. देखिए खण्ड ३; पृष्ठ २९२-९६।

अधिकारीकी जिम्मेदारी कम हो जाये और उसका काम भी कुछ हलका हो जाये। वस्तुस्थिति यह थी कि नये विभागको कुछ कामकी और कुछ दामकी जरूरत थी। काम न हो तो इस विभागकी आवश्यकता सिद्ध न हो सके और फलतः वह बन्द हो जाये। अतएव सहज ही उसके लिए यह काम निकल आया।

हिन्दुस्तानियोंको इस विभागमें अर्जी देनी पड़ती थी। फिर बहुत दिनों बाद उसका उत्तर मिलता था। ट्रान्सवाल जानेकी इच्छा रखनेवाले लोग अधिक थे। अतएव उनके लिए दलाल खड़े हो गये। इन दलालों और अधिकारियोंके बीच गरीब हिन्दुस्तानियोंके हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया था कि बिना वसीलेके परवाना मिलता ही नहीं और कई बार तो वसीले या जरिएके होते हुए भी प्रति-व्यक्ति सौ-सौ पौंड तक खर्च हो जाते हैं। इसमें मेरा ठिकाना कहाँ लगता? मैं अपने पुराने मित्र डर्बनके पुलिस सुपरिंटेंडेंटके पास पहुँचा और उनसे कहा, "आप मेरा परिचय परवाना देनेवाले अधिकारीसे करा दीजिए और मुझे परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते हैं कि मैं ट्रान्सवालमें रह रहा हूँ।" वे तुरन्त सिरपर टोप रखकर मेरे साथ आये और मुझे परवाना दिला दिया। मेरी ट्रेनको मुश्किलसे एक घंटा बाकी था। मैंने सामान वगैरा तैयार रखा था। सुपरिंटेंडेंट अलेक्जेंडरका आभार मानकर मैं प्रिटोरियाके लिए रवाना हो गया।

मझे कठिनाइयोंका ठीक-ठीक अन्दाज हो गया था। मैं प्रिटोरिया पहुँचा। प्रार्थना-पत्र तैयार किया। डर्बनमें प्रतिनिधियोंके नाम किसीसे पूछे गये हों, सो मुझे याद नहीं। लेकिन यहाँ नया विभाग काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम पहलेसे पूछ लिये गये थे। इसका हेतु उन लोगोंसे मुझे अलग रखना था, ऐसा प्रिटोरियाके हिन्दुस्तानियोंको पता चल गया था।[1]

यह दुःखद किन्तु मनोरंजक कहानी आगे लिखी जायेगी।

२. एशियाई विभागकी नवाबशाही

नये विभागके अधिकारी समझ नहीं पाये कि मैं ट्रान्सवालमें दाखिल कैसे हो गया। उन्होंने अपने पास आने-जानेवाले हिन्दुस्तानियोंसे पूछा, पर वे बेचारे क्या जानते? अधिकारियोंने अनुमान किया कि मैं अपनी पुरानी जान-पहचानके कारण बिना परवानेके दाखिल हुआ होऊँगा, और अगर ऐसा हो तो मुझे गिरफ्तार किया जा सकता है।

किसी बड़ी लड़ाईके बाद हमेशा ही कुछ समयके लिए राज्य-कर्त्ताओंको विशेष सत्ता दी जाती है। दक्षिण आफ्रिकामें भी यही हुआ था। वहाँ शान्तिरक्षाके हेतु एक कानून बनाया गया था। इस कानूनकी एक धारा यह थी कि जो कोई बिना परवानेके ट्रान्सवालमें दाखिल हो उसे गिरफ्तार कर लिया जाये और कैदमें रखा जाये। इस धाराके आधार पर मुझे पकड़नेके लिए सलाह-मशविरा चला। पर मुझसे परवाना माँगनेकी हिम्मत किसीको नहीं हुई।

१. देखिए खण्ड ३, पृष्ठ २९१-९२।

अधिकारियोंने डर्बन तार तो भेजे ही थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि मैं परवाना लेकर दाखिल हुआ हूँ, तो वे निराश हो गये। पर ऐसी निराशासे यह विभाग हिम्मत हारनेवाला नहीं था। मैं ट्रान्सवाल पहुँच गया था, लेकिन मुझे श्री चेम्बरलेनके पास पहुँचने न देनेमें यह विभाग अवश्य सफल हो सकता था।

इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम माँगे गये। दक्षिण आफ्रिकामें रंगभेदका अनुभव तो जहाँ-तहाँ होता ही था, पर यहाँ हिन्दुस्तानकी-सी गन्दगी और चालबाजीकी बू आई। दक्षिण आफ्रिकामें शासनके साधारण विभाग जनताके लिए काम करते थे, इसलिए अधिकारियोंमें एक प्रकारकी सरलता और नम्रता थी। इसका लाभ थोड़े-बहुत अंशमें काली-पीली चमड़ीवालोंको भी अनायास मिल जाता था। अब जब इससे भिन्न एशियाई वातावरणने प्रवेश किया, तो वहाँके जैसी निरंकुशता, वैसे षड्यन्त्र आदि बुराइयाँ भी आ घुसीं। दक्षिण आफ्रिकामें एक प्रकारकी लोकसत्ता थी, जब कि एशियासे तो निरी नवाबशाही ही आई। क्योंकि वहाँ जनताकी सत्ता नहीं थी, बल्कि जनता पर ही सत्ता चलाई जाती थी। दक्षिण आफ्रिकामें गोरे घर बनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहाँकी प्रजा माने गये। इस कारण अधिकारियों पर उनका अंकुश रहता था। इसमें एशियासे आये हुए निरंकुश अधिकारियोंने सम्मिलित होकर हिन्दुस्तानियोंकी स्थिति सरोतेके बीच सुपारी जैसी कर डाली।

मुझे भी इस सत्ताका ठीक-ठीक अनुभव हुआ। पहले तो मुझे इस विभागके उच्चाधिकारीके पास बुलवाया गया। ये उच्चाधिकारी लंकासे आये थे। 'बुलवाया गया' प्रयोगमें कदाचित् अतिशयोक्तिका आभास हो सकता है, इसलिए इसे थोड़ा अधिक स्पष्ट कर दूँ। मेरे नाम उनका कोई पत्र नहीं आया था। पर मुख्य-मुख्य हिन्दुस्तानियोंको वहाँ बराबर जाना ही पड़ता था। वैसे मुखियोंमें स्व० सेठ तैयब हाजी खान मुहम्मद भी थे। उनसे साहबने पूछा, "गांधी कौन है, वह क्यों आया है?"

तैयब सेठने जवाब दिया, "वे हमारे सलाहकार हैं। उन्हें हमने बुलाया है।"

साहब बोले, "तो हम सब यहाँ किस कामके लिए बैठे हैं? क्या हम आप लोगोंकी रक्षाके लिए नियुक्त नहीं हुए हैं? गांधी यहाँकी हालत क्या जाने?"

तैयब सेठने जैसा भी उनसे बना इस चोटका जवाब देते हुए कहा: "आप तो हैं ही, पर गांधी तो हमारे ही माने जायेंगे न? वे हमारी भाषा जानते हैं। हमें समझते हैं। आप तो आखिरकार अधिकारी ठहरे।"

साहबने हुक्म दिया, "गांधीको मेरे पास लाना।" तैयब सेठ आदिके साथ मैं गया। कुर्सी तो क्यों कर मिल सकती थी? हम सब खड़े रहे।

साहबने मेरी तरफ देखकर पूछा, "कहिए, आप यहाँ किस लिए आये हैं?"

मैंने जवाब दिया, "अपने भाइयोंके बुलाने पर उन्हें सलाह देने आया हूँ।"

"पर क्या आप जानते नहीं कि आपको यहाँ आनेका अधिकार ही नहीं है? परवाना तो आपको भूलसे मिल गया है। आप यहाँके निवासी नही माने जा सकते। आपको वापस जाना होगा। आप श्री चेम्बरलेनके पास नही जा सकते। यहाँके हिन्दुस्तानियोंकी रक्षा करनेके लिए तो हमारा विभाग विशेष रूपसे खोला गया

है। अच्छा, जाइए।" इतना कहकर साहबने मुझे विदा किया। मुझे जवाब देनेका अवसर ही न दिया।

दूसरे साथियोंको रोक लिया। उन्हें साहबने धमकाया और सलाह दी कि वे मुझे ट्रान्सवालसे विदा कर दें।

साथी उदास मुँह लेकर लौटे। यों एक नई ही पहेली अनपेक्षित रूपसे हमारे सामने हल किये जानेके लिए खड़ी हो गई।

३. कड़वा घूँट पिया

इस अपमानसे मुझे बहुत दुःख हुआ। पर पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था, इससे पक्का हो गया था। अतएव मैंने अपमानकी परवाह न करते हुए तटस्थतासे जब जो कर्त्तव्य मुझे सूझ जाये, सो करते रहनेका निश्चय किया।

उक्त अधिकारीके हस्ताक्षरोंवाला पत्र मिला। उसमें लिखा था कि श्री चेम्बरलेन डर्बनमें श्री गांधीसे मिल चुके हैं, इसलिए अब उनका नाम प्रतिनिधियोंमें से निकाल डालना जरूरी है।

साथियोंको यह पत्र असह्य प्रतीत हुआ। उन्होंने अपनी राय दी कि शिष्ट-मण्डल ले जानेका विचार छोड़ दिया जाये। मैंने उन्हें भारतीय समाजकी विषम स्थिति समझाई: "अगर आप श्री चेम्बरलेनके पास नहीं जायेंगे, तो यह माना जायेगा कि यहाँ हमें कोई कष्ट है ही नहीं। आखिर जो कहना है, सो तो लिखकर ही कहना है और वह तैयार है। मैं पढ़ूँ या दूसरा कोई पढ़े, इसकी चिन्ता नही है। श्री चेम्बरलेन हमसे कोई चर्चा थोड़े ही करनेवाले हैं! मेरा जो अपमान हुआ है, उसे हमें पी जाना पड़ेगा।"

मैं यों कह ही रहा था कि इतनेमें तैयब सेठ बोल उठे: "पर आपका अपमान सारे भारतीय समाजका अपमान है। आप हमारे प्रतिनिधि हैं, इससे कैसे भुलाया जा सकता है?"

मैंने कहा, "यह सच है, पर समाजको भी ऐसे अपमान पी जाने पड़ेंगे। हमारे पास दूसरा इलाज क्या है?"

तैयब सेठने जवाब दिया: "भले जो होना हो सो हो, पर जान-बूझकर दूसरा अपमान क्यों सहा जाये? हानि तो यों भी हो ही रही है। हमें हक ही कौन-से मिले हैं?"

मुझे यह जोश अच्छा लगता था। पर मैं जानता था कि इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। मुझे अपने समाजकी मर्यादाका अनुभव था। अतएव मैंने साथियोंको शान्त किया और मेरे बदले स्व० जार्ज गाडफ्रेको, जो हिन्दुस्तानी बेरिस्टर थे, ले जानेकी सलाह दी।

अतः श्री गाडफ्रे प्रतिनिधिमण्डलके नेता बने। मेरे बारेमें श्री चेम्बरलेनने थोड़ी चर्चा भी की। 'एक ही व्यक्तिको दूसरीबार सुननेकी अपेक्षा नयेको सुनना अधिक उचित है', आदि बातें कहकर उन्होंने किये हुए घावको भरनेका प्रयत्न किया।

पर इसमें समाजका और मेरा काम बढ़ गया, पूरा न हुआ। पुनः 'ककहरे' से आरम्भ करना आवश्यक हो गया।

"आपके कहनेमे समाजने युद्धमें हाथ बँटाया; फिर भी परिणाम तो कुछ नही निकला न?" इस तरह ताना मारनेवाले भी समाजमें निकल आये। पर मुझपर इन तानोंका कोई असर नहीं हुआ। मैंने कहा, "मुझे उस सलाहका पछतावा नहीं है। मैं अब भी यह मानता हूँ कि हमने लड़ाईमें भाग लेकर ठीक ही किया है। भाग लेकर हमने अपने कर्त्तव्यका पालन किया है। हमें उसका फल चाहे देखनेको न मिले, पर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि शुभ कार्यका फल शुभ ही होता है। बीती बातोंका विचार करनेकी अपेक्षा अब हमारे लिए अपने वर्त्तमान कर्त्तव्यका विचार करना अधिक अच्छा होगा। अतएव हम उसके बारेमें सोचें।" दूसरोंने भी इस बातका समर्थन किया।

मैंने कहा: "सच तो यह है कि जिस कामके लिए मुझे बुलाया गया था, वह अब एक तरहसे पूरा हो गया है। पर मैं मानता हूँ कि आपके मुझे छुट्टी दे देने पर भी अपने बस-भर मुझे ट्रान्सवालसे हटना नहीं चाहिए। मेरा काम अब नेटालसे नहीं, बल्कि यहाँसे चलना चाहिए। एक सालके अन्दर वापस जानेका विचार मुझे छोड़ देना चाहिए और यहाँकी वकालतकी सनद हासिल करनी चाहिए। इस नये विभागसे निपट लेनेकी हिम्मत मुझमें है। यदि हमने मुकाबला न किया तो समाज बरबाद हो जायेगा और शायद यहाँसे उसके पैर भी उखड़ जायेंगे। समाजका अपमान और तिरस्कार रोज-रोज बढ़ता जायेगा। श्री चेम्बरलेन मुझसे नहीं मिले, उक्त अधिकारीने मेरे साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया, यह तो सारे समाजके अपमानकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। यहाँ हमारा कुत्तोंकी तरह रहना बरदाश्त नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार मैंने चर्चा चलाई। प्रिटोरिया और जोहानिसबर्गमें रहनेवाले भारतीय नेताओंसे विचार-विमर्श करके अन्तमें जोहानिसबर्गमें दफ्तर रखनेका निश्चय हुआ।

ट्रान्सवालमें मुझे वकालतकी सनद मिलनेके बारेमें भी शंका तो थी ही। पर वकील-मण्डलकी ओरसे मेरे प्रार्थना-पत्रका विरोध नही हुआ और बड़ी अदालतने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। हिन्दुस्तानीको अच्छे स्थानमें आफिसके लिए घर मिलना भी कठिन काम था। श्री रिचके साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उस समय वे व्यापारी-वर्गमें थे। उनकी जान-पहचानके हाउस-एजेंटके द्वारा मुझे आफिसके लिए अच्छी बस्तीमें घर मिल गया और मैंने वकालत शुरू कर दी।

४. बढ़ती हुई त्यागवृत्ति

ट्रान्सवालमें भारतीय समाजके अधिकारोंके लिए किस प्रकार लड़ना पड़ा और एशियाई विभागके अधिकारियोंके साथ कैसा व्यवहार करना पड़ा, इसका वर्णन करनेसे पहले मेरे जीवनके दूसरे अंग पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

अब तक मेरी इच्छा कुछ द्रव्य इकट्ठा करनेकी थी। परमार्थके साथ स्वार्थका मिश्रण था।

जब बम्बईमें दफ्तर खोला, तो एक अमेरिकन बीमा-एजेंट मिलने आया था। उसका चेहरा सुन्दर था और बातें मीठी थीं। उसने मेरे साथ मेरे भावी हितकी बातें ऐसे ढंगसे कीं मानो हम पुराने मित्र हों: "अमेरिकामें तो आपकी स्थितिके सब लोग अपने जीवनका बीमा कराते हैं। आपको भी ऐसा करके भविष्यके विषयमें निश्चिन्त हो जाना चाहिए। जीवनका भरोसा है ही नहीं। अमेरिकामें तो हम बीमा कराना अपना धर्म समझते हैं। क्या आप एक छोटी-सी पालिसी लेनेकी बात नहीं सोच सकते?"

तब तक दक्षिण आफ्रिकामें और हिन्दुस्तानमें बहुत-से एजेंटोंकी बात मैंने मानी नहीं थी। मैं सोचता था कि बीमा करानेमें कुछ भीरुता और ईश्वरके प्रति अविश्वास रहता है। पर इस बार मैं लालचमें आ गया। वह एजेंट जैसे-जैसे बातें करता जाता, वैसे-वैसे मेरे सामने पत्नी और बच्चोंकी तसवीर खड़ी होती जाती। "भले आदमी, तुमने पत्नीके सब गहने बेच डाले हैं। यदि कल तुम्हें कुछ हो जाये, तो पत्नी और बच्चोंके भरण-पोषणका भार उन गरीब भाई पर ही पड़ेगा न, जिन्होंने पिताका स्थान लिया है और उसे सुशोभित किया है? यह उचित न होगा।" मैंने अपने मनके साथ इस तरहकी दलीलें कीं और रु० १०,००० का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण आफ्रिकामें मेरी स्थिति बदल गई और फलतः मेरे विचार भी बदल गये। दक्षिण आफ्रिकाकी नई आपत्तिके समय मैंने जो कदम उठाये, सो ईश्वरको साक्षी रखकर ही उठाये थे। दक्षिण आफ्रिकामें मेरा कितना समय चला जायेगा, इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं थी। मैंने समझ लिया था कि मैं हिन्दुस्तान वापस नहीं जा पाऊँगा। मुझे अपने बाल-बच्चोंको साथ ही रखना चाहिए। अब उन्हें दूर बिलकुल नहीं रखना चाहिए। उनके भरण-पोषणकी व्यवस्था भी दक्षिण आफ्रिकामें ही होनी चाहिए। इस प्रकार सोचनेके साथ ही उक्त पालिसी मेरे लिए दुःखद बन गई। बीमा एजेंटके जालमें फँस जानेके लिए मैं लज्जित हुआ। "यदि बड़े भाई पिताके समान हैं, तो छोटे भाईकी विधवाके बोझको वे भारी समझेंगे यह तूने कैसे सोच लिया? यह भी क्यों माना कि तू ही पहले मरेगा? पालन करनेवाला तो ईश्वर है। न तू है, न भाई है। बीमा कराकर तूने अपने बाल-बच्चोंको भी पराधीन बना दिया है। वे स्वावलम्बी क्यों न बनें? असंख्य गरीबोंके बाल-बच्चोंका क्या होता है? तू अपने को उन्हींके समान क्यों नहीं मानता?"

इस प्रकार विचारधारा चली। अमल इसपर अवश्य ही तुरन्त नहीं किया। मुझे याद है कि बीमेकी एक किस्त तो मैंने दक्षिण आफ्रिकासे भी भेजी थी।

पर इस विचार-प्रवाहको बाहरसे बढ़ावा मिला। दक्षिण आफ्रिकाकी पहली यात्रामें मैं ईसाई वातावरणके सम्पर्कमें आकर धर्मके प्रति जाग्रत बना था। इस बार मैं थियोसॉफीके वातावरणके संसर्गमें आया। श्री रिच थियोसॉफिस्ट थे। उन्होंने मेरा सम्बन्ध जोहानिसबर्गकी सोसाइटीसे करा दिया। मैं उसका सदस्य तो नहीं बना, थियोसॉफीके सिद्धान्तोंसे मेरा मतभेद बना रहा; फिर भी मैं लगभग हरएक थियोसॉफिस्टके गाढ़ परिचयमें आया। उनके साथ रोज मेरी धर्म-चर्चा होती थी। मैं उनकी पुस्तकें पढ़ता था। उनकी सभामें बोलनेके अवसर भी मुझे आते थे। थियोसॉफीमें भाईचारा स्थापित करना और बढ़ाना मुख्य वस्तु है। हम लोग इस विषयकी खूब चर्चा करते थे, और जहाँ मैं इस सिद्धान्तमें और सदस्योंके आचरणमें भेद पाता, वहाँ आलोचना भी करता था। स्वयं मुझपर इस आलोचनाका काफी प्रभाव पड़ा। मैं आत्म-निरीक्षण करना सीख गया।

५. आत्म-निरीक्षणका परिणाम

सन् १८९३ में जब मैं ईसाई मित्रोंके निकट सम्पर्कमें आया, तब मैं केवल शिक्षार्थीकी स्थितिमें था। ईसाई मित्र मुझे बाइबलका सन्देश सुनाने समझाने और मुझसे उसको स्वीकार करानेका प्रयत्न करते थे। मैं नम्रता-पूर्वक, तटस्थ भावसे उनकी शिक्षाको सुन और समझ रहा था। इस निमित्तसे मैंने हिन्दू धर्मका यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मोंको समझनेकी कोशिश की।

अब १९०३ में स्थिति थोड़ी बदल गई। थियोसॉफिस्ट मित्र मुझे अपने मण्डलमें सम्मिलित करनेकी इच्छा अवश्य रखते थे। पर उनका हेतु हिन्दूके नाते मुझसे कुछ प्राप्त करना था। थियोसॉफीकी पुस्तकोंमें हिन्दू धर्मकी छाया और उसका प्रभाव तो काफी है ही। अतएव इन भाइयोंने मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूंगा। मैंने उन्हें समझाया कि संस्कृतका मेरा अध्ययन नहींके बराबर है। मैंने उसके प्राचीन धर्मग्रन्थ संस्कृतमें नहीं पढ़े हैं। अनुवादोंके द्वारा भी मेरी पढ़ाई कम ही हुई है। फिर भी चूँकि वे संस्कार और पुनर्जन्मको मानते थे, इसलिए उन्होंने समझा कि मुझसे थोड़ी-बहुत सहायता तो मिलेगी ही, और मैं 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'[१] जैसी स्थितिमें आ पड़ा। किसीके साथ मैंने स्वामी विवेकानन्दका, तो किसीके साथ मणिलाल नभुभाईका 'राजयोग' पढ़ना शुरू किया। एक मित्रके साथ 'पातंजल-योगदर्शन' पढ़ना पड़ा। बहुतोंके साथ गीताका अभ्यास शुरू हुआ। 'जिज्ञासु-मण्डल' के नामसे एक छोटा-सा मण्डल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा। गीताजी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब उसकी गहराईमें उतरनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। मेरे पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी सहायतासे मैंने मूल संस्कृत समझ लेनेका प्रयत्न किया, और नित्य एक-दो श्लोक कण्ठ करनेका निश्चय किया। प्रायः दातुन और स्नानके समयका उपयोग गीताके श्लोक कण्ठ करनेमें किया।

१. जहाँ कोई वृक्ष न हो, वहाँ एरंड ही वृक्ष माना जाता है।

दातुनमें पन्द्रह और स्नानमें बीस मिनट लगते थे। दातुन अंग्रेजी ढंगसे मैं खड़े-खड़े करता था। सामनेकी दीवार पर गीताके श्लोक लिखकर चिपका देता था और आवश्यकतानुसार उन्हें देखता तथा घोटता जाता था। ये घोटे हुए श्लोक स्नान एक बार करने तक पक्के हो जाते थे। इस बीच पिछले कण्ठ किये हुए श्लोकोंको भी मैं दोहरा जाता था। इस प्रकार तेरह अध्याय तक कण्ठ करनेकी बात मुझे याद है। बादमें काम बढ़ गया। सत्याग्रहका जन्म होने पर उस बालकके लालन-पालनमें मेरा विचार करनेका समय भी बीतने लगा और कहना चाहिए कि आज भी बीत रहा है।

इस गीतापाठका प्रभाव मेरे सहाध्यायियों पर क्या पड़ा, उसे वे जानें, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचारकी एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गई। वह मेरे लिए धार्मिक कोशका काम देने लगी। जिस प्रकार नये अंग्रेजी शब्दोंके हिज्जों या उनके अर्थके लिए मैं अंग्रेजी शब्दकोश देखता था, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी कठिनाइयों और उसकी अटपटी समस्याओंको 'गीताजी'से हल कराता था। उसके अपरिग्रह समभाव आदि शब्दोंने मुझे पकड़ लिया। समभावका विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाये? अपमान करनेवाले अधिकारी, रिश्वत लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करनेवाले कलके साथी इत्यादि और जिन्होंने बड़े-बड़े उपकार किये है ऐसे सज्जनोंके बीच भेद न करनेका क्या अर्थ है? अपरिग्रह किस प्रकार पाला जाता होगा? देहका होना ही कौन कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं तो और क्या है? अनेक पुस्तकोंसे भरी इन आलमारियोंको क्या जला डालूँ? घर जलाकर तीर्थ करने निकल जाऊँ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अंग्रेजी कानूनने मेरी मदद की। स्नेलकी कानूनी सिद्धान्तोंकी चर्चा याद आई। 'गीताजी'के अध्यनके फलस्वरूप 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ विशेष रूपसे समझमें आया। कानून-शास्त्रके प्रति मेरा आदर बढ़ा। मुझे उसमें भी धर्मके दर्शन हुए। ट्रस्टीके पास करोड़ों रुपयोंके रहते हुए भी उनमेंकी एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षुको ऐसा ही बरताव करना चाहिए, यह बात मैंने 'गीताजी'से समझी। मुझे यह दीपककी तरह स्पष्ट दिखाई दिया कि अपरिग्रही बननेमें, समभावी होनेमें हेतुका, हृदयका परिवर्तन आवश्यक है। मैंने रेवाशंकरभाईको इस आशयका पत्र लिख भेजा कि बीमेकी पालिसी बन्द कर दें। कुछ रकम वापस मिले तो ले लें, न मिले तो भरे हुए पैसोंको गया समझ लें। बच्चोंकी और स्त्रीकी रक्षा उन्हें और हमें पैदा करनेवाला करेगा। पितृतुल्य भाईको लिखा[१]: "आज तक तो मेरे पास जो बचा वह मैंने आपको अर्पण किया। अब मेरी आशा छोड़ दीजिए। अब जो बचेगा सो यहीं हिन्दुस्तानी समाजके हितमें खर्च होगा।"

यह बात मैं भाईको शीघ्र नहीं समझा सका। पहले तो उन्होंने मुझे कड़े उनके प्रति मेरा धर्म समझाया: "तुम्हें अपनेको पिताजीसे अधिक बुद्धिमान नहीं स झना शब्दोंमें चाहिए। पिताजीने जिस प्रकार कुटुम्बका पोषण किया, उसी प्रकार

१. देखिए खण्ड १, पृष्ठ ४४४-४८।

तुम्हें भी करना चाहिए।" आदि। मैंने उत्तरमें विनय-पूर्वक लिखा कि मै पिताका ही काम कर रहा हूँ। कुटुम्ब शब्दका थोड़ा विशाल अर्थ किया जाये, तो मेरा निश्चय आपकी समझमें आ सकेगा।

भाईने मेरी आशा छोड़ दी। एक प्रकारसे बोलना ही बन्द कर दिया। मुझे इससे दुःख हुआ। पर जिसे मै अपना धर्म मानता था उसे छोड़नेमें कही अधिक दुःख होता था। मैंने कम दुःख सहन कर लिया। फिर भी भाईके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और प्रचण्ड बनी रही। भाईका दुःख उनके प्रेममें से उत्पन्न हुआ था। उन्हें मेरे पैसोंसे अधिक आवश्यकता मेरे सद्व्यवहारकी थी। अपने अन्तिम दिनोंमें भाई पिघले। मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े उन्हें प्रतीति हुई कि मेरा आचरण ही सच्चा और धर्मपूर्ण था। उनका अत्यन्त करुणाजनक पत्र मिला। यदि पिता पुत्रसे क्षमा माँग सकता है, तो उन्होंने मुझसे क्षमा माँगी। उन्होंने लिखा कि मै उनके लड़कोंका पालन-पोषण अपनी नीति-रीतिके अनुसार करूँ। स्वयं मुझसे मिलनेके लिए अधीर हो गये। मुझे तार दिया। मैंने तारसे ही जवाब दिया: "आ जाइए।" पर हमारा मिलन बदा न था। उनकी अपने पुत्रों-सम्बन्धी इच्छा भी पूरी नहीं हुई। भाईने देशमें ही देह छोड़ी। लड़कों पर उनके पूर्व जीवनका प्रभाव पड़ चुका था। उनमें कोई परिवर्तन नही हुआ। मैं उन्हें अपने पास खीच न सका। इसमें उनका कोई दोष नहीं था। स्वभावको कौन बदल सकता है? बलवान संस्कारोंको कौन मिटा सकता है? हमारी यह धारणा मिथ्या है कि जिस तरह हममें परिवर्तन होता है या हमारा विकास होता है, उसी तरह हमारे आश्रितों अथवा साथियोंमें भी होना चाहिए।

माता-पिता बननेवालेकी जिम्मेदारी कितनी भयंकर है, इसका कुछ अनुभव इस दृष्टान्तसे हो सकता है।

६. निरामिषाहारके लिए बलिदान

मेरे जीवनमें जैसे-जैसे त्याग और सादगी बढ़ी और धर्म-जागृतिका विकास हुआ, वैसे-वैसे निरामिषाहारका और उसके प्रचारका मेरा शौक बढ़ता गया। प्रचार-कार्यको एक ही रीति मैंने जानी है — वह है आचार और आचारके साथ जिज्ञासुओंसे वार्तालापकी।

जोहानिसबर्गमें एक निरामिषाहार गृह था। एक जर्मन, जो कूनेकी जल-चिकित्सा में विश्वास रखता था, उसे चलाता था। मैंने वहाँ जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रोंको वहाँ ले जा सकता था उतनोंको ले जाने लगा। पर मैंने देखा कि यह भोजनालय बहुत दिनों नहीं चल पायेगा। उसे पैसेकी तंगी तो बनी ही रहती थी। मुझे जितनी उचित मालूम हुई उतनी मैंने उसकी मदद की। कुछ पैसे खोये भी। आखिर वह बन्द हो गया।

थियोसॉफिस्टोंमें अधिकतर निरामिषाहारी होते हैं; कुछ पूरे, कुछ अधूरे। इस मण्डलमें एक साहसी महिला भी थी।[1] उसने बड़े पैमाने पर एक निरामिषाहारी

१. देखिए खण्ड ५, पृष्ठ ३६।

भोजनालय खोला। यह महिला कलाकी शौकीन थी। वह खुले हाथों खर्च करती थी पर हिसाब-किताबका उसे बहुत ज्ञान नहीं था। उसकी मित्र-मण्डली खासी बड़ी थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने पर शुरू हुआ, पर उसने उसे बढ़ाने और बड़ी जगह लेनेका निश्चय किया। इसमें उसने मेरी मदद माँगी। उस समय मुझे उसके हिसाब आदिकी कोई जानकारी नहीं थी। मैंने यह मान लिया था कि उसका अन्दाज ठीक ही होगा। मेरे पास पैसेकी सुविधा थी। कई मुवक्किलोंके रुपये मेरे पास जमा रहते थे। उनमें से एकसे पूछकर उसकी रकममें से लगभग एक हजार पौंड उस महिलाको मैंने दे दिये। यह मुवक्किल विशाल हृदयका और विश्वासी था। वह पहले गिरमिटमें आया था। उसने (हिन्दीमें) कहा: "भाई, आपका दिल चाहे तो पैसा दे दो। मैं कुछ ना जानूं। मैं तो आप ही को जानता हूँ।" उसका नाम बदरी था। उसने सत्याग्रहमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। वह जेल भी भुगत आया था। इतनी सम्मतिके सहारे मैंने उसके पैसे उधार दे दिये।

दो-तीन महीनोंमें ही मुझे पता चल गया कि यह रकम वापस नहीं मिलेगी। इतनी बड़ी रकम खो देनेकी शक्ति मुझमें नही थी। मेरे पास इस बड़ी रकमका दूसरा उपयोग था। रकम वापस मिली ही नहीं। पर विश्वासी बदरीकी रकम डूब कैसे सकती थी? वह तो मुझीको जानता था। यह रकम मैंने भर दी।

एक मुवक्किल मित्रसे मैंने अपने इस लेन-देनकी चर्चा की। उन्होंने मुझे मीठा उलाहना देते हुए जाग्रत किया:

"भाई, (दक्षिण आफ्रिकामें मैं 'महात्मा' नही बना था, 'बापू' भी नहीं हुआ था। मुवक्किल मित्र मुझे 'भाई' कहकर ही पुकारते थे।) यह आपका काम नही है। हम तो आपके विश्वास पर चलनेवाले हैं। यह पैसा आपको वापस नहीं मिलेगा। बदरीको तो आप बचा लेंगे और अपना पैसा खोयेंगे। पर इस तरह सुधारके कामोंमें सब मुवक्किलोंके पैसे देने लगेंगे, तो मुवक्किल मर जायेंगे और आप भिखमंगे बनकर घर बैठेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको क्षति पहुँचेगी।"

सौभाग्यसे ये मित्र अभी जीवित हैं। दक्षिण आफ्रिकामें और दूसरी जगह उनसे अधिक शुद्ध मनुष्य मैंने नहीं देखा। किसीके प्रति उनके मनमें शंका उत्पन्न हो और उन्हें जान पड़े कि वह शंका खोटी है, तो तुरन्त उससे क्षमा माँगकर वे अपनी आत्माको साफ कर लेते हैं।

मुझे इस मुवक्किलकी चेतावनी सच मालूम हुई। बदरीकी रकम तो मैं चुका सका। पर दूसरे हजार पौंड यदि उन्ही दिनों मैंने खो दिये होते, तो उन्हें चुकानेकी शक्ति मुझमें बिल्कुल नहीं थी। उसके लिए मुझे कर्ज ही लेना पड़ता। कर्ज तो मैंने अपनी जिन्दगीमें कभी नहीं लिया और इसके लिए मेरे मनमें हमेशा ही बड़ी अरुचि रही है। मैंने अनुभव किया कि सुधार करनेके लिए भी अपनी शक्तिके बाहर जाना उचित नहीं था। मैंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार पैसे उधार देनेमें मैंने गीताके तटस्थ निष्काम कर्मके मुख्य पाठका अनादर किया था। यह भूल मेरे लिए दीपस्तम्भ-सी बन गई।

निरामिषाहारके प्रचारके लिए ऐसा बलिदान करनेकी मुझे कोई कल्पना न थी। मेरे लिए वह जबरदस्तीका पुण्य बन गया।

७. मिट्टी और पानीके प्रयोग

जैसे-जैसे मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गई, वैसे-वैसे रोगोंके लिए दवा लेनेकी मेरी अरुचि, जो पहलेसे ही थी, बढ़ती गई। जब मैं डर्बनमें वकालत करता था तब डा० प्राणजीवनदास मेहता मुझे अपने साथ ले जानेके लिए आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहती थी और कभी-कभी सूजन भी हो आती थी। उन्होंने इसका उपचार किया था और मुझे आराम हो गया था। इसके बाद देशमें वापस आने तक मुझे कोई उल्लेख करने-जैसी बीमारी हुई हो, इसकी याद नहीं है।

पर जोहानिसबर्गमें मुझे कब्ज रहता था और कभी-कभी सिर भी दुखा करता था। कोई दस्तावर दवा लेकर मैं स्वास्थ्यको सँभाले रहता था। खाने-पीनेमें पथ्यका ध्यान तो हमेशा रखता ही था, पर उससे मैं पूरी तरह व्याधिमुक्त नही हुआ। मनमें यह खयाल बना ही रहता कि दस्तावर दवाओंसे भी छुटकारा मिले तो अच्छा हो।

इन्हीं दिनों मैंने मैन्चेस्टरमें 'नो ब्रेकफास्ट एसोसिएशन' की स्थापनाका समाचार पढ़ा। इसमें दलील यह थी कि अंग्रेज बहुत बार और बहुत खाते हैं, रात बारह बजे तक खाते रहते हैं और फिर डाक्टरोंके घर खोजते फिरते हैं। इस उपाधिसे छूटना हो तो सबेरेका नाश्ता—'ब्रेकफास्ट'—छोड़ देना चाहिए। मुझे लगा कि यद्यपि यह दलील मुझपर पूरी तरह घटित नहीं होती, फिर भी कुछ अंशोंमें लागू होती है। मैं तीन बार पेट भरकर खाता था और दोपहरको चाय भी पीता था। मैं कभी अल्पाहारी नहीं रहा। निरामिषाहारमें मसालोंके बिना जितने भी स्वाद लिये जा सकते थे, मैं लेता था। छः-सात बजेसे पहले शायद ही उठता था। अतएव मैंने सोचा कि यदि मैं भी सुबहका नाश्ता छोड़ दूँ, तो सिरके दर्दसे अवश्य ही छुटकारा पा सकूँगा। मैंने सुबहका नाश्ता छोड़ दिया। कुछ दिनों तक अखरा तो सही, पर सिरका दर्द बिलकुल मिट गया। इससे मैंने यह नतीजा निकाला कि मेरा आहार आवश्यकतासे अधिक था।

पर इस परिवर्तनसे कब्जकी शिकायत दूर न हुई। कूनेके कटिस्नानका उपचार करनेसे थोड़ा आराम हुआ। पर अपेक्षित परिवर्तन तो नहीं ही हुआ। इस बीच उसी जर्मन होटलवालेने या दूसरे किसी मित्रने मुझे जुस्टकी 'रिटर्न टु नेचर' (प्रकृतिकी ओर लौटो) नामक पुस्तक दी। उसमें मैंने मिट्टीके उपचारके बारेमें पढ़ा। सूखे मेवे और ताज़े फल ही मनुष्यका प्राकृतिक आहार है, इस बातका भी इस लेखकने बहुत समर्थन किया है। इस बार मैंने केवल फलाहारका प्रयोग तो शुरू नही किया, पर मिट्टीका उपचार तुरन्त शुरू कर दिया। मुझपर उसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। उपचार इस प्रकार था: खेतकी साफ लाल या काली मिट्टी लेकर उसमें

प्रमाणमें पानी डालकर साफ पतले, गीले कपड़ेमें उसे लपेटा और पेट पर रखकर उसपर पट्टी बाँध दी। यह पुलटिस रातको सोते समय बाँधता और सवेरे अथवा रातमें जब जाग जाता तब उसे खोल दिया करता था। इससे मेरा कब्ज जाता रहा। उसके बाद मिट्टीके ये उपचार मैंने अपनेपर और अपने अनेक साथियोंपर किये और मुझे याद हे कि वे शायद ही किसी पर निष्फल रहे हों। देशमें आनेके बाद मैं ऐसे उपचारोंके विषयमें आत्म-विश्वास खो बैठा हूँ। मुझे प्रयोग करनेका, एक जगह स्थिर होकर बैठनेका, अवसर भी नहीं मिल सका। फिर भी मिट्टी और पानीके उपचारोंके बारेमें मेरी श्रद्धा बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी आरम्भमें थी। आज भी मै मर्यादाके अन्दर रहकर मिट्टीका उपचार स्वयं अपने ऊपर तो करता ही हूँ, और प्रसंग पड़नेपर अपने साथियोंको भी उसकी सलाह देता हूँ।

जीवनमें दो गम्भीर बीमारियाँ मैं भोग चुका हूँ, फिर भी मेरा यह विश्वास है कि मनुष्योंको दवा लेनेकी आवश्यकता शायद ही रहती है। पथ्य तथा पानी, मिट्टी इत्यादिके घरेलू उपचारोंसे एक हजारमें से ९९९ रोगी स्वस्थ हो सकते हैं। क्षण-क्षणमें वैद्य-हकीम और डाक्टरके घर दौड़नेसे और शरीरमें अनेक प्रकारके पाक और रसायन ठूँसनेसे मनुष्य न सिर्फ अपने जीवनको छोटा कर लेता है, बल्कि अपने मन पर काबू भी खो बैठता है। फलतः वह मनुष्यत्व गँवा देता है और शरीरका स्वामी रहनेके बदले उसका गुलाम बन जाता है।

मैं यह बीमारीके बिछौने पर पड़ा-पड़ा लिख रहा हूँ,[१] इस कारण कोई इन विचारोंकी अवगणना न करें। मैं अपनी बीमारीके कारण जानता हूँ। मुझे इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान और भान है कि अपने ही दोषोंके कारण मै बीमार पड़ा हूँ, और इस भानके कारण ही मैंने धीरज नहीं छोड़ा है। इस बीमारीको मैंने ईश्वरका अनुग्रह माना है, और तमाम दवाओंका सेवन करनेके लालचसे मैं दूर रहा हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि अपने हठसे मैं डाक्टर मित्रोंको परेशान कर देता हूँ, पर वे उदार भावसे मेरे हठको सह लेते हैं और मेरा त्याग नहीं करते।

पर मुझे इस समयकी अपनी स्थितिके वर्णनको और नहीं बढ़ाना चाहिए, इसलिए हम सन् १९०४-५ के समयकी तरफ लौट आयें। पर आगे बढ़कर उसका विचार करनेसे पहले पाठकोंको थोड़ा सावधान करनेकी आवश्यकता है। यह लेख पढ़कर जो जुस्टकी पुस्तक खरीदें, वे उसकी हर बातको वेदवाक्य न समझें। प्रायः सभी रचनाओंमें लेखककी दृष्टि एकांगी रहती है। किन्तु प्रत्येक वस्तुको कमसे-कम सात दृष्टियोंसे देखा जा सकता है और प्रत्येक दृष्टि सच भी होती है; पर सब दृष्टियाँ एक ही समय और एक ही अवसरपर कभी सच नहीं होतीं। साथ ही, कई पुस्तकों में बिक्रीका और नामके लालचका दोष भी होता है। अतएव जो कोई उक्त पुस्तक पढ़ें वे उसे विवेक-पूर्वक पढ़ें और कुछ प्रयोग करने हों, तो किसी अनुभवीकी सलाह लेकर करें, अथवा धैर्यपूर्वक ऐसी वस्तुका थोड़ा अभ्यास करके प्रयोग आरम्भ करें।

१. यह अध्याय २६-६-१९२७ के **नवजीवन**में प्रकाशित हुआ था; गांधीजी उस समय अधिक रक्त-चापसे पीड़ित थे।

८. एक सावधानी

प्रवाहमें आई हुई कथाके प्रसंगको अभी मुझे अगले प्रकरण तक टालना पड़ेगा। पिछले प्रकरणमें मिट्टीके प्रयोगोंके विषयमें मै जो कुछ लिख चुका हूँ, उसके जैसा मेरा आहार-विषयक प्रयोग भी था। अतएव इस सम्बन्धमें भी इस समय यहाँ थोड़ा लिख डालना उचित समझता हूँ। दूसरी कुछ बातें प्रसंगानुसार आगे आयेंगी।

आहार-विषयक मेरे प्रयोगों और तत्सम्बन्धी विचारोंका विस्तार इस प्रकरणमें नही किया जा सकता। इस विषयमें मैंने 'आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान'[1] नामक जो पुस्तक दक्षिण आफ्रिकामें 'इंडियन ओपिनियन' के लिए लिखी थी, उसमें विस्तार-पूर्वक लिखा है। मेरी छोटी-छोटी पुस्तकोंमें यह पुस्तक पश्चिममें और यहाँ भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है। मैं आज तक इसका कारण समझ नही सका हूँ। यह पुस्तक केवल 'इंडियन ओपिनियन' के पाठकोके लिए लिखी गई थी। पर उसके आधार पर अनेक भाई-बहनोंने अपने जीवनमें फेरफार किये हैं और मेरे साथ पत्र-व्यवहार भी किया है। इसलिए इस विषयमें यहाँ कुछ लिखना आवश्यक हो गया है। यद्यपि उसमें लिखे हुए अपने विचारोंमें फेरफार करनेकी आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हुई, तथापि अपने आचारमें मैंने जो महत्त्वका फेरफार किया है, उसे इस पुस्तकके सब पाठक नही जानते। यह आवश्यक है कि वे उस फेरफारको यही जान लें।

इस पुस्तकके लिखनेमें — अन्य पुस्तकोंकी भाँति ही — केवल धर्म-भावना काम कर रही थी और वही आज भी मेरे प्रत्येक काममें विद्यमान है। इसलिए उसमें बताये हुए कई विचारों पर मैं आज अमल नहीं कर पाता हूँ, मुझे इसका खेद है, इसकी लज्जा भी है।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य बालकके रूपमें माताका जो दूध पीता है, उसके सिवा उसे दूसरे दूधकी आवश्यकता नहीं है। ताज़े और सूखे वनपक्व फलोंके अतिरिक्त मनुष्यका और कोई आहार नहीं है। बादाम आदि बीजोंमें से और अंगूर आदि फलोंमेंसे उसे शरीर और बुद्धिके लिए आवश्यक पूरा पोषण मिल जाता है। जो ऐसे आहार पर रह सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत सरल हो जाता है। जैसा आहार वैसी डकार। इस कहावतमें बहुत सार है। मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है, इसे मैंने और मेरे साथियोंने अनुभव किया है। इन विचारोंका विस्तृत समर्थन मेरी आरोग्य-सम्बन्धी पुस्तकमें है।

पर हिन्दुस्तानमें अपने प्रयोगोंको सम्पूर्णता तक पहुँचाना मेरे भाग्यमें नही बदा था। खेड़ा जिलेमें सिपाहियोंकी भरतीका काम करते-करते अपनी भूलसे मैं मृत्यु-शय्यापर जा पड़ा। दूधके बिना जीनेके लिए मैंने बहुत हाथ-पैर मारे। जिन वैद्यों, डाक्टरों और रसायनशास्त्रियोंको मैं जानता था, उनकी मदद माँगी। किसीने मूँगके पानी, किसीने महुएके तेल और किसीने बादामके दूधका सुझाव दिया। इन सब चीजोंके प्रयोग करते-करते मैंने शरीरको निचोड़ डाला, पर उससे मैं बिछौना छोड़कर

[1] खण्ड ११ और १२ में आये हुए आरोग्य विषयक ३४ क्रमिक लेख।

नहीं उठ पाया। वैद्योंने मुझे चरक इत्यादिके श्लोक सुनाकर समझाया कि रोग दूर करनेके लिए खाद्याखाद्यकी बाधा नहीं होती और मांसादि भी खाये जा सकते हैं। ये वैद्य दुग्ध-त्याग पर दृढ़ रहनेमें मेरी सहायता कर सकें, ऐसी स्थिति न थी। तब जहाँ[1] 'बीफ टी' (गोमांसकी चाय) और 'ब्रांडी'की गुंजाइश हो, वहाँसे तो दूधके त्यागमें सहायता मिल ही कैसे सकती थी?

गाय-भैंसका दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था। यह मेरा व्रत था। व्रतका हेतु तो दूध-मात्रका त्याग था। पर व्रत लेते समय मेरे सामने गोमाता और भैंस-माता ही थी, इस कारणसे तथा जीनेकी आशासे मैंने मनको जैसे-तैसे फुसला लिया। मैंने व्रतके अक्षरका पालन किया और बकरीका दूध लेनेका निश्चय किया। बकरी माताका दूध लेते समय भी मैंने यह अनुभव किया कि मेरे व्रतकी आत्माका हनन हुआ है।

पर मुझे 'रौलट ऐक्ट'के विरुद्ध जूझना था। यह मोह मुझे छोड़ नहीं रहा था। इससे जीनेकी इच्छा बढ़ी, और जिसे मैं अपने जीवनका महान प्रयोग मानता हूँ, उसकी गति रुक गई।

खान-पानके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है। वह न खाती है, न पीती है। जो पेटमें जाता है वह नहीं, बल्कि जो वचन अन्दरसे निकलते हैं, वे हानि-लाभ पहुँचानेवाले होते हैं — इत्यादि दलीलोंसे मैं परिचित हूँ। इनमें तथ्यांश है। पर बिना दलील किये मैं यहाँ अपना यह दृढ़ निश्चय ही प्रकट किये देता हूँ कि जो मनुष्य ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी इच्छा रखता है, ऐसे साधक और मुमुक्षुके लिए अपने आहारका चुनाव, त्याग और स्वीकार उतना ही आवश्यक है, जितना कि विचार और वाणीका चुनाव, त्याग और स्वीकार आवश्यक है।

पर जिस विषयमें, मैं स्वयं गिर गया हूँ, उसके बारेमें दूसरोंको अपने सहारे चलनेकी सलाह मैं नहीं दूंगा, बल्कि उन्हें वैसा करनेसे रोकूँगा। अतएव आरोग्य-विषयक मेरी पुस्तकके सहारे प्रयोग करनेवाले सब भाई-बहनोंको मैं सावधान करना चाहता हूँ। दूधका त्याग पूरी तरह लाभप्रद प्रतीत हो अथवा अनुभवी वैद्य-डाक्टर उसे छोड़नेकी सलाह दें, तभी वे उसको छोड़ें। सिर्फ मेरी पुस्तकके भरोसे वे दूधका त्याग न करें। यहाँका मेरा अनुभव अब तक तो मुझे यह बतलाता है कि जिसकी जठराग्नि मन्द हो गई है, और जिसने बिछौना पकड़ लिया है, उसके लिए दूध जैसी दूसरी हलकी और पोषक खुराक है ही नहीं। अतएव उक्त पुस्तकके पाठकोंसे मेरी विनती और सिफारिश है कि उसमें दूधकी जो मर्यादा सूचित की गई है उस-पर चलनेकी वे जिद न करें।

इस प्रकरणको पढ़नेवाले कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी दूधके बदलेमें किसी उतनी ही पोषक किन्तु सुपाच्य वनस्पतिको अपने अध्ययनके आधार

१. अभिप्राय पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञानसे है।

पर नहीं, बल्कि अनुभवोंके आधार पर जानते हों, तो उसकी जानकारी देकर मुझे उपकृत करें।

९. बलवानसे भिड़न्त

अब एशियाई अधिकारियोंकी ओर लौटें।

एशियाई अधिकारियोंका सबसे बड़ा स्थान जोहानिसबर्गमें था। मैं यह देख रहा था कि उस स्थान पर हिन्दुस्तानी, चीनी आदि लोगोंका रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं: "हकदार दाखिल नहीं हो पाते और जिन्हें हक नहीं है, वे सौ-सौ पौंड देकर चले आ रहे हैं। इसका इलाज आप नहीं करेंगे तो और कौन करेगा?" मेरी भी यही भावना थी। यदि यह सड़ाँध दूर न हो, तो मेरा ट्रान्सवालमें बसना व्यर्थ माना जायेगा।

मैं प्रमाण जुटाने लगा। जब मेरे पास प्रमाणोंका अच्छा-खासा संग्रह हो गया, तो मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुँचा। मुझे लगा कि उसमें दया और न्यायकी वृत्ति है। मेरी बातको बिलकुल अनसुनी करनेके बदले उसने मुझे धीरजसे सुना और प्रमाण उपस्थित करनेको कहा। गवाहोंके बयान उसने स्वयं ही लिये। उसे विश्वास हो गया। पर जिस तरह मैं जानता था उसी तरह वह भी जानता था कि दक्षिण आफ्रिकामें गोरे पंचों द्वारा गोरे अपराधियोंको दण्ड दिलाना कठिन है। उसने कहा, "फिर भी हम प्रयत्न तो करें। ऐसे अपराधी जूरी द्वारा छोड़ दिये जायेंगे, इस डरसे उन्हें न पकड़वाना भी उचित नहीं है। इसलिए मैं तो उन्हें पकड़वाऊँगा। आपको मैं इतना विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी मेहनतमें मैं कोई कसर नहीं रखूँगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अधिकारियों पर भी मुझे सन्देह था, पर उनके विरुद्ध मेरे पास प्रमाण कमजोर था। दोके बारेमें कोई सन्देह नहीं था। अतएव दोके नाम वारंट निकले।

मेरा आना-जाना छिपा रह ही नहीं सकता था। कई लोग देखते थे कि मैं प्रायः प्रतिदिन पुलिस-कमिश्नरके यहाँ जाता हूँ। इन दो अधिकारियोंके छोटे-बड़े जासूस तो थे ही। वे मेरे दफ्तर पर निगरानी रखते और मेरे आने-जानेकी खबरें उन अधिकारियोंको पहुँचाते थे। यहाँ मुझे यह कहना चाहिए कि उक्त अधिकारियोंका अत्याचार इतना ज्यादा था कि उन्हें ज्यादा जासूस नहीं मिलते थे। यदि हिन्दुस्तानियों और चीनियोंकी मुझे मदद न होती, तो ये अधिकारी पकड़े ही न जाते।

इन दोमें से एक अधिकारी भागा। पुलिस-कमिश्नरने बाहरका वारंट निकालकर उसे वापस पकड़वा मँगाया। मुकदमा चला। प्रमाण भी मजबूत थे, और एकके तो भागनेका प्रमाण भी जूरीको मिल गया था। फिर भी दोनों छूट गये!

मुझे बड़ी निराशा हुई। पुलिस-कमिश्नरको भी दुःख हुआ। वकालतसे मुझे अरुचि हो गई। बुद्धिका उपयोग अपराधको छिपानेमें होता देखकर मुझे बुद्धि ही अप्रिय लगने लगी।

दोनों अधिकारियोंका अपराध इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हें बहाल रख नहीं सकी। दोनों बरखास्त हो गये और एशियाई विभाग कुछ साफ हुआ। अब हिन्दुस्तानियोंको धीरज बँधा और उनकी हिम्मत भी बढ़ी।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई। मेरे धन्धेमें भी वृद्धि हुई। हिन्दुस्तानी समाजके सैकड़ों पौंड हर महीने रिश्वतमें जाते थे, उसमें भी बहुत-कुछ बचत हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूरी रकम बची। बेईमान तो अब भी रिश्वत खाते थे। पर यह कहा जा सकता है कि जो प्रामाणिक थे, वे अपनी प्रामाणिकताकी रक्षा कर सकते थे।

मैं कह सकता हूँ कि इन अधिकारियोंके इतने अधम होने पर भी उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूपसे मेरे मनमें कुछ भी न था। मेरे इस स्वभावको वे जानते थे। और उनकी तंगीके दिनोंमें जब उन्हें पैसोंकी मदद करनेका प्रसंग मिला, तो मैंने उनकी मदद भी की थी। यदि मेरा विरोध न हो तो उन्हें जोहानिसबर्गकी म्युनिसिपैलिटीमें नौकरी मिल सकती थी। उनका एक मित्र मुझे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलानेमें मदद करना मंजूर कर लिया। उन्हें नौकरी मिल भी गई।

मेरे इस कार्यका यह प्रभाव पड़ा कि मैं जिन गोरोंके सम्पर्कमें आया, वे मेरी तरफसे निर्भय रहने लगे और यद्यपि उनके विभागोंके विरुद्ध मुझे लड़ना पड़ता था, तीखे शब्द कहने पड़ते थे, फिर भी वे मेरे साथ मीठा सम्बन्ध रखते थे। इस प्रकारका बरताव मेरा एक स्वभाव ही था, इसे मैं उस समय ठीकसे जानता न था। यह तो मैं बादमें समझने लगा कि ऐसे बरतावमें सत्याग्रहकी जड़ मौजूद है, और यह अहिंसाका एक विशेष अंग है।

मनुष्य और उसका काम ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अच्छे कामके प्रति आदर और बुरेके प्रति तिरस्कार होना ही चाहिए। भले-बुरे काम करनेवालोंके प्रति सदा आदर अथवा दया रहनी चाहिए। यह चीज समझनेमें सरल है, पर इसके अनुसार आचरण बहुत ही कम होता है। इस संसारमें इसी कारण विष फैलता रहता है।

सत्यकी शोधके मूलमें ऐसी अहिंसा है। मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता रहता हूँ कि जब तक यह अहिंसा प्राप्त नहीं होती, तब तक सत्य मिल ही नहीं सकता। व्यवस्था या पद्धतिके विरुद्ध झगड़ना शोभा देता है, पर व्यवस्थापकके विरुद्ध झगड़ा करना तो अपने विरुद्ध झगड़नेके समान है; क्योंकि हम सब एक ही चक्र पर रचे गये हैं, एक ही ब्रह्माकी सन्तान हैं। व्यवस्थापकमें अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। व्यवस्थापकका अनादर या तिरस्कार करनेसे उन शक्तियोंका अनादर होता है, और वैसा होने पर व्यवस्थापकको और संसारको हानि पहुँचती है।

१०. एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवनमें ऐसी घटनाएँ घटती ही रही हैं, जिनके कारण मैं अनेक धर्माव-लम्बियोंके और अनेक जातियोंके गाढ़ परिचयमें आ सका हूँ। इन सबके अनुभवोंके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मैंने अपने और पराये, देशी और विदेशी, गोरे और काले, हिन्दू और मुसलमान अथवा ईसाई, पारसी या यहूदीके बीच कोई भेद नहीं किया। मैं कह सकता हूँ कि मेरा हृदय ऐसे भेदको समझ ही न सका। अपने सम्बन्धमें मैं इस चीजको गुण नहीं मानता, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमोंकी सिद्धिका प्रयत्न करनेका और उस प्रयत्नके अबतक चलनेका मुझे पूरा भान है, उसी प्रकार मुझे याद नहीं पड़ता कि ऐसे अभेदको सिद्ध करनेका मैंने विशेष प्रयत्न किया हो।

जब मैं डर्बनमें वकालत करता था, तब अक्सर मेरे मुहर्रिर मेरे साथ रहते थे। उनमें हिन्दू और ईसाई थे अथवा प्रान्तकी दृष्टिसे कहूँ तो गुजराती और मद्रासी थे। मुझे स्मरण नहीं है कि उनके बारेमें मेरे मनमें कभी भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें अपना कुटुम्बी मानता था और यदि पत्नीकी ओरसे इसमें कोई बाधा आती तो मैं उससे लड़ता था। एक मुहर्रिर ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम जातिके थे।

हमारे घरकी बनावट पश्चिमी ढबकी थी। उसमें कमरोंके अन्दर मोरियाँ नहीं होतीं — मैं मानता हूँ कि होनी भी नहीं चाहिए — इससे कमरेमें मोरीकी जगह पेशाबके लिए एक बरतन रखा जाता था। उसे उठानेका काम नौकरका न था, बल्कि हम पति-पत्नीका था। जो मुहर्रिर अपनेको घरका-सा मानने लगते, वे तो अपना बरतन खुद उठाते भी थे। यह पंचम कुलमें उत्पन्न मुहर्रिर नया था। उसका बरतन हमें ही उठाना चाहिए था। कस्तूरबाई दूसरे बरतन तो उठाती थी, पर इस बरतनको उठाना उसे असह्य लगा। इससे हमारे बीच कलह हुआ। मेरा उठाना उससे सहा न जाता था और खुद उठाना उसे भारी हो गया था। हाथमें बरतन उठाये आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपकाती अपनी लाल आँखोंसे मुझे उलाहना देकर सीढ़ियाँ उतरती हुई कस्तूरबाईका चित्र मैं आज भी खींच सकता हूँ। पर मैं तो जितना प्रेमी उतना ही क्रूर पति था। मैं अपनेको उसका शिक्षक भी मानता था, इस कारण अपने अन्धे प्रेमके वश होकर उसे खूब सताता था।

यों उसके सिर्फ बर्तन उठाकर ले जानेसे मुझे सन्तोष न हुआ। मुझे सन्तोष तभी होता जब वह उसे हँसते मुँह ले जाती। इसलिए मैंने दो बातें ऊँची आवाजमें कहीं। मैं बड़बड़ा उठा, "यह कलह मेरे घरमें नहीं चलेगा।"

यह वचन कस्तूरबाईको तीरकी तरह चुभ गया।

वह भड़क उठी: "तो अपना घर अपने पास रखो। मैं यह चली।" मैं उस समय भगवानको भूल बैठा था। मुझमें दयाका लेश भी नहीं रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ियोंके सामने ही बाहर निकलनेका दरवाजा था। मैं उस समय असहाय अबलाको पकड़ कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाजा आधा

खोला। कस्तूरबाईकी आँखोंसे गंगा-यमुना बह रही थी। वह बोली: "तुम्हें तो शर्म नहीं है। लेकिन मुझे है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहाँ जा सकती हूँ? यहाँ मेरे माँ-बाप नहीं हैं कि उनके घर चली जाऊँ। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, इसलिए मुझे तुम्हारी डाँट-फटकार सहनी ही होगी। अब शरमाओ और दरवाजा बन्द करो। कोई देखेगा, तो दोमें से एककी भी लाज नहीं बचेगी।"

मैंने मुँह तो लाल रखा, पर शरमिन्दा जरूर हुआ। दरवाजा बन्द कर दिया। यदि पत्नी मुझे छोड़ नही सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, पर परिणाम सदा शुभ ही रहा है। पत्नीने अपनी अद्भुत सहनशक्ति द्वारा विजय प्राप्त की है।

मैं यह वर्णन आज तटस्थ भावसे कर सकता हूँ, क्योंकि यह घटना हमारे बीते युगकी है। आज मैं मोहान्ध पति नहीं हूँ। शिक्षक नहीं हूँ। कस्तूरबाई चाहे तो मुझे आज डाँट सकती है। आज हम परखे हुए मित्र हैं, एक दूसरेके प्रति निर्विकार बनकर रहते हैं। कस्तूरबाई आज मेरी बीमारीमें किसी बदलेकी इच्छा रखे बिना मेरी चाकरी करनेवाली सेविका है।

ऊपरकी घटना सन् १८९८ की है। उस समय मैं ब्रह्मचर्य-पालनके विषयमें कुछ भी नहीं जानता था। यह वह समय था जब मुझे इसका स्पष्ट भान नहीं था कि पत्नी केवल सहधर्मिणी है, सहचारिणी और सुख-दुःखकी साथिन है। मैं यह जानता हूँ कि उन दिनों मैं यह मानकर चलता था कि पत्नी विषय-भोगका साधन है, और वह पतिकी हर आज्ञाका पालन करनेके लिए सिरजी गई है।

सन् १९०० से मेरे विचारोंमें गम्भीर परिवर्तन हुआ। उसकी परिणति सन् १९०६ में हुई। पर इसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे। यहाँ तो इतना कहना काफी है कि जैसे-जैसे मैं निर्विकार बनता गया, वैसे-वैसे मेरी गृहस्थी शान्त, निर्मल और सुखी होती गई है और आज भी होती जा रही है।

इस पुण्यस्मरणसे कोई यह न समझ ले कि हम दोनों आदर्श पति-पत्नी हैं, अथवा मेरी पत्नीमें कोई दोष ही नहीं है या कि अब तो हमारे आदर्श एक ही हैं। कस्तूरबाईके अपने कोई स्वतन्त्र आदर्श हैं या नहीं, सो वह बेचारी खुद भी नहीं जानती होगी। सम्भव है कि मेरे बहुतेरे आचरण उसे आज भी अच्छे न लगते हों। इसके सम्बन्धमें हम कभी चर्चा नहीं करते, करनेमें कोई सार नहीं। उसे न तो उसके माता-पिताने शिक्षा दी, और न जब समय था तब मैं दे सका। पर उसमें एक गुण बहुत ही बड़ी मात्रामें है, जो दूसरी बहुत-सी हिन्दू स्त्रियोंमें न्यूनाधिक मात्रामें रहता है। इच्छासे हो चाहे अनिच्छासे, ज्ञानसे हो चाहे अज्ञानसे, उसने मेरे पीछे-पीछे चलनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझी है, और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें मुझे कभी रोका नहीं है। इस कारण यद्यपि हमारी बुद्धि-शक्तिमें बहुत अन्तर है, फिर भी मैंने अनुभव किया है कि हमारा जीवन सन्तोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

११. अंग्रेजोंका गाढ़ परिचय

इस प्रकरणको लिखते समय प्रसंग ऐसा आ गया है, जब मुझे पाठकोंको यह बताना चाहिए कि सत्यके प्रयोगोंकी यह कथा किस प्रकार लिखी जा रही है।

यह कथा मैंने लिखनी शुरू की थी, तब मेरे पास कोई योजना तैयार न थी। इन प्रकरणोंको मैं अपने सामने कोई पुस्तकें, डायरी या दूसरे कागज-पत्र रखकर नहीं लिख रहा हूँ। कहा जा सकता है कि लिखनेके दिन अन्तर्यामी मुझे जिस तरह रास्ता दिखाता है, उसी तरह मै लिखता हूँ। मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता कि जो क्रिया मेरे अन्तरमें चलती है, उसे अन्तर्यामीकी क्रिया कहा जा सकता है या नहीं। लेकिन कई वर्षोंसे मैंने जिस प्रकार अपने बड़े-से-बड़े माने गये और छोटे-से-छोटे गिने जाने-वाले कार्य किये हैं, उनकी छानबीन करते हुए मुझे यह कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि वे अन्तर्यामीकी प्रेरणासे हुए हैं।

अन्तर्यामीको मैंने देखा नहीं, जाना नहीं। संसारकी ईश्वर-विषयक श्रद्धाको मैंने अपनी श्रद्धा बना लिया है। यह श्रद्धा किसी प्रकार मेटी नहीं जा सकती। इसलिए श्रद्धाके रूपमें पहचानना छोड़कर मैं उसे अनुभवके रूपमें पहचानता हूँ। फिर भी इस प्रकार अनुभवके रूपमें उसका परिचय देना भी सत्यपर एक प्रकारका प्रहार करना है। अस्तु, कदाचित् यह कहना ही अधिक उचित होगा कि शुद्ध रूपमें उसका परिचय करानेवाला शब्द मेरे पास नहीं है।

मेरी यह मान्यता है कि उस अदृष्ट अन्तर्यामीके वशीभूत होकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ। जब मैंने पिछला प्रकरण लिखना शुरू किया, तो उसे शीर्षक 'अंग्रेजोंके परिचय' दिया था। पर प्रकरण लिखते समय मैंने देखा कि इन परिचयोंका वर्णन करनेसे पहले जो पुण्यस्मरण मैंने लिखा, उसे लिखना आवश्यक था। अतएव वह प्रकरण मैने लिखा, और लिख चुकनेके बाद पहलेका शीर्षक बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरणको लिखते समय एक नया धर्म-संकट उत्पन्न हो गया है। अंग्रेजोंका परिचय देते हुए क्या कहना और क्या न कहना, यह महत्वका प्रश्न बन गया है। जो प्रस्तुत है वह न कहा जाये तो सत्यको लांछन लगेगा। पर जहाँ इस आत्म कथाका ही लिखना कदाचित् प्रस्तुत न हो, वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुतके बीचके झगड़ेका एकाएक फैसला करना कठिन हो जाता है।

इतिहासके रूपमें आत्मकथा-मात्रकी अपूर्णता और उसकी कठिनाइयोंके बारेमें पहले मैंने जो पढ़ा था, उसका अर्थ आज मैं अधिक समझता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि सत्यके प्रयोगोंकी इस आत्मकथामें जितना मुझे याद है, मैं उतना सब कदापि नहीं दे रहा हूँ। कौन जानता है कि सत्यका दर्शन करानेके लिए मुझे कितना देना चाहिए अथवा न्याय-मन्दिरमें एकांगी और अधूरे प्रमाणोंकी क्या कीमत कूती जायेगी? लिखे हुए प्रकरणोंमें कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने बैठे, तो उससे इन प्रकरणों पर कितना अधिक प्रकाश पड़ेगा? और यदि वह आलोचककी दृष्टिसे इनकी छानबीन करे, तो कैसी-कैसी 'पोलें' प्रकट करके दुनियाको हँसायेगा और स्वयं फूलकर कुप्पा बनेगा?

इस तरह सोचने पर क्षण-भरके लिए मनमें यही विचार आता है कि क्या इन प्रकरणोंका लिखना बन्द कर देना ही अधिक उचित न होगा? किन्तु जब तक आरम्भ किया हुआ काम स्पष्ट रूपसे अनीतिमय प्रतीत न हो, तब तक उसे बन्द न किया जाये, इस न्यायसे, मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ जबतक कि अन्तर्यामी नहीं रोकता उस समय तक ये प्रकरण मुझे लिखते रहना चाहिए।

यह कथा टीकाकारोंको सन्तुष्ट करनेके लिए नहीं लिखी जा रही है। सत्यके प्रयोगोंमें यह भी एक प्रयोग ही है। साथ ही, लिखनेके पीछे यह दृष्टि तो है ही कि इससे साथियोंको कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरम्भ ही उनके सन्तोषके लिए किया गया है। यदि स्वामी आनन्द और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ जाते, तो कदाचित् यह कथा आरम्भ ही न होती। अतएव इसके लिखनेमें यदि कोई दोष हो रहा हो, तो उसमें वे हिस्सेदार हैं।

अब शीर्षकके विषय पर आता हूँ। जिस प्रकार मैंने हिन्दुस्तानी मुहर्रिरों और दूसरोंको घरमें अपने कुटुम्बियोंकी तरह रखा था, उसी प्रकार मैं अंग्रेजोंको भी रखने लगा। मेरे साथ रहनेवाले सभी लोग मेरे इस व्यवहारके अनुकूल न थे। पर मैंने उन्हें हठपूर्वक अपने साथ रखा। उन सबको रखनेमें मैंने हमेशा बुद्धिमानी ही की हो सो नहीं कह सकता। कुछ सम्बन्धोंसे कड़वे अनुभव भी प्राप्त हुए। किन्तु ऐसे अनुभव तो देशी-विदेशी दोनोंके सम्बन्धमें हुए। कड़वे अनुभवोंके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ। कड़वे अनुभवोंके होते हुए और यह जानते हुए भी कि मित्रोंको असुविधा होती है और कष्ट उठाना पड़ता है, मैंने अपनी आदत नहीं बदली और मित्रोंने उसे उदारतापूर्वक सहन किया। नये-नये मनुष्योंके साथके सम्बन्ध जब मित्रोंके लिए दुःखद सिद्ध हुए हैं, तब उनका दोष उन्हें दिखानेमें मैं हिचकिचाया नहीं हूँ। मेरी अपनी यह मान्यता है कि आस्तिक मनुष्योंमें, जो अपनेमें विद्यमान ईश्वरको सबमें देखना चाहते हैं, सबके साथ अलिप्त होकर रहनेकी शक्ति आनी चाहिए। और ऐसी शक्ति तभी विकसित की जा सकती है, जब अनायास ऐसे प्रसंग प्राप्त हो जाने पर उनसे दूर न भागकर नये-नये सम्पर्क स्थापित किये जायें और वैसा करते हुए भी राग-द्वेषसे दूर रहा जाये।

इसलिए जब बोअर-ब्रिटिश युद्ध शुरू हुआ, तब अपना घर भरा होते हुए भी मैंने जोहानिसबर्गसे आये हुए दो अंग्रेजोंको अपने यहाँ टिका लिया। दोनों थियोसॉफिस्ट थे। उनमें से एकका नाम किचन था। इनकी चर्चा हमें आगे भी करनी होगी। इन मित्रोंके सहवासने भी धर्मपत्नीको रुलाया ही था। मेरे कारण उसके हिस्सेमें रोनेके अनेक अवसर आये हैं। बिना किसी परदेके इतने निकट सम्बन्धमें अंग्रेजोंको घरमें रखनेका मेरा यह पहला अनुभव था। इंग्लैंडमें मैं उनके घरोंमें अवश्य रहा था। पर उस समय मैं उनकी रहन-सहनकी मर्यादामें रहा था और वह रहना लगभग होटलमें रहने-जैसा था। यहाँ बात उससे उल्टी थी। ये मित्र कुटुम्बके व्यक्ति बन गये थे। उन्होने बहुत-कुछ भारतीय रहन-सहनका अनुसरण किया था। यद्यपि घरके अन्दर-बाहरका साज-सामान अंग्रेजी ढंगका था, तथापि अन्दरकी रहन-सहन और

खानपान आदि मुख्यतः भारतीय थे। मुझे याद है कि इन मित्रोंको रखनेमें कई कठिनाइयाँ खड़ी हुई थीं, लेकिन मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि दोनों व्यक्ति घरके दूसरे लोगोंके साथ पूरी तरह हिलमिल गये थे। जोहानिसबर्गमें ये सम्बन्ध डर्बनसे भी अधिक आगे बढ़े।

१२. अंग्रेजोंसे परिचय

एक बार जोहानिसबर्गमें मेरे पास चार हिन्दुस्तानी कारकुन हो गये थे। मैं नहीं कह सकता कि उन्हें कारकुन मानूँ या बेटे। किन्तु इनसे ही मेरा काम न चला। टाइपिंगके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता था। टाइपिंगका जो थोड़ा-सा ज्ञान था, सो मुझे ही था। इन चार नौजवानोंमेंसे दोको मैंने टाइपिंग सिखाया, किन्तु अंग्रेजीका ज्ञान कम होनेसे उनका टाइपिंग कभी अच्छा न हो सका। फिर, उन्हींमें से मुझे हिसाब-नवीस भी तैयार करने थे। नेटालसे अपनी इच्छानुसार मैं किसीको बुला न सकता था, क्योंकि बिना परवानेके कोई हिन्दुस्तानी दाखिल नहीं हो पाता था। और अपनी सुविधाके लिए मैं अधिकारियोंसे मेहरबानीकी भीख माँगनेको तैयार न था।

मैं परेशानीमें पड़ गया। काम इतना बढ़ गया था कि कितनी ही मेहनत क्यों न की जाये, मेरे लिए यह सम्भव न रहा कि मैं वकालत और सार्वजनिक सेवा दोनोंको ठीकसे कर सकूँ। मुहर्रिरीके लिए अंग्रेज स्त्री-पुरुषोंके मिलने पर मैं उन्हें न रखूँ, ऐसी कोई बात न थी। पर मनमें यह प्रश्न था कि 'काले' आदमीके यहाँ गोरे नौकरी करेंगे? लेकिन मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय किया। टाइपराइटिंग एजेंटसे मेरी थोड़ी पहचान थी। मैं उसके पास गया और उससे कहा कि जिसे काले आदमीके अधीन नौकरी करनेमें अड़चन न हो, ऐसे टाइपराइटिंग करनेवाले गोरे भाई या बहनको वह मेरे लिए खोज दे। दक्षिण आफ्रिकामें शार्टहैंड लिखने और टाइपका काम करनेवाली अधिकतर बहनें ही होती हैं। इस एजेंटने मुझे वचन दिया कि ऐसा आदमी प्राप्त करनेका वह प्रयत्न करेगा। उसे मिस डिक नामक एक स्काच कुमारिका मिल गई। यह महिला हाल ही स्काटलैंडसे आई थी। उसे कहीं भी प्रामाणिक नौकरी करनेमें कोई आपत्ति न थी। उसे तत्काल काम पर लगना था। उक्त एजेंटने इस बहनको मेरे पास भेज दिया। उसे देखते ही मेरे मनने उसे पात्र मान लिया।

मैंने उससे पूछा, "आपको हिन्दुस्तानीके अधीन काम करनेमें कोई अड़चन तो नहीं है?"

उसने दृढ़तापूर्वक उत्तर किया: "बिलकुल नहीं।"

"आप वेतन कितना लेंगी?"

उसने जवाबमें प्रश्न किया: "क्या साढ़े सतरह पौंड आपके ख्यालमें अधिक होंगे?"

"आपसे मैं जितने कामकी आशा रखता हूँ उतना काम आप करेंगी, तब तो मैं इसे बिलकुल अधिक नहीं समझूँगा। आप काम पर कबसे आ सकेंगी?"

"आप चाहें तो इसी क्षणसे।"

मैं बहुत खुश हुआ और उस बहनको उसी समय अपने सामने बैठाकर मैंने पत्र लिखाना शुरू कर दिया।

उसने केवल मेरे कारकुनका ही नहीं, बल्कि मैं मानता हूँ कि सगी लड़की अथवा बहनका पद सहज भावसे तुरन्त ही ले लिया। उसे कभी ऊँची आवाजमें मुझे कुछ कहना न पड़ा। शायद ही कभी उसके काममें कोई गलती निकालनी पड़ी हो। एक समय ऐसा था जब हजारों पौंडकी व्यवस्था उसके हाथमें थी और वह हिसाब-किताब भी रखने लग गई थी। उसने सम्पूर्ण रूपसे मेरा विश्वास प्राप्त कर लिया था। लेकिन मेरे लिए बड़ी बात यह थी कि मैं उसकी गुह्यतम भावनाओंको जानने योग्य उसका विश्वास प्राप्त कर सका था। अपना साथी पसन्द करनेमें उसने मेरी सलाह ली थी। कन्यादान देनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ था। कुमारी डिक जब श्रीमती मैकडॉनल्ड बन गईं, तब उन्हें मुझसे अलग होना पड़ा, यद्यपि विवाहके बाद भी कामकी अधिकता होने पर मैं जब चाहता उनसे काम ले लेता था।

किन्तु आफिसमें एक स्थायी शार्टहैंड राइटरकी आवश्यकता तो थी ही। एक महिला इसके लिए भी मिल गई। नाम था कुमारी श्लेसिन। उसे मेरे पास लानेवाले श्री कैलनबैक थे, जिनका परिचय पाठकोंको आगे चलकर होगा। इस समय यह महिला एक हाई-स्कूलमें शिक्षिकाका काम कर रही है।[1] जब वह मेरे पास आई थी, उसकी उम्र कोई सत्रह सालकी रही होगी। उसकी कुछ विचित्रताओंसे श्री केलनबैक और मैं हार जाते थे। वह नौकरी करनेके विचारसे नहीं आई थी। उसे तो अनुभव कमाने थे। उसके स्वभावमें कहीं रंग-द्वेष तो था ही नहीं। उसे किसीकी परवाह भी नहीं थी। वह किसीका भी अपमान करनेसे डरती न थी, और अपने मनमें जिसके बारेमें जो विचार आते, सो कहनेमें संकोच न करती थी।[2] अपने इस स्वभाव के कारण वह कभी-कभी मुझे परेशानीमें डाल देती थी। लेकिन उसका सरल और शुद्ध स्वभाव सारी परेशानी दूर कर देता था। अंग्रेजीके उसके ज्ञानको मैंने हमेशा अपने ज्ञानसे ऊँचा माना था। इस कारण और उसकी वफादारी पर पूरा विश्वास होनेके कारण उसके द्वारा टाइप किये गये बहुत-से पत्रों पर, दुबारा जाँचे बिना ही, मैं हस्ताक्षर कर दिया करता था।

उसकी त्यागवृत्तिका पार न था। उसने एक लम्बे समय तक मुझसे प्रतिमास सिर्फ छः पौंड ही लिये, और दस पौंड से अधिक वेतन लेनेसे तो उसने अन्त तक साफ इन्कार किया। जब कभी मैं अधिक लेनेको कहता, वह मुझे डाँटती और कहती, "मैं यहाँ वेतन लेनेके लिए नहीं रह रही हूँ। मुझे आपके साथ यह काम करना अच्छा लगता है, और आपके आदर्श मुझे पसन्द हैं, इसीलिए मैं यहाँ टिकी हूँ।"

एक बार आवश्यकता होनेसे उसने मुझसे चालीस पौंड लिये थे, पर कर्जके तौर पर। पिछले साल उसने वे सारे पैसे लौटा दिये। जैसी उसकी त्यागवृत्ति तीव्र

१. **यंग इंडिया**, ११-८-१९२७ में वाक्य इस तरह हैं, "वह इन दिनों ट्रान्सवालकी एक कन्या-शालामें प्रधानाध्यापिका है।" यह सुधार कुमारी श्लेसिनके पत्रोंके आधारपर किया गया था। (एस० एन० १५०३८; १५०४०; १५०४१ और १५०४१) देखिए खण्ड ३६, पृष्ठ ४९२।

२. देखिए खण्ड ३७, पृष्ठ ६८।

थी, वैसी ही उसकी हिम्मत भी थी। मुझे स्फटिक मणि जैसी पवित्र और क्षत्रिय को भी चकित कर देनेवाली वीरतासे युक्त जिन महिलाओंके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें से एक इस बालाको मैं मानता हूँ। आज तो वह बड़ी उम्रकी प्रौढ़ कुमारिका है। आजकी उसकी मानसिक स्थितिसे मैं पूरी तरह परिचित नहीं हूँ, पर मेरे अनुभवोंमें इस बालाका अनुभव मेरे लिए सदा पुण्यस्मरण बना रहेगा। इसलिए मैं जो जानता हूँ, वह न लिखूँ तो सत्यका द्रोही बनूँ।

काम करनेमें उसने रात या दिनका कोई भेद कभी जाना ही नहीं। वह आधी रातको भी जहाँ जाना होता, अकेली चली जाती और अगर मैं किसीको उसके साथ भेजनेका विचार करता, तो मुझे लाल आँखें दिखाती। हजारों प्रौढ हिन्दुस्तानी भी उसे आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसका कहा मानते थे। जब हम सब जेलमें थे, शायद ही कोई जिम्मेदार आदमी बाहर रहा था, तब वह अकेली सत्याग्रहकी समूची लड़ाईको सँभाले हुए थी। स्थिति यह थी कि लाखोंका हिसाब उसके हाथमें, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें, और 'इंडियन ओपिनियन' भी उसके हाथमें। फिर भी वह थकना तो जानती ही न थी।

कुमारी श्लेसिनके विषयमें लिखते हुए मैं थक नहीं सकता। पर गोखलेका प्रमाणपत्र देकर मैं यह प्रकरण समाप्त करूँगा। गोखलेने मेरे सब साथियोंका परिचय प्राप्त किया था। यह परिचय करके उन्हें बहुतोंके विषयमें बहुत सन्तोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्रका मूल्यांकन करनेका शौक था। सारे हिन्दुस्तानी और यूरोपीय साथियोंमें उन्होंने कुमारी श्लेसिनको प्रधानता दी। उन्होंने कहा, "इतना त्याग, इतनी पवित्रता, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत थोड़ोंमें देखी है। मेरी दृष्टिमें तो कुमारी श्लेसिन तुम्हारे साथियोंमें प्रथम पदकी अधिकारिणी है।"

'१३. इंडियन ओपिनियन'

कुछ अन्य यूरोपीयोंके गाढ़ परिचयकी चर्चा करनी रह जाती है। पर उससे पहले दो-तीन महत्वपूर्ण बातोंका उल्लेख करना आवश्यक है। एक परिचय यहीं दे दूँ। कुमारी डिकको नियुक्त करके ही मैं अपना काम पूरा कर सकूँ ऐसी स्थिति न थी। श्री रिचके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूँ। उनसे मेरा अच्छा परिचय था ही। वे एक व्यापारी फर्मके संचालक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वहाँसे मुक्त होकर वे मेरे साथ आर्टिकल क्लर्कका काम करें। मेरा सुझाव उन्हें पसन्द आया और वे आफिसमें दाखिल हो गये। कामका मेरा बोझ हलका हो गया।

इस बीच श्री मदनजीतने 'इंडियन ओपिनियन'[1] अखबार निकालनेका विचार किया। उन्होंने मेरी सलाह और सहायता माँगी। छापाखाना तो वे चला ही रहे थे। अखबार निकालनेके विचारसे मैं सहमत हुआ। सन् १९०४में इस अखबारका

१. मदनजीत व्यावहारिक। पहला अंक ४-६-१९०३ में निकला। पहले सम्पादकीय और उनकी फोटोनकलके लिए देखिए खण्ड ३, पृष्ठ ३३७।

जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर इसके सम्पादक बने। पर सम्पादनका सच्चा बोझ तो मुझपर ही पड़ा। मेरे भाग्यमें प्रायः हमेशा दूरसे ही अखबारकी व्यवस्था सँभालने का योग रहा है। मनसुखलाल नाजर सम्पादकका काम न कर सकें, ऐसी कोई बात न थी। उन्होंने देशमें कई अखबारोंके लिए लेख लिखे थे, पर दक्षिण आफ्रिकाके अटपटे प्रश्नों पर मेरे रहते उन्होंने स्वतन्त्र लेख लिखनेकी हिम्मत नहीं की। उन्हें मेरी विवेक-शक्ति पर अत्यधिक विश्वास था। अतएव जिन-जिन विषयों पर कुछ लिखना जरूरी होता, उनपर लिखकर भेजनेका बोझ वे मुझपर डाल देते थे। यह अखबार साप्ताहिक था, जैसा कि आज भी है। आरम्भमें तो वह गुजराती, हिन्दी, तमिल और अंग्रेजीमें निकलता था। पर मैंने देखा कि तमिल और हिन्दी विभाग नाममात्रके थे। मुझे लगा कि उनके द्वारा समाजकी कोई सेवा नहीं होती। उन विभागोंको रखनेमें मुझे असत्यका आभास हुआ। अतएव उन्हें बन्द करके मैंने शान्ति प्राप्त की।

मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि इस अखबारमें मुझे अपने कुछ पैसे लगाने पड़ेंगे। लेकिन कुछ ही समयमें मैंने देखा कि अगर मैं पैसे न दूँ, तो अखबार चल ही नहीं सकता। मै अखबारका सम्पादक नहीं था। फिर भी हिन्दुस्तानी और गोरे दोनों यह जानने लग गये थे कि उसमें प्रकाशित लेखोंके लिए मैं ही जिम्मेदार था। अखबार न निकलता तो भी कोई हानि न होती। पर एक बार निकालनेके बाद उसके बन्द होनेसे हिन्दुस्तानियोंकी बदनामी होगी और समाजको हानि पहुँचेगी, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ। मैं उसमें पैसे उँडेलता गया, और कहा जा सकता है कि आखिर ऐसा भी समय आया, जब मेरी पूरी बचत उसी पर खर्च हो जाती थी। मुझे ऐसे समयकी याद है, जब मुझे अखबारके लिए हर महीने ७५ पौंड भेजने पड़ते थे।

किन्तु इतने वर्षोंके बाद मुझे लगता है कि इस अखबारने हिन्दुस्तानी समाजकी अच्छी सेवा की। इससे धन कमानेका विचार तो शुरूसे ही किसीका नहीं था। जब तक वह मेरे अधीन था, उसमें किये गये परिवर्तन मेरे जीवनमें हुए परिवर्तनोंके द्योतक थे। जिस तरह आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके कुछ अंशों के निचोड़-रूप हैं, उसी तरह 'इंडियन ओपिनियन' था। उसमें मैं प्रति-सप्ताह अपनी आत्मा उँडेलता था, और जिसे मैं सत्याग्रहके रूपमें पहचानता था, उसे समझानेका प्रयत्न करता था। जेलके दिनोंको छोड़कर दस वर्षोंके अर्थात् सन् १९१४ तकके 'इंडियन ओपिनियन' का शायद ही कोई अंक ऐसा होगा, जिसमें मैंने कुछ लिखा न हो। इसमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो या किसीको केवल खुश करनेके लिए लिखा हो अथवा जान-बूझकर अतिशयोक्ति की हो, ऐसा भी मुझे याद नहीं पड़ता। मेरे लिए यह अखबार संयमकी तालीम सिद्ध हुआ था; मित्रोंके लिए वह मेरे विचारोंको जाननेका माध्यम बन गया था। आलोचकोंको उसमें से आलोचनाके लिए बहुत कम सामग्री मिल पाती थी। मैं जानता हूँ कि उसके लेख आलोचकोंको अपनी कलम पर अंकुश रखनेके लिए बाध्य करते थे। इस अखबारके बिना सत्याग्रहकी लड़ाई चल नहीं सकती थी। पाठक-समाज इस अखबारको अपना

समझकर इसमें से लड़ाईका और दक्षिण आफ्रिकाके हिन्दुस्तानियोंकी दशाका सही हाल जानता था। इस अखबारके द्वारा मुझे मनुष्यके रंग-बिरंगे स्वभावका बहुत ज्ञान मिला। सम्पादक और ग्राहकके बीच निकटका और स्वच्छ सम्बन्ध स्थापित करनेकी ही धारणासे मेरे पास हृदय खोलकर रख देनेवाले पत्रोंका ढेर लग जाता था। उसमें तीखे, कड़वे, मीठे यों भाँति-भाँतिके पत्र मेरे नाम आते थे। उन्हें पढ़ना, उनपर विचार करना, उनमें से विचारोंका सार लेकर उत्तर देना——यह सब मेरे लिए शिक्षाका उत्तम साधन बन गया था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो इसके द्वारा मैं समाजमें चल रही चर्चाओं और विचारोंको सुन रहा हूँ। मैं सम्पादकके दायित्वको भली-भाँति समझने लगा और मुझे समाजके लोगोंपर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ, उसके कारण भविष्यमें होनेवाला संघर्ष सम्भव हो सका, वह सुशोभित हुआ और उसे शक्ति मिली।

'इंडियन ओपिनियन' के पहले महीनेके कामकाजसे ही मैं इस परिणाम पर पहुँच गया था कि समाचारपत्र सेवाभावसे ही चलाए जाने चाहिए। समाचारपत्र एक जबरदस्त शक्ति है, किन्तु जिस प्रकार निरंकुश पानीका प्रवाह गाँवके गाँव डुबा देता है और फसलको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कलमका निरंकुश प्रवाह भी नाशकी सृष्टि करता है। यदि अंकुश बाहरसे आता है, तो वह निरंकुशतासे भी अधिक विषैला सिद्ध होता है। अंकुश अन्दरका ही लाभदायक हो सकता है। यदि यह विचारधारा सच हो, तो दुनियाके कितने समाचारपत्र इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं? लेकिन निकम्मोंको बन्द कौन करे? कौन किसे निकम्मा समझे? उपयोगी और निकम्मे दोनों साथ-साथ ही चलते रहेंगे। उनमें से मनुष्यको अपना चुनाव करना होगा।

१४. 'कुली लोकेशन' अर्थात् 'भंगी बस्ती?'

हिन्दुस्तानमें हम अपनी बड़ी-से-बड़ी सेवा करनेवाले ढेढ़, भंगी इत्यादिको, जिन्हें हम अस्पृश्य मानते हैं, गाँवसे बाहर अलग रखते हैं। गुजरातीमें उनकी बस्तीको 'ढेढ़वाड़ा' कहते हैं, और इस नामका उच्चारण करते समय लोगोंके मनमें नफरत होती है। इसी प्रकार यूरोपके ईसाई समाजमें एक जमाना ऐसा था, जब यहूदी लोग अस्पृश्य माने जाते थे और उनके लिए जो ढेढ़वाड़ा बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम असगुनिया माना जाता था। इसी तरह दक्षिण आफ्रिकामें हम हिन्दुस्तानी लोग ढेढ़ बन गये हैं। एन्ड्रयूजके आत्मबलिदानसे और शास्त्रीजीकी[१] जादूकी छड़ीसे हमारी शुद्धि होगी और फलतः हम ढेढ़ न रहकर सभ्य माने जायेंगे या नहीं, सो तो भविष्य बतायेगा।

हिन्दुओंकी भाँति यहूदियोंने अपनेको ईश्वरका प्रीतिपात्र और दूसरोंको अप्रीति-पात्र मानकर जो अपराध किया था, उसका दण्ड उन्हें विचित्र और अनुचित रीतिसे

१. वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री; मई १९२७ में दक्षिण आफ्रिकामें भारत सरकारके प्रतिनिधि नियुक्त हुए थे।

प्राप्त हुआ था। लगभग उसी प्रकार हिन्दुओंने भी अपनेको सुसंस्कृत अथवा आर्य मानकर अपने ही एक अंगको प्राकृत, अनार्य अथवा ढेढ़ माना है। अपने इस पापका फल वे विचित्र रीतिसे और अनुचित ढंगसे दक्षिण आफ्रिका आदि उपनिवेशोंमें भोग रहे हैं, और मेरी यह धारणा है कि उसमें अनेक पड़ोसी मुसलमान और पारसी भी, जो उन्हींके रंगके और देशके हैं, फँस गये हैं।

जोहानिसबर्गके कुली लोकेशनको इस प्रकरणका विषय बनानेका हेतु अब पाठकों की समझमें कुछ-कुछ आ गया होगा। दक्षिण आफ्रिकामें हम हिन्दुस्तानी 'कुली' के नामसे मशहूर हो गये हैं। यहाँ तो हम 'कुली' शब्दका अर्थ केवल मजदूर करते हैं। लेकिन दक्षिण आफ्रिकामें इस शब्दका जो अर्थ होता था, उसे 'ढेढ़', 'पंचम' आदि तिरस्कारवाचक शब्दों द्वारा ही सूचित किया जा सकता है। वहाँ कुलियोंके रहनेके लिए जो अलग जगह रखी जाती है, वह 'कुली बस्ती' कही जाती है। जोहानिसबर्गमें ऐसी एक 'बस्ती' थी। दूसरी सब जगहोंमें जो 'बस्तियाँ' बसाई गई थीं, और जो आज भी मौजूद हैं, उनमें हिन्दुस्तानियोंको कोई मालिकी हक नहीं होता। पर इस जोहानिसबर्गवाली बस्तीमें जमीन ९९ वर्षके लिए पट्टे पर दी गई थी। इसमें हिन्दुस्तानियोंकी आबादी अत्यन्त घनी थी। लोगोंकी संख्या बढ़ती थी, पर बस्तीका क्षेत्र नहीं बढ़ सकता था। उसके पाखाने जैसे-तैसे साफ अवश्य होते थे, पर इसके सिवा नगरपालिकाकी ओरसे और कोई विशेष देखरेख नहीं होती थी। वहाँ सड़क या रोशनीकी व्यवस्था तो होती ही कैसे? इस प्रकार जहाँ लोगोंके शौचादिसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्था की भी किसीको चिन्ता न थी, वहाँ सफाई कैसे होती? जो हिन्दुस्तानी वहाँ बसे हुए थे, वे शहरकी सफाई और आरोग्य इत्यादिके नियम जाननेवाले ऐसे सुशिक्षित और आदर्श हिन्दुस्तानी नहीं थे जिन्हें नगरपालिकाकी मददकी अथवा उनकी रहन-सहन पर नगरपालिकाकी देखरेखकी आवश्यकता न हो। यदि वहाँ जंगलमें मंगल कर सकनेवाले, धूलमें से धान पैदा करनेकी शक्तिवाले हिन्दुस्तानी जाकर बसे होते, तो उनका इतिहास सर्वथा भिन्न होता। ऐसे लोग बड़ी संख्यामें दुनियाके किसी भी भागमें, परदेशमें, जाकर नहीं बसते। साधारणतः लोग धन और धन्धेके लिए परदेश जाते हैं। पर हिन्दुस्तानसे मुख्यतः बड़ी संख्यामें अपढ़, गरीब और दीन-दुःखी मजदूर ही गये थे। उन्हें तो पग-पग पर रक्षाकी आवश्यकता थी। उनके पीछे-पीछे व्यापारी और दूसरे स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी जो गये, वे तो मुट्ठीभर ही थे।

इस प्रकार सफाईकी रक्षा करनेवाले विभागकी अक्षम्य असावधानीके कारण और हिन्दुस्तानी बाशिन्दोंके अज्ञानके कारण, आरोग्यकी दृष्टिसे उक्त बस्तीकी स्थिति बेशक खराब थी। नगरपालिकाने उसे सुधारनेकी थोड़ी भी उचित कोशिश नहीं की। परन्तु अपने ही दोषसे उत्पन्न हुई खराबीको निमित्त बनाकर सफाई विभागने उक्त बस्ती नष्ट करनेका निश्चय किया और वहाँकी धारासभासे उस जमीन पर कब्जा करनेका अधिकार प्राप्त किया। जिस समय मैं जोहानिसबर्गमें जाकर बसा था, उस समय वहाँकी हालत ऐसी थी।

वहाँ रहनेवाले अपनी जमीनके मालिक थे, इसलिए उनको कुछ-न-कुछ मुआवजा देना जरूरी था। मुआवजेकी रकम निश्चित करनेके लिए एक खास अदालत कायम हुई थी। नगरपालिका जो रकम देनेको तैयार हो उसे मकान-मालिक स्वीकार न करता, तो उक्त अदालत द्वारा ठहराई हुई रकम उसे मिलती थी। यदि नगरपालिका द्वारा सूचित रकमसे अधिक रकम देनेका निश्चय अदालत करती, तो मकान-मालिकके वकीलका खर्च नियमके अनुसार नगरपालिकाको चुकाना होता था।

इनमेंसे अधिकांश दावोंमें मकान-मालिकोंने मुझे अपना वकील किया था। मुझे इस कामसे धन पैदा करनेकी इच्छा नहीं थी। मैंने उनसे कह दिया था: "अगर आप जीतेंगे तो म्युनिसिपैलिटीकी तरफसे जो भी खर्च मिलेगा, उससे मैं सन्तोष कर लूँगा। आप हारें चाहे जीतें, यदि हर पट्टे पीछे दस पौंड आप मुझे देंगे तो काफी होगा।" मैंने उन्हें बताया कि इसमें से भी आधी रकम गरीबोंके लिए अस्पताल बनाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काममें खर्च करनेके लिए अलग रखनेका मेरा इरादा है। स्वभावतः यह सुनकर सब बहुत खुश हुए।

लगभग सत्तर मामलोंमें से एकमें ही हार हुई। अतएव मुझे फीसकी खासी रकम मिली। पर उसी समय 'इंडियन ओपिनियन' की माँग मेरे सिर पर लटक रही थी। अतएव लगभग सोलह सौ पौंडका चेक उसमें चला गया, ऐसा मुझे ख्याल है। इन दावोंमें मेरी मान्यताके अनुसार मैंने अच्छी मेहनत की थी। मुवक्किलोंकी तो मेरे पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमें से प्रायः सभी पहले इकरारनामेके अनुसार उत्तर हिन्दुस्तानके बिहार इत्यादि प्रदेशोंसे और दक्षिणके तमिल-तेलुगु प्रदेशसे आये थे और बादमें मुक्त होने पर स्वतन्त्र धन्धा करने लगे थे। इन लोगोंने अपने विशिष्ट कष्टोंको मिटानेके लिए स्वतन्त्र हिन्दुस्तानी व्यापारी-वर्गके मण्डलसे भिन्न एक मण्डलकी रचना की थी। उनमें कुछ बहुत शुद्ध हृदय, उदार भावनावाले और चारित्र्यवान हिन्दुस्तानी भी थे। उनके मुखियाका नाम श्री जयरामसिंह था। और मुखिया न होते हुए भी मुखिया-जैसे ही दूसरे भाईका नाम श्री बदरी था। दोनोंका देहान्त हो चुका है। दोनोंकी तरफसे मुझे बहुत अधिक सहायता मिली थी। श्री बदरीसे मेरा बहुत अधिक परिचय हो गया था और उन्होंने सत्याग्रहमें सबसे आगे रहकर हिस्सा लिया था। इन और ऐसे ही अन्य भाइयोंके द्वारा मैं उत्तर दक्षिणके बहुसंख्यक हिन्दुस्तानियोंके निकट परिचयमें आया था और उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा था तथा उनके तीनों[1] प्रकारके दुःखोंमें उनका साझी बना था।

सेठ अब्दुल्लाने मुझे 'गांधी' कहनेसे इन्कार कर दिया। 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन? उन्होंने एक अतिशय प्रिय नाम खोज लिया। वे मुझे 'भाई' कहकर पुकारने लगे। दक्षिण आफ्रिकामें अन्त तक मेरा यही नाम रहा। लेकिन जब ये गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी मुझे 'भाई' कहकर पुकारते थे, तब मुझे उसमें एक खास मिठासका अनुभव होता था।

१. त्रिविधताप।

१५. महामारी—१

नगरपालिकाने इस बस्तीका मालिकी पट्टा लेनेके बाद वहाँ रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको तुरन्त ही नहीं हटाया। उन्हें दूसरी अनुकूल जगह देना तो जरूरी था ही। यह जगह नगरपालिकाने निश्चित नहीं की थी। इसलिए हिन्दुस्तानी लोग उसी 'गन्दी' बस्तीमें रहे। लेकिन दो परिवर्तन हुए। हिन्दुस्तानी लोग मालिक न रहकर नगरपालिकाके किरायेदार हो गये और बस्तीकी गन्दगी बढ़ गई। पहले जब हिन्दुस्तानियोंका मालिकी हक माना जाता था, उस समय वे इच्छासे नहीं तो डरके मारे ही कुछ-न-कुछ सफाई रखते थे। अब नगरपालिकाको किसका डर था? मकानोंमें किरायेदार बढ़े और उसके साथ गन्दगी तथा अव्यवस्था भी बढ़ी।

इस तरह चल रहा था। हिन्दुस्तानियोंके दिलोंमें इसके कारण बेचैनी थी ही। इतनेमें अचानक भयंकर प्लेग फूट निकला। प्लेगकी यह महामारी प्राणघातक थी। यह फेफड़ोंकी थी। गाँठवाली महामारी (प्लेग)की तुलनामें यह अधिक भयंकर मानी जाती है।

सौभाग्यसे महामारीका कारण यह बस्ती न थी। उसका कारण जोहानिसबर्गके आसपासकी अनेक सोनेकी खानोंमें से एक खान थी। वहाँ मुख्य रूपसे हब्शी काम करते थे। उनकी स्वच्छताकी जिम्मेदारी केवल गोरे मालिकोंके सिर थी। इस खानमें कुछ हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनमें से तेईसको अचानक छूत लगी और एक दिन शामको भयंकर महामारीके शिकार वे उक्त बस्तीवाले अपने घरोंमें आये। उस समय भाई मदनजीत 'इंडियन ओपिनियन'के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करनेके लिए वहाँ गये थे। वे बस्तीमें घूम-फिर रहे थे। उनमें निर्भयताका बढ़िया गुण था। उन्होंने इन बीमारोंको देखा और उनका हृदय व्यथित हुआ। उन्होंने पेंसिलसे लिखी एक पर्ची मुझे भेजी। उसका भावार्थ यह था: "यहाँ अचानक भयंकर प्लेग फूट पड़ा है। आपको तुरन्त आकर कुछ करना चाहिए, नहीं तो परिणाम भयंकर होगा। तुरन्त आइए।"

मदनजीतने एक खाली पड़े हुए मकानका ताला निडरतापूर्वक तोड़कर उसपर कब्जा कर लिया और इन बीमारोंको उसमें रख दिया। मैं अपनी साइकल पर बस्तीमें पहुँचा। वहाँसे टाउन-क्लर्कको सब जानकारी भेजी और यह सूचित किया कि किन परिस्थितियोंमें मकान पर कब्जा किया गया है।

डा० विलियम गॉडफ्रे जोहानिसबर्गमें डाक्टरी करते थे। समाचार मिलते ही वे दौड़े आये और बीमारोंके डाक्टर तथा नर्सका काम करने लगे। पर हम तीन आदमी तेईस बीमारोंको सँभाल नहीं सकते थे।

अनुभवके आधार पर मेरा यह विश्वास बना है कि भावना शुद्ध हो तो संकटका सामना करनेके लिए सेवक और साधन मिल ही जाते हैं। मेरे आफिसमें कल्याणदास माणिकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। अन्तिम दो के नाम इस समय याद नहीं हैं। कल्याणदासको उनके पिताने मुझे सौंप दिया था। उनके जैसे परोपकारी और आज्ञा-पालनमें विश्वास रखनेवाले सेवक मैंने थोड़े ही देखे होंगे। सौभाग्यसे

कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें चाहे जैसा जोखिमका काम सौंपनेमें मैंने कभी संकोच नहीं किया। दूसरे माणिकलाल मुझे जोहानिसबर्गमें मिल गये थे। मेरा ख्याल है कि वे भी कुँवारे थे। मैंने अपने इन चारों मुहर्रिरों, साथियों अथवा पुत्रोंको — कुछ भी कह लीजिए — होमनेका निश्चय किया। कल्याणदाससे तो पूछना ही क्या था? दूसरे पूछते ही तैयार हो गये। "जहाँ आप वहाँ हम" यह उनका छोटा और मीठा जवाब था।

श्री रिचका परिवार बड़ा था।[1] वे स्वयं तो इस काममें कूद पड़नेको तैयार थे, पर मैंने उन्हें रोका। मैं उन्हें संकटमें डालनेके लिए बिलकुल तैयार न था। ऐसा करनेकी मुझमें हिम्मत न थी। पर उन्होंने बाहरका सब काम किया।

शुश्रूषाकी वह रात भयानक थी। मैंने बहुत-से बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा की थी, पर प्लेगके बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेका अवसर मुझे कभी मिला नहीं था। डा० गॉडफ्रेकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया था। बीमारोंकी विशेष सेवा-चाकरी कर सकने जैसी स्थिति नहीं थी। उन्हें दवा देना, ढाढ़स बँधाना, पानी पिलाना और उनका मल-मूत्र आदि साफ करना, इसके सिवा विशेष कुछ करनेको था ही नहीं।

चारों नौजवानोंकी तनतोड़ मेहनत और निडरता देखकर मेरे हर्षकी सीमा न रही। डा० गॉडफ्रेकी हिम्मत समझमें आ सकती है। मदनजीतकी भी समझी जा सकती है। पर इन नौजवानोंकी हिम्मतका क्या कहना? रात जैसे-तैसे बीती।

जहाँ तक मुझे याद है उस रात हमने किसी बीमारको नहीं खोया।

पर यह प्रसंग जितना करुणाजनक है, उतना ही रसपूर्ण और मेरी दृष्टिसे धार्मिक भी है। अतएव इसके लिए अभी दूसरे दो प्रकरणोंकी जरूरत तो रहेगी ही।

१६. महामारी — २

इस प्रकार मकान और बीमारोंको अपने कब्जेमें लेनेके लिए टाउन-क्लर्कने मेरा उपकार माना और प्रामाणिकतासे स्वीकार किया: "हमारे पास ऐसी परिस्थितिमें अपने-आप अचानक कुछ कर सकनेके लिए कोई साधन नहीं हैं। आपको जो मदद चाहिए, आप माँगिए। टाउन-कौंसिलसे जितनी मदद बन सकेगी उतनी वह करेगी।" पर उपयुक्त उपचारके प्रति सजग बनी हुई इस नगरपलिकाने स्थितिका सामना करनेमें देर न की।

दूसरे दिन मुझे एक खाली पड़े हुए गोदामका कब्जा दिया और बीमारोंको वहाँ ले जानेकी सूचना दी। पर उसे साफ करनेका भार नगरपालिकाने नहीं उठाया। मकान मैला और गन्दा था। हमने खुद ही उसे साफ किया। खटिया वगैरा सामान उदार हृदयके हिन्दुस्तानियोंकी मददसे इकट्ठा किया और तत्काल एक कामचलाऊ अस्पताल खड़ा कर लिया। नगरपालिकाने एक नर्स भेज दी और उसके साथ ब्रांडीकी बोतल और बीमारोंके लिए अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेजीं। देखरेख डा० गॉडफ्रेकी ही कायम रही।

१. देखिए खण्ड ४, पृष्ठ १६५।

हम नर्सको क्वचित् ही बीमारोंको छूने देते थे। नर्स स्वयं छूनेको तैयार थी। वह भले स्वभावकी स्त्री थी। पर हमारा प्रयत्न यह था कि उसे संकटमें न पड़ने दिया जाये।

बीमारोंको समय-समय पर ब्रांडी देनेका सुझाव था। रोगकी छूतसे बचनेके लिए नर्स हमें भी थोड़ी ब्रांडी लेनेको कहती और खुद भी लेती थी। हममें कोई ब्रांडी लेनेवाला न था। मुझे तो बीमारोंको भी ब्रांडी देनेमें श्रद्धा न थी। डा० गॉडफ्रेकी इजाजतसे तीन बीमारों पर, जो ब्रांडीके बिना रहनेको तैयार थे और मिट्टीके प्रयोग करनेको राजी थे, मैंने मिट्टीका प्रयोग शुरू किया और उनके माथे और छातीमें जहाँ-जहाँ दर्द होता था, वहाँ-वहाँ मिट्टीकी पट्टी रखी। इन तीन बीमारोंमेंसे दो बचे। बाकी सब बीमारोंका देहान्त हो गया। बीस बीमार तो इस गोदाममें ही चल बसे।

नगरपालिकाकी दूसरी तैयारियाँ चल रही थीं। जोहानिसबर्गसे सात मील दूर एक 'लेजरेटो' अर्थात् संक्रामक रोगोंके बीमारोंका अस्पताल था। वहाँ तम्बू खड़े करके इन तीन बीमारोंको उनमें पहुँचाया गया। भविष्यमें महामारीके शिकार होनेवालोंको भी वहीं ले जानेकी व्यवस्था की गई। हमें इस कामसे मुक्ति मिली।

कुछ ही दिनों बाद हमें मालूम हुआ कि उक्त भली नर्सको महामारी हो गई थी और उसीमें उसका देहान्त हुआ। वे बीमार कैसे बचे और हम महामारीसे किस कारण मुक्त रहे, सो कोई कह नहीं सकता। पर मिट्टीके उपचारके प्रति मेरी श्रद्धा और दवाके रूपमें भी शराबके उपयोगके प्रति मेरी अश्रद्धा बढ़ गई। मैं जानता हूँ कि यह श्रद्धा और अश्रद्धा दोनों निराधार मानी जायेंगी। पर उस समय मुझपर जो छाप पड़ी थी और जो अभी तक बनी हुई है, उसे मैं मिटा नहीं सकता। अतएव इस अवसर पर उसका उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

इस महामारीके शुरू होते ही मैंने तत्काल समाचारपत्रोंमें एक कड़ा पत्र[1] लिखा था और उसमें बस्तीको अपने हाथमें लेनेके बादसे बढ़ी हुई नगरपालिकाकी लापरवाहीकी और महामारीके लिए उसकी जवाबदारीकी चर्चा की थी। इस पत्रने मुझे श्री हेनरी पोळकसे मिला दिया था, और यही पत्र स्व० जोजेफ डोकके परिचयका एक कारण बन गया था।

पिछले प्रकरणोंमें मैं लिख चुका हूँ कि मैं एक निरामिष भोजनालयमें भोजन करने जाता था। वहाँ श्री अल्बर्ट वेस्टसे मेरी जान-पहचान हुई थी। हम प्रतिदिन शामको इस भोजनालयमें मिलते और भोजनके बाद साथमें घूमने जाया करते थे। वेस्ट एक छोटे-से छापाखानेके साझेदार थे। उन्होंने समाचारपत्रोंमें महामारी विषयक मेरा पत्र पढ़ा और भोजनके समय मुझे भोजनालयमें न देखकर वे घबरा गये।

मैंने और मेरे साथी सेवकोंने महामारीके दिनोंमें अपना आहार घटा लिया था। एक लम्बे समयसे मेरा अपना यह नियम था कि जब आसपास महामारीकी हवा हो तब पेट जितना हलका रहे उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शामका खाना

१. देखिए खण्ड ४, पृष्ठ १७०।

बन्द कर दिया था और दोपहरको दूसरे भोजन करनेवालोंको सब प्रकारके भयसे दूर रखनेके लिए मैं ऐसे समय पहुँचकर खा आता था जब दूसरे कोई पहुँचे न होते थे। भोजनालयके मालिकसे मेरी गहरी जान-पहचान हो गई थी। मैंने उससे कह रखा था कि चूंकि मैं महामारीके बीमारोंकी सेवामें लगा हूँ, इसलिए दूसरोंके सम्पर्कमें कमसे-कम आना चाहता हूँ।

यों मुझे भोजनालयमें न देखनेके कारण दूसरे या तीसरे ही दिन सबेरे-सबेरे जब मैं बाहर निकलनेकी तैयारीमें लगा था, वेस्टने मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले: "आपको भोजनालयमें न देखकर मैं घबरा उठा था कि कहीं आपको तो कुछ हो नहीं गया। इसलिए यह सोचकर कि इस समय आप मिल ही जायेंगे, मैं यहाँ आया हूँ। मेरे योग्य कोई मदद हो तो मुझसे कहिए। मैं बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए भी तैयार हूँ। आप जानते हैं कि मुझपर अपना पेट भरनेके सिवा और कोई जवाबदारी नहीं है।"

मैंने वेस्टका आभार माना। मुझे याद नहीं पड़ता कि विचार करनेमें मैंने एक मिनट भी लगाया हो। तुरन्त कहा: "आपको नर्सके रूपमें तो मैं कभी न लूंगा। अगर नये बीमार न निकले तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही पूरा हो जायेगा। लेकिन एक काम अवश्य है।"

"कौन-सा?"

"क्या आप डर्बन पहुँचकर 'इंडियन ओपिनियन' प्रेसका प्रबन्ध अपने हाथमें लेंगे? मदनजीत तो अभी यहाँके काममें व्यस्त हैं। परन्तु वहाँ किसीका जाना जरूरी है। आप चले जायें, तो उस तरफकी मेरी चिन्ता बिलकुल कम हो जाये।"

वेस्टने जवाब दिया: "यह तो आप जानते हैं कि मेरा अपना छापाखाना है। बहुत सम्भव है कि मैं जानेकी बात स्वीकार कर लूं। आखिरी जवाब आज शाम तक दूं तो चलेगा न? घूमने निकल सकें तो उस समय हम बात कर लेंगे।"

मैं प्रसन्न हुआ। उसी दिन शामको थोड़ी बातचीत हुई। वेस्टको हर महीने दस पौंडका वेतन और छापाखानेमें कुछ मुनाफा हो तो उसका अमुक भाग देनेका निश्चय किया। वेस्ट वेतनके लिए तो जा नहीं रहे थे। इसलिए वेतनका सवाल उनके सामने नहीं था। दूसरे ही दिन रातकी मेलसे वे डर्बनके लिए रवाना हुए और अपनी उगाहीका काम मुझे सौंपते गये। उस दिनसे लेकर मेरे दक्षिण आफ्रिका छोड़नेके दिनतक वे मेरे सुख-दुखके साथी रहे।

वेस्टका जन्म विलायतके एक परगनेके लाउथ नामक गाँवके एक किसान परिवारमें हुआ था। उन्हें साधारण स्कूली शिक्षा प्राप्त हुई थी। वे अपने परिश्रमसे अनुभवकी पाठशालामें शिक्षा पाकर तैयार हुए शुद्ध, संयमी, ईश्वरसे डरनेवाले, साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। मैंने उन्हें हमेशा इसी रूपमें जाना है।

आगे इन प्रकरणोंमें हमें उनका और उनके कुटुम्बका अधिक परिचय मिलेगा।

१७. बस्तीकी होली

यद्यपि बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषासे मैं और मेरे साथी मुक्त हो चुके थे, फिर भी महामारीके कारण उत्पन्न दूसरे कामोंकी जवाबदारी तो सिरपर थी ही।

नगरपालिका इस बस्तीकी स्थितिके बारेमें भले ही लापरवाह हो, पर गोरे नागरिकोंके आरोग्यके विषयमें तो वह चौबीसों घंटे जाग्रत रहती थी। उनके स्वास्थ्य-की रक्षाके लिए पैसा खर्च करनेमें उसने कोई कसर न रखी। और इस मौकेपर महामारीको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिए तो उसने पानीकी तरह पैसे बहाये। मैंने हिन्दुस्तानियोंके प्रति नगरपालिकाके व्यवहारमें बहुत-से दोष देखे थे। फिर भी गोरोंके लिए बरती गई इस सावधानीके लिए मै नगरपालिकाका आदर किये बिना न रह सका, और उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी मदद बन पड़ी, मैंने दी। मैं मानता हूँ कि मैंने वैसी मदद न दी होती, तो नगरपालिकाके लिए काम मुश्किल हो जाता और कदाचित् वह बन्दूककी शक्तिसे काम लेती — उसमें हिचकिचाती नहीं — और अपना चाहा सिद्ध करती।

पर वैसा कुछ हो नहीं पाया। हिन्दुस्तानियोंके व्यवहारसे नगरपालिकाके अधिकारी खुश हुए और बादका कितना ही काम सरल हो गया। नगरपालिकाकी माँगोंके अनुकूल बरताव करानेमें मैंने हिन्दुस्तानियोंपर अपने प्रभावका पूरा-पूरा उपयोग किया। हिन्दुस्तानियोंके लिए यह सब करना बहुत कठिन था, पर मुझे याद नहीं पड़ता कि उनमें से एकने भी मेरी बातको टाला हो।

बस्तीके आसपास पहरा बैठ गया। बिना इजाजत न कोई बस्तीके बाहर जा सकता था और न बिना इजाजत कोई अन्दर घुस सकता था। मुझे और मेरे साथियों-को स्वतन्त्रता-पूर्वक अन्दर जानेके परवाने दिये गये थे। नगरपालिकाका इरादा यह था कि बस्तीमें रहनेवाले सब लोगोंको तीन हफ्तोंके लिए जोहानिसबर्गसे तेरह मील दूर एक खुले मैदानमें तम्बू गाड़कर बसाया जाये और बस्तीको जला डाला जाये। डेरे-तम्बूकी नई बस्ती बसानेमें और वहाँ रसद इत्यादि सामान पहुँचानेमें कुछ दिन तो लगते ही। इस बीचके समयके लिए उक्त पहरा बैठाया गया था।

लोग बहुत घबराये। लेकिन चूँकि मैं उनके साथ था, इसलिए उन्हें तसल्ली थी। उनमें से बहुतेरे गरीब अपने पैसे घरोंमें गाड़कर रखते थे। अब वहाँसे पैसे निकालना जरूरी हो गया। उनका कोई बैंक न था। बैंकका तो वे नाम भी न जानते थे। मैं उनका बैंक बना। मेरे यहाँ पैसोंका ढेर लग गया। ऐसे समयमें कोई मेहनताना तो ले ही नहीं सकता था। जैसे-तैसे मैंने इस कामको पूरा किया। हमारे बैंकके मैनेजरसे मेरी अच्छी जान-पहचान थी। मैने उनसे कहा कि मुझे उनके बैंकमें बहुत बड़ी रकम जमा करनी होगी। बैंक ताँबे और चाँदीके सिक्के बड़ी संख्यामें लेनेको तैयार नहीं थे। इसके सिवा, महामारीके क्षेत्रसे आनेवाले पैसोंको छूनेमें मुहर्रिर लोग आनाकानी करें, इसकी भी संभावना थी। मैनेजरने मेरे लिए सब प्रकारकी सुविधा कर दी। यह तय हुआ कि जन्तुनाशक पानीसे धोकर पैसे बैंकमें भेज दिये जायें। मुझे याद है कि इस तरह लगभग साठ हजार पौंड बैंकमें जमा किये गये

थे। जिनके पास अधिक रकमें थीं उन्हें एक निश्चित अवधिके लिए ब्याजपर रखनेकी सलाह मैंने मुवक्किलोंको दी। इस प्रकार अलग-अलग मुवक्किलोंके नाम कुछ रकमें जमा की गईं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनमें से कुछ बैंकमें पैसे रखनेके आदी हो गये।

बस्तीमें रहनेवालोंको एक स्पेश्यल ट्रेनमें जोहानिसबर्गके पास क्लिपस्प्रूट फार्म पर ले जाया गया। यहाँ उनके लिए खाने-पीनेकी व्यवस्था नगरपालिकाने अपने खर्चसे की। तम्बुओंके नीचे बसे इस गाँवका दृश्य सिपाहियोंकी छावनी-जैसा था। लोगोंको इस तरह रहनेकी आदत नहीं थी। इससे उन्हें मानसिक दुःख हुआ, नया-सा लगा। किन्तु कोई खास तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। मैं हर रोज एक बार साईकलपर वहाँ हो आता था। इस तरह तीन हफ्ते खुली हवामें रहनेसे लोगोंके स्वास्थ्यमें अवश्य ही सुधार हुआ, और मानसिक दुःखको तो वे पहले चौबीस घंटोंके अन्दर ही भूल गये। अतएव बादमें वे आनन्दसे रहने लगे। मै जब भी वहाँ जाता, उन्हें भजन-कीर्तन और खेल-कूदमें ही लगा पाता।

जैसा कि मुझे याद है, जिस दिन बस्ती खाली की उसके दूसरे दिन उसकी होली जलाई गई। नगरपालिकाने उसकी एक भी चीजको बचानेका लोभ नहीं किया। इन्हीं दिनों और इसी निमित्तसे नगरपालिकाने अपने भी बाजारकी सारी इमारती लकड़ी जला डाली और लगभग दस हजार पौंडका नुकसान सहन किया। वहाँ मरे हुए चूहे मिले थे, इस कारण यह कठोर कार्रवाई की गई थी।

खर्च तो बहुत हुआ, पर परिणाम यह हुआ कि महामारी आगे बिलकुल न बढ़ सकी। शहर खतरेसे खाली हो गया।

१८. एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

इस महामारीने गरीब हिन्दुस्तानियोंपर मेरे प्रभावको, मेरे धन्धेको और मेरी जिम्मेदारीको बढ़ा दिया। साथ ही, यूरोपीयोंके बीच मेरी बढ़ती हुई कुछ जान-पहचान भी इतनी निकटकी होती गई कि उसके कारण भी मेरी जिम्मेदारी बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्टसे मेरी जान-पहचान निरामिषाहारी भोजनगृहमें हुई, उसी तरह पोलकके विषयमें हुआ। एक दिन जिस मेजपर मैं बैठा था उससे दूरकी दूसरी मेजपर एक नौजवान भोजन कर रहे थे। उन्होंने मिलनेकी इच्छासे मुझे अपने नामका कार्ड भेजा। मैंने उन्हें अपनी मेजपर आनेके लिए निमन्त्रित किया। वे आये।

"मैं 'क्रिटिक' का उप-सम्पादक हूँ। महामारी-विषयक आपका पत्र पढ़नेके बाद मुझे आपसे मिलनेकी बड़ी इच्छा हुई। आज मुझे यह अवसर मिल रहा है।"

श्री पोलककी शुद्ध भावनासे मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ। पहली ही रातमें हम एक-दूसरेको पहचानने लग गये और जीवन-विषयक अपने विचारोंमें हमें बहुत साम्य दिखाई पड़ा। उन्हें सादा जीवन पसन्द था। एक बार जिस वस्तुको उनकी

बुद्धि कबूल कर लेती, उसपर अमल करनेकी उनकी शक्ति मुझे आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवनमें कई परिवर्तन तो एकदम कर लिये।

'इंडियन ओपिनियन' का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्टकी पहली ही रिपोर्ट मुझे चौंकानेवाली थी। उन्होंने लिखा: "आपने जैसा कहा था वैसा मुनाफा मैं इस काममें नहीं देखता। मुझे तो नुकसान नजर आता है। बहीखातोंकी अव्यवस्था है। उगाही बहुत है। पर वह बिना सिर-पैरकी है। बहुत-से फेरफार करने होंगे। पर इस विवरणसे आप घबराइए मत। मैं सारी बातोंको व्यवस्थित बनानेकी भरसक कोशिश करूँगा। मुनाफा न होनेके कारण मैं इस कामको छोड़ूँगा नहीं।"

यदि वेस्ट चाहते तो मुनाफा न होता देखकर काम छोड़ सकते थे और मैं उन्हें किसी तरहका दोष न दे सकता था। यही नहीं, बल्कि बिना जाँच-पड़ताल किये इसे मनाफेवाला काम बतानेका दोष मुझपर लगानेका उन्हें अधिकार था। इतना सब होनेपर भी उन्होंने मुझसे कभी एक कड़वी बाततक नहीं कही। पर मैं मानता हूँ कि इस नई जानकारीके कारण वेस्टकी दृष्टिमें मेरी गिनती उन लोगोंमें हुई होगी, जो जल्दीमें दूसरोंका विश्वास कर लेते हैं। मदनजीतकी धारणाके बारेमें पूछताछ किये बिना उनकी बातपर भरोसा करके मैंने वेस्टसे मुनाफेकी बात कही थी।

मेरा ख्याल है कि सार्वजनिक काम करनेवालेको ऐसा विश्वास न रखकर वही बात कहनी चाहिए जिसकी उसने स्वयं जाँच कर ली हो। सत्यके पुजारीको तो बहुत सावधानी रखनी चाहिए। पूरे विश्वासके बिना किसीके मनपर आवश्यकतासे अधिक प्रभाव डालना भी सत्यको लांछित करना है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि इस वस्तुको जानते हुए भी जल्दीमें विश्वास करके काम हाथमें लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं पूरी तरह सुधार नहीं सका। इसमें मैं अपनी शक्तिसे अधिक काम करनेके लोभका दोष देखता हूँ। इस लोभके कारण मुझे जितना परेशान होना पड़ा है, उसकी अपेक्षा मेरे साथियोंको कहीं अधिक परेशान होना पड़ा है।

वेस्टका ऐसा पत्र आनेके कारण मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। पोलक तो मेरी सब बातें जानने लगे ही थे। वे मुझे छोड़ने स्टेशनतक आये और यह कहकर कि "यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने योग्य है; इसे पढ़ जाइए, आपको पसन्द आयेगी" उन्होंने रस्किनकी 'अन्टु दिस लास्ट' पुस्तक मेरे हाथमें रख दी।

इस पुस्तकको हाथमें लेनेके बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिसबर्गसे नेटालका रास्ता लगभग चौबीस घंटोंका था। ट्रेन शामको डर्बन पहुँचती थी। पहुँचनेके बाद मुझे सारी रात नींद न आई। मैंने पुस्तकमें सूचित विचारोंको अमलमें लानेका इरादा किया।

इससे पहले मैंने रस्किनकी एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्याध्ययनके समयमें पाठ्य-पुस्तकोंके बाहरकी मेरी पढ़ाई लगभग नहींके बराबर मानी जायेगी। कर्मभूमिमें प्रवेश करनेके बाद समय बहुत कम बचता था। आजतक भी यही कहा जा सकता है। मेरा पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही कम है। मैं मानता हूँ कि इस अनायास अथवा बरबस पाले गये संयमसे मुझे कोई हानि नहीं हुई। बल्कि जो थोड़ी पुस्तकें मैं पढ़

पाया हूँ, कहा जा सकता है कि उन्हें मैं ठीकसे हजम कर सका हूँ। इन पुस्तकोंमें से जिसने मेरे जीवनमें तत्काल महत्त्वके रचनात्मक परिवर्तन कराये, वह 'अन्टु दिस लास्ट' ही कही जा सकती है। बादमें मैंने उसका गुजराती अनुवाद किया जो 'सर्वोदय'के नामसे छपा।[1]

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्दर गहराईमें छिपी पड़ी थी, रस्किन-के ग्रन्थरत्नमें मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे उसमें दिये गये विचारोंपर अमल कराया। जो मनुष्य हममें सोई हुई उत्तम भावनाओंको जाग्रत करनेकी शक्ति रखता है, वह कवि है। सब कवियोंका सब लोगों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सबके अन्दर सारी सद्भावनाएँ समान मात्रामें नहीं होतीं।

मैं 'सर्वोदय'के सिद्धान्तोंको इस प्रकार समझा हूँ:

१. सबकी भलाईमें हमारी भलाई निहित है।

२. वकील और नाई दोनोंके कामकी कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविकाका अधिकार सबको एक समान है।

३. सादा, मेहनत-मजदूरीका — किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात मैं जानता था, दूसरीको धुँधले रूपमें देखता था। पर तीसरीका मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दियेकी तरह दिखा दिया कि पहली चीजमें दूसरी दोनों चीजें समाई हुई हैं। सवेरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तोंका अमल करनेके प्रयत्नमें लगा।

१९. फीनिक्सकी स्थापना

सवेरे सबसे पहले तो मैंने वेस्टसे बात की। मुझपर 'सर्वोदय'का जो प्रभाव पड़ा था, वह मैंने उन्हें सुनाया और सुझाया कि 'इंडियन ओपिनियन' को एक खेत पर ले जाना चाहिए। वहाँ सब अपने खान-पानके लिए आवश्यक खर्च समान रूपसे लें। सब अपने-अपने हिस्सेकी खेती करें और बाकीके समयमें 'इंडियन ओपिनियन' का काम करें। वेस्टने इस सुझावको स्वीकार किया। हरएकके भोजन आदिका खर्च कमसे-कम तीन पौंड हो ऐसा हिसाब बैठाया। इसमें गोरे-कालेका भेद नहीं रखा गया था।

लेकिन प्रेसमें तो लगभग दस कार्यकर्त्ता थे। एक सवाल यह था कि सबके लिए जंगलमें बसना अनुकूल होगा या नहीं और दूसरा सवाल यह था कि ये सब खाने-पहननेकी आवश्यक सामग्री बराबरीसे लेनेके लिए तैयार होंगे या नहीं। हम दोनोंने तो यह निश्चय किया कि जो इस योजनामें[2] सम्मिलित न हो सकें वे अपना वेतन लें, और धीरे-धीरे अपनेमें परिवर्तन करते हुए सब संस्थामें रहने लगें।

१. यह मई-जुलाई १९०८ में इंडियन ओपिनियनके नौ अंकोंमें प्रकाशित हुआ था। देखिए खण्ड ८।

२. योजनाके विवरणके लिए देखिए खण्ड ४, पृष्ठ ३४५।

इस दृष्टिसे मैंने कार्यकर्ताओंसे बातचीत शुरू की। मदनजीतके गले तो यह उतरी ही नहीं। उन्हें डर लगा कि जिस चीजमें उन्होंने अपनी आत्मा उँडेल दी थी, वह मेरी मूर्खतासे एक महीनेके अन्दर मिट्टीमें मिल जायेगी। 'इंडियन ओपिनियन' नहीं चलेगा, प्रेस भी नहीं चलेगा और काम करनेवाले भाग जायेंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी इस प्रेसमें काम करते थे। मैंने वेस्टके साथ ही उनसे भी बात की। उनपर कुटुम्बका बोझ था। किन्तु उन्होंने बचपनसे ही मेरे अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करना और काम करना पसन्द किया था। मुझपर उनका बहुत विश्वास था। अतएव बिना किसी दलीलके वे इस योजनामें सम्मिलित हो गये और आजतक मेरे साथ ही हैं। तीसरे गोविन्दस्वामी नामक एक मशीन चलानेवाले भाई थे। वे भी इसमें शरीक हुए। दूसरे यद्यपि संस्थावासी न बने, तो भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि मैं जहाँ भी प्रेस ले जाऊँगा वहाँ वे आयेंगे।

मुझे याद नहीं पड़ता कि इस तरह कार्यकर्ताओंसे बातचीत करनेमें दो से अधिक दिन लगे होंगे। तुरन्त ही मैंने समाचारपत्रोंमें एक विज्ञापन छपवाया कि डर्बनके पास किसी भी स्टेशनसे लगी हुई जमीनके एक टुकड़ेकी जरूरत है। जवाबमें फीनिक्सकी जमीनका सन्देशा मिला। वेस्टके साथ मैं उसे देखने गया। सात दिनके अन्दर २० एकड़ जमीन ली। उसमें एक छोटा-सा पानीका नाला था। नारंगी और आमके कुछ पेड़ थे। पास ही ८० एकड़का दूसरा एक टुकड़ा था। उसमें विशेष रूपसे फलोंवाले पेड़ और एक झोंपड़ा था। थोड़े दिनों बाद उसे भी खरीद लिया। दोनोंके मिलाकर १,००० पौंड दिये।

पारसी सेठ रुस्तमजी मेरे ऐसे समस्त साहसोंमें साझेदार होते ही थे। उन्हें मेरी यह योजना पसन्द आई। उनके पास एक बड़े गोदामकी चद्दरें आदि सामान पड़ा था, जो उन्होंने मुफ्त दे दिया। उसकी मददसे इमारती काम शुरू किया। कुछ हिन्दुस्तानी बढ़ई और लढ़िये, जो मेरे साथ (बोअर) लड़ाईमें सम्मिलित हुए थे, इस कामके लिए मिल गये। उनकी मददसे कारखाना बनाना शुरू किया। एक महीनेमें मकान तैयार हो गया। मकान ७५ फुट लम्बा और ५० फुट चौड़ा था। वेस्ट आदि शरीरको संकटमें डालकर राज और बढ़ईके साथ रहने लगे। फीनिक्समें घास खूब थी। बस्ती बिलकुल न थी। इससे साँपोंका खतरा था। आरम्भमें तो तम्बू गाड़कर सब उन्हींमें रहे। मुख्य घरके तैयार होनेपर एक हफ्तेके अन्दर अधिकांश सामान बैलगाड़ियोंकी मददसे फीनिक्स लाया गया। डर्बन और फीनिक्सके बीच तेरह मीलका फासला था। फीनिक्स स्टेशनसे ढाई मील दूर था।[1]

सिर्फ एक ही हफ्ता 'इंडियन ओपिनियन' को मर्क्युरी प्रेसमें छपाना पड़ा।

मेरे साथ जितने भी सगे-सम्बन्धी आदि आये थे और व्यापार-धन्धेमें लग गये थे, मैंने उन्हें अपनेसे सहमत करने और फीनिक्समें भरती करनेका प्रयत्न शुरू किया। ये सब तो धन-संग्रह करनेका हौसला लेकर दक्षिण आफ्रिका आये थे। इन्हें समझानेका काम कठिन था। पर कुछ लोग समझे। उन सबमें से आज मैं मगनलाल गांधीका

१. देखिए खण्ड ४, पृष्ठ ३४५-४६।

नाम अलगसे लेता हूँ। क्योंकि दूसरे जो समझे थे, वे तो कम-ज्यादा समय फीनिक्समें रहनेके बाद फिर द्रव्य-संचयमें व्यस्त हो गये थे। मगनलाल गांधी अपना धन्धा समेट-कर मेरे साथ रहने आये, तबसे बराबर मेरे साथ ही रहे। अपने बुद्धिबलसे, त्याग-शक्तिसे और अनन्य भक्तिसे वे मेरे आन्तरिक प्रयोगोंके आरम्भके साथियोंमें आज मुख्य पदके अधिकारी हैं, और स्वयं-शिक्षित कारीगरके नाते मेरे विचारमें वे उनके बीच अद्वितीय स्थान रखते हैं।

इस प्रकार सन् १९०४ में[1] फीनिक्सकी स्थापना हुई और अनेक विडम्बनाओंके बीच भी फीनिक्स संस्था तथा 'इंडियन ओपिनियन' दोनों अबतक टिके हुए हैं।[2]

पर इस संस्थाकी आरम्भिक कठिनाइयाँ और उसमें मिली सफलताएँ-विफलताएँ विचारणीय हैं। उनका विचार हम दूसरे प्रकरणमें करेंगे।

२०. पहली रात

फीनिक्समें 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक निकालना सरल सिद्ध न हुआ। यदि मुझे दो सावधानियाँ न सूझी होतीं, तो अंक एक सप्ताह बन्द रहता अथवा देरसे निकलता। इस संस्थामें एंजिनसे चलनेवाली मशीनें लगानेका मेरा विचार नहीं था। भावना यह थी कि जहाँ खेती भी हाथसे करनी है, वहाँ अखबार भी हाथसे चल सकनेवाले यन्त्रोंकी मददसे निकलें तो अच्छा हो। पर इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि यह हो न सकेगा। इसलिए हम वहाँ आइल एंजिन ले गये थे। किन्तु मैंने वेस्टको सुझाया था कि इस तैल-यन्त्रके बिगड़नेपर दूसरी कोई भी कामचलाऊ शक्ति हो तो अच्छा रहे। अतएव उन्होंने हाथसे चलानेका एक चक्र तैयार रखा था और उसकी मददसे मुद्रण-यन्त्रको चलानेकी व्यवस्था कर ली थी। इसके अलावा, हमारे अखबारका आकार दैनिक पत्रके समान था। बड़ी मशीनके बिगड़नेपर उसे तुरन्त सुधार सकनेकी सुविधा यहाँ नहीं थी। इससे भी अखबारका काम रुक सकता था। इस कठिनाईसे बचनेके लिए उसका आकार बदलकर साधारण साप्ताहिकके बराबर कर दिया गया, जिससे अड़चनके समय ट्रेडल पर पैरोंकी मददसे कुछ पृष्ठ छापे जा सकें।

शुरूके दिनोंमें 'इंडियन ओपिनियन' प्रकाशित होनेके दिनकी पहली रातको तो सबका थोड़ा-बहुत जागरण हो ही जाता था। कागज मोड़नेके काममें छोटे-बड़े सभी लग जाते थे और काम रातको दस-बारह बजे पूरा होता था। पर पहली रात तो ऐसी बीती कि वह कभी भूल नहीं सकती। फर्मा मशीनपर कस दिया गया, पर एंजिनने चलनेसे इनकार कर दिया। एंजिनको बैठाने और चलानेके लिए एक इंजीनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्टने बहुत मेहनत की, पर एंजिन चलता ही न था। सब चिन्तित हो गये। आखिर वेस्ट निराश होकर डबडबाई आँखोंसे मेरे पास आये और बोले: "अब आज एंजिन चलता नजर नहीं आता और इस सप्ताह हम लोग समयपर अखबार नहीं निकाल सकेंगे।"

१. फीनिक्स आश्रमके उद्देश्योंके लिए देखिए खण्ड ११, पृष्ठ ३१८-२२।

२. इसका प्रकाशन १९६१ में बन्द हो गया।

"यदि यही बात है तो हम लाचार हैं। पर आँसू बहानेका कोई कारण नहीं। अब भी कोई प्रयत्न हो सकते हों तो हम करके देखें। पर आपके उस हाथ-चक्रका क्या हुआ?" यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्ट बोले: "उसे चलानेके लिए हमारे पास आदमी कहाँ हैं? हम जितने यहाँ हैं, उतनोंसे वह चल नहीं सकता। उसे चलानेके लिए बारी-बारीसे चार-चार आदमियोंकी आवश्यकता है। हम सब तो थक चुके हैं।"

बढ़इयोंका काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इससे बढ़ई अभी गये नहीं थे। छापाखानेमें ही सोये थे। उनकी ओर इशारा करके मैंने कहा: "पर ये सब बढ़ई हैं न? इनका उपयोग क्यों न किया जाये? और आजकी रात हम सब अखण्ड जागरण करें। मेरे विचारमें इतना कर्त्तव्य बाकी रह जाता है।"

"बढ़इयोंको जगाने और उनकी मदद माँगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती; और हमारे थके हुए आदमियोंसे भी कैसे कहा जाये?"

मैंने कहा: "यह मेरा काम है।"

"तो सम्भव है, हम अपना काम समयपर पूरा कर सकें।"

मैंने बढ़इयोंको जगाया और उनकी मदद माँगी। मुझे उन्हें मनाना नहीं पड़ा। उन्होंने कहा, "यदि ऐसे समय भी हम काम न आयें, तो हम मनुष्य कैसे? आप आराम कीजिए, हम चक्र चला लेंगे। हमें इसमें मेहनत नहीं मालूम होगी।" छापाखानेके लोग तो तैयार थे ही।

वेस्टके हर्षका पार न रहा। उन्होंने काम करते हुए भजन गाना शुरू किया। चक्र चलानेमें बढ़इयोंकी बराबरीमें मैं खड़ा हुआ और दूसरे सब बारी-बारीसे खड़े हुए। काम निकलने लगा। सुबहके लगभग सात बजे होंगे। मैंने देखा कि काम अभी काफी बाकी है। मैंने वेस्टसे कहा: "क्या अब इंजीनियरको जगाया नहीं जा सकता? दिनके उजालेमें फिरसे मेहनत करें तो सम्भव है, एंजिन चलने लगे और हमारा काम समयपर पूरा हो जाये।"

वेस्टने इंजीनियरको जगाया। वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ और एंजिन-घरमें घुस गया। छूते ही एंजिन चलने लगा। छापाखाना हर्षनादसे गूँज उठा। मैंने कहा, "ऐसा क्यों होता है? रातमें इतनी मेहनत करनेपर भी नहीं चला और अब मानो कोई दोष ही न हो इस तरह हाथ लगाते ही चलने लग गया।"

वेस्टने अथवा इंजीनियरने जवाब दिया, "इसका उत्तर देना कठिन है। कभी-कभी यन्त्र भी ऐसा बरताव करते पाये जाते हैं, मानो हमारी तरह उन्हें भी आरामकी आवश्यकता हो!"

मेरी तो यह धारणा रही कि एंजिनका न चलना हम सबकी एक कसौटी थी और ऐन मौकेपर उसका चल पड़ना शुद्ध परिश्रमका शुद्ध फल था।

अखबार समयसे स्टेशन पहुँच गया और हम सब निश्चिन्त हुए।

इस प्रकारके आग्रहका परिणाम यह हुआ कि अखबारकी नियमितताकी धाक जम गई और फीनिक्समें परिश्रमका वातावरण बना। इस संस्थामें एक ऐसा भी युग

आया कि जब विचारपूर्वक एंजिन चलाना बन्द किया गया और दृढ़तापूर्वक चक्रसे काम लिया गया। मेरे विचारमें वह फीनिक्सका ऊँचेसे-ऊँचा नैतिक काल था।

२१. पोलक कूद पड़े

मेरे लिए यह हमेशा दुःखकी बात रही है कि फीनिक्स-जैसी संस्थाकी स्थापनाके बाद मैं स्वयं उसमें कुछ ही समयतक रह सका। उसकी स्थापनाके समय मेरी कल्पना यह थी कि मैं वहीं बस जाऊँगा, अपनी आजीविका उसमें से प्राप्त करूँगा, धीरे-धीरे वकालत छोड़ दूँगा, फीनिक्समें रहते हुए जो सेवा मुझसे हो सकेगी करूँगा और फीनिक्सकी सफलताको ही सेवा समझूँगा। पर इन विचारोंपर जैसा सोचा था वैसा अमल हुआ ही नहीं। अपने अनुभव द्वारा मैंने अक्सर यह देखा है कि हम चाहते कुछ हैं और हो कुछ और ही जाता है। पर इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहाँ सत्यकी ही साधना और उपासना होती है, वहाँ परिणाम भले हमारी धारणाके अनुसार न निकले, फिर भी जो अनपेक्षित परिणाम निकलता है वह अकल्याणकारी नहीं होता और कई बार अपेक्षासे अधिक अच्छा होता है। फीनिक्समें जो अनसोचे परिणाम निकले और फीनिक्सने जो अनसोचा स्वरूप धारण किया, वह अकल्याणकारी न था, इतना तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। उन परिणामोंको अधिक अच्छा कहा जा सकता है या नहीं, इसके सम्बन्धमें निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

हम सब अपनी मेहनतसे अपना निर्वाह करेंगे, इस ख्यालसे मुद्रणालयके आस-पास प्रत्येक निवासीके लिए जमीनके तीन-तीन एकड़के टुकड़े कर लिये गये थे। इनमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी मापा गया था। इन सब टुकड़ोंपर हममें से हरएककी इच्छाके विरुद्ध हमने टीनकी चद्दरोंके घर बनाये। इच्छा तो किसानको शोभा देनेवाले घासफूस और मिट्टी अथवा ईंटके घर बाँधनेकी थी, पर वह पूरी न हो सकी। उसमें पैसा अधिक खर्च होता था और समय अधिक लगता था। सब जल्दीसे घरबारवाले बनने और काममें जुट जानेके लिए उतावले हो गये थे।

पत्रके सम्पादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे। वे इस योजनामें सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डर्बनमें ही था। डर्बनमें 'इंडियन ओपिनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी। यद्यपि कम्पोज करनेके लिए वैतनिक कार्यकर्त्ता थे, फिर भी दृष्टि यह थी कि अखबार छापनेमें कम्पोज करनेका काम, जो अधिकसे अधिक समय लेते हुए भी सरल था, संस्थामें रहनेवाले सब लोग सीख लें और करें। अतएव जो कम्पोज करना नहीं जानते थे, वे उसे सीखनेके लिए तैयार हो गये। मैं इस काममें अन्ततक सबसे अधिक मन्द रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे बढ़ गये। मैंने हमेशा यह माना है कि स्वयं उन्हें भी अपनेमें विद्यमान शक्तिका पता नहीं था। उन्होंने छापाखानेका काम कभी किया नहीं था। फिर भी वे कुशल कम्पोजिटर बन गये और कम्पोज करनेकी गतिमें भी उन्होंने अच्छी तरक्की की।

यही नहीं, बल्कि थोड़े समयमें छापाखानेकी सब क्रियाओंपर अच्छा प्रभुत्व प्राप्त करके उन्होंने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया।

अभी यह काम व्यवस्थित नहीं हो पाया था, मकान भी तैयार नहीं हुए थे, इतनेमें अपने इस नवरचित परिवारको छोड़कर मैं जोहानिसबर्ग भाग गया। मेरी स्थिति ऐसी न थी कि मैं वहाँके कामको लम्बे समयतक छोड़ सकूँ।

जोहानिसबर्ग पहुँचकर मैंने पोलकको इस महत्वपूर्ण परिवर्तनकी बात कही। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनन्दका पार न रहा। उन्होंने उमंगके साथ पूछा, "तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह हाथ नहीं बँटा सकता?" "आप अवश्य हाथ बँटा सकते हैं। चाहें तो आप इस योजनामें सम्मिलित भी हो सकते हैं।" पोलकने जवाब दिया, "मुझे सम्मिलित करें तो मैं तैयार हूँ।"

उनकी इस दृढ़तासे मैं मुग्ध हो गया। पोलकने 'क्रिटिक' से मुक्ति पानेके लिए अपने मालिकको एक महीनेका नोटिस दिया और अवधि समाप्त होनेपर वे फीनिक्स पहुँच गये। वहाँ अपने मिलनसार स्वभावसे उन्होंने सबके दिल जीत लिये और घरके ही एक आदमीकी तरह वे रहने लगे। सादगी उनके स्वभावमें थी। इसलिए फीनिक्सका जीवन उन्हें जरा भी विचित्र या कठिन न लगकर स्वाभाविक और रुचिकर लगा। पर मैं ही उन्हें लम्बे समयतक वहाँ रख नहीं सका। श्री रिचने विलायत जाकर कानूनकी पढ़ाई पूरी करनेका निश्चय किया। मेरे लिए अकेले हाथों समूचे दफ्तरका बोझ उठाना सम्भव न था। अतएव मैंने पोलकको आफिसमें रहने और वकील बननेकी सलाह दी। मैंने सोचा यह था कि उनके वकील बन जानेके बाद आखिर हम दोनों फीनिक्स ही पहुँच जायेंगे। ये सारी कल्पनाएँ मिथ्या सिद्ध हुईं। किन्तु पोलकके स्वभावमें एक प्रकारकी ऐसी सरलता थी कि जिसपर उन्हें विश्वास हो जाता उससे बहस न करके वे उसके मतके अनुकूल बननेका प्रयत्न करते थे। पोलकने मुझे लिखा: "मुझे तो यह जीवन ही अच्छा लगता है। मैं यहाँ सुखी हूँ। यहाँ हम इस संस्थाका विकास कर सकेंगे। किन्तु यदि आप यह मानते हों कि मेरे वहाँ पहुँचनेसे हमारे आदर्श शीघ्र सफल होंगे तो मैं आनेको तैयार हूँ।" मैंने उनके इस पत्रका स्वागत किया। पोलक फीनिक्स छोड़कर जोहानिसबर्ग आये और मेरे दफ्तरमें वकीलके मुंशीकी तरह काम करने लगे।

इसी समय एक स्काच थियोसॉफिस्टको भी मैंने पोलकका अनुकरण करनेके लिए निमन्त्रित किया और वे भी आश्रममें सम्मिलित हो गये। उन्हें मैं कानूनकी परीक्षाकी तैयारीमें मदद करता था। इनका नाम मेकिनटायर था।

यों फीनिक्सके आदर्शको शीघ्र ही सिद्ध करनेके शुभ विचारसे मैं उसके विरोधी जीवनमें अधिकाधिक गहरा उतरता दिखाई पड़ा, और यदि ईश्वरी संकेत कुछ और ही न होता, तो सादे जीवनके नामपर बिछाये गये मोहजालमें मैं स्वयं ही फँस जाता।

मेरी और मेरे आदर्शकी रक्षा जिस रीतिसे हुई, उसकी हममें से किसीको कोई कल्पना नहीं थी। पर इस प्रसंगका वर्णन करनेसे पहले कुछ और प्रकरण लिखने होंगे।

२२. 'जाको राखे साइयाँ'

अब जल्दी ही हिन्दुस्तान जानेकी अथवा वहाँ जाकर स्थिर होनेकी आशा मैंने छोड़ दी थी। मैं तो पत्नीको एक सालका आश्वासन देकर वापस दक्षिण आफ्रिका आया था। साल तो बीत गया, पर मेरे वापस लौटनेकी सम्भावना दूर चली गई। अतएव मैंने बच्चोंको बुला लेनेका निश्चय किया।

बच्चे आये। उनमें मेरा तीसरा लड़का रामदास भी था। रास्तेमें वह स्टीमरके कप्तानसे खूब हिल गया था और कप्तानके साथ खेलते-खेलते उसका हाथ टूट गया था। कप्तानने उसकी बहुत सार-सँभाल की थी। डाक्टरने हड्डी बैठा दी थी। जब वह जोहानिसबर्ग पहुँचा तो उसका हाथ लकड़ीकी पट्टियोंके बीच बँधा हुआ और रूमालकी गलपट्टीमें लटका हुआ था। स्टीमरके डाक्टरकी सलाह थी कि घावको किसी डाक्टरसे दुरुस्त करा लिया जाये। पर मेरा यह समय तो धड़ल्लेके साथ मिट्टीके प्रयोग करनेका था। मेरे जिन मुवक्किलोंको मेरी नीमहकीमीपर भरोसा था, उनसे भी मैं मिट्टी और पानीके प्रयोग कराता था।

रामदासके लिए और क्या होता? रामदासकी उम्र आठ सालकी थी। मैंने उससे पूछा, "तेरे घावकी मरहमपट्टी मैं स्वयं करूँ तो तू घबरायेगा तो नहीं?" रामदास हँसा और उसने मुझे प्रयोग करनेकी अनुमति दी। यद्यपि उस उम्रमें उसे सारासारका पता नहीं चल सकता था, फिर भी डाक्टर और नीमहकीमके भेदको तो वह अच्छी तरह जानता था। लेकिन उसे मेरे प्रयोगोंकी जानकारी थी और मुझपर विश्वास था, इसलिए वह निर्भय रहा। काँपते-काँपते मैंने उसकी पट्टी खोली। घावको साफ किया और साफ मिट्टीका पुलटिस रखकर पट्टीको पहलेकी तरह फिर बाँध दिया। इस प्रकार मैं खुद ही रोज घाव धोता और उसपर मिट्टी बाँधता था। कोई एक महीनेमें घाव बिलकुल भर गया। किसी दिन कोई विघ्न उत्पन्न न हुआ और घाव दिन-ब-दिन भरता गया। स्टीमरके डाक्टरने कहलवाया था कि डाक्टरी मरहम-पट्टीसे भी घावके भरनेमें एक महीना तो लग ही जायेगा।

इस प्रकार इन घरेलू उपचारोंके प्रति मेरा विश्वास और इनपर अमल करनेकी मेरी हिम्मत बढ़ गई। घाव, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगोंके लिए मिट्टी, पानी और उपवासके प्रयोग मैंने छोटों-बड़ों और स्त्री-पुरुषोंपर किये। उनमें अधिकतर सफल हुए। इतना होनेपर भी जो हिम्मत मुझमें दक्षिण आफ्रिकामें थी वह यहाँ नहीं रही है और अनुभवसे यह भी प्रतीति हुई कि इन प्रयोगोंमें खतरा जरूर है।

यहाँ इन प्रयोगोंके वर्णनका हेतु अपने प्रयोगोंकी सफलता सिद्ध करना नहीं है। एक भी प्रयोग सर्वांशमें सफल हुआ है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। डाक्टर भी ऐसा दावा नहीं कर सकते। पर कहनेका आशय इतना ही है कि जिसे नये अपरिचित प्रयोग करने हों उसे आरम्भ अपनेसे ही करना चाहिए। ऐसा होनेपर सत्य जल्दी प्रकट होता है और इस प्रकारके प्रयोग करनेवालेको ईश्वर उबार लेता है।

जो खतरा मिट्टीके प्रयोगोंमें था, वही यूरोपीयोंके निकट सहवासमें था। भेद केवल प्रकारका था। पर स्वयं मुझे तो इन खतरोंका कोई ख्यालतक न आया।

मैंने पोलकको अपने साथ ही रहनेको बुला लिया और हम सगे भाइयोंकी तरह रहने लगे। जिस महिलाके साथ पोलकका विवाह हुआ, उसके साथ उनकी मित्रता तो कई वर्षोंसे थी। दोनोंने यथासमय विवाह करनेका निश्चय भी कर लिया था। पर मुझे याद पड़ता है कि पोलक थोड़ा धन-संग्रह कर लेनेकी बाट जोह रहे थे। मेरी तुलनामें रस्किनका उनका अध्ययन कहीं अधिक और व्यापक था। पर पश्चिमके वातावरणमें रस्किनके विचारोंको पूरी तरह आचरणमें लानेकी बात उन्हें सूझ नहीं सकती थी। मैंने दलील देते हुए कहा, "जिसके साथ हृदयकी गाँठ बँध जाती है, केवल धनकी कमीके कारण उसका वियोग सहना अनुचित कहा जायेगा। आपके हिसाबसे तो कोई गरीब विवाह कर ही नहीं सकता। फिर अब तो आप मेरे साथ रहते हैं। इसलिए घर-खर्चका सवाल ही नहीं उठता। मैं यही ठीक समझता हूँ कि आप जल्दी अपना विवाह कर लें।" मुझे पोलकके साथ कभी दूसरी बार दलील करनी ही नहीं पड़ती थी। उन्होंने मेरी दलील तुरन्त मान ली। भावी श्रीमती पोलक विलायतमें थीं। उनके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। वे सहमत हुईं और कुछ ही महीनोंमें विवाहके लिए जोहानिसबर्ग आ पहुँचीं। विवाहमें खर्च बिलकुल नहीं किया गया। विवाहकी कोई खास पोशाक भी नहीं बनवाई गयी। उन्हें धार्मिक विधिकी आवश्यकता न थी। श्रीमती पोलक जन्मसे ईसाई और श्री पोलक यहूदी थे। दोनोंके बीच सामान्य धर्म तो नीतिधर्म ही था।

पर इस विवाहका एक रोचक प्रसंग यहाँ लिख दूँ। ट्रान्सवाल गोरोंके विवाहकी रजिस्ट्री करनेवाला अधिकारी काले आदमीके विवाहकी रजिस्ट्री नहीं करता था। इस विवाहका शहबाला मैं था। खोजनेपर हमें कोई गोरा मित्र मिल सकता था। पर पोलकके लिए वह सह्य न था। अतएव हम तीन व्यक्ति अधिकारीके सामने उपस्थित हुए। जिस विवाहमें मैं शहबाला होऊँ उसमें वर-वधू दोनों गोरे ही होंगे, अधिकारीको इसका भरोसा कैसे हो? उसने जाँच होनेतक रजिस्ट्री मुलतवी रखनी चाही। अगले रोज रविवार था। उसके बादका दिन नये सालका होनेसे सार्वजनिक छुट्टीका दिन था। ब्याहके पवित्र निश्चयसे निकले हुए स्त्री-पुरुषके विवाहकी रजिस्ट्रीका दिन इस तरह बदला जाये, यह सबको असह्य प्रतीत हुआ। मैं मुख्य न्यायाधीशको पहचानता था। वे इस विभागके उच्चाधिकारी थे। मैं इस जोड़ेको लेकर उनके सामने उपस्थित हुआ। वे हँसे और उन्होंने मुझे चिट्ठी लिख दी। इस तरह विवाह-की रजिस्ट्री हो गई।

आजतक न्यूनाधिक ही सही, परन्तु जाने-पहचाने गोरे पुरुष मेरे साथ रहे थे। अब एक अपरिचित अंग्रेज महिलाने कुटुम्बमें प्रवेश किया। स्वयं मुझे तो याद नहीं पड़ता कि इस नव-विवाहित जोड़ेके कारण परिवारमें कभी कोई कलह हुआ हो। मेरे परिवारमें जहाँ अनेक जातियों और स्वभावोंके हिन्दुस्तानी आते-जाते रहे थे और मेरी पत्नीको अभीतक ऐसे अनुभव कम ही हुए थे। ऐसी परिस्थितिमें उन दोनोंके बीच कभी उद्वेगके अवसर आये भी होंगे। पर एक ही जातिके परिवारमें ऐसे अवसर जितने आते हैं, उनसे अधिक अवसर तो इस विजातीय परिवारमें नहीं ही

आये। बल्कि, जिनका मुझे स्मरण है वे अवसर भी नगण्य ही कहे जायेंगे। सजातीय और विजातीयकी भावनाएँ हमारे मनकी तरंगें हैं। वास्तवमें हम सब एक परिवार ही हैं।

वेस्टके ब्याहकी बात भी यहीं कर लूँ। जीवनके इस कालतक ब्रह्मचर्य विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुये थे। इसलिए कुँवारे मित्रोंका विवाह करा देना मेरा एक धन्धा बन गया था। जब वेस्टके लिए अपने माता-पिताके पास जानेका समय आया, तो मैंने उन्हें सलाह दी कि जहाँतक बन सके वे अपना ब्याह करके ही लौटें। फीनिक्स हम सबका घर बन गया था और हम सब अपनेको किसान मान बैठे थे, इस कारण विवाह अथवा वंशवृद्धि हमारे लिए भयका विषय न था। वेस्ट लेस्टरकी एक सुन्दर कुमारिकाको ब्याह लाये। इस बहनका परिवार लेस्टरमें जूतोंका जो बड़ा व्यवसाय चलता है उसमें काम करता था। श्रीमती वेस्टने भी थोड़ा समय जूतोंके कारखानेमें बिताया था। उसे मैंने 'सुन्दर' कहा है, क्योंकि मैं उसके गुणोंका पुजारी हूँ और सच्चा सौन्दर्य तो गुणमें ही होता है। वेस्ट अपनी सासको भी अपने साथ लाये थे। यह भली बुढ़िया अभी जीवित है। अपने उद्यम और हँसमुख स्वभावसे वह हम सबको सदा शरमिन्दा किया करती थी।

जिस तरह मैंने इन गोरे मित्रोंके ब्याह करवाये, उसी तरह हिन्दुस्तानी मित्रों को प्रोत्साहित किया कि वे अपने परिवारोंको बुला लें। इसके कारण फीनिक्स एक छोटा-सा गाँव बन गया और वहाँ पाँच-सात भारतीय परिवार बसकर बढ़ने लगे।

२३. घरमें परिवर्तन और बालशिक्षा

डर्बनमें मैंने जो घर बसाया था उसमें परिवर्तन तो किये ही थे। खर्च अधिक रखा था, फिर भी झुकाव सादगीकी ओर ही था। किन्तु जोहानिसबर्गमें 'सर्वोदय' के विचारोंने अधिक परिवर्तन करवाये।

बैरिस्टरके घरमें जितनी सादगी रखना सम्भव था, उतनी तो रखनी शुरू कर ही दी। फिर भी कुछ साज-सामानके बिना काम चलाना मुश्किल था। सच्ची सादगी तो मनकी बढ़ी। हरएक काम अपने हाथों करनेका शौक बढ़ा और बालकोंको भी उसमें शरीक करके कुशल बनाना शुरू किया।

बाजारकी रोटी खरीदनेके बदले घरमें कूनेकी सुझाई हुई बिना खमीरकी रोटी हाथसे बनानी शुरू की। इसमें मिलका आटा काम नहीं देता था। साथ ही मेरा यह भी ख्याल रहा कि मिलमें पिसे आटेका उपयोग करनेकी अपेक्षा हाथसे पिसे आटेका उपयोग करनेमें सादगी, आरोग्य और पैसा तीनोंकी अधिक रक्षा होती है। अतएव सात पौंड खर्च करके हाथसे चलानेकी एक चक्की खरीद ली। उसका पाट वजनदार था। दो आदमी उसे सरलतासे चला सकते थे; अकेलेको तकलीफ होती थी। इस चक्कीको चलानेमें पोलक, मैं और बालक मुख्य भाग लेते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जाती थी, यद्यपि उस समय वह रसोई बनानेमें लगी रहती थी।

श्रीमती पोलकके आनेपर वे भी इसमें सम्मिलित हो गई। बालकोंके लिए यह कसरत बहुत अच्छी सिद्ध हुई। उनसे मैंने चक्की चलानेका या दूसरा कोई काम कभी जबरदस्ती नहीं करवाया। वे सहज ही खेल समझकर चक्की चलाने आते थे। थकने पर छोड़ देनेकी स्वतन्त्रता उन्हें थी। पर न जाने क्या कारण था कि इन बालकोंने अथवा दूसरे बालकोंने, जिनकी पहचान हमें आगे चलकर करनी है, मुझे तो हमेशा बहुत ही काम दिया है। मेरे भाग्यमें टेढ़े स्वभावके बालक भी थे, पर अधिकतर बालक सौंपा हुआ काम उमंगके साथ करते थे। 'थक गये' कहनेवाले उस युगके थोड़े ही बालक मुझे याद हैं।

घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। वह घरके आदमीकी तरह रहता था और उसके काममें बालक पूरा हाथ बँटाते थे। पाखाना साफ करनेके लिए तो नगर-पालिकाका आदमी आता था, पर पाखानेके कमरेको साफ करने और बैठक आदि धोनेका काम नौकरको नहीं सौंपा जाता था। उससे वैसी आशा भी नहीं रखी जाती थी। यह काम हम स्वयं करते थे और इससे भी बालकोंको तालीम मिलती थी। परिणाम यह हुआ कि शुरूसे ही मेरे एक भी लड़केको पाखाना साफ करनेकी घिन न रही और आरोग्यके साधारण नियम भी वे स्वाभाविक रूपमें सीख गये। जोहानिस-बर्गमें कोई बीमार तो शायद ही कभी पड़ते थे। पर बीमारीका प्रसंग आनेपर सेवाके काममें बालक अवश्य रहते थे और इस कामको वे खुशीसे करते थे। मैं यह तो नहीं कहूँगा कि बालकोंके किताबी-ज्ञानके प्रति मैं लापरवाह रहा। पर यह ठीक है कि मैंने उसकी कुर्बानी करनेमें संकोच नहीं किया। और इस कमीके लिए मेरे लड़कोंको मेरे विरुद्ध शिकायत करनेका कारण रह गया है। उन्होंने कभी-कभी अपना असन्तोष भी प्रकट किया है। मैं मानता हूँ कि इसमें किसी हदतक मुझे अपना दोष स्वीकार करना चाहिए। उन्हें किताबी-ज्ञान करानेकी मेरी इच्छा बहुत थी, मैं प्रयत्न भी करता था, किन्तु इस काममें हमेशा कोई न कोई विघ्न आ जाता था। उनके लिए घरपर दूसरी शिक्षाकी सुविधा नहीं की थी, इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर तक ले जाता था। दफ्तर ढाई मील दूर था, इससे सुबह-शाम मिलाकर कमसे-कम पाँच मीलकी कसरत उन्हें और मुझे हो जाती थी। रास्ता चलते हुए मैं उन्हें कुछ-न-कुछ सिखानेका प्रयत्न करता था, पर यह भी तभी होता था जब मेरे साथ दूसरा कोई चलनेवाला न होता। दफ्तरमें वे मुवक्किलों व मुहर्रिरोंके सम्पर्कमें आते थे। कुछ पढ़नेको देता तो पढ़ते थे। इधर-उधर घूम-फिर लेते थे और बाजारसे मामूली सामान खरीदना हो तो खरीद लाते थे। सबसे बड़े हरिलालको छोड़कर बाकी सब बालकोंकी परवरिश इसी प्रकार हुई। हरिलाल देशमें रह गया था। यदि मैं उन्हें किताबी-ज्ञान करानेके लिए एक घंटा भी नियमित रूपसे बचा सका होता, तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षा प्राप्त हुई है। मैंने ऐसा आग्रह नहीं रखा, इसका दुःख मुझे और उन्हें दोनोंको रह गया है। सबसे बड़े लड़केने अपना सन्ताप कई बार मेरे सामने और सार्वजनिक रूपमें भी प्रकट किया है। दूसरोंने हृदयकी उदारता दिखा इस दोषको अनिवार्य समझकर दरगुजर कर दिया है। इस कमीके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं है;

अथवा है तो इतना ही कि मैं आदर्श पिता न बन सका। किन्तु मेरी यह राय है कि उनके किताबी-ज्ञानकी कुर्बानी भी मैंने अज्ञानसे ही क्यों न हो, फिर भी सद्भाव-पूर्वक मानी हुई सेवाके लिए ही की है। मैं यह कह सकता हूँ कि उनके चरित्र-निर्माणके लिए जितना कुछ आवश्यक रूपसे करना चाहिए था, वह करनेमें मैंने कहीं भी त्रुटि नहीं रखी है। और मैं मानता हूँ कि हर माता-पिताका यह अनिवार्य कर्त्तव्य है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अपने इस परिश्रमके बाद भी मेरे बालकोंके चरित्रमें जहाँ त्रुटि पाई जाती है, वहाँ वह पति-पत्नीके नाते हमारी त्रुटियोंका ही प्रतिबिम्ब है।

जिस प्रकार बच्चोंको माता-पिताकी सूरत-शक्ल विरासतमें मिलती है, उसी प्रकार उनके गुण-दोष भी उन्हें विरासतमें मिलते हैं। अवश्य ही आसपासके वाता-वरणके कारण इसमें अनेक प्रकारकी घट-बढ़ होती है, पर मूल पूँजी तो वही होती है, जो बाप-दादा आदिसे मिलती है। मैंने देखा है कि कुछ बालक अपनेको ऐसे दोषोंकी विरासतसे बचा लेते हैं। यह आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

इन बालकोंकी अंग्रेजी शिक्षाके विषयमें मेरे और पोलकके बीच कितनी ही बार गरमागरम बहस हुई है। मैंने शुरूसे ही यह माना है कि जो हिन्दुस्तानी माता-पिता अपने बालकोंको बचपनसे ही अंग्रेजी बोलनेवाले बना देते हैं, वे उनके और देशके साथ द्रोह करते हैं। मैंने यह भी माना है कि इससे बालक अपने देशकी धार्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रहता है और उस हदतक वह देशकी तथा संसारकी सेवाके लिए कम योग्य बनता है। अपने इस विश्वासके कारण मैं हमेशा जान-बूझकर बच्चोंके साथ गुजरातीमें ही बातचीत करता था। पोलकको यह अच्छा न लगता था। उनकी दलील यह थी कि मैं बच्चोंके भविष्यको बिगाड़ रहा हूँ। वे मुझे आग्रहपूर्वक और प्रेमपूर्वक समझाया करते थे कि यदि बालक अंग्रेजीके समान व्यापक भाषाको बचपनसे सीख लें, तो संसारमें चल रही जीवनकी होड़में वे एक मंजिलको सहज ही पार कर सकते हैं। उनकी यह दलील मेरे गले न उतरती थी। अब मुझे यह याद नहीं है कि अन्तमें मेरे उत्तरसे उन्हें सन्तोष हुआ था या मेरा हठ देखकर उन्होंने शान्ति धारण कर ली थी। इस संवादको लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं; फिर भी उस समयके मेरे ये विचार आज अनुभवसे अधिक दृढ़ हुए हैं, और यद्यपि मेरे पुत्र पुस्तकीय-ज्ञानमें कच्चे रह गये हैं, फिर भी मातृभाषाका जो साधारण ज्ञान उन्हें आसानीसे मिला है, उससे उन्हें और देशको लाभ हुआ है, और इस समय वे देशमें परदेशी जैसे नहीं बन गये हैं। वे द्विभाषी तो सहज ही हो गये, क्योंकि विशाल अंग्रेज मित्र-मण्डलीके सम्पर्कमें आनेसे और जहाँ विशेष रूपसे अंग्रेजी बोली जाती है ऐसे देशमें रहनेसे वे अंग्रेजी भाषा बोलने और उसे साधारणतः लिखने लग गये।

२४. जूलू 'विद्रोह'

घर बसाकर बैठनेके बाद कहीं स्थिर होकर रहना मेरे नसीबमें बदा ही न था। जोहानिसबर्गमें मैं कुछ स्थिर-सा होने लगा था कि इसी बीच एक अनसोची घटना घटी। अखबारोंमें यह खबर पढ़नेको मिली कि नेटालमें जुलू 'विद्रोह' हुआ है। जुलू लोगोंसे मेरी कोई दुश्मनी न थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानीका नुकसान नहीं किया था। 'विद्रोह' शब्दके औचित्यके विषयमें भी मुझे शंका थी। किन्तु उन दिनों मैं अंग्रेजी सल्तनतको संसारका कल्याण करनेवाली सल्तनत मानता था। मेरी वफादारी हार्दिक थी। मैं उस सल्तनतका क्षय नहीं चाहता था।[1] अतएव बल-प्रयोग-सम्बन्धी नीति-अनीतिका विचार मुझे इस कार्यको करनेसे रोक न सकता था। नेटाल पर संकट आनेपर उसके पास रक्षाके लिए स्वयंसेवकोंकी सेना थी और संकटके समय उसमें कामके लायक सैनिक भरती भी हो जाते थे। मैंने पढ़ा कि स्वयंसेवकोंकी सेना इस विद्रोहको दबानेके लिए रवाना हो चुकी है।

मैं अपनेको नेटालवासी मानता था, और नेटालके साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। अतएव मैंने गवर्नरको पत्र लिखा कि यदि आवश्यकता हो तो घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक टुकड़ी लेकर मैं सेवाके लिए जानेको तैयार हूँ। तुरन्त ही गवर्नरका स्वीकृति-सूचक उत्तर मिला।[2]

मैंने अनुकूल उत्तरकी अथवा इतनी जल्दी उत्तर पानेकी आशा नहीं रखी थी। फिर भी उक्त पत्र लिखनेके पहले मैंने अपना प्रबन्ध तो कर ही लिया था। तय यह किया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो जाये, तो जोहानिसबर्गका घर उठा देंगे, श्री पोलक अलग घर लेकर रहेंगे और कस्तूरबाई फीनिक्स जाकर रहेंगी। इस योजनाको कस्तूरबाईकी पूर्ण सम्मति प्राप्त हुई। मुझे स्मरण नहीं है कि मेरे ऐसे कार्योंमें उसकी तरफसे किसी भी दिन कोई बाधा डाली गई हो। गवर्नरका उत्तर मिलते ही मैंने मकान-मालिकको मकान खाली करनेके सम्बन्धमें विधिवत एक महीनेका नोटिस दे दिया। कुछ सामान फीनिक्स गया, कुछ श्री पोलकके पास रहा।

डर्बन पहुँचनेपर मैंने आदमियोंकी माँग की। बड़ी टुकड़ीकी आवश्यकता नहीं थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे सिवा चार गुजराती थे, बाकी मद्रास प्रान्तके गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी थे और एक पठान था।

स्वाभिमानकी रक्षा और अधिक सुविधाके साथ काम कर सकनेके लिए तथा वैसी प्रथा होनेके कारण चिकित्सा-विभागके मुख्य पदाधिकारीने मुझे 'सार्जेंट मेजर' का मुद्दती पद दिया और मेरी पसन्दके अन्य तीन साथियोंको 'सार्जेंट' का और एकको 'कार्पोरल' का पद दिया। वरदी भी सरकारकी ओरसे ही मिली। मैं यह कह सकता हूँ कि इस टुकड़ीने छः सप्ताहतक सतत सेवा की। 'विद्रोह' के स्थानपर पहुँचकर मैंने देखा कि वहाँ विद्रोह-जैसी कोई चीज नहीं थी। कोई विरोध करता हुआ भी नजर नहीं आता था। विद्रोह माननेका कारण यह था कि एक जुलू सरदारने जुलू

१. देखिए खण्ड ५, पृष्ठ ३०१।
२. देखिए खण्ड ५, पृष्ठ ३०२ और ३५८।

लोगोंपर लगाया गया नया कर न देनेकी उन्हें सलाह दी थी और करकी वसूलीके लिए गये हुए एक सार्जेंटको उसने कत्ल कर डाला था। जो भी हो, मेरा हृदय तो जुलू लोगोंकी तरफ था और केन्द्रपर पहुँचनेके बाद जब हमारे हिस्से मुख्यतः जुलू घायलोंकी शुश्रूषा करनेका काम आया, तो मैं बहुत खुश हुआ। वहाँके डाक्टर अधिकारीने हमारा स्वागत किया। उसने कहा, "गोरोंमें से कोई इन घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए तैयार नहीं होता। मैं अकेला किस-किसकी सेवा करूँ? इनके घाव सड़ रहे हैं। अब आप आये हैं, इसे मैं इन निर्दोष लोगोंपर ईश्वरकी कृपा ही समझता हूँ।" यों कहकर उसने मुझे पट्टियाँ, जन्तुनाशक पानी आदि सामान दिया और उन बीमारोंके पास ले गया। बीमार हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही जालियोंमें से झाँक-झाँककर हमें घाव साफ करनेसे रोकनेका प्रयत्न करते, हमारे न माननेपर खीझते और जुलुओंके बारेमें जिन गन्दे शब्दोंका उपयोग करते, उनसे तो कानके कीड़े झड़ जाते थे।

धीरे-धीरे गोरे सिपाहियोंके साथ भी मेरा परिचय हो गया और उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया। इस सेनामें सन् १८९६ में मेरा घोर विरोध करनेवाले कर्नल स्पार्क्स और कर्नल वायली थे। वे मेरे इस कार्यसे आश्चर्यचकित हो गये। मुझे खास तौरसे बुलाकर उन्होंने मेरा उपकार माना। वे मुझे जनरल मेकेंज़ीके पास भी ले गये और उनसे मेरा परिचय कराया। पाठक यह न समझें कि इनमें से भी कोई पेशेवर सिपाही था। कर्नल वाइली प्रसिद्ध वकील थे। कर्नल स्पार्क्स एक मशहूर कसाईखानेके मालिक थे। जनरल मेकेंज़ी नेटालके प्रसिद्ध किसान थे। वे सब स्वयंसेवक थे और स्वयंसेवकके नाते ही उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

कोई यह न माने कि जिन बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे लड़ाईमें घायल हुए थे। उनमें से एक भाग तो उन कैदियोंका था, जो शकमें पकड़े गये थे। जनरलने उन्हें कोड़ोंकी सजा दी थी। इन कोड़ोंकी मारसे जो घाव पैदा हुए थे, वे सार-सँभालके अभावमें पक गये थे। दूसरा हिस्सा उन जुलुओंका था, जो मित्र माने जाते थे। यद्यपि उन्होंने मित्रता-सूचक चिन्ह धारण कर रखे थे, इन मित्रोंको सिपाहियोंने भूलसे घायल कर दिया था,

इसके अतिरिक्त स्वयं मुझे गोरे सिपाहियोंके लिए भी दवा लाने और उन्हें दवा देनेका काम सौंपा गया था। डॉ० बूथके छोटे-से अस्पतालमें मैंने एक सालतक इस कामकी तालीम ली थी, इससे यह काम मेरे लिए सरल हो गया था। इस कामके कारण बहुत-से गोरोंके साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था।

पर लड़ाईमें व्यस्त सेना किसी एक जगहपर तो बैठी रह ही नहीं सकती थी। जहाँसे संकटके समाचार आते वहीं दौड़ जाती थी। उसमें बहुतसे तो घुड़सवार ही थे। केन्द्र स्थानसे हमारी छावनी उठती कि हमें उसके पीछे-पीछे अपनी डोलियाँ कन्धेपर उठाकर चलना पड़ता। दो-तीन मौकोंपर तो एक ही दिनमें चालीस मीलतक की मंजिल तय करनी पड़ी। यहाँ भी हमें तो प्रभुका ही काम मिला। जो जुलू मित्र

२५. हृदय-मन्थन

भूलसे घायल हुये थे, उन्हें डोलियोंमें उठाकर छावनीतक पहुँचाना था और वहाँ उनकी सेवा-शश्रूषा करनी थी।[१]

'जुलू विद्रोह' में मुझे बहुत-से अनुभव हुए और बहुत-कुछ सोचनेको मिला। बोअर-युद्धमें मुझे लड़ाईकी भयंकरता उतनी प्रतीत नहीं हुई थी जितनी यहाँ हुई। यहाँ लड़ाई नहीं, बल्कि मनुष्यका शिकार हो रहा था। यह केवल मेरा ही नहीं, बल्कि उन कई अंग्रेजोंका भी विचार था, जिनके साथ मेरी चर्चा होती रहती थी। सवेरे-सवेरे सेना गाँवमें जाकर मानो पटाखे छोड़ती हो, इस प्रकार उसकी बन्दूकोंकी आवाज दूर रहनेवाले हम लोगोंके कानोंपर पड़ती थी। इन आवाजोंको सुनना और इस वातावरणमें रहना मुझे बहुत मुश्किल मालूम पड़ा। लेकिन मैं सब-कुछ कड़वे घूँटकी तरह पी गया, और मेरे हिस्से जो काम आया, सो तो केवल जुलू लोगोंकी सेवाका ही आया। मैं यह समझ गया कि अगर हम स्वयंसेवक-दलमें सम्मिलित न हुए होते, तो दूसरा कोई यह सेवा न करता। इस विचारसे मैंने अपनी अन्तरात्माको शान्त किया।

यहाँ बस्ती बहुत कम थी। पहाड़ों और खाइयोंमें भले, सादे और जंगली माने जानेवाले जुलू लोगोंके घासफूसके झोंपड़ोंको छोड़कर और कुछ न था। इस कारण दृश्य भव्य मालूम होता था। जब इस निर्जन प्रदेशमें हम किसी घायलको लेकर अथवा यों ही मीलों पैदल जाते थे, तब मैं सोचमें डूब जाता था।

यहाँ ब्रह्मचर्यके बारेमें मेरे विचार परिपक्व हुए। मैंने अपने साथियोंसे भी इसकी थोड़ी चर्चा की। मुझे अभी इस बातका साक्षात्कार तो नहीं हुआ था कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है किन्तु मैं यह स्पष्ट देख सका था कि सेवाके लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। मुझे लगा कि इस प्रकारकी सेवा तो मेरे हिस्से अधिकाधिक आती ही रहेगी और मैं भोग-विलासमें, सन्तानोत्पत्तिमें और सन्ततिके पालन-पोषणमें लगा रहा, तो मुझसे सम्पूर्ण सेवा नहीं हो सकेगी।

मैं दो घोड़ोंपर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी सगर्भा हो तो मैं निश्चिन्त भावसे इस सेवामें प्रवृत्त हो ही नहीं सकता था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना परिवारकी वृद्धि करते रहना समाजके अभ्युदयके लिए किये जानेवाले मनुष्यके प्रयत्नका विरोध करनेवाली वस्तु बन जाती है। विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाये, तो परिवारकी सेवा समाज-सेवाकी विरोधी न बने।

मैं इस प्रकारके विचार-चक्रमें फँस गया और ब्रह्मचर्यका व्रत लेनेके लिए थोड़ा अधीर भी हो उठा। इन विचारोंसे मुझे एक प्रकारका आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। कल्पनाने सेवाके क्षेत्रको बहुत विशाल बना दिया।

मैं मन-ही-मन इन विचारोंको पक्का कर रहा था और शरीरको कस रहा था कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि विद्रोह शान्त होने जा रहा है, और अब हमें छुट्टी मिल जायेगी। दूसरे दिन हमें घर जानेकी इजाजत मिली और बादमें कुछ ही दिनोंके अन्दर सब अपने-अपने घर पहुँच गये।

१. देखिए खण्ड ५, पृष्ठ ३७८-७९।

इसके कुछ ही दिनों बाद गवर्नरने उक्त सेवाके लिए मेरे नाम आभार-प्रदर्शनका एक विशेष पत्र भेजा।

फीनिक्स पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्यकी बात बहुत मनोयोगपूर्वक छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादिके सामने रखी। सबको बात पसन्द आई। सबने उसकी आवश्यकता स्वीकार की। सबने यह भी अनुभव किया कि ब्रह्मचर्यका पालन बहुत ही कठिन है। कइयोंने प्रयत्न करनेका साहस भी किया और मेरा ख्याल है कि कुछको उसमें सफलता भी मिली।

मैंने व्रत ले लिया कि अबसे आगे जीवन-भर ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। उस समय मैं इस व्रतके महत्त्व और इसकी कठिनाइयोंको पूरी तरह समझ न सका था। इसकी कठिनाइयोंका अनुभव तो मैं आज भी करता रहता हूँ। इसके महत्त्वको मैं दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-रहित जीवन मुझे शुष्क और पशुओं-जैसा प्रतीत होता है। पशु स्वभावसे निरंकुश है। मनुष्यका मनुष्यत्व स्वेच्छासे अंकुशमें रहनेमें है। धर्म-ग्रन्थोंमें पाई जानेवाली ब्रह्मचर्यकी प्रशंसामें पहले मुझे अतिशयोक्ति मालूम होती थी, उसके बदले अब दिन-दिन यह अधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह उचित है और अनुभवपूर्वक लिखी गई है।

जिस ब्रह्मचर्यके ऐसे परिणाम आ सकते हैं, वह सरल नहीं हो सकता, वह केवल शारीरिक भी नहीं हो सकता। शारीरिक अंकुशसे ब्रह्मचर्यका आरम्भ होता है। पर शुद्ध ब्रह्मचर्यमें विचारकी मलिनता भी न होनी चाहिए। सम्पूर्ण ब्रह्मचारीको तो स्वप्नमें भी विकारी विचार नहीं आते। और, जबतक विकारयुक्त स्वप्न आते रहते हैं, तबतक यह समझना चाहिए कि ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महान कष्ट उठाना पड़ा है। अब कहा जा सकता है कि मैं इसके विषयमें निर्भय हो गया हूँ। लेकिन अपने विचारोंपर मुझे जो जय प्राप्त करनी चाहिए, वह प्राप्त नहीं हो सकी है। मुझे नहीं लगता कि मेरे प्रयत्नमें न्यूनता रहती है। लेकिन मैं अभीतक यह समझ नहीं सका हूँ कि हम जिन विचारोंको नहीं चाहते, वे हमपर कहाँसे और किस प्रकार हमला करते हैं। मुझे इस विषयमें सन्देह नहीं है कि मनुष्यके पास विचारोंको भी रोकनेकी चाबी है। लेकिन अभी तो मैं इस निर्णयपर पहुँचा हूँ कि यह चाबी भी हरएकको अपने लिए खुद खोज लेनी है। महापुरुष हमारे लिए अपने जो अनुभव छोड़ गये हैं, वे मार्गदर्शक ही हैं। वे सम्पूर्ण नहीं हैं। सम्पूर्णता तो केवल प्रभु-प्रसादी है, और इसी हेतुसे भक्तजन अपनी तपश्चर्या द्वारा पुनीत किये हुए और हमें पावन करनेवाले रामनामादि मन्त्र छोड़ गये हैं। सम्पूर्ण ईश्वरार्पणके बिना विचारोंपर सम्पूर्ण विजय प्राप्त हो ही नहीं सकती। यह वचन मैंने सब धर्मग्रन्थोंमें पढ़ा है और इसकी सचाईका अनुभव मैं ब्रह्मचर्यके सूक्ष्मतम पालनके अपने इस प्रयत्नके विषयमें कर रहा हूँ।

पर मेरे महान प्रयत्न और संघर्षका थोड़ा-बहुत इतिहास अगले प्रकरणमें आने ही वाला है। इस प्रकरणके अन्तमें तो मैं यही कह दू कि अपने उत्साहके कारण मुझे आरम्भमें तो व्रतका पालन सरल प्रतीत हुआ। व्रत लेते ही मैंने एक परिवर्तन कर डाला। पत्नीके साथ एक शय्या अथवा एकान्तका मैंने त्याग किया।

२६. सत्याग्रहकी उत्पत्ति

इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्यका पालन मैं इच्छा या अनिच्छासे सन् १९०० से करता आ रहा था, व्रतके रूपमें उसका आरम्भ १९०६ के मध्यसे हुआ।

यों एक प्रकारकी जो आत्मशुद्धि मैंने की, वह मानो सत्याग्रहके लिए ही हुई हो; ऐसी एक घटना जोहानिसबर्गमें मेरे लिए तैयार हो रही थी। आज मैं यह देख रहा हूँ कि ब्रह्मचर्यका व्रत लेने तककी मेरे जीवनकी सभी मुख्य घटनाएँ मुझे छिपे तौरपर उसीके लिए तैयार कर रही थीं। 'सत्याग्रह' शब्दकी उत्पत्तिसे पहले वस्तुकी उत्पत्ति तो हो ही चुकी थी। उत्पत्तिके समय तो मैं स्वयं भी उसके स्वरूपको नहीं पहचान सका था। गुजरातीमें सब उसे अंग्रेजी शब्द 'पैसिव रेजिस्टेन्स' के पर्यायके रूपमें पहचानने लगे। जब गोरोंकी एक सभामें मैंने देखा कि 'पैसिव रेजिस्टेन्स' का संकुचित अर्थ किया जाता है, उसे कमजोरोंका ही हथियार माना जाता है, उसमें द्वेष हो सकता है और उसका अन्तिम स्वरूप हिंसामें प्रकट हो सकता है, तब मुझे इस बातका विरोध करना पड़ा[1] और हिन्दुस्तानियोंकी लड़ाईका सच्चा स्वरूप समझाना पड़ा। और तब हिन्दुस्तानियोंके लिए अपनी लड़ाईका परिचय देनेके लिए नये शब्दकी योजना करना आवश्यक हो गया।

पर मुझे वैसा स्वतन्त्र शब्द किसी तरह सूझ नहीं रहा था। अतएव उसके लिए नाममात्रका इनाम रखकर 'इंडियन ओपिनियन' के पाठकोंमें प्रतियोगिता[2] करवाई। इस प्रतियोगिताके परिणामस्वरूप मगनलाल गांधीने सत्+आग्रहकी सन्धि करके 'सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। इनाम उन्हें मिला। पर 'सदाग्रह' शब्दको अधिक स्पष्ट करनेके विचारसे मैंने बीचमें 'य' अक्षर और बढ़ाकर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया और गुजरातीमें यह लड़ाई इसी संज्ञासे पहचानी जाने लगी।

कहा जा सकता है कि इस लड़ाईका इतिहास दक्षिण आफ्रिकाके मेरे जीवनका और विशेषकर मेरे सत्यके प्रयोगोंका इतिहास है। इस इतिहासका अधिकांश मैंने यरवदा जेलमें लिख डाला था, और बाकी बाहर आनेके बाद पूरा किया। वह सब 'नवजीवन' में छप चुका है और बादमें 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास'[3] के नामसे पुस्तक रूपमें भी प्रकाशित हो चुका है। उसका अंग्रेजी अनुवाद श्री वालजी गोविन्दजी देसाई 'करंट थॉट' के लिए कर रहे हैं। पर अब मैं उसे शीघ्र ही अंग्रेजीमें पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी व्यवस्था कर रहा हूँ, जिससे दक्षिण आफ्रिकाके मेरे महत्त्वपूर्ण प्रयोगोंको जाननेके इच्छुक सब लोग उन्हें जान-समझ सकें। जिन गुजराती पाठकोंने 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' न पढ़ा हो, उन्हें मेरी सलाह है कि वे उसे पढ़ लें। मैं चाहता हूँ कि अबसे आगेके कुछ प्रकरणोंमें उक्त

१. जर्मिस्टनमें सहानुभूति रखनेवाले यूरोपीयोंकी एक सभामें, देखिए खण्ड ९, पृष्ठ २४२-४४।

२. प्रतियोगिता और पुरस्कारकी घोषणाके लिए देखिए खण्ड ७, पृष्ठ ४५१; और प्रतियोगिताके परिणामकी घोषणाके लिए, देखिए खण्ड ८, पृष्ठ २३।

३. देखिए खण्ड २९।

इतिहासमें दिये गये मुख्य कथाभागको छोड़कर दक्षिण आफ्रिकाके मेरे जीवनके जो थोड़े व्यक्तिगत प्रसंग उसमें देने रह गये हैं, उन्हीकी चर्चा करूँ। और इनके समाप्त होनेपर तुरन्त ही पाठकोंको हिन्दुस्तानके प्रयोगोंका परिचय देना चाहता हूँ। अतएव जो इन प्रयोगोंके प्रसंगोंके क्रमको अविच्छिन्न रखना चाहते हैं, उनके लिए 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' के उक्त प्रकरण अब अपने सामने रखना जरूरी है।

२७. आहारके अधिक प्रयोग

मन-वचन-कर्मसे ब्रह्मचर्यका पालन किस प्रकार हो, यह एक चिन्ता थी और सत्याग्रहके युद्धके लिए अधिकसे-अधिक समय किस तरह बच सके और अधिक शुद्धि किस प्रकार हो, यह दूसरी चिन्ता थी। इन चिन्ताओंने मुझे आहारमें अधिक संयम और अधिक परिवर्तन करनेके लिए प्रेरित किया, और पहले जो परिवर्तन मैं मुख्यतः आरोग्यकी दृष्टिसे करता था, वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। जिस मनुष्यमें विषय-वासना रहती है, उसे जीभका स्वाद भी बहुत सताता है। मेरी भी यही स्थिति थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रियपर काबू पानेकी कोशिशमें मुझे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा है, और आज भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने दोनोंपर पूरी जय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने आपको अत्याहारी माना है। मित्रोंने जिसे मेरा संयम माना है, उसे मैंने स्वयं कभी संयम माना ही नही। मैं जितना अंकुश रखना सीखा हूँ उतना भी न रख सका होता, तो मैं पशुसे भी नीचे गिर जाता और कभीका नष्ट हो जाता। कहा जा सकता है कि अपनी त्रुटियोंका मुझे ठीक दर्शन होनेसे मैंने उन्हें दूर करनेके लिए घोर प्रयत्न किये है और फलतः मैं इतने वर्षोंतक इस शरीरको टिका सका हूँ और इससे कुछ काम ले सका हूँ।

मुझे इसका ज्ञान था और ऐसा संग अनायास ही प्राप्त हो गया था, इसलिए मैंने एकादशीका फलाहार अथवा उपवास शुरू किया। जन्माष्टमी आदि दूसरी तिथियों पर भी व्रत पालना शुरू किया।

किन्तु संयमकी दृष्टिसे मैं फलाहार और अन्नाहारके बीच बहुत भेद न देख सका। जिसे हम अनाजके रूपमें पहचानते हैं, उसमें से जो रस हम प्राप्त करते हैं, वे रस हमें फलाहारमें से भी मिल जाते हैं; और मैंने देखा है कि आदत पड़नेपर तो उसमें से अधिक रस प्राप्त होता है। अतएव इन तिथियोंपर मैं निराहार उपवासको अथवा एकाशनको अधिक महत्त्व देने लगा। इसके सिवा, प्रायश्चित्त आदिका कोई निमित्त मिल जाता, तो मैं उस निमित्तसे भी एक बारका उपवास कर डालता था।

इसमें से मैंने यह भी अनुभव किया कि शरीरके अधिक निर्मल होनेसे स्वाद बढ़ गया, भूख अधिक खुल गई, और मैंने देखा कि उपवास आदि जिस हदतक संयमके साधन हैं, उसी हदतक वे भोगके साधन भी बन सकते हैं। इस ज्ञानके बाद इसके समर्थनमें इसी प्रकारके कितने ही अनुभव मुझे और दूसरोंको हुए हैं। यद्यपि मुझे शरीरको अधिक अच्छा और चुस्त बनाना था, तथापि अब मुख्य हेतु

तो संयम सिद्ध करना — स्वाद जीतना ही था। अतएव मैं आहारकी वस्तुओंमें और उनके परिमाणमें फेरबदल करने लगा। किन्तु रस तो पीछा पकड़े हुए थे ही। मैं जिस वस्तुको छोड़ता और उसके बदलेमें जिसे लेता, उसमें से बिलकुल ही नये और अधिक रसोंका निर्माण हो जाता!

इन प्रयोगोंमें मेरे कुछ साथी भी थे। उनमें हरमान कैलेनबैक[1] मुख्य थे। चूँकि उनका परिचय मैं 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' में दे चुका हूँ, इसलिए पुनः इन प्रकरणोंमें देनेका विचार मैंने छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवासमें, एकाशनमें और दूसरे परिवर्तनोंमें, मेरा साथ दिया था। जिन दिनों लड़ाई खूब जोरसे चल रही थी, उन दिनों तो मैं उन्हींके घरमें रहता था। हम दोनों अपने परिवर्तनोंकी चर्चा करते और नये परिवर्तनोंमेंसे पुराने स्वादों से अधिक स्वाद ग्रहण करते थे। उस समय तो ये संवाद मीठे भी मालूम होते थे। उनमें कोई अनौचित्य नहीं जान पड़ता था। किन्तु अनुभवने सिखाया कि स्वादोंकी चर्चाका ऐसा आनन्द लेना भी अनुचित था। मतलब यह कि मनुष्यको स्वादके लिए नहीं, बल्कि शरीरके निर्वाहके लिए ही खाना चाहिए। जब प्रत्येक इन्द्रिय केवल शरीरके लिए और शरीरके द्वारा आत्माके दर्शनके लिए ही काम करती है, तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं और तभी कहा जा सकता है कि वह स्वाभाविक रूपसे बरतती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करनेके लिए जितने प्रयोग किये जायें उतने कम ही हैं, और ऐसा करते हुए अनेक शरीरोंकी आहुति देनी पड़े, तो उसे भी हमें तुच्छ समझना चाहिए। आज तो उलटी धारा बह रही है। नश्वर शरीरको सजानेके लिए, उसकी उम्र बढ़ानेके लिए हम अनेक प्राणियोंकी बलि देते हैं, फिर भी उससे शरीर और आत्मा दोनोंका हनन होता है। एक रोगको मिटानेकी कोशिशमें, इन्द्रियोंके भोगोंको भोगनेका यत्न करनेमें हम अनेक नये रोग उत्पन्न कर लेते हैं, और अन्तमें भोग भोगनेकी शक्ति भी खो बैठते हैं। और, अपनी आँखोंके सामने हो रही इस क्रियाको देखनेसे हम इनकार करते हैं।

आहारके जिन प्रयोगोंका वर्णन करनेमें मैं कुछ समय लेना चाहता हूँ, उन्हें पाठक समझ सकें इसलिए उनके उद्देश्यकी और उनके मूलमें काम कर रही विचार-धाराकी जानकारी देना आवश्यक था।

२८. पत्नीकी दृढ़ता

कस्तूरबाईपर रोगके तीन घातक हमले[2] हुए और तीनोंमें वह केवल घरेलू उपचारोंसे बच गई। उनमें पहली घटना उस समय घटी जब सत्याग्रहका युद्ध चल रहा था। उसे बार-बार रक्तस्राव हुआ करता था। एक डाक्टर मित्रने शस्त्रक्रिया करा लेनेकी सलाह दी थी। थोड़ी आनाकानीके बाद पत्नीने शस्त्रक्रिया कराना स्वीकार

१. देखिए खण्ड २९, पृष्ठ १३६-३७।

२. एक ऐसे अवसरपर गांधीजी जेलमें थे; उस अवसरपर उन्होंने बा को एक मार्मिक पत्र लिखा था। देखिए खण्ड ९, पृष्ठ १०९।

कर लिया। उसका शरीर बहुत ही क्षीण हो गया था। डाक्टरने बिना क्लोरोफार्मके शस्त्रक्रिया की। शस्त्र-क्रियाके समय पीड़ा बहुत हो रही थी, पर जिस धीरजसे कस्तूरबाईने उसे सहन किया, उससे मैं आश्चर्यचकित हो गया। शस्त्रक्रिया निर्विघ्न पूरी हो गई। डाक्टरने और उनकी पत्नीने कस्तूरबाईकी अच्छी सार-सँभाल की। यह घटना डर्बनमें हुई थी। दो या तीन दिनके बाद डाक्टरने मुझे निश्चिन्त होकर जोहानिसबर्ग जानेकी अनुमति दे दी। मैं चला गया।

कुछ ही दिन बाद खबर मिली कि कस्तूरबाईका शरीर बिलकुल सुधर नहीं रहा है और वह बिछौना छोड़कर उठ-बैठ भी नहीं सकती। एक बार बेहोश भी हो चुकी थी। डाक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना औषधि या भोजनके रूपमें कस्तूरबाईको शराब अथवा मांस नहीं दिया जा सकता। डाक्टरने मुझे जोहानिसबर्ग टेलीफोन किया: "मैं आपकी पत्नीको मांसका शोरबा अथवा 'बीफ टी' देनेकी जरूरत समझता हूँ। मुझे इजाजत मिलनी चाहिए।" मैंने उत्तर दिया, "मैं यह इजाजत नहीं दे सकता। किन्तु कस्तूरबाई स्वतन्त्र है। उससे पूछने-जैसी स्थिति हो तो पूछिए, और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिए।" "ऐसे मामलोंमें मैं बीमारसे कुछ पूछना पसन्द नहीं करता। स्वयं आपका यहाँ आना जरूरी है। यदि आप मैं जो चाहूँ सो खिलानेकी छूट मुझे न दें, तो मैं आपकी स्त्रीके लिए जिम्मेदार नहीं।"

मैंने उसी दिन डर्बनकी ट्रेन पकड़ी। डर्बन पहुँचा। डाक्टरने मुझसे कहा, "मैंने तो शोरबा पिलानेके बाद ही आपको टेलीफोन किया था!"

मैंने कहा, "डाक्टर, मैं इसे दगा समझता हूँ।"

डाक्टरने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, "दवा करनेमें मैं दगा-वगा नहीं समझता। हम डाक्टर लोग ऐसे समय रोगीको अथवा उसके सम्बन्धियोंको धोखा देनेमें पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो किसी भी तरह रोगीको बचाना है।"

मुझे बहुत दुःख हुआ। मैं शान्त रहा। डाक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उन्होंने और उनकी पत्नीने मुझपर उपकार किया था। पर मैं उक्त व्यवहार सहन करनेके लिए तैयार न था।

"डाक्टर साहब, अब स्थिति स्पष्ट कर लीजिए। कहिए, आप क्या करना चाहते हैं? मैं अपनी पत्नीको उसकी इच्छाके बिना मांस नहीं खिलाने दूँगा। मांस न लेनेके कारण उसकी मृत्यु हो जाये, तो मैं उसे सहनेके लिए तैयार हूँ।"

डाक्टर बोले, "आपकी फिलासफी मेरे घरमें तो हरगिज नहीं चलेगी। मैं आपसे कहता हूँ कि जबतक अपनी पत्नीको आप मेरे घरमें रहने देंगे, तबतक मैं उसे अवश्य ही मांस अथवा जो कुछ भी देना उचित होगा, दूँगा। यदि यह स्वीकार न हो तो आप अपनी पत्नीको ले जाइए। मैं अपने ही घरमें जान-बूझकर उसकी मृत्यु नहीं होने दूँगा।"

"तो क्या आप यह कहते हैं कि मैं अपनी पत्नीको इसी समय ले जाऊँ?"

"मैं कब कहता हूँ कि ले जाइए? मैं तो कहता हूँ कि मुझपर किसी प्रकारका अंकुश न रखिए। उस दशामें हम दोनों उसकी जितनी हो सकेगी उतनी सार-सँभाल

करेंगे और आप निश्चिन्त होकर जा सकेंगे। यदि यह सीधी-सी बात आप न समझ सकें, तो मुझे विवश होकर कहना होगा कि आप अपनी पत्नीको मेरे घरसे ले जाइए।"

मेरा ख्याल है कि उस समय मेरा एक लड़का[1] मेरे साथ था। मैंने उससे पूछा। उसने कहा, "आपकी बात मुझे मंजूर है। बा को मांस तो दिया ही नहीं जा सकता।" फिर मैं कस्तूरबाईके पास गया। वह बहुत अशक्त थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था, किन्तु धर्म समझकर मैंने उसे थोड़ेमें ऊपरकी बात कह सुनाई। उसने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया: "मैं मांसका शोरबा नहीं लूंगी। मनुष्यकी देह बार-बार नहीं मिलती। चाहे आपकी गोदमें मर जाऊँ, पर अपनी इस देहको भ्रष्ट तो नहीं होने दूंगी।"

जितना मैं समझा सकता था, मैंने समझाया और कहा, "तुम मेरे विचारोंका अनुसरण करनेके लिए बँधी हुई नहीं हो।" हमारी जान-पहचानके कई हिन्दू दवाके लिए मांस और मद्य लेते थे, इसकी भी मैंने बात की। पर वह टस-से-मस न हुई और बोली: "मुझे यहाँसे ले चलिए।"

मैं बहुत प्रसन्न हुआ। ले जानेके विचारसे घबरा गया। पर मैंने निश्चय कर लिया। डाक्टरको पत्नीका निश्चय सुना दिया। डाक्टर गुस्सा हुए और बोले: "आप तो बड़े निर्दय पति मालूम पड़ते हैं! ऐसी बीमारीमें उस बेचारीसे इस तरहकी बातें करनेमें आपको शरम भी नहीं आई? मैं आपसे कहता हूँ कि आपकी स्त्री यहाँसे ले जाने लायक नहीं है। उसका शरीर इस योग्य नहीं है कि वह थोड़ा भी धक्का सहन करे। रास्तेमें ही उसकी जान निकल जाये, तो मुझे आश्चर्य न होगा। फिर भी आप अपने हठके कारण बिलकुल न मानें, तो आप ले जानेके लिए स्वतन्त्र हैं। यदि मैं उसे शोरबा न दे सकूँ, तो अपने घरमें एक रात रखनेका भी खतरा मैं नहीं उठा सकता।"

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डर्बनसे फीनिक्सतक रेलका और फीनिक्ससे लगभग ढाई मीलका पैदल रास्ता था। खतरा काफी था, पर मैंने माना कि भगवान मदद करेगा। एक आदमीको पहलेसे फीनिक्स भेज दिया। फीनिक्समें हमारे पास 'हैमक' था। जालीदार कपड़ेकी झोली या पालनेको हैमक कहते हैं। उसके सिरे बाँससे बाँध दिये जायें, तो बीमार उसमें आरामसे झूलता रह सकता है। मैंने वेस्टको खबर भेजी थी कि वे हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छः आदमियोंको साथ लेकर स्टेशनपर आ जायें। दूसरी ट्रेनके छूटनेका समय होनेपर मैंने रिक्शा मँगवाया और उसमें, इस खतरनाक हालतमें, पत्नीको बैठाकर मैं रवाना हो गया।

मुझे पत्नीको हिम्मत नहीं बँधानी पड़ी; उलटे उसीने मुझे हिम्मत बँधाते हुए कहा, "मुझे कुछ नहीं होगा, आप चिन्ता न कीजिए।"

हड्डियोंके इस ढाँचेमें वजन तो कुछ रह ही नहीं गया था। खाया बिलकुल नहीं जाता था। ट्रेनके डिब्बेतक पहुँचनेमें स्टेशनके लम्बे-चौड़े प्लेटफार्मपर दूरतक

१. देखिए खण्ड ९, पृष्ठ ४१७-१८।

चलकर जाना पड़ता था। वहाँतक रिक्शा नहीं जा सकता था। मैं उसे उठाकर डिब्बेतक ले गया। फीनिक्स पहुँचनेपर तो वह झोली आ गई थी। उसमें बीमार को आरामसे ले गये। वहाँ केवल पानीके उपचारसे धीरे-धीरे कस्तूरबाईका शरीर पुष्ट होने लगा।

फोनिक्स पहुँचनेके बाद दो-तीन दिनके अन्दर एक स्वामी पधारे। हमारे 'हठ'की बात सुनकर उनके मनमें दया उपजी और वे हम दोनोंको समझाने आये। जैसा कि मुझे याद है, स्वामीजीके आगमनके समय मणिलाल और रामदास भी वहाँ मौजूद थे। स्वामीजीने मांसाहारकी निर्दोषतापर व्याख्यान देना शुरू किया। 'मनुस्मृति'के श्लोकोंका प्रमाण दिया। पत्नीके सामने इस तरहकी चर्चा मुझे अच्छी नही लगी। पर शिष्टताके विचारसे मैंने उसे चलने दिया। मांसाहारके समर्थनमें मुझे 'मनुस्मृति'के प्रमाणकी आवश्यकता नहीं थी। मैं उसके श्लोकोंको जानता था। मैं जानता था कि उन्हें प्रक्षिप्त माननेवाला भी एक पक्ष है। पर वे प्रक्षिप्त न होते, तो भी अन्नाहारके विषयमें मेरे विचार तो स्वतन्त्र रीतिसे पक्के हो चुके थे। कस्तूरबाईकी श्रद्धा काम कर रही थी। वह बेचारी शास्त्रके प्रमाणको क्या जाने? उसके लिए तो बाप-दादोंकी रूढ़ि ही धर्म था। लड़कोंको अपने पिताके धर्मपर विश्वास था। इसलिए वे स्वामीजी से मजाक कर रहे थे। अन्तमें कस्तूरबाईने इस संवादको यह कहकर बन्द किया: "स्वामीजी, आप कुछ भी क्यों न कहें, पर मुझे मांसका शोरबा खाकर स्वस्थ नहीं होना है। अब आप मेरा सिर न पचायें, तो आपका मुझपर बड़ा उपकार होगा। बाकी बातें आपको लड़कोंके पिताजीसे करनी हों, तो कर लीजियेगा। मैंने अपना निश्चय आपको बतला दिया।"

२९. घरमें सत्याग्रह

मुझे जेलका पहला अनुभव सन् १९०८में हुआ। उस समय मैंने देखा कि जेलमें कैदियोंसे जो कुछ नियमोंका पालन करवाया जाता है, संयमी अथवा ब्रह्मचारीको उनका पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिए। (जेलके मेरे अनुभव भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। मूलतः गुजरातीमें लिखे गये थे और वे ही अंग्रेजीमें प्रकाशित हुए हैं। जहाँतक मैं जानता हूँ, दोनों पुस्तकें मिल सकती हैं।) जैसे कैदियोंको सूर्यास्तसे पहले पाँच बजेतक खा लेना होता है। उन्हें — हिन्दुस्तानी और हब्शी कैदियोंको — चाय या काफी नहीं दी जाती। नमक खाना हो, तो अलगसे लेना होता है। स्वादके लिए तो कुछ खाया ही नहीं जा सकता। जब मैंने जेलके डाक्टरसे हिन्दुस्तानियोंके लिए 'करी पाउडर' (पिसा हुआ मसाला) माँगा और रसोईमें बनते समय ही नमक डालनेकी बात कही, तो वे बोले, "यहाँ आप लोग स्वादका आनन्द लूटनेके लिए नहीं आये हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे 'करी पाउडर'की कोई आवश्यकता नहीं है। आरोग्यके विचारसे नमक ऊपरसे लें या पकाते समय रसोईमें डालें, दोनों एक ही बात है।"

हम आखिर वहाँ बड़ी मेहनतके बाद कुछ जरूरी परिवर्तन करा सके थे। पर केवल संयमकी दृष्टिसे देखें, तो दोनों प्रतिबन्ध अच्छे ही थे। ऐसा प्रतिबन्ध जब जबरदस्ती लगाया जाता है, तो वह सफल नहीं होता। पर स्वेच्छासे पालन करनेपर ऐसा प्रतिबन्ध बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। अतएव जेलसे छूटनेके बाद मैंने भोजनमें तुरन्त ये परिवर्तन किये। भरसक चाय पीना बन्द किया और शामको जल्दी खानेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गई है।

किन्तु एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण मैंने नमकका त्याग कर दिया, यह लगभग दस वर्षतक अखण्ड रूपसे कायम रहा। अन्नाहार-सम्बन्धी कुछ पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है और न खानेवालेको आरोग्यकी दृष्टिसे लाभ ही होता है। यह तो मुझे सूझा ही था कि नमक न खानेसे ब्रह्मचारीको लाभ होता है। मैंने यह भी पढ़ा और अनुभव किया था कि कमजोर शरीरवालेको दाल न खानी चाहिए। किन्तु मैं उन्हें तुरन्त छोड़ न सका था। दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

यद्यपि उक्त शस्त्रक्रियाके बाद कस्तूरबाईका रक्तस्राव थोड़े समयके लिए बन्द हो गया था, पर अब वह फिर शुरू हो गया और किसी प्रकार बन्द ही न होता था। अकेले पानीके उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। यद्यपि पत्नीको मेरे उपचारोंपर विशेष श्रद्धा नहीं थी, तथापि उनके लिए तिरस्कार भी नहीं था। दूसरी दवा करनेका आग्रह न था। मैंने उसे नमक और दाल छोड़नेके लिए मनाना शुरू किया। बहुत मनानेपर भी, अपने कथनके समर्थनमें कुछ-न-कुछ पढ़कर सुनानेपर भी, वह मानी नहीं। आखिर उसने कहा: "दाल और नमक छोड़नेको तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेंगे।" मुझे दुःख हुआ और हर्ष भी हुआ। मुझे अपना प्रेम उँडेलनेका अवसर मिला। उस हर्षमें मैंने तुरन्त ही कहा, "तुम्हारा यह ख्याल गलत है। मुझे बीमारी हो और वैद्य इस चीजको या दूसरी किसी चीजको छोड़नेके लिए कहे, तो मैं अवश्य छोड़ दूँ। लेकिन जाओ, मैंने तो एक सालके लिए दाल और नमक दोनों छोड़े। तुम छोड़ो या न छोड़ो, यह अलग बात है।"

पत्नीको बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी, "मुझे माफ कीजिए। आपका स्वभाव जानते हुए भी मैं कह गई। अब मैं दाल और नमक नहीं खाऊँगी, लेकिन आप अपनी बात लौटा लें। यह तो मेरे लिए बहुत बड़ी सजा हो जायेगी।"

मैंने कहा, "अगर तुम दाल और नमक छोड़ोगी, तो अच्छा ही होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ होगा। पर मैं ली हुई प्रतिज्ञा वापस नहीं ले सकूँगा। मुझे तो इससे लाभ ही होगा। मनुष्य किसी भी निमित्तसे संयम क्यों न पाले, उससे उसे लाभ ही है। अतएव तुम मुझसे आग्रह न करो। फिर मेरे लिए भी यह एक परीक्षा हो जायेगी और इन पदार्थोंको छोड़नेका जो निश्चय तुमने किया है, उसपर दृढ़ रहनेमें तुम्हें मदद मिलेगी।"

इसके बाद मुझे उसे मनानेकी जरूरत तो रही ही नहीं। "आप बहुत हठी हैं। किसीकी बात मानते ही नहीं।" कहकर और अंजलि-भर आँसू बहाकर वह शान्त हो गई।

मैं इसे सत्याग्रहका नाम देना चाहता हूँ और इसको अपने जीवनकी मधुर स्मृतियोंमें से एक मानता हूँ।

इसके बाद कस्तूरबाईकी तबीयत खूब सँभली। इसमें नमक और दालका त्याग कारणरूप था या वह किस हदतक कारणरूप था, अथवा उस त्यागसे उत्पन्न आहार-सम्बन्धी अन्य छोटे-बड़े परिवर्तन कारणभूत थे, या इसके बाद दूसरे नियमोंका पालन करानेमें मेरी पहरेदारी निमित्तरूप थी, अथवा उपर्युक्त प्रसंगसे उत्पन्न मानसिक उल्लास निमित्तरूप था — सो मैं कह नहीं सकता। पर कस्तूरबाईका क्षीण शरीर फिर पनपने लगा, रक्तस्राव बन्द हुआ और 'वैद्यराज'[1] के रूपमें मेरी साख बढ़ी।

स्वयं मुझपर तो इन दोनोंके त्यागका प्रभाव अच्छा ही पड़ा। त्यागके बाद नमक अथवा दालकी इच्छातक न रही। एक सालका समय तो तेजीसे बीत गया। मैं इन्द्रियोंकी शान्तिका अधिक अनुभव करने लगा, और मन संयमको बढ़ानेकी तरफ अधिक दौड़ने लगा। कहना होगा कि वर्षकी समाप्तिके बाद भी दाल और नमकका त्याग ठेठ देश लौटनेतक चालू रहा। केवल एक बार सन् १९१४ में विलायतमें नमक और दाल खाई थी। पर यह किस्सा और देश लौटनेपर दोनों चीजें फिर शुरू करनेकी कहानी आगे कहूँगा।

नमक और दाल छुड़ानेके प्रयोग मैंने दूसरे साथियोंपर भी काफी किये हैं, और दक्षिण आफ्रिकामें तो उनके परिणाम अच्छे ही आये हैं। वैद्यककी दृष्टिसे दोनों चीजोंके त्यागके विषयमें दो मत हो सकते हैं, पर इसमें मुझे कोई शंका ही नही कि संयमकी दृष्टिसे तो इन दोनों चीजोंके त्यागमें लाभ ही है। भोगी और संयमीके आहार भिन्न होने चाहिए, उनके मार्ग भिन्न होने चाहिए। ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले लोग भोगीका जीवन बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कभी-कभी लगभग असम्भव बना डालते हैं।

३०. संयमकी ओर

मैं पिछले प्रकरणमें लिख चुका हूँ कि आहार-सम्बन्धी कुछ परिवर्तन कस्तूर-बाईकी बीमारीके निमित्तसे हुए थे। पर अब तो दिन-प्रतिदिन ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे आहारमें परिवर्तन होने लगे।

इनमें पहला परिवर्तन दूध छोड़नेका हुआ। मुझे पहले-पहल रायचन्दभाईसे मालूम हुआ कि दूध इन्द्रिय-विकार पैदा करनेवाली वस्तु है। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकोंके वाचनसे इस विचारमें वृद्धि हुई। लेकिन जबतक ब्रह्मचर्यका व्रत नहीं लिया था, तबतक मैं दूध छोड़नेका कोई खास इरादा नहीं कर सका था। यह चीज तो मैं बहुत पहलेसे समझने लगा था कि शरीरके निर्वाहके लिए दूध आवश्यक नहीं है। लेकिन वह जल्दी ही छूटनेवाली चीज न थी। मैं यह अधिकाधिक समझने लगा था

१. अलोने आहारके सम्बन्धमें, देखिए खण्ड ११, पृष्ठ १२५ और ५०४-५०५।

कि इन्द्रिय-दमनके लिए दूध छोड़ना चाहिए। इन्हीं दिनों मेरे पास कलकत्तेसे कुछ साहित्य आया, जिसमें गाय-भैंसपर ग्वालों द्वारा किये जानेवाले क्रूर अत्याचारोंकी कथा थी। इस साहित्यका मुझपर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। मैंने इस सम्बन्धमें श्री कैलेनबैकसे चर्चा की।

यद्यपि श्री कैलेनबैकका परिचय मैं सत्याग्रहके इतिहासमें दे चुका हूँ, और पिछले एक प्रकरणमें भी उनका थोड़ा उल्लेख कर चुका हूँ, तो भी यहाँ दो शब्द अधिक कहनेकी आवश्यकता है। उनसे मेरी भेंट अनायास ही हुई थी। वे श्री खानके मित्र थे। श्री खानने उनके अन्तरकी गहराईमें वैराग्य-वृत्तिका दर्शन किया था और मेरा ख्याल है कि इसी कारण उन्होंने मेरी पहचान उनसे कराई थी।

जिस समय पहचान हुई, उस समय उनके तरह-तरहके शौकोंसे और खर्चीलेपनसे मैं चौंका था। पर पहले ही परिचयमें उन्होंने मुझसे धर्म-विषयक प्रश्न किये। इस चर्चामें अनायास ही बुद्ध भगवान्के त्यागकी बात निकली। इस प्रसंगके बाद हमारा सम्पर्क बढ़ता चला गया। वह इस हदतक बढ़ा कि उन्होंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया कि जो काम मैं करूँ वह उन्हें भी करना चाहिए।

वे बिलकुल अकेले थे। मकान-किरायेके अलावा हर महीने लगभग बारह सौ रुपये वे अपने-आपपर खर्च कर डालते थे। आखिर इसमें से इतनी सादगीपर पहुँच गये कि एक समय उनका मासिक खर्च घटकर १२० रुपये पर जा टिका। मेरे अपनी घर-गृहस्थीको तोड़ देनेके बाद और पहली जेल-यात्राके पश्चात् हम दोनों साथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनोंका जीवन अपेक्षाकृत अधिक कठोर था।

जिन दिनों हम साथ रहते थे, उन्हीं दिनों दूध-सम्बन्धी उक्त चर्चा हुई थी। श्री कैलेनबैकने सलाह दी: "दूधके दोषोंकी चर्चा तो हम प्रायः करते ही हैं। तो फिर हम दूध छोड़ क्यों न दें? उसकी आवश्यकता तो है ही नहीं। उनकी इस रायसे मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ। मैंने इस सलाहका स्वागत किया और हम दोनोंने उसी क्षण टॉल्स्टॉय फार्मपर[1] दूधका त्याग किया। यह घटना सन् १९१२ में घटी।

इतने त्यागसे हमें शान्ति न हुई। दूध छोड़नेके कुछ ही समय बाद केवल फलाहारके प्रयोगका भी हमने निश्चय किया। फलाहारमें भी जो सस्तेसे-सस्ते फल मिलें, उनसे ही अपना निर्वाह करनेका हमारा निश्चय था। गरीब-से-गरीब आदमी जैसा जीवन बिताता है, वैसा ही जीवन बितानेकी उमंग हम दोनोंको थी।

हमने फलाहारकी सुविधाका भी खूब अनुभव किया। फलहारमें अधिकतर चूल्हा जलानेकी आवश्यकता ही न होती थी। बिना सिकी मूँगफली, केले, खजूर, नींबू और जैतूनका तेल — यह हमारा साधारण आहार बन गया।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवालोंको यहाँ एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ आहार और उपवासका निकट सम्बन्ध सूचित

१. सत्याग्रहियोंके निवासके लिए ३०-५-१९१० को कैलेनबैक द्वारा जोहानिसबर्गके पासके लगभग ११०० एकड़ जमीनपर बना था।

किया है, तो भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार मनपर है। मैला मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता। आहारका उसपर प्रभाव नही पड़ता। मनका मैल तो विचारसे, ईश्वरके ध्यानसे और आखिर ईश्वरी प्रसादसे ही छूटना है। किन्तु मनका शरीरके साथ निकट सम्बन्ध है और विकारयुक्त मन विकारयुक्त आहारकी खोजमें रहता है। विकारी मन अनेक प्रकारके स्वादों और भोगोंकी तलाशमें रहता है और बादमें उन आहारों तथा भोगोंका प्रभाव मनपर पड़ता है। अतएव उस हदतक आहारपर अंकुश रखनेकी और निराहारी रहनेकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है। विकारग्रस्त मन शरीर और इन्द्रियोंको अंकुशमें रखनेके बदले शरीरके और इन्द्रियोंके अधीन होकर चलता है, इस कारण भी शरीरके लिए शुद्ध और कम-से-कम विकारी आहारकी मर्यादाकी और प्रसंगोपात्त निराहारकी — उपवासकी — आवश्यकता रहती है।

अतएव जो यह कहते हैं कि संयमीके लिए आहारकी मर्यादाकी अथवा उपवास-की आवश्यकता नहीं है, वे उतने ही गलतीपर हैं, जितने आहार तथा उपवासको सर्वस्व माननेवाले। मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखाता है कि जिसका मन संयमकी ओर बढ़ रहा है, उसके लिए आहारकी मर्यादा और उपवास बहुत मदद करनेवाले हैं। इनकी सहायताके बिना मनकी निर्विकारता असम्भव प्रतीत होती है।

३१. उपवास

जिन दिनों मैंने दूध और अनाज छोड़कर फलाहारका प्रयोग शुरू किया, उन्ही दिनों संयमके हेतुसे उपवास भी शुरू किये। श्री कैलेनबैक इसमें भी मेरे साथ हो गये। पहले मैं उपवास केवल आरोग्यकी दृष्टिसे करता था। एक मित्रकी प्रेरणासे मैंने यह समझा कि देह-दमनके लिए उपवासकी आवश्यकता है।

चूंकि मैं वैष्णव कुटुम्बमें पैदा हुआ था और चूंकि माताजी कठिन व्रतोंका पालन करनेवाली थीं, इसलिए देशमें एकादशी आदि व्रत मैंने किये थे। किन्तु वे देखा-देखी अथवा माता-पिताको प्रसन्न करनेके विचारसे किये थे।

ऐसे व्रतोंसे कोई लाभ होता है, इसे न तो मैं उस समय समझा था, न मानता ही था। किन्तु उक्त मित्रको उपवास करते देखकर और अपने ब्रह्मचर्य-व्रतको सहारा पहुँचानेके विचारसे मैंने उनका अनुकरण करना शुरू किया और एकादशीके दिन उपवास रखनेका निश्चय किया। साधारणतः लोग एकादशीके दिन दूध और फल खाकर समझते हैं कि उन्होंने एकादशी की है। पर फलाहारी उपवास तो अब मैं रोज ही करने लग गया था। इसलिए मैंने पानी पीनेकी छूट रखकर पूरे उपवास शुरू किये।

उपवासके प्रयोगोंके आरम्भिक दिनोंमें श्रावणका महीना पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण दोनों एकसाथ पड़े थे। गांधी-कुटुम्बमें वैष्णव व्रतोंके साथ शैव व्रत भी पाले जाते थे। कुटुम्बके लोग वैष्णव देवालयोंकी भाँति ही शिवालयोंमें भी

जाते थे। श्रावण महीनेका प्रदोष-व्रत कुटुम्बमें कोई न कोई प्रतिवर्ष करता ही था। इसलिए इस श्रावण मासका व्रत मैंने रखना चाहा।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोगका प्रारम्भ टॉल्स्टॉय आश्रममें हुआ था। वहाँ सत्याग्रही कैदियोंके कुटुम्बोंकी देखरेख करते हुए कैलेनबैक और मैं दोनों रहते थे। उनमें बालक और नौजवान भी थे। उनके लिए स्कूल चलता था। इन नौजवानोंमें चार-पाँच मुसलमान थे। इस्लामके नियमोंका पालन करनेमें मैं उनकी मदद करता था और उन्हें बढ़ावा देता था। नमाज वगैराकी सहूलियत कर देता था। आश्रममें पारसी और ईसाई भी थे। इन सबको अपने-अपने धर्मके अनुसार चलनेके लिए प्रोत्साहित करनेका आश्रममें नियम था।

अतएव मुसलमान नौजवानोंको मैंने रोजे रखनेके लिए उत्साहित किया। मुझे तो प्रदोष-व्रत करना ही था। किन्तु मैंने हिन्दुओं, पारसियों और ईसाइयोंको भी मुसलमान नौजवानोंका साथ देनेकी सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयममें सबके साथ सहयोग करना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रमवासियोंने मेरी बात मान ली। हिन्दू और पारसी मुसलमान साथियोंका पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे, करना आवश्यक भी न था। मुसलमान सूरज डूबनेकी राह देखते, जब कि दूसरे उससे पहले खा लिया करते थे, जिससे वे मुसलमानोंको परोस सकें और उनके लिए विशेष वस्तुएँ तैयार कर सकें। इसके सिवा, मुसलमान जो सहरी[1] करते थे, उसमें दूसरोंके सम्मिलित होनेकी आवश्यकता न थी। और मुसलमान दिनमें पानी भी न पीते थे, जब कि दूसरे लोग छूटसे पानी पीते थे।

इस प्रयोगका एक परिणाम यह हुआ कि उपवास और एकाशनका महत्त्व सब समझने लगे। एक-दूसरेके प्रति उदारता और प्रेमभावमें वृद्धि हुई।

आश्रममें अन्नाहारका नियम था। यह नियम मेरी भावनाके कारण स्वीकार किया गया था, यह बात मुझे यहाँ आभारपूर्वक स्वीकार करनी चाहिए। रोजेके दिनोंमें मुसलमानोंको मांसका त्याग कठिन प्रतीत हुआ होगा, पर नवयुवकोंमें से किसीने मुझे उसका पता नहीं चलने दिया। वे आनन्द और रसपूर्वक अन्नाहार करते थे। हिन्दू बालक आश्रममें अशोभनीय न लगनेवाला स्वादिष्ट भोजन भी उनके लिए तैयार करते थे।

अपने उपवासका वर्णन करते हुए यह विषयान्तर मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि इस मधुर प्रसंगका वर्णन मैं दूसरी जगह नहीं कर सकता था। और, इस विषयान्तरके साथ मैंने अपनी एक आदतकी भी चर्चा कर ली है। अपने विचारमें मैं जो अच्छा काम करता हूँ, उसमें अपने साथ रहनेवालोंको सम्मिलित करनेका प्रयत्न मैं हमेशा करता हूँ। उपवास और एकाशनके प्रयोग नये थे, पर प्रदोष और रमजानके बहाने मैंने सबको इसमें फाँद लिया।

इस प्रकार सहज ही आश्रममें संयमका वातावरण बढ़ा। दूसरे उपवासों और एकाशनोंमें भी आश्रमवासी सम्मिलित होने लगे। और, मैं मानता हूँ कि इसका

१. वह हलका भोजन, जो रमजानके दिनोंमें रोजा रखनेवाले मुसलमान कुछ रात रहते कर लेते हैं।

परिणाम शुभ निकला। सबके हृदयोंपर संयमका कितना प्रभाव पड़ा, सबके विषयोंको संयत करनेमें उपवास आदिने कितना हाथ बँटाया, यह मैं निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। पर मेरा अनुभव यह है कि उपवास आदिसे मुझपर तो आरोग्य और विषय-नियमनकी दृष्टिसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि उपवास आदिसे सबपर इस तरहका प्रभाव पड़ेगा ही, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है।

इन्द्रिय-दमनके हेतुसे किये गये उपवाससे ही विषयोंको संयत करनेका परिणाम निकल सकता है। कुछ मित्रोंका यह अनुभव भी है कि उपवासकी समाप्तिपर विषयेच्छा और स्वाद तीव्र हो जाते हैं। मतलब यह कि उपवासके दिनोंमें विषयको संयत करने और स्वादको जीतनेकी सतत भावना रहनेपर ही उसका शुभ परिणाम निकल सकता है। यह मानना निरा भ्रम है कि बिना किसी हेतुके और बेमन किये जानेवाले शारीरिक उपवासका स्वतन्त्र परिणाम विषय-वासनाको संयत करनेमें आयेगा। गीताजीके दूसरे अध्यायका यह श्लोक यहाँ बहुत विचारणीय है:

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ।।

उपवासीके विषय (उपवासके दिनोंमें) शान्त होते हैं; पर उसका रस नहीं जाता। रस तो ईश्वर-दर्शनसे ही — ईश्वर-प्रसादसे ही शान्त होता है।

तात्पर्य यह कि संयमीके मार्गमें उपवास आदि एक साधनके रूपमें हैं, किन्तु ये ही सब-कुछ नहीं हैं। और यदि शरीरके उपवासके साथ मनका उपवास न हो, तो उसकी परिणति दम्भमें होती है और वह हानिकारक सिद्ध होता है।

३२. शिक्षकके रूपमें

यदि पाठक यह याद रखेंगे कि जो बात 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' में नहीं आ सकी अथवा थोड़े ही अंशमें आई है, वही इन प्रकरणोंमें आ रही है, तो वे इन प्रकरणोंके आसपासके सम्बन्धको समझ सकेंगे।

टॉल्स्टॉय आश्रममें बालकों और बालिकाओंके लिए कुछ-न-कुछ शिक्षाका प्रबन्ध करना आवश्यक था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे और कुछ बालिकाएँ भी थीं। खास इसी कामके लिए शिक्षक रखना असम्भव था, और मुझे अनावश्यक प्रतीत हुआ। असम्भव इसलिए था कि योग्य हिन्दुस्तानी शिक्षकोंकी कमी थी; और उनके मिलनेपर भी बड़ी तनख्वाहके बिना डर्बनसे इक्कीस मील दूर आता कौन? मेरे पास पैसोंकी विपुलता न थी। बाहरसे शिक्षक लाना मैंने अनावश्यक माना, क्योंकि शिक्षाकी प्रचलित पद्धति मुझे पसन्द न थी। सच्ची पद्धति क्या हो सकती है, इसका अनुभव मैं ले नहीं पाया था। इतना समझता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा तो माँ-बापकी निगरानीमें ही हो सकती है। आदर्श स्थितिमें बाहरी मदद कमसे-कम होनी चाहिए। सोचा यह था कि टॉल्स्टॉय आश्रम एक परिवार है और मैं उसमें एक पिताकी जगह हूँ, इसलिए इन नवयुवकोंके निर्माणकी जिम्मेदारी मुझे यथाशक्ति उठानी चाहिए।

इस कल्पनामें बहुत-से दोष तो थे ही। नवयुवक मेरे पास जन्मसे नहीं रहे थे। सब अलग-अलग वातावरणमें पले थे। सब एक धर्मके भी नहीं थे। ऐसी स्थितिमें रहे हुए बालकों और बालिकाओंका पिता बनकर भी मै उनके साथ न्याय कैसे कर सकता था?

किन्तु मैंने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको हमेशा पहला स्थान दिया है। और, यह सोचकर कि उसका परिचय तो किसी भी उम्रमें और कितने ही प्रकारके वातावरणमें पले हुए बालकों और बालिकाओंका न्यूनाधिक प्रमाणमें कराया जा सकता है, इन बालकों और बालिकाओंके साथ मैं रात-दिन पिताकी तरह रहता था। मैने चरित्रको उनकी शिक्षाकी बुनियाद माना था। यदि बुनियाद पक्की हो, तो अवसर मिलनेपर दूसरी बातें बालक मदद लेकर या अपनी ताकतसे खुद जान-समझ सकते हैं।

फिर भी मैं समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान तो कराना ही चाहिए, इसलिए कक्षाएँ शुरू कीं और इस कार्यमें मैंने श्री कैलेनबैककी और प्रागजी देसाईकी सहायता ली। शारीरिक शिक्षाकी आवश्यकताको मैं समझता था। यह शिक्षा उन्हें सहज ही मिल रही थी। आश्रममें नौकर तो थे ही नहीं। पाखाना-सफाईसे लेकर रसोई बनाने तकके सारे काम आश्रमवासियोंको ही करने होते थे। वहाँ फलोंके पेड़ बहुत थे। नई फसलें भी बोनी थीं। श्री कैलेनबैकको खेतीका शौक था। वे स्वयं सरकारके आदर्श बगीचोंमें जाकर थोड़े समयतक तालीम ले आये थे। ऐसे छोटे-बड़े सबको, जो रसोईके काममें लगे न होते थे, रोज अमुक समयके लिए बगीचेमें काम करना ही पड़ता था। इसमें बड़ा हिस्सा बालकोंका था। बड़े-बडे गड्ढे खोदना, पेड़ काटना, बोझ उठाकर ले जाना आदि कामोंमें उनके शरीर अच्छी तरह कसे जाते थे। इसमें उन्हें आनन्द आता था, और इसलिए दूसरी कसरत या खेल-कूदकी उन्हें जरूरत न रहती थी। काम करनेमें कुछ विद्यार्थी अथवा कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते थे, आलस्य करते थे। अक्सर इन बातोंकी ओरसे मैं आँख मींच लेता था। कभी-कभी उनसे सख्तीसे काम लेता था। मैं यह भी देखता था कि जब सख्ती करता था, तब उनका जी कामसे ऊब जाता था। फिर भी मुझे याद नहीं पड़ता कि बालकोंने सख्तीका कभी विरोध किया हो। जब-जब मैं सख्ती करता, तब-तब उन्हें समझाता और उन्हींसे कबूल कराता था कि कामके समय खेलनेकी आदत अच्छी नहीं मानी जा सकती। वे उस समय तो समझ जाते, पर दूसरे ही क्षण भूल भी जाते। इस तरह हमारी गाड़ी चलती थी। किन्तु उनके शरीर मजबूत बनते जा रहे थे। आश्रममें बीमारी मुश्किलसे ही आती थी। कहना चाहिए कि इसमें जलवायुका और अच्छे तथा नियमित आहारका भी बड़ा हाथ था।

शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक धन्धेकी शिक्षाका भी मैं उल्लेख कर दूँ। इरादा यह था कि सबको कोई-न-कोई उपयोगी धन्धा सिखाया जाये। इसके लिए श्री कैलेनबैक ट्रेपिस्ट मठमें चप्पल बनाना सीख आये। उनसे मैंने सीखा और जो बालक इस धन्धेको सीखनेके लिए तैयार हुए उन्हें मैंने सिखाया। श्री कैलेनबैकको

बढ़ई कामका थोड़ा अनुभव था, और आश्रममें बढ़ईका काम जाननेवाला एक साथी था, इसलिए यह काम भी कुछ हदतक बालकोंको सिखाया जाता था। रसोइयेका काम तो लगभग सभी बालक सीख गये थे।

बालकोंके लिए ये सारे काम नये थे। इन कामोंको सीखनेकी बात तो उन्होंने स्वप्नमें भी न सोची होगी। हिन्दुस्तानी बालक दक्षिण आफ्रिकामें जो-कुछ भी शिक्षा पाते थे, वह केवल प्राथमिक किताबी-ज्ञानकी ही होती थी।

टॉल्स्टॉय आश्रममें शुरूसे ही यह रिवाज डाला गया था कि जिस कामको हम शिक्षक न करें, वह बालकोंसे न कराया जाये; और बालक जिस काममें लगे हों, उसमें उनके साथ उसी कामको करनेवाला एक शिक्षक हमेशा रहे। इसलिए बालकोंने जो-कुछ सीखा, उमंगके साथ सीखा।

चरित्र और किताबी-ज्ञानके विषयमें इसके आगे लिखूँगा।

३३. पुस्तकीय-ज्ञान

पिछले प्रकरणमें शारीरिक शिक्षण और उसके सिलसिलेमें थोड़ी दस्तकारी सिखानेका काम टॉल्स्टॉय आश्रममें किस प्रकार शुरू किया गया, इसे हम कुछ हद तक देख चुके हैं। यद्यपि यह काम मैं इस तरहसे तो कर ही न सका, जिससे मुझे सन्तोष हो, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी।

पर पुस्तकीय-ज्ञान देना कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके लिए आवश्यक सामग्री न थी। स्वयं मुझे जितना मैं चाहता था उतना समय न था, न मुझमें उतनी योग्यता थी। दिन-भर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय थोड़ा आराम करनेकी जरूरत होती, उसी समय पढ़ाईके वर्ग लेने होते थे। अतएव मैं ताजा रहना तो दूर जैसे-तैसे जाग्रत रह पाता था। सुबहका समय खेतीमें और घरके काममें जाता था। इसलिए दुपहरको भोजनके बाद तुरन्त ही शालाका काम शुरू होता था। इसके सिवा दूसरा कोई भी समय अनुकूल न था।

पुस्तक-ज्ञानके लिए अधिकसे-अधिक तीन घंटे रखे गये थे। कक्षामें हिन्दी, तमिल, गुजराती और उर्दू भाषाएँ सिखाई जाती थीं। प्रत्येक बालकको उसकी मातृभाषाके द्वारा ही शिक्षा देनेका आग्रह था। अंग्रेजी भी सबको सिखाई जाती थी। इसके अतिरिक्त गुजरातके हिन्दू बालकोंको थोड़ा संस्कृतका और सब बालकोंको थोड़ा हिन्दीका परिचय कराया जाता था। इतिहास, भूगोल और अंकगणित सभीको सिखाना था। यही पाठ्यक्रम था।

तमिल और उर्दू सिखानेका काम मेरे जिम्मे था। तमिलका ज्ञान मैंने स्टीमरोंमें और जेलमें प्राप्त किया था। इसमें भी मैं पोप[1]-कृत उत्तम पुस्तक 'तमिल-स्वयं-शिक्षक' से आगे नहीं बढ़ सका था। उर्दू लिपिका ज्ञान भी उतना ही था, जितना स्टीमरमें

१. जॉर्ज उग्लो पोप–२ देखिए खण्ड ८ पृष्ठ १३१।

हो पाया था। और, फारसी-अरबीके खास-खास शब्दोंका उतना ही ज्ञान था, जितना मुसलमान मित्रोंके परिचयसे प्राप्त कर सका था! संस्कृत जितनी हाईस्कूलमें सीखा था उतनी ही जानता था। गुजरातीका ज्ञान भी उतना ही था, जितना शालामें मिला था।

इतनी पूँजीसे मुझे अपना काम चलाना था और इसमें मेरे जो सहायक थे, वे मुझसे भी कम जाननेवाले थे। परन्तु देशी भाषाओंके प्रति मेरे प्रेमने, अपनी शिक्षण-शक्तिके विषयमें मेरी श्रद्धाने, विद्यार्थियोंके अज्ञानने और उससे भी अधिक उनकी उदारताने इस काममें मेरी सहायता की।

तमिल विद्यार्थियोंका जन्म दक्षिण आफ्रिकामें ही हुआ था, इसलिए वे तमिल बहुत कम जानते थे। लिपि तो उन्हें बिलकुल न आती थी। इसलिए मैं उन्हें लिपि तथा व्याकरणके मूल तत्त्व सिखाता था। यह सरल काम था। विद्यार्थी जानते थे कि तमिल बातचीतमें तो वे मुझे आसानीसे हरा सकते थे और जब केवल तमिल जाननेवाले ही मुझसे मिलने आते, तब वे मेरे दुभाषिएका काम करते थे। मेरी गाड़ी चली, क्योंकि मैंने विद्यार्थियोंके सामने अपने अज्ञानको छिपानेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। हर बातमें जैसा मैं था वैसा ही वे मुझे जानने लगे थे। इसके कारण पुस्तक-ज्ञानकी भारी कमी रहते हुए भी मैं उनके प्रेम और आदरसे कभी वंचित न रहा। मुसलमान बालकोंको उर्दू सिखाना अपेक्षाकृत अधिक सरल था। वे लिपि जानते थे। मेरा काम उनमें वाचनकी रुचि बढ़ाने और उनके अक्षर सुधारनेका ही था।

मुख्यत: आश्रमके ये सब बालक निरक्षर थे और पाठशालामें कहीं पढ़े हुए न थे। मैंने सिखाते-सिखाते देखा कि मुझे उन्हें सिखाना तो कम ही है। ज्यादा काम तो उनका आलस्य छुड़ाने, उनमें स्वयं पढ़नेकी रुचि जगाने और उनकी पढ़ाई पर निगरानी रखनेका ही था। मुझे इतने कामसे सन्तोष रहता था। यही कारण है कि अलग-अलग उम्रके और अलग-अलग विषयोंवाले विद्यार्थियोंको एक ही कमरेमें बैठाकर मैं उनसे काम ले सकता था।

पाठ्य-पुस्तकोंकी जो पुकार जब-तब सुनाई पड़ती है, उसकी आवश्यकता मुझे कभी मालूम न हुई। मुझे याद नहीं पड़ता कि जो पुस्तकें हमारे पास थीं उनका भी बहुत उपयोग किया गया हो। हरएक बालकको बहुत-सी पुस्तकें दिलानेकी मैंने जरूरत नहीं देखी। मेरा ख्याल है कि शिक्षक ही विद्यार्थीकी पाठ्यपुस्तक है। शिक्षकोंने पुस्तकोंकी मददसे मुझे जो सिखाया था, वह मुझे बहुत ही कम याद रहा है। उन्होंने अपने मुँहसे जो सिखाया था, उसका स्मरण आज भी बना हुआ है।

बालक आँखोंसे जितना ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा कानोंसे सुनी हुई बातको वे थोड़े परिश्रमसे और बहुत अधिक मात्रामें ग्रहण कर सकते हैं। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैं बालकोंको एक भी पुस्तक पूरी पढ़ा पाया था। पर अनेकानेक पुस्तकोंमें से जितना कुछ मैं पचा पाया था उसे मैंने अपनी भाषामें उनके सामने रखा था। मैं मानता हूँ कि वह उन्हें आज भी याद होगा। पढ़ाया हुआ याद रखनेमें उन्हें कष्ट होता था, जब कि मेरी कही हुई बातको वे उसी समय मुझे फिर सुना देते थे।

पढ़नेमें उनका जी ऊबता था। जब मैं थकावटके कारण या अन्य किसी कारणसे सुस्त और रुखा न होता, तब वे मेरी बात रस-पूर्वक और ध्यान-पूर्वक सुनते थे। उनके पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देनेमें मुझे उनकी ग्रहण-शक्तिका अन्दाजा हो जाता था।

३४. आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनको शिक्षित करनेकी अपेक्षा आत्माको शिक्षित करनेमें मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। आत्माके विकासके लिए मैंने धर्मग्रन्थोंका बहुत कम सहारा लिया था। मैं मानता था कि विद्यार्थियोंको अपने-अपने धर्मके मूल तत्त्व जानने चाहिए, अपने-अपने धर्मग्रन्थोंका साधारण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए मैंने यथाशक्ति इस बातकी व्यवस्था की थी कि उन्हें यह ज्ञान मिल सके। किन्तु उसे मैं बुद्धिकी शिक्षाका अंग मानता हूँ। आत्माकी शिक्षा एक बिलकुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टॉल्स्टॉय आश्रमके बालकोंको सिखानेके पहले ही जान चुका था। आत्मा का विकास करनेका अर्थ है चरित्रका निर्माण करना, ईश्वरका ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञानको प्राप्त करनेमें बालकोंको बहुत ज्यादा मददकी जरूरत होती है, और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

मैंने सुना है कि लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे अर्थात् संन्यास आश्रममें प्राप्त होता है। लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तुको चौथे आश्रम तक स्थगित रखते हैं, वे आत्मज्ञान नहीं बल्कि बुढ़ापा और दयनीय बचपन पाकर पृथ्वीपर, भाररूप जीते हैं। इस प्रकारका अनुभव सर्वत्र पाया जाता है। सम्भव है कि सन् १९११-१२ में मैं इन विचारोंको इस भाषामें न रखता, पर मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस समय मेरे इसी प्रकारके विचार थे।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाये? मैं बालकोंसे भजन गवाता, उन्हें नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाता, किन्तु इससे मुझे सन्तोष न होता था। जैसे-जैसे मैं उनके सम्पर्कमें आता गया, मैंने यह अनुभव किया कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा तो दिया ही नहीं जा सकता। शरीरकी शिक्षा जिस प्रकार शारीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धिकी बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्माकी शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही दी जा सकती है। आत्माकी कसरत शिक्षकके आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव युवक हाजिर हों चाहे न हों, शिक्षकको सावधान रहना चाहिए।

लंकामें बैठा हुआ शिक्षक भी अपने आचरण द्वारा अपने शिष्योंकी आत्माको हिला सकता है। मैं स्वयं झूठ बोलूँ और अपने शिष्योंको सच्चा बनानेका प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्योंको वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयम किस प्रकार सिखायेगा? मैंने देखा कि मुझे अपने पास रहनेवाले युवकों और युवतियोंके सम्मुख एक पदार्थ-पाठ बनकर रहना चाहिए।

इस कारण मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बने। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए। अतएव कहा जा सकता है कि टॉल्स्टॉय आश्रमका मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियोंकी बदौलत था।

आश्रममें एक युवक बहुत ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसीसे दबता नहीं था और दूसरोंके साथ लड़ता-झगड़ता रहता था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। मैं विद्यार्थियोंको कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुँचा। समझानेपर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देनेका भी प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठाकर उसकी बाँहपर दे मारा। मारते समय मैं काँप रहा था। इसे उसने देख लिया होगा। मेरी ओरसे ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थीको इससे पहले नहीं हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी माँगी। उसे डंडा लगा और चोट पहुँची, वह इससे नहीं रोया था। अगर वह मेरा मुकाबला करना चाहता, तो मुझसे निबट सकनेकी शक्ति उसमें थी। उसकी उम्र कोई सतरह सालकी रही होगी। उसका शरीर सुगठित था। पर मेरे रूलमें उसे मेरे दुःखका दर्शन हो गया। इस घटनाके बाद उसने फिर कभी मेरा सामना नहीं किया। लेकिन उसे रूल मारनेका पछतावा मेरे दिलमें आजतक बना हुआ है। मुझे भय है कि उसे मारकर मैंने अपनी आत्मा का नहीं, बल्कि अपनी पशुताका ही दर्शन कराया था।

मैं हमेशा बालकोंको मारपीट कर पढ़ानेका विरोधी रहा हूँ। मुझे ऐसी यही एक घटना याद है कि जब मैंने अपने लड़कोंमें से एकको पीटा था। रूलसे पीटनेमें मैंने उचित कार्य किया या नहीं, इसका निर्णय मैं आजतक नहीं कर सका हूँ। इस दण्डके औचित्यके विषयमें मुझे शंका है, क्योंकि उसमें क्रोध भरा था और दण्ड देनेकी भावना थी। यदि उसमें केवल मेरे दुःखका ही प्रदर्शन होता, तो मैं उस दण्डको उचित समझता। पर उसमें विद्यमान भावना मिश्रित थी।

इस घटनाके बाद तो मैं विद्यार्थियोंको सुधारनेकी अधिक अच्छी रीति सीख गया। यदि इस कलाका उपयोग मैंने उक्त अवसरपर किया होता, तो उसका कैसा परिणाम होता, यह मैं कह नहीं सकता। वह युवक तो इस घटनाको तुरन्त भूल गया। मैं यह नही कह सकता कि उसमें बहुत सुधार हो गया, पर उस घटनाने मुझे इस बातके लिए अधिक सोचनेको विवश किया कि विद्यार्थीके प्रति शिक्षकका क्या धर्म है।

उसके बाद युवकों द्वारा ऐसे ही दोष हुए, लेकिन मैंने फिर कभी दण्डनीतिका उपयोग नहीं किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देनेके प्रयत्नमें मैं स्वयं आत्माके गुणको अधिक समझने लगा।

३५. भले-बुरेका मिश्रण

टॉल्स्टॉय आश्रममें श्री कैलेनबैकने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा किया। इससे पूर्व मैंने उसपर कभी विचार ही नहीं किया था। आश्रममें कुछ लड़के बहुत ऊधमी और दुष्ट स्वभावके थे। कुछ आवारा थे। मेरे तीन लड़के भी उन्हींके साथ रहते थे। उस तरह पले हुए दूसरे भी बालक थे। लेकिन श्री कैलेनबैकका ध्यान तो इस ओर ही था कि वे आवारा युवक और मेरे लड़के एक-साथ कैसे रह सकते हैं।

एक दिन वे बोले: "आपका यह तरीका मुझे जरा भी नहीं जँचता। इन लड़कोंके साथ आप अपने लड़कोंको रखें, तो उसका एक ही परिणाम आ सकता है और वह यह कि इन आवारा लड़कोंकी छूत उन्हें लगे। इससे वे बिगड़ेंगे नहीं तो और क्या होगा?"

मुझे इस समय यह तो याद नहीं है कि मैं क्षण-भर सोचमें पड़ा था या नहीं, पर अपना जवाब मुझे याद है। मैंने कहा था:

"अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंके बीच मैं भेद कैसे कर सकता हूँ? इस समय तो मैं दोनोंके लिए समान रूपसे जिम्मेदार हूँ। ये नौजवान मेरे बुलाये यहाँ आये हैं। यदि मैं इन्हें पैसे दे दूँ, तो ये आज ही जोहानिसबर्ग जाकर वहाँ पहलेकी तरह फिर रहने लग जायें। यदि ये और इनके माता-पिता यह मानते हों कि यहाँ आकर इन्होंने मुझपर मेहरबानी की है तो इसमें आश्चर्य नहीं। यहाँ आनेसे इन्हें कष्ट उठाना पड़ रहा है, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। पर मेरा धर्म स्पष्ट है। मुझे इन्हें यहीं रखना चाहिए। अतएव मेरे लड़के भी इनके साथ रहेंगे। इसके सिवा, क्या मैं आजसे अपने लड़कोंको यह भेदभाव सिखाऊँ कि वे दूसरे कुछ लड़कोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं? उनके दिमागमें इस प्रकारके विचारको ठूँसना ही उन्हें गलत रास्ते ले जाने-जैसा है। आजकी स्थितिमें रहनेसे वे ठीक गढ़े जायेंगे, अपने सारासारकी परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न मानें कि यदि मेरे लड़कोंमें सचमुच कोई गुण हैं, तो उलटे उन्हींकी छूत उनके साथियोंको लगेगी? कुछ भी हो, मुझे तो उन्हें यहीं रखना होगा। और यदि ऐसा करनेमें कोई खतरा हो भी, तो उसे उठाना होगा।"

श्री कैलेनबैकने सिर हिलाया।

यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रयोगका परिणाम बुरा निकला। मैं यह नहीं मानता कि उससे मेरे लड़कोंका कोई नुकसान हुआ। उलटे, मैं यह देख सका कि उन्हें लाभ हुआ है। उनमें बड़प्पनका कोई अंश रहा हो, तो वह पूरी तरह निकल गया। वे सबके साथ घुलना-मिलना सीखे। उनकी कसौटी हुई।

इस और ऐसे दूसरे अनुभवों परसे मेरा यह विचार बना है कि माता-पिताकी उचित देख-रेख हो, तो भले और बुरे लड़कोंके साथ रहने और पढ़नेसे भलोंकी कोई हानि नहीं होती।

इसका कोई निश्चय तो है ही नहीं कि अपने लड़कोंको तिजोरीमें बन्द रखनेसे वे शुद्ध रहते हैं और बाहर निकालनेसे भ्रष्ट हो जाते हैं। हाँ, यह सच है कि जहाँ

अनेक प्रकारके बालक और बालिकाएँ एक-साथ रहते और पढ़ते हैं, वहाँ माता-पिताकी और शिक्षकोंकी कसौटी होती है, उन्हें सावधान रहना पड़ता है।

३६. प्रायश्चित्तके रूपमें उपवास

बालकों और बालिकाओंके उचित पालन-पोषण और शिक्षणमें कितनी और कैसी कठिनाइयाँ आती हैं, मुझे इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और अभिभावकके नाते मुझे उनके हृदयमें प्रवेश करना था, उनके सुख-दुःखमें हाथ बँटाना था, उनके जीवनकी गुत्थियाँ सुलझानी थीं और उनकी उछलती जवानीकी तरंगोंको सीधे मार्गपर ले जाना था।

कुछ जेलवासियोंके रिहा होनेपर टॉल्स्टॉय आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। इनमें मुख्यतः फीनिक्सवासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फीनिक्स ले गया। फीनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई।

टॉल्स्टॉय आश्रममें बचे हुए आश्रमवासियोंको फीनिक्स छोड़कर मैं जोहानिसबर्ग गया। वहाँ कुछ ही दिन रहा था कि मेरे पास दो व्यक्तियोंके भयंकर पतनके समाचार पहुँचे। सत्याग्रहकी महान लड़ाईमें कहीं भी निष्फलता-जैसी दिखाई पड़ती, तो उससे मुझे कोई आघात न पहुँचता था। पर इस घटनाने मुझपर वज्र प्रहार किया। मैं तिलमिला उठा। उसी दिन मैंने फीनिक्सकी गाड़ी पकड़ी। श्री कैलेनबैकने मेरे साथ चलनेका आग्रह किया। वे मेरी करुणाजनक स्थितिको समझ चुके थे। मुझे अकेले जाने देनेकी उन्होंने साफ मनाही कर दी। पतनके समाचार मुझे उन्हींके द्वारा मिले थे।

रास्तेमें मैंने अपना धर्म समझ लिया, अथवा यों कहिए कि समझ लिया-सा मानकर मैंने अनुभव किया कि अपनी निगरानीमें रहनेवालोंके पतनके लिए अभिभावक अथवा शिक्षक न्यूनाधिक अंशमें जरूर जिम्मेदार हैं। इस घटनामें मुझे अपनी जिम्मेदारी स्पष्ट जान पड़ी। मेरी पत्नीने मुझे सावधान तो कर ही दिया था, किन्तु स्वभावसे विश्वासी होनेके कारण मैंने पत्नीकी चेतावनीपर ध्यान नहीं दिया। साथ ही, मुझे यह भी लगा कि इस पतनके लिए मैं प्रायश्चित्त करूँगा तभी ये पतित मेरा दुःख समझ सकेंगे और उससे उन्हें अपने दोषका भान होगा तथा उसकी गम्भीरताका कुछ अन्दाज बैठेगा। अतएव मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार महीनोंके एकाशनका व्रत लिया। श्री कैलेनबैकने मुझे रोकनेका प्रयत्न किया, पर वह निष्फल रहा। आखिर उन्होंने प्रायश्चित्तके औचित्यको माना, और खुदने भी मेरे साथ व्रत रखनेका आग्रह किया। मैं उनके निर्मल प्रेमको रोक न सका।

इस निश्चयके बाद मैं तुरन्त ही हल्का हो गया, शान्त हुआ, दोषियोंके प्रति मेरे मनमें क्रोध न रहा, उनके लिए मनमें करुणा ही बच रही। इस प्रकार ट्रेनमें ही मनको हलका करके मैं फीनिक्स पहुँचा। पूछताछ करके जो अधिक जानकारी लेनी थी, सो ले ली।

यद्यपि मेरे उपवाससे सबको कष्ट तो हुआ, लेकिन उसके कारण वातावरण शुद्ध बना। सबको पाप करनेकी भयंकरताका बोध हुआ और छात्र तथा छात्राओंके और मेरे बीचका सम्बन्ध अधिक दृढ़ और सरल बन गया।

इस घटनाके फलस्वरूप ही कुछ समय बाद मुझे चौदह उपवास करनेका अवसर आया। मेरा यह विश्वास है कि उसका परिणाम अपेक्षासे कहीं अधिक अच्छा निकला था।[1]

इस घटना परसे मैं यह सिद्ध नहीं करना चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए शिक्षकोंको सदा उपवासादि करने ही चाहिए। पर मैं मानता हूँ कि कुछ परिस्थितियोंमें इस प्रकारके प्रायश्चित्त-रूप उपवासकी गुंजाइश जरूर है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार चाहिए। जहाँ शिक्षक और शिष्यके बीच शुद्ध प्रेम-बन्धन नहीं है, जहाँ शिक्षकको अपने शिष्यके दोषसे सच्चा आघात नहीं पहुँचता, जहाँ शिष्यके मनमें शिक्षकके प्रति आदर नहीं है, वहाँ उपवास निरर्थक है और कदाचित् हानिकारक भी हो सकता है। ऐसे उपवास या एकाशनके विषयमें किसीको शंका चाहे हो, परन्तु इस विषयमें मुझे लेशमात्र भी शंका नहीं कि शिक्षक शिष्यके दोषोंके लिए कुछ अंशोंतक जरूर जिम्मेदार है।

सात उपवास और एकाशन हम दोनोंमें से किसीके लिए कष्टकर नहीं हुए। इस बीच मेरा कोई भी काम बन्द या मन्द नहीं रहा। इस समयमें मैं केवल फलाहारी ही रहा था। उन दिनोंतक मैं रामनामके चमत्कारको पूरी तरह नहीं समझा था। इस कारण दुःख सहन करनेकी शक्ति मुझमें कम थी। उपवासके दिनोंमें जैसे बने वैसे खूब पानी पीना चाहिए, इस बाह्य कलाकी मुझे जानकारी नहीं थी, इस कारण भी चौदह दिनोंके उपवास कष्टप्रद सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त, पहले उपवास सुख-शान्तिपूर्वक हो जानेके कारण चौदह दिनोंके उपवासके दौरान मैंने असावधानी की। पहलेके उपवासोंमें मैं रोज कूनेका कटिस्नान करता था। चौदह दिनोंके उपवासमें दो या तीन दिनके बाद मैंने कटिस्नान बन्द कर दिया। पानीका स्वाद अच्छा नहीं लगता था और पानी पीनेपर जी मचलाता था, इससे पानी बहुत ही कम पीता था। फलतः मेरा गला सूखने लगा, मैं क्षीण होने लगा और अन्तिम दिनोंमें तो मेरी आवाज बहुत धीमी हो गई थी। इतना होनेपर भी मैं लिखानेका आवश्यक काम करनेमें अन्तिम दिनतक समर्थ बना रहा, और रामायण इत्यादि अन्ततक सुनता रहा। कुछ आवश्यक प्रश्नोंके विषयमें सम्मति देनेका कार्य भी मैं कर लेता था।

३७. गोखलेसे मिलन

दक्षिण आफ्रिकाके बहुत-से स्मरण अब मुझे छोड़ने पड़ रहे हैं।

जब सन् १९१४ में सत्याग्रहकी लड़ाई समाप्त होनेपर मुझे गोखलेकी इच्छानुसार इंग्लैंड होते हुए हिन्दुस्तान पहुँचना था। इसलिए जुलाई महीनेमें कस्तूरबाई, कैलेनबैक और मैं — तीन व्यक्ति विलायतके लिए रवाना हुए।

१. देखिए खण्ड १२, पृष्ठ, ४००-१।

सत्याग्रहकी लड़ाईके दिनोंमें मैंने तीसरे दर्जेमें सफर करना शुरू किया था अतएव समुद्री यात्राके लिए भी तीसरे दर्जेका टिकट कटाया। किन्तु उस तीसरे दर्जेमें और हमारे यहाँके तीसरे दर्जेमें बहुत अन्तर है। यहाँपर सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती है। स्वच्छता तो रह ही कैसे सकती है? वहाँ तीसरे दर्जेमें स्थान काफी था और स्वच्छताकी भी अच्छी चिन्ता रखी जाती थी। कम्पनीने हमारे लिए और भी अधिक सुविधा कर दी थी। हमें कोई परेशानी न हो, इस हेतुसे एक पाखानेमें खास ताला डालकर उसकी कुंजी हमें सौंप दी गई थी; और चूँकि हम तीनों फलाहारी थे, इसलिए स्टीमरके खजांचीको आज्ञा दी गई थी कि वह हमारे लिए सूखे और ताजे फलोंका प्रबन्ध करे। साधारणतः तीसरे दर्जेके यात्रियोंको फल कम ही दिये जाते हैं; सूखा मेवा बिलकुल नहीं दिया जाता। इन सुविधाओंके कारण समुद्री यात्राके हमारे अठारह दिन बड़ी शान्तिसे बीते।

इस यात्राके अनेक संस्मरण उल्लेखनीय हैं। श्री कैलेनबैकको दूरबीनोंका अच्छा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रख ली थीं। इस सम्बन्धमें हमारे बीच रोज चर्चा होती थी। मैं उन्हें यह समझानेका प्रयत्न करता कि यह हमारे आदर्शके और जिस सादगीतक हम पहुँचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है। एक दिन इसको लेकर हमारे बीच तीखी कहा-सुनी हो गई। हम दोनों अपने केबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा, "हमारे बीच इस प्रकारके झगड़े हों, इससे अच्छा क्या यह न होगा कि हम इस दूरबीनको ही समुद्रमें फेंक दें, और फिर इसकी कोई चर्चा ही न करें?"

श्री कैलेनबैकने तुरन्त ही जवाब दिया, "हाँ, इस मनहूस चीजको फेंक ही दो।"

मैंने कहा, "तो मैं फेंकता हूँ।"

उन्होंने उतनी ही तत्परतासे उत्तर दिया, "मैं सचमुच ही कह रहा हूँ; बेशक इसे फेंक दो।"

मैंने दूरबीन फेंक दी। वह कोई सात पौंडकी थी। लेकिन उसकी कीमत जितनी दामोंमें थी उससे अधिक उसके प्रति रहे श्री कैलेनबैकके मोहमें थी। फिर भी उन्होंने इस सम्बन्धमें कभी दुःखका अनुभव नहीं किया।

उनके और मेरे बीच ऐसी कई बातें होती रहती थीं। उनमें से एक यह बात बानगीके रूपमें मैंने यहाँ दी है।

हम दोनोंके आपसी सम्बन्धसे हमें प्रतिदिन नया सीखनेको मिलता था, क्योंकि दोनों सत्यका ही अनुसरण करके चलनेका प्रयत्न करते थे। सत्यका अनुसरण करनेसे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शान्त हो जाते थे; शान्त न होते तो सत्य ही मिलता था। राग-द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल चाहे हो ले, वाचिक सत्यका पालन चाहे वह कर ले, किन्तु शुद्ध सत्य तो उसे मिल ही नहीं सकता। शुद्ध सत्यकी शोध करनेका अर्थ है, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना।

जब हमने यात्रा शुरू की थी, तब मुझे उपवास समाप्त किये बहुत समय नहीं बीता था। मुझमें पूरी शक्ति नहीं आई थी। स्टीमरमें रोज डेकपर चलनेका व्यायाम

करके मैं पर्याप्त खाने और खाये हुएको हजम करनेका प्रयत्न करता था। लेकिन इन दिनों मेरे पैरोंकी पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द रहने लगा। विलायत पहुँचनेके बाद भी मेरी पीड़ा कम न हुई, बल्कि बढ़ गई। विलायतमें डा० जीवराज मेहतासे पहचान हो गई थी। उन्हें अपने उपवास और पिंडलियोंकी पीड़ाका इतिहास सुनानेपर उन्होंने कहा, "यदि आप कुछ दिनके लिए पूरा आराम न करेंगे, तो सदाके लिए पैरोंके बेकार हो जानेका डर है।"

इसी समय मुझे पता चला कि लम्बे उपवास करनेवालेको जल्दी ही खोई हुई ताकत प्राप्त करने या बहुत खानेका लोभ कभी न करना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा उपवास छोड़नेमें अधिक सावधान रहना पड़ता है, और शायद उसमें संयम भी अधिक रखना पड़ता है।

मदीरामें हमें समाचार मिले कि महायुद्ध छिड़नेमें बहुत देर नहीं है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुँचते ही हमें लड़ाई छिड़ जानेके समाचार मिले और हमें रोक दिया गया। समुद्रमें जगह-जगह सुरंगें बिछा दी गई थीं। उनसे बचाकर हमें साउथेम्पटन पहुँचानेमें एक-दो दिनकी देर हो गई।

४ अगस्तको युद्ध घोषित किया गया था और हम ६ अगस्तको विलायत पहुँचे थे।

३८. लड़ाईमें हिस्सा

विलायत पहुँचनेपर पता चला कि गोखले तो पेरिसमें अटक गये हैं, पेरिसके साथ यातायातका सम्बन्ध टूट गया है और कहना मुश्किल है कि वे कबतक आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्यके कारण फ्रांस गये थे, परन्तु लड़ाईकी वजहसे वहाँ फँस गये। उनसे मिले बिना मुझे देश नहीं जाना था, और कोई कह नहीं सकता था कि वे कब आ सकेंगे।

इस बीच क्या किया जाये? लड़ाईके बारेमें मेरा धर्म क्या है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजानिया विलायतमें ही बैरिस्टरीका अभ्यास करते थे। अच्छेसे-अच्छे सत्याग्रहीके नाते सोराबजीको बैरिस्टरीकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए इंग्लैंड भेजा गया था। ख्याल यह था कि वहाँसे लौटनेपर वे दक्षिण आफ्रिकामें मेरी जगह काम करेंगे। उनका खर्च डा० प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनसे और उनके द्वारा डा० जीवराज मेहता इत्यादि जो लोग विलायतमें पढ़ रहे थे, उनसे मैंने विचार-विमर्श किया। विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक सभा बुलाई और उसके सामने मैंने अपने विचार रखे।

मुझे लगा कि विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको लड़ाईमें अपना हिस्सा अदा करना चाहिए। अंग्रेज विद्यार्थियोंने लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय घोषित किया था। हिन्दुस्तानियोंको भी इतना तो करना ही चाहिए था। इन दलीलोंके विरोधमें इस सभामें बहुत दलीलें दी गईं। यह कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी स्थितिके

बीच जमीन-आसमानका अन्तर है। एक गुलाम है, दूसरा मालिक। ऐसी स्थितिमें मालिकके संकटमें गुलाम स्वेच्छासे उसकी सहायता किस प्रकार कर सकता है? क्या गुलामीसे छुटकारा चाहनेवाले गुलामका धर्म यह नहीं है कि वह मालिकके संकटका उपयोग अपनी मुक्तिके लिए करे? पर उस समय यह तर्क मेरे गले कैसे उतरता? यद्यपि मैं दोनोंकी स्थितिके भेदको समझ पा रहा था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलामीकी नहीं लगती थी। मेरा तो यह ख्याल था कि अंग्रेजोंकी शासन-पद्धतिमें जो दोष है, उससे अधिक दोष है अंग्रेज अधिकारियोंमें। उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। यदि हम अंग्रेजोंके द्वारा और उनकी सहायतासे अपनी स्थिति सुधारना चाहते हैं, तो हमें उनके संकटके समय उनकी सहायता करके अपनी स्थिति सुधारनी चाहिए। उनकी शासन-पद्धति दोषपूर्ण होते हुए भी मुझे उस समय वह उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी, जितनी आज मालूम होती है। किन्तु जिस प्रकार आज उस पद्धतिपर से मेरा विश्वास उठ गया है और इस कारण मैं आज अंग्रेजी राज्यकी मदद नहीं करता, उसी प्रकार जिनका विश्वास शासन-पद्धतिपर से ही नहीं, बल्कि अंग्रेज अधिकारियोंपर से भी उठ चुका था, वे उस समय क्योंकर उनकी मदद करनेको तैयार होते?

उन्हें लगा कि यही अवसर है, जब जनताकी माँगको दृढ़ता-पूर्वक प्रकट करना चाहिए और शासन-पद्धतिमें सुधार करा लेनेका आग्रह रखना चाहिए।

मैंने अंग्रेजोंकी इस आपत्तिके समय अपनी माँगें पेश करना ठीक न समझा और लड़ाईके समय अधिकारोंकी माँगको मुलतवी रखनेके संयममें सभ्यता और दूर-दृष्टिका दर्शन किया। इसलिए मैं अपनी सलाहपर दृढ़ रहा, और मैंने लोगोंसे कहा कि जिन्हें स्वयंसेवकोंकी भरतीमें नाम लिखाने हों वे लिखायें।[१] काफी संख्यामें नाम लिखाये गये। उनमें लगभग सभी प्रान्तों और सभी धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

मैंने इस विषयमें लॉर्ड क्रू को पत्र लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी माँगको स्वीकार करनेके लिए घायल सैनिकोंकी सेवाकी तालीम लेना आवश्यक माना जाये, तो वैसी तालीम लेनेकी इच्छा और तैयारी प्रकट की।[२]

थोड़े विचार-विमर्शके बाद लॉर्ड क्रू ने हिन्दुस्तानियोंकी माँग स्वीकार कर ली, और संकटके समयमें साम्राज्यकी सहायता करनेको तैयारी दिखानेके लिए आभार प्रदर्शित किया।

नाम देनेवालोंने प्रसिद्ध डॉ० कैंटलीके[३] अधीन घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीमका श्रीगणेश किया। छः हफ्तोंका छोटा-सा प्रशिक्षण-क्रम था, पर उसमें घायलोंको प्राथमिक सहायता देनेकी सब क्रियाएँ सिखाई जाती थीं।

हम लगभग ८० व्यक्ति इस विशेष वर्गमें भरती हुए। छः हफ्तेके बाद परीक्षा ली गई, जिसमें एक ही व्यक्ति असफल हुआ। जो पास हो गये, उनके लिए अब

१. देखिए खण्ड १२, पृष्ठ ५१८।
२. देखिए खण्ड १२, पृष्ठ ५१९।
३. रेडक्रॉसके एक अधिकारी।

सरकारकी ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबन्ध किया गया। कवायद सिखानेका काम कर्नल बेकरको सौंपा गया और वे इस टुकड़ीके सरदार नियुक्त किये गये।

उन दिनों विलायतका दृश्य देखने योग्य था। लोग घबराये नहीं थे, बल्कि सब लड़ाईमें यथाशक्ति सहायता करनेमें जुट गये थे। शक्ति-शाली नवयुवक तो लड़ाईकी ट्रेनिंग लेने लगे, पर कमजोर; बूढ़े और स्त्रियाँ आदि क्या करें? चाहनेपर उनके लिए भी काम तो था ही। वे लड़ाईमें घायल हुए लोगोंके लिए कपड़े वगैरा सीने-काटनेमें जुट गये।

वहाँ स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक क्लब है। इस क्लबकी सदस्याओंने युद्ध-विभागके लिए आवश्यक कपड़ोंमें से जितने कपड़े बनाये जा सकें उतने बनानेका बोझ अपने ऊपर लिया। सरोजिनीदेवी उसकी सदस्या थीं। उन्होंने इस काममें पूरा हिस्सा लिया। मेरे साथ उनका यह पहला ही परिचय था। उन्होंने मेरे सामने ब्योंते हुए कपड़ोंका ढेर लगा दिया और कहा कि जितने सिल सकें उतने सी-सिलाकर उनके हवाले कर दिये जायें। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत किया और घायलोंकी सेवा प्रशिक्षणकालमें जितने कपड़े तैयार हो सके उतने तैयार करवा कर उन्हें दे दिये।

३९. धर्मकी समस्या

ज्यों ही यह खबर दक्षिण आफ्रिका पहुँची कि हममें से कुछने इकट्ठा होकर युद्धमें काम करनेके लिए अपने नाम सरकारके पास भेजे हैं, त्यों ही मेरे नाम वहाँ से दो तार आये। उनमें एक पोलकका था। उसमें पूछा गया था: "क्या आपका यह कार्य अहिंसाके आपके सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है?"[१]

मेरे लिए ऐसा तार बिलकुल ही अप्रत्याशित नहीं था। क्योंकि 'हिन्द स्वराज्य'[२] में मैंने इस विषयकी चर्चा की थी और दक्षिण आफ्रिकामें मित्रोंके साथ तो इसकी चर्चा निरन्तर होती ही रहती थी। युद्धकी अनीतिको हम सब स्वीकार करते थे। जब मैं अपने पर हमला करनेवाले पर मुकदमा चलानेको तैयार न था, तो दो राज्योंके बीच छिड़ी हुई लड़ाईमें, जिसके गुण-दोषका मुझे पता न था, मैं किस प्रकार सम्मिलित हो सकता था? यद्यपि मित्र जानते थे कि मैंने बोअर-युद्धमें हाथ बँटाया था, फिर भी उन्होंने मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारोंमें परिवर्तन हुआ होगा।

असलमें जिस विचारधाराको मानकर मैं बोअर-युद्धमें सम्मिलित हुआ था, इस बार भी मैंने उसीके अनुसार आचरण किया था। मैं इस बातको भली-भाँति समझता था कि युद्धमें सम्मिलित होनेका अहिंसाके साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। किन्तु कर्त्तव्यका बोध हमेशा दीपककी भाँति स्पष्ट नहीं होता। सत्यके पुजारीको बहुत बार ठोकरें खानी पड़ती हैं।

१. गांधीजीने मगनलाल गांधी और प्रागजी देसाईको अपने लन्दनसे लिखे गये पत्रोंमें युद्धके प्रति अपना दृष्टिकोण समझाया था; देखिए खण्ड १२, पृष्ठ ५२३ और ५४५-४७।

२. देखिए खण्ड १०, पृष्ठ ७-६९।

अहिंसा व्यापक वस्तु है। हम हिंसाकी होलीके बीच घिरे हुए पामर प्राणी हैं। यह वाक्य गलत नहीं है कि 'जीव जीवपर जीता है।' मनुष्य एक क्षणके लिए भी बाह्य हिंसाके बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते सभी क्रियाओंमें इच्छा-अनिच्छासे वह कुछ-न-कुछ हिंसा तो करता ही रहता है। यदि इस हिंसासे छूटनेके लिए वह पूरा प्रयत्न करता है, उसकी भावनामें अनुकम्पा ही होती है; यदि वह सूक्ष्मसे-सूक्ष्म जन्तुका भी नाश नहीं चाहता और यथाशक्ति उसे बचानेका प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसाका पुजारी है। उसके कार्योंमें निरन्तर संयमकी वृद्धि होगी; उसमें निरन्तर करुणा बढ़ती रहेगी। किन्तु कोई देहधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर, अहिंसाकी तहमें ही अद्वैत-भावना निहित है। और यदि प्राणिमात्रमें अभेद है, तो एकके पापका प्रभाव दूसरेपर पड़ता है, इस कारण भी मनुष्य हिंसासे बिलकुल अछूता नहीं रह सकता। समाजमें रहनेवाला मनुष्य समाजकी हिंसामें, अनिच्छासे ही क्यों न हो, साझेदार बनता है। दो राष्ट्रोंके बीच युद्ध छिड़नेपर अहिंसामें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिका धर्म है कि वह उस युद्धको रोके। जो इस धर्मका पालन न कर सके, जिसमें विरोध करनेकी शक्ति न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्ध-कार्यमें सम्मिलित हो; और सम्मिलित होकर भी उसमें से अपनेको, अपने देशको और सारे संसारको उबारनेका हार्दिक प्रयत्न करे।

मुझे अंग्रेजी राज्यके द्वारा अपनी अर्थात् अपने राष्ट्रकी स्थिति सुधारनी थी। मैं विलायतमें बैठा हुआ अंग्रेजोंके जंगी बेड़ेसे सुरक्षित था। उस बलका इस प्रकार लाभ उठाकर मैं उसम विद्यमान हिंसामें प्रत्यक्ष साझेदार बनता था। अतएव यदि आखिरकार मुझे उस राज्यके साथ व्यवहार बनाये रखना हो, उस राज्यके झंडेके नीचे रहना हो, तो या तो मुझे प्रकट रूपसे युद्धका विरोध करके सत्याग्रहके शास्त्रके अनुसार उसका उस समयतक बहिष्कार करना चाहिए, जब तक उस राज्यकी युद्ध-नीतिमें परिवर्तन न हो; अथवा उसके जो कानून भंग करने योग्य हों उनको सविनय भंग कर जेलकी राह पकड़नी चाहिए; अथवा उसके युद्धकार्यमें सम्मिलित होकर उसका मुकाबला करनेकी शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुझमें ऐसी शक्ति नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्धमें सम्मिलित होनेका ही मार्ग बचा था।

मैंने बन्दूकधारी और उसकी मदद करनेवालेमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं माना। जो मनुष्य लुटेरोंकी टोलीमें उनकी आवश्यक सेवा करने, उनका बोझ ढोने, लूटके समय पहरा देने तथा घायल होनेपर उनकी सेवा करनेमें सम्मिलित होता है, वह लूटके सम्बन्धमें लुटेरोंके समान ही जिम्मेदार है। इसतरह सोचनेपर फौजमें केवल घायलोंकी ही सार-सँभाल करनेके काममें लगा हुआ व्यक्ति भी युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं हो सकता।

पोलकका तार मिलनेसे पहले ही मैंने यह सब सोच लिया था। उनका तार मिलनेपर मैंने कुछ मित्रोंसे उसकी चर्चा की। युद्धमें सम्मिलित होना मैंने धर्म

माना; और आज भी इस प्रश्नपर सोचता हूँ, तो मुझे उपर्युक्त विचारधारामें कोई दोष नजर नहीं आता। ब्रिटिश साम्राज्यके विषयमें उस समय मेरे जो विचार थे, उनके अनुसार मैंने युद्धकार्यमें हिस्सा लिया था। अतएव मुझे उसका पश्चात्ताप भी नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने उपर्युक्त विचारोंका औचित्य मैं उस समय भी सब मित्रोंके सामने सिद्ध नहीं कर सका था। प्रश्न सूक्ष्म है। उसमें मतभेदकी गुंजाइश है। इसीलिए अहिंसा-धर्मके माननेवालों और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सम्मुख यथासम्भव स्पष्टतासे मैंने अपनी राय प्रकट की है। सत्यका आग्रही रूढ़िसे चिपटकर ही कोई काम न करे। वह अपने विचारोंपर हठपूर्वक डटा न रहे, हमेशा यह मानकर चले कि उनमें दोष हो सकता है, और जब दोषका ज्ञान हो जाये, तब भारीसे-भारी जोखिमोंको उठाकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी करे।

४०. छोटा-सा सत्याग्रह

इस प्रकार धर्म समझकर मैं युद्धमें सम्मिलित तो हुआ। पर मेरे नसीबमें उसमें सीधे हाथ बँटाना नहीं आया, इतना ही नहीं बल्कि ऐसे नाजुक समयमें सत्याग्रह करनेकी भी नौबत आ गई।

मैं लिख चुका हूँ कि जब हमारे नाम मंजूर हुए और रजिस्टरमें दर्ज किये गये, तो हमें पूरी कवायद सिखानेके लिए एक अधिकारी[1] नियुक्त किया गया। हम सबका ख्याल यह था कि ये अधिकारी युद्धकी तालीम देनेके लिए हमारे मुखिया थे, बाकी सब मामलोंमें दलका मुखिया मैं था। मैं अपने साथियोंके प्रति जिम्मेदार था और साथी मेरे प्रति; अर्थात् हमारा ख्याल यह था कि अधिकारीको सारा काम मेरे द्वारा लेना चाहिए। पर पूतके पाँव पालनेमें नजर आते हैं; पहले ही दिनसे हमें उस अधिकारीकी दृष्टि कुछ और ही मालूम हुई।

सोराबजी बड़े होशियार थे। उन्होंने मुझे सावधान किया: "भाई, ध्यान रखिए। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सज्जन यहाँ अपनी जहाँगीरी चलाना चाहते हैं। हमें उनके हुक्मकी जरूरत नहीं। हम उन्हें शिक्षक मानते हैं। पर मैं तो देखता हूँ कि ये जो नौजवान आये हैं, वे मानो हमपर हुक्म चलाने आये हैं।"

ये नौजवान आक्सफोर्डके विद्यार्थी थे और हमें सिखानेके लिए आये थे। बड़े अधिकारीने उन्हें हमारे नायब-अधिकारीके रूपमें नियुक्त कर दिया था।

मैं भी सोराबजीकी कही बात देख चुका था। मैंने सोराबजीको सान्त्वना दी और निश्चिन्त रहनेको कहा। पर सोराबजी एकाएक माननेवाले आदमी नहीं थे।

उन्होंने हँसते हुए कहा, "आप भोले हैं। ये लोग मीठी-मीठी बातें करके आपको ठगेंगे और फिर जब आपकी आँख खुलेगी तब आप कहेंगे: "चलो, सत्याग्रह करें। और फिर आप हमें मुसीबतमें डालेंगे।"

१. कर्नल आर० जे० बेकर।

मैंने जवाब दिया, "मेरा साथ करके सिवा मुसीबतके आपने किसी दिन और कुछ अनुभव भी किया है? और, सत्याग्रही तो ठगे जानेको ही जन्म लेता है न? अतएव भले ही ये साहब मुझे ठगें, क्या मैंने आपसे हजारों बार यह नहीं कहा है कि अन्तमें तो ठगनेवाला ही ठगा जाता है?"

सोराबजी खिलखिलाकर हँस पड़े: "अच्छी बात है, तो ठगाते रहिए। किसी दिन सत्याग्रहमें आप भी मरेंगे और अपने पीछे हम जैसोंको भी ले डूबेंगे।"

इन शब्दोंका स्मरण करते हुए मुझे स्व० कु० हॉब-हाउसके वे शब्द याद आ रहे हैं, जो असहयोग आन्दोलनके अवसरपर उन्होंने मुझे लिखे थे: "सत्यके लिए किसी दिन आपको फाँसीपर चढ़ना पड़े, तो मुझे आश्चर्य न होगा। ईश्वर आपको सीधे ही रास्ते ले जाये और आपकी रक्षा करे!"

सोराबजीके साथ ऊपरकी यह चर्चा तो उक्त अधिकारीके पदारूढ़ होनेके बादके आरम्भिक समयमें हुई थी। आरम्भ और अन्तके बीचका अन्तर कुछ ही दिनोंका था। किन्तु इसी अर्सेमें मेरी पसलियोंमें सख्त सूजन आ गई। चौदह दिनके उपवासके बाद मेरा शरीर पूरी तरह सँभल नहीं पाया था, पर कवायदमें मैं पूरी तरह हिस्सा लेने लगा था और प्रायः घरसे कवायदकी जगह तक पैदल जाता था। यह फासला दो मीलका तो जरूर था, और इसी सिलसिलेमें आखिर मुझे खटिया कपड़ लेनी पड़ी। अपनी इस स्थितिमें मुझे कैम्पमें जाना होता था। दूसरे लोग वहाँ रह जाते और मैं शामको वापस घर लौट आता। सत्याग्रहका प्रसंग यहाँ खड़ा हो गया।

अधिकारीने अपना अधिकार चलाना शुरू किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे सब मामलोंमें हमारे मुखिया हैं। अपनी मुख्तारीके दो-चार पदार्थ-पाठ भी उन्होंने हमें पढ़ा दिये। सोराबजी मेरे पास पहुँचे। वे इस जहाँगीरीको बरदाश्त करनेके लिए तैयार न थे। उन्होंने कहा: "हमें सब हुक्म आपके द्वारा ही मिलने चाहिए। अभी तो हम लोग शिक्षण-शिविरमें हैं, और हर मामलेमें बेहूदे हुक्म निकलते रहते हैं। उन नौजवानोंमें और हममें अनेक बातोंमें भेद बरता जा रहा है। यह सब सह्य नहीं है। इसकी सफाई तुरन्त होनी ही चाहिए, नहीं तो हमारा काम चौपट हो जायेगा। ये सब विद्यार्थी और दूसरे लोग, जो इस काममें सम्मिलित हुए हैं, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त करनेके लिए तैयार नहीं हैं। आत्म-सम्मानकी वृद्धिके लिए उठाये हुए काममें अपमान ही सहन करना पड़े, यह नहीं हो सकता।"

मैं अधिकारीके पास गया। अपने पास आई हुई सब शिकायतें मैंने उन्हें सुनाईं। उन्होंने सब शिकायतें एक पत्र द्वारा लिखित रूपमें देनेको कहा और साथ ही अपने अधिकारकी बात कही। उन्होंने कहा, "शिकायत आपके द्वारा नहीं होनी चाहिए। शिकायत तो नायब-अधिकारियों द्वारा सीधी मेरे पास आनी चाहिए।"

मैंने जवाबमें कहा, "मुझे अधिकार भोगनेकी लालसा नहीं है। सैनिक दृष्टिसे तो मैं साधारण सिपाही कहा जाऊँगा, पर हमारी टुकड़ीके मुखियाके नाते आपको मुझे उसका प्रतिनिधि मानना चाहिए।" मैंने अपने पास आई हुई शिकायतें भी

बताई: "नायब-अधिकारी हमारी टुकड़ीसे पूछे बिना नियुक्त किये गये हैं, और उनके विषयमें बड़ा असन्तोष फैला हुआ है। अतएव वे हटा दिये जायें और टुकड़ीको अपने नायब-अधिकारी चुननेका अधिकार दिया जाये।"

यह बात उनके गले नहीं उतरी। उन्होंने मुझे बताया कि इन नायब-अधिकारियोंको टुकड़ी चुने, यह बात ही सैनिक नियमके विरुद्ध है; और यदि वे हटा दिये जायें, तो अनुशासनका नाम-निशान भी न रह जाये।

हमने सभा की। सत्याग्रहके गम्भीर परिणाम कह सुनाये। लगभग सभीने सत्याग्रहकी शपथ ली। हमारी सभाने यह प्रस्ताव पास किया कि यदि वर्तमान नायब अधिकारी हटाये न जायें और दलको नये अधिकारी न चुनने दिये जायें, तो हमारी टुकड़ी कवायद और कैम्पमें जाना बन्द कर देगी।

मैंने अधिकारीको एक पत्र लिखकर अपना तीव्र असन्तोष व्यक्त किया और बताया कि मुझे अधिकार नहीं भोगना है, मुझे तो सेवा करनी है, और यह काम सांगोपांग पूरा करना है। मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि बोअर-युद्धमें मैंने कोई अधिकार नहीं लिया था; फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ीके बीच कभी किसी तकरारकी नौबत नहीं आई थी; और वे अधिकारी मेरी टुकड़ीकी इच्छा मेरे द्वारा जानकर ही सारी बातें करते थे; अपने पत्रके साथ मैंने हमारी टुकड़ी द्वारा स्वीकृत एक प्रस्तावकी नकल भेजी।

अधिकारीपर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उन्हें तो लगा कि हमारी टुकड़ीने सभा करके प्रस्ताव पास किया, यही सैनिक नियमका गम्भीर भंग था।

इसके बाद मैंने भारत-मन्त्रीको एक पत्र लिखकर वस्तुस्थिति बताई और साथ ही हमारी सभाका प्रस्ताव भेजा। भारत-मन्त्रीने मुझे जवाबमें सूचित किया कि दक्षिण आफ्रिकाकी स्थिति भिन्न थी। यहाँ तो टुकड़ीके बड़े अधिकारीको नायब-अधिकारी चुननेका हक है, फिर भी भविष्यमें वह अधिकारी आपकी सिफारिशोंका ध्यान रखेगा।

इसके बाद तो हमारे बीच बहुत पत्र-व्यवहार[1] हुआ, पर वे सारे कटु अनुभव देकर मैं इस प्रकरणको बढ़ाना नहीं चाहता। पर इतना कहे बिना तो रहा ही नहीं जा सकता कि ये अनुभव वैसे ही थे जैसे हमें रोज हिन्दुस्तानमें होते रहते हैं। अधिकारीने धमकीसे, युक्तिसे, हममें फूट डाली। कुछ लोग शपथ ले चुकनेपर भी छल अथवा बलके वशमें आ गये।

इतनेमें नेटली अस्पतालमें अप्रत्याशित संख्यामें घायल सिपाही आ पहुँचे और उनकी सेवा-शुश्रूषाके लिए हमारी समूची टुकड़ीकी आवश्यकता पड़ी। अधिकारी जिन्हें खींच पाये थे, वे तो नेटली पहुँच गये। पर दूसरे नहीं गये, यह इंडिया आफिसको अच्छा न लगा। मैं तो बिछौनेपर पड़ा था। पर टुकड़ीके लोगोंसे मिलता रहता था। श्री राबर्ट्ससे मेरी अच्छी जान-पहचान हो गई थी। वे मुझसे मिलने आये और बाकीके लोगोंको भी भेजनेका आग्रह किया। उनका सुझाव था कि वे अलग

१. देखिए खण्ड १२, पृष्ठ ५२८-५३

टुकड़ीके रूपमें जायें। नेटली अस्पतालमें तो टुकड़ीको वहाँके मुखियाके अधीन रहना होगा, इसलिए उसकी मानहानि नहीं होगी। सरकारको उनके जानेसे सन्तोष होगा और भारी संख्यामें आये हुए घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा होगी। मेरे साथियोंको और मुझे यह सलाह पसन्द आई और बचे हुए विद्यार्थी भी नेटली ही गये।

अकेला मैं ही बिछौनेपर हाथ मलता पड़ा रहा।

४१. गोखलेकी उदारता

विलायतमें मुझे पसलीकी सूजनकी जो शिकायत हुई थी, उसकी बात मैं कर चुका हूँ। इस बीमारीके समय गोखले विलायत आ चुके थे। उनके पास मैं और कैलेनबैक हमेशा जाया करते थे। अधिकतर लड़ाईकी ही चर्चा होती थी। कैलेनबैकको जर्मनीका भूगोल कण्ठाग्र था और उन्होंने यूरोपकी यात्रा भी खूब की थी। इससे वे गोखलेको नक्शा खींचकर लड़ाईके मुख्य स्थान बताया करते थे।

जब मैं बीमार पड़ा, तो मेरी बीमारीकी भी चर्चाका एक विषय बन गई। आहारके मेरे प्रयोग तो चल ही रहे थे। उस समयका मेरा आहार मूँगफली, कच्चे और पके केले, नींबू, जैतूनका तेल, टमाटर और अंगूर आदि था। दूध, अनाज, दाल आदि मैं बिलकुल न लेता था।

डा० जीवराज मेहता मेरी सार-सँभाल करते थे। उन्होंने दूध और अन्न लेनेका बहुत आग्रह किया। शिकायत गोखलेतक पहुँची। फलाहारकी मेरी दलीलके बारेमें उन्हें बहुत आदर न था; उनका आग्रह यह था कि आरोग्यकी रक्षाके लिए डाक्टर जो कहें, सो लेना चाहिए।

गोखलेके आग्रहको ठुकराना मेरे लिए बहुत ही कठिन था। जब उन्होंने खूब आग्रह किया, तो मैंने विचारके लिए चौबीस घंटोंका समय माँगा। कैलेनबैक और मैं दोनों घर आये। मार्गमें अपने धर्मके विषयमें मैंने उनसे चर्चा की। मेरे प्रयोगमें वे साथ थे। उन्हें प्रयोग अच्छा लगता था। पर अपनी तबीयतके लिए मैं उसे छोड़ूँ तो ठीक हो, ऐसी उनकी भी भावना मुझे मालूम हुई। इसलिए अब मुझे स्वयं ही अन्तर्नादकी टोह लेनी थी।

सारी रात मैंने सोच-विचारमें बिताई। यदि समूचे प्रयोगको छोड़ देता, तो मेरे किये हुए समस्त विचार मिट्टीमें मिल जाते। उन विचारोंमें मुझे कहीं भी भूल नहीं दिखाई देती थी। प्रश्न यह था कि कहाँ तक गोखलेके प्रेमका बन्धन मानना मेरा धर्म था, अथवा किस हदतक शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोगोंको छोड़ना ठीक था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि इन प्रयोगोंमें से जो प्रयोग केवल धर्मकी दृष्टिसे चल रहा है, उसपर दृढ़ रहकर दूसरे सब मामलोंमें डाक्टरके कहे अनुसार चलना चाहिए। दूधके त्यागमें धर्म-भावनाका स्थान मुख्य था। कलकत्तेमें गाय-भैंसोंपर होने-वाली क्रूर क्रियाएँ मेरे सामने मूर्तिमन्त थीं। मांसकी तरह पशुका दूध भी मनुष्यका आहार नहीं है, यह बात भी मेरे सामने थी। इसलिए दूधके त्यागपर डटे रहनेका

निश्चय करके मैं सवेरे उठा। इतने निश्चयसे मेरा मन बहुत हलका हो गया। गोखलेका डर था, पर मुझे यह विश्वास था कि वे मेरे निश्चयका आदर करेंगे।

शामको नेशनल लिबरल क्लबमें हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरन्त ही प्रश्न किया: "क्यों डाक्टरका कहना माननेका निश्चय कर लिया न?"

मैंने धीरजसे जवाब दिया: "मैं सब कुछ करूँगा, किन्तु आप एक चीजका आग्रह न कीजिए। मैं दूध और दूधके पदार्थ अथवा मांस नहीं लूँगा। उन्हें न लेनेसे देहपात होता हो, तो वैसा होने देनेमें मुझे धर्म मालूम होता है।"

गोखलेने पूछा, "यह आपका अन्तिम निर्णय है?"

मैंने जवाब दिया, "मेरा खयाल है कि मैं दूसरा जवाब नहीं दे सकता। मैं जानता हूँ कि इससे आपको दुःख होगा, पर मुझे क्षमा कीजिए।"

गोखलेने कुछ दुःखसे परन्तु अत्यन्त प्रेमसे कहा: "आपका निश्चय मुझे पसन्द नहीं है। इसमें मैं धर्म नहीं देखता। पर अब मैं आग्रह नहीं करूँगा।" यह कहकर वे डॉ० जीवराज मेहताकी ओर मुड़े और उनसे बोले, "अब गांधीको तंग मत कीजिए। उनकी बताई हुई मर्यादामें उन्हें जो दिया जा सके, दीजिए।"

डाक्टरने अप्रसन्नता प्रकट की, लेकिन वे लाचार हो गये। उन्होंने मुझे मूँगका पानी लेनेको सलाह दी, और उसमें हींगका बघार देनेको कहा। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। एक-दो दिन वह खुराक ली। उससे मेरी तकलीफ बढ़ गई। मुझे वह मुआफिक नहीं आई। अतएव मैं फिर फलाहार पर आ गया। डाक्टरने बाहरी उपचार तो किये ही। उससे थोड़ा आराम मिलता था। पर मेरी मर्यादाओंसे वे बहुत ही परेशान थे।

इस बीच लन्दनका अक्तूबर-नवम्बरका कुहरा सहन न कर सकनेके कारण गोखले हिन्दुस्तान जानेको रवाना हो गये।

४२. दर्दके लिए क्या किया?

पसलीका दर्द मिट नहीं रहा था, इससे मैं घबराया। मैं इतना जानता था कि औषधोपचारसे नहीं, बल्कि आहारके परिवर्तनसे और थोड़े बाहरी उपचारसे दर्द जाना ही चाहिए।

सन् १८९० में मैं डाक्टर एलिन्सनसे मिला था। वे अन्नाहारी थे और आहारके परिवर्तन द्वारा बीमारियोंका इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलाया। वे आये। उन्हें शरीर दिखाया और दूधके बारेमें अपनी आपत्तिकी बात उनसे कही। उन्होंने मुझे तुरन्त आश्वस्त किया और कहा: "दूधकी कोई आवश्यकता नहीं है। और मुझे तो तुम्हें कुछ दिनों बिना किसी चिकनाईके ही रखना है।" यों कहकर पहले तो मुझे सिर्फ रूखी रोटी और कच्चे साग तथा फल खानेकी सलाह दी। कच्ची तरकारियोंमें मूली, प्याज और इसी तरहके दूसरे कन्द तथा हरी तरकारियाँ और फलोंमें मुख्यत: नारंगी लेनेको कहा। इन तरकारियोंको कद्दूकस पर कसकर या चटनीकी शक्लमें पीसकर खाना था।

मैंने इस तरह तीन दिन काम चलाया। पर कच्चे साग मुझे बहुत अनुकूल नहीं आये। मेरा शरीर इस योग्य नहीं था कि इस प्रयोगकी पूरी परीक्षा कर सकूँ, और न वैसी मुझमें श्रद्धा थी।

इसके अतिरिक्त, उन्होंने चौबीसों घंटे खिड़कियाँ खुली रखने, रोज कुनकुने पानीसे नहाने, दर्दवाले हिस्से पर तेलकी मालिश करने और पावसे लेकर आधे घंटे तक खुली हवामें घूमनेकी सलाह दी। यह सब मुझे अच्छा लगा।

घरमें फ्रांसीसी ढंगकी खिड़कियाँ थीं। उन्हें पूरा खोल देने पर बरसातका पानी अन्दर आता था। ऊपरका रोशनदान खुलने लायक नहीं था। अतएव उसका पूरा शीशा तुड़वाकर उससे चौबीसों घंटे हवा आनेका सुभीता कर लिया। फ्रांसीसी खिड़कियाँ मैं इतनी खुली रखता था कि पानीकी बौछार अन्दर न आये।

यह सब करनेसे तबीयत कुछ सुधरी। बिलकुल अच्छी तो नहीं ही हुई।

कभी-कभी लेडी सिसिलिया रॉबर्ट्स मुझे देखने आती थीं। उनसे अच्छी जान-पहचान थी। उनकी मुझे दूध पिलानेकी प्रबल इच्छा थी। दूध मैं लेता न था। इसलिए उन्होंने दूधके गुणवाले पदार्थोंकी खोज शुरू की। उनके किसी मित्रने उन्हें 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजानमें कह दिया कि इसमें दूधका स्पर्श तक नहीं होता, यह तो रासायनिक प्रयोगसे तैयार किया हुआ दूधके गुणवाला चूर्ण है। मैं जान चुका था कि लेडी रॉबर्ट्सको मेरी धर्म-भावनाके प्रति बड़ा आदर था। अतएव मैंने उस चूर्णको पानीमें मिलाकर पिया। मुझे उसमें दूधके समान ही स्वाद आया। मैंने 'पानी पीकर जात पूछने' जैसा काम किया। बोतल पर लगे परचेको पढ़नेसे पता चला कि यह तो दूधका ही पदार्थ है। अतएव एक ही बार पीनेके बाद उसे छोड़ देना पड़ा।

लेडी रॉबर्ट्सको खबर भेजी और लिखा कि वे तनिक भी चिन्ता न करें। वे तुरन्त मेरे घर आईं। उन्होंने खेद प्रकट किया। उनके मित्रने बोतल पर चिपका कागज पढ़ा नहीं था। मैंने इस भली बहनको आश्वासन दिया और इस बातके लिए उनसे माफी माँगी कि उनके द्वारा कष्टपूर्वक प्राप्त की हुई वस्तुका मैं उपयोग न कर सका। मैंने उन्हें यह भी जता दिया कि जो चूर्ण अनजानमें ले लिया है उसका मुझे कोई पछतावा नहीं है, न उसके लिए प्रायश्चित्तकी ही आवश्यकता है।

लेडी रॉबर्ट्सके साथके जो दूसरे मधुर स्मरण हैं उन्हें मैं छोड़ देना चाहता हूँ। ऐसे कई मित्रोंका मुझे स्मरण है, जिनका अनेक विपत्तियों और विरोधोंमें मुझे महान् आश्रय मिला है। ऐसे मीठे स्मरणों द्वारा श्रद्धालु यह अनुभव करता है कि ईश्वर दुःखरूपी कड़वी दवाएँ देता है, तो उसके साथ ही मैत्रीके मीठे अनुपान भी अवश्य देता है।

डा० एलिन्सन जब दूसरी बार मुझे देखने आये, तो उन्होंने अधिक स्वतन्त्रता दी और चिकनाईके लिए सूखे मेवेका अर्थात् मूँगफली आदिकी गिरीका मक्खन अथवा जैतूनका तेल लेनेको कहा। कच्चे साग अच्छे न लगें, तो उन्हें पकाकर भातके साथ खानेको कहा। यह सुधार मुझे अधिक अनुकूल पड़ा। पर पीड़ा पूरी तरह नष्ट न हुई। सावधानीकी आवश्यकता तो थी ही। मैं खटिया न छोड़ सका।

डॉ० मेहता समय-समय पर आकर मुझे देख तो जाते ही थे। "मेरा इलाज करें, तो अभी अच्छा कर दूं।" यह वाक्य तो हमेशा उनकी जबान पर रहता ही था।

इस तरह दिन बीत रहे थे कि इतनेमें एक दिन श्री रॉबर्ट्स आ पहुँचे और उन्होंने मुझसे देश जानेका आग्रह किया: "इस हालतमें आप नेटली कभी न जा सकेंगे। कड़ी सरदी तो अभी आगे पड़ेगी। मेरा आपसे विशेष आग्रह है कि अब आप देश जाइए और वहाँ स्वास्थ्य-लाभ कीजिए। तब तक लड़ाई चलती रही, तो सहायता करनेके बहुतेरे अवसर आपको मिलेंगे ही। वर्ना आपने यहाँ जो-कुछ किया है, उसे मैं कम नहीं मानता।"

मैंने यह सलाह मान ली और देश जानेकी तैयारी की।

४३. रवानगी

श्री कैलेनबैक हिन्दुस्तान जानेके निश्चयसे हमारे साथ निकले थे। विलायतमें हम साथ ही रहते थे। पर लड़ाईके कारण जर्मनों पर कड़ी नजर रखी जाती थी, इससे कैलेनबैकके साथ आ सकनेके विषयमें हम सबको सन्देह था। उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करनेका मैंने बहुत प्रयत्न किया। श्री रॉबर्ट्स स्वयं उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करा देनेको तैयार थे। उन्होंने सारी हकीकतका तार वाइसरायके नाम भेजा, पर लॉर्ड हार्डिंगका सीधा और दो टूक उत्तर मिला: "हमें खेद है; लेकिन इस समय ऐसा कोई खतरा उठानेको हम तैयार नहीं हैं।" हम सब इस उत्तरके औचित्यको समझ गये।

कैलेनबैकके वियोगका दुःख मुझे तो हुआ ही, पर मैंने देखा कि मुझसे अधिक उन्हें हुआ। वे हिन्दुस्तान आ सके होते, तो आज एक सुन्दर किसान और बुनकरका सादा जीवन बिताते होते। अब वे दक्षिण आफ्रिकामें अपना पहलेका जीवन बिता रहे हैं, और गृह-निर्माण कलाका अपना धन्धा धड़ल्लेसे चला रहे हैं।

हमने तीसरे दर्जेके टिकट लेनेका प्रयत्न किया, पर पी० ऐंड ओ० के जहाजोंमें तीसरे दर्जेके टिकट नहीं मिलते। अतएव दूसरे दर्जेके लेने पड़े।

दक्षिण आफ्रिकासे लाये हुए कुछ मेवे, जो जहाजोंमें मिल ही नहीं सकते थे, साथ ले लिये थे। दूसरी चीजें तो जहाजमें मिल सकती थीं।

डा० मेहताने मेरे शरीरको मीड्ज़ प्लास्टरकी पट्टीसे बाँध दिया था, और सलाह दी थी कि मैं यह पट्टी बँधी रहने दूं। दो दिन तक तो मैंने उसे सहन किया, लेकिन बादमें सहन न कर सका। अतएव थोड़ी मेहनतसे पट्टी उतार डाली और नहाने धोनेकी आजादी हासिल की।

खानेमें मुख्यतः सूखे और गीले मेवेको ही स्थान दिया। मेरी तबीयत दिन-प्रति-दिन सुधरती गई और स्वेजकी खाड़ीमें पहुँचते-पहुँचते तो बहुत अच्छी हो गई। शरीर दुर्बल था, फिर भी मेरा डर चला गया और मैं धीरे-धीरे रोज

थोड़ी कसरत बढ़ाता गया। मैंने माना कि यह शुभ परिवर्तन केवल शुद्ध समशीतोष्ण हवाके कारण ही हुआ था।

पुराने अनुभवोंके कारण हो या अन्य किसी कारणसे हो, पर बात यह थी कि अंग्रेज यात्रियों और हम लोगोंके बीच मैंने जो अन्तर यहाँ देखा, वह दक्षिण आफ्रिकासे आते हुए भी नहीं देखा था। अन्तर तो वहाँ भी था, पर यहाँ उससे कुछ भिन्न प्रकारका मालूम हुआ। किसी-किसी अंग्रेजके साथ मेरी बातें होती थीं, किन्तु वे 'साहब सलाम' तक ही सीमित रहती थीं। हार्दिक भेंट किसीसे नहीं हुई। दक्षिण आफ्रिकाके जहाजोंमें और दक्षिण आफ्रिकामें हार्दिक भेंटें हो सकी थीं। इस भेदका कारण मैंने यही समझा कि इन जहाजों पर अंग्रेजके मनमें जाने-अनजाने यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं शासक हूँ,' और हिन्दुस्तानीके मनमें यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं विदेशी शासनके अधीन हूँ।'

मैं ऐसे वातावरणसे जल्दी छूटने और स्वदेश पहुँचनेके लिए आतुर हो रहा था।

अदन पहुँचने पर कुछ हद तक घर पहुँच जाने-जैसा लगा। अदनवालोंके साथ हमारा खासा सम्बन्ध दक्षिण आफ्रिकामें ही हो गया था; क्योंकि भाई कैकोबाद कावसजी दिनशा डर्बन आ चुके थे और उनसे तथा उनकी पत्नीसे मेरा अच्छा परिचय हो चुका था।

कुछ ही दिनोंमें हम बम्बई पहुँचे। जिस देशमें मैं सन् १९०५ में वापस आनेकी आशा रखता था, उसमें दस बरस बाद ही सही, वापस आ सका, यह सोचकर मुझे बहुत आनन्द हुआ।

बम्बई में गोखलेने स्वागत-सम्मेलन[1] आदिकी व्यवस्था कर ही रखी थी। उनका स्वास्थ्य नाजुक था; फिर भी वे बम्बई आ पहुँचे थे। मैं इस उमंगके साथ बम्बई पहुँचा था कि उनसे मिलकर और अपनेको उनके जीवनमें समाकर मैं अपना भार उतार डालूँगा। किन्तु विधाताने कुछ दूसरी ही रचना कर रखी थी।

४४. वकालतके कुछ संस्मरण

हिन्दुस्तान आनेके बाद मेरे जीवनकी धारा किस तरह प्रवाहित हुई, इसका वर्णन करनेसे पहले मैंने दक्षिण आफ्रिकाके अपने जीवनके जिस भागको जान-बूझकर छोड़ दिया था, उसमें से कुछका विवरण यहाँ देना आवश्यक मालूम होता है।

कुछ वकील मित्रोंने वकालतके समयके और वकीलके नाते मेरे संस्मरणोंकी माँग की है। ये संस्मरण इतने अधिक हैं कि उन्हें लिखने बैठूँ, तो उन्हींकी एक पुस्तक तैयार हो जाये। ऐसे वर्णन मेरी अंकित मर्यादाके बाहर जाते हैं। किन्तु उनमें से कुछ, जो सत्यसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, यहाँ देना शायद अनुचित नहीं माना जायेगा।

जैसा कि मुझे याद है, मैं यह तो बता चुका हूँ कि वकालतके धन्धेमें मैंने कभी असत्यका प्रयोग नहीं किया और मेरी वकालतका बड़ा भाग केवल सेवाके लिए ही अर्पित था और उसके बदले जेब-खर्चके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं लेता था।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ६-८।

कभी-कभी जेब-खर्च भी छोड़ देता था। मैंने माना था कि अपनी वकालतके सम्बन्धमें इतना बताना पर्याप्त होगा, पर मित्रोंकी माँग उससे आगे जाती है। वे मानते हैं कि यदि मैं सत्यरक्षाके प्रसंगोंका थोड़ा भी वर्णन दे दूँ, तो वकीलोंको उसमें से कुछ जाननेको मिल जायेगा।

विद्यार्थी-अवस्थामें भी मैं यह सुना करता था कि वकालतका धन्धा झूठ बोले बिना चल ही नहीं सकता। झूठ बोलकर मैं न तो कोई पद लेना चाहता था और न पैसा कमाना चाहता था। इसलिए इन बातोंका मुझपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

दक्षिण आफ्रिकामें इसकी परीक्षा तो बहुत बार हो चुकी थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षके साक्षियोंको सिखाया-पढ़ाया गया है, और यदि मैं मुवक्किलको अथवा साक्षीको तनिक भी झूठ बोलनेके लिए प्रोत्साहित कर दूँ, तो मुवक्किलके केसमें कामयाबी मिल सकती है। किन्तु मैंने हमेशा इस लालचको छोड़ा है। मुझे ऐसी एक ही घटना याद है कि जब मुवक्किलका मुकदमा जीतनेके बाद मुझे यह शक हुआ कि मुवक्किलने मुझे धोखा दिया है। मेरे दिलमें भी हमेशा यही खयाल बना रहता था कि अगर मुवक्किलका केस सच्चा हो तो उसमें जीत मिले; और झूठा हो, तो उसकी हार हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि फीस लेते समय मैंने कभी हार-जीतके आधार पर फीसकी दरें तय की हों। मुवक्किल हारे या जीते, मैं तो हमेशा अपना मेहनताना ही माँगता था और जीतने पर भी उसीकी आशा रखता था।

मुवक्किलको मैं शुरूमें ही कह देता था: "मामला झूठा हो, तो मेरे पास मत आना। साक्षीको सिखाने-पढ़ानेका काम करानेकी मुझसे कोई आशा न रखना।" आखिर मेरी साख तो यही कायम हुई थी कि झूठे मुकदमे मेरे पास आते ही नहीं। मेरे कुछ ऐसे मुवक्किल भी थे, जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें थोड़ी भी खोट-खराबी होती, उन्हें दूसरे वकीलोंके पास ले जाते थे।

एक अवसर ऐसा भी आया, जब मेरी बहुत कड़ी परीक्षा हुई। मेरे अच्छेसे-अच्छे मुवक्किलोंमें से एकका यह मामला था। उसमें बही-खातेकी भारी उलझनें थीं। मुकदमा बहुत लम्बे समय तक चलता रहा। उसके कुछ हिस्से कई अदालतोंमें गये थ। अन्तमें अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब जाननेवाले पंचको उसका हिसाबी हिस्सा सौंपा गया था। पंचके फैसलेमें मेरे मुवक्किलकी पूरी जीत थी। किन्तु उसके हिसाबमें एक छोटी परन्तु गम्भीर भूल रह गई थी। जमा-खर्चकी रकम पंचके दृष्टिदोषसे इधरकी उधर ले ली गई थी। प्रतिपक्षीने पंचके इस फैसलेको रद करनेकी अपील की थी। मुवक्किलकी ओरसे मैं छोटा वकील था। बड़े वकीलने पंचकी भूल देखी थी, पर उनकी राय थी कि मुवक्किलके लिए पंचकी भूल कबूल करना बन्धन-रूप नहीं है। उनका यह स्पष्ट मत था कि ऐसी किसी बातको स्वीकार करनेके लिए कोई वकील बँधा हुआ नहीं है, जो उसके मुवक्किलके हितके विरुद्ध जाये। मैंने कहा, "इस मुक-दमेमें रही हुई भूल स्वीकार की ही जानी चाहिए।"

बड़े वकीलने कहा, "ऐसा होनेपर इस बातका पूरा डर है कि अदालत सारे फैसलेको ही रद कर दे; और कोई होशियार वकील मुवक्किलको ऐसी जोखिममें

नहीं डालेगा। मैं तो यह जोखिम उठानेको कभी तैयार न होऊँगा। मुकदमा फिरसे चलाना पड़े, तो मुवक्किलको कितने खर्चमें उतरना होगा, और कौन कह सकता है कि अन्तिम परिणाम क्या होगा?"

इस बातचीतके समय मुवक्किल उपस्थित थे।

मैंने कहा, "मेरा तो खयाल है कि मुवक्किलको और हम दोनोंको ऐसी जोखिमें उठानी ही चाहिए। हमारे स्वीकार न करनेपर भी अदालत भूल-भरे फैसलेको भूल मालूम होनेपर बहाल रखेगी, इसका क्या भरोसा है? और भूल सुधारनेकी कोशिशमें मुवक्किलको नुकसान उठाना पड़े, तो क्या हर्ज होगा?"

बड़े वकीलने कहा, "लेकिन हम भूल कबूल करें तब न?"

मैंने जवाब दिया, "हमारे भूल न स्वीकार करनेपर भी अदालत उस भूलको नहीं पकड़ेगी अथवा विरोधी पक्ष उसका पता नहीं लगायेगा, इसका भी क्या भरोसा है?"

बड़े वकीलने दृढ़तापूर्वक कहा, "तो इस मुकदमेमें आप बहस करेंगे? भूल कबूल करनेकी शर्तपर मैं उसमें हाजिर रहनेको तैयार नहीं हूँ।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "यदि आप न खड़े हों और मुवक्किल चाहें, तो मैं खड़ा होनेको तैयार हूँ। यदि भूल कबूल न की जाये, तो मैं मानता हूँ कि इस मुकदमेमें काम करना मेरे लिए असम्भव होगा।"

इतना कहकर मैंने मुवक्किलकी तरफ देखा। मुवक्किल थोड़े परेशान हुए। मैं तो मुकदमेमें शुरूसे ही था। मुवक्किलका मुझपर पूरा विश्वास था। वे मेरे स्वभावसे भी पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा: "ठीक है, तो आप ही अदालतमें पैरवी कीजिए। भूल कबूल कर लीजिए। भाग्यमें हारना होगा, तो हार जायेंगे। सच्चेका रखवाला राम तो है ही न?"

मुझे खुशी हुई। मैंने दूसरे जवाबकी आशा ही न रखी थी। बड़े वकीलने मुझे फिर चेताया। उन्हें मेरे 'हठ' के लिए मुझपर तरस आया, लेकिन उन्होंने मुझे धन्यवाद भी दिया।

अदालतमें क्या हुआ, इसकी चर्चा आगे होगी।

४५. चालाकी?

अपनी सलाहके औचित्यके विषयमें मुझे लेशमात्र भी शंका न थी, पर उस मुकदमेकी पूरी पैरवी करनेकी अपनी योग्यताके सम्बन्धमें काफी शंका थी। ऐसी जोखिमवाले मामलेमें बड़ी अदालतमें मेरा बहस करना मुझे बहुत जोखिम-भरा जान पड़ा। अतएव मनमें काँपते-काँपते मैं न्यायाधीशोंके सामने उपस्थित हुआ।

ज्यों ही उक्त भूलकी बात निकली कि एक न्यायाधीश बोल उठे:

"यह चालाकी नहीं कहलायेगी?"

मुझे बड़ा गुस्सा आया। जहाँ चालाकीकी गन्ध तक नहीं थी, वहाँ चालाकीका शक होना मुझे असह्य प्रतीत हुआ।

मैंने मनमें सोचा, 'जहाँ पहलेसे ही जजका खयाल बिगड़ा हुआ है, वहाँ इस मुश्किल मुकदमेको जीतना कैसे सम्भव हो सकता है?' मैंने अपने गुस्सेको दबाया और शान्त भावसे जवाब दिया :

"मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बात सुननेके पहले ही चालाकीका आरोप लगाते हैं!"

जज बोले, "मैं आरोप नहीं लगाता, केवल शंका प्रकट करता हूँ।"

मैंने उत्तर दिया, "आपकी शंका ही मुझे आरोप-जैसी लगती है। मैं आपको वस्तुस्थिति समझा दूँ और फिर शंकाके लिए अवकाश हो, तो आप अवश्य शंका करें।"

जजने शान्त होकर कहा, "मुझे खेद है कि मैंने आपको बीचमें ही रोका। आप अपनी बात समझा कर कहिए।"

मेरे पास सफाईके लिए पूरा-पूरा मसाला था। शुरूमें ही शंका पैदा हुई और जजका ध्यान मैं अपनी दलीलकी तरफ खींच सका, इससे मुझमें हिम्मत आ गई और मैंने विस्तारसे सारी जानकारी दी। न्यायाधीशोंने मेरी बातोंको धैर्यपूर्वक सुना और वे समझ गये कि भूल असावधानीके कारण ही हुई है। अतः बहुत परिश्रमसे तैयार किया हुआ हिसाब रद करना उन्हें उचित नहीं मालूम हुआ।

प्रतिपक्षीके वकीलका तो विश्वास ही था कि भूल स्वीकार कर लेनेके बाद उनके लिए अधिक बहस करनेकी आवश्यकता न रहेगी। पर न्यायाधीश ऐसी स्पष्ट और सुधर सकनेवाली भूलको लेकर पंच-फैसला रद करनेके लिए बिलकुल तैयार न थे। प्रतिपक्षीके वकीलने बहुत माथापच्ची की, पर जिन न्यायाधीशके मनमें शंका पैदा हुई थी, वे ही मेरे हिमायती बन गये।

वे बोले, "श्री गांधीने गलती कबूल न की होती, तो आप क्या करते?"

"जिस हिसाब-विशेषज्ञको हमने नियुक्त किया था उससे अधिक होशियार अथवा ईमानदार विशेषज्ञ हम कहाँसे लायें?"

"हमें मानना चाहिए कि आप अपने मुकदमेको भली-भाँति समझते हैं। हिसाब में कोई भी जानकार जिस तरहकी भूल कर सकता है, वैसी भूलके अतिरिक्त दूसरी कोई भूल आप न बता सकें, तो कायदेकी एक मामूली-सी त्रुटिके लिए दोनों पक्षोंको नये सिरेसे खर्चमें डालनेके लिए अदालत तैयार नहीं हो सकती। और यदि आप कहें कि इसी अदालतको यह केस नये सिरेसे सुनना चाहिए, तो यह सम्भव न होगा।"

इस और ऐसी अनेक दलीलोंसे प्रतिपक्षीके वकीलको शान्त करके तथा फैसलेमें रही भूलको सुधार कर अथवा इतनी भूल सुधार कर पुनः फैसला भेजनेका हुक्म पंचको देकर अदालतने उस सुधरे हुए फैसलेको बहाल रखा।

मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई कि वकालतके धन्धेमें भी सत्यकी रक्षा करते हुए काम हो सकता है।

पर पाठकोंको यह बात याद रखनी चाहिए कि धन्धेके लिए की हुई वकालत-मात्रके मूलमें जो दोष विद्यमान हैं, उसे यह सत्यकी रक्षा ढँक नहीं सकती।

४६. मुवक्किल साथी बन गये

नेटाल और ट्रान्सवालकी वकालतमें यह भेद था कि नेटालमें एडवोकेट और अटर्नीमें भेद होने पर भी दोनों सब अदालतोंमें समान रूपसे वकालत कर सकते थे, जब कि ट्रान्सवालमें बम्बईकी तरह एडवोकेट मुवक्किलके साथका सारा व्यवहार अटर्नीकी मारफत ही कर सकता है। बैरिस्टर बननेके बाद आप एडवोकेट अथवा अटर्नी दोमें से किसी एककी सनद ले सकते हैं और फिर वही धन्धा कर सकते हैं। नेटालमें मैंने एडवोकेटकी सनद ली थी, ट्रान्सवालमें अटर्नीकी। एडवोकेटके नाते मैं वहाँ हिन्दुस्तानियोंके सीधे सम्पर्कमें न आ सकता था और दक्षिण आफ्रिकामें वातावरण ऐसा नहीं था कि गोरे अटर्नी मुझे मुकदमे देते।

यों ट्रान्सवालमें वकालत करते हुए मजिस्ट्रेटके इजलासमें जानेके तो बहुत बार अवसर आते थे। एक प्रसंग ऐसा आया, जब चलते हुए मुकदमेके दौरान मैंने देखा कि मेरे मुवक्किलने मुझे ठग लिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कठघरेमें खड़ा इस तरह काँप रहा था, मानो अभी गिर पड़ेगा। अतएव मैंने मजिस्ट्रेटको मुवक्किलके विरुद्ध फैसला देनेको कहा और मैं बैठ गया। प्रतिपक्षीका वकील आश्चर्यचकित हो गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मुवक्किलको मैंने उलाहना दिया। वह जानता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता था। उसने यह बात स्वीकार की और मैं मानता हूँ कि मैंने उसके खिलाफ फैसला माँगा, इसके लिए वह गुस्सा न हुआ। जो भी हो, पर मेरे इस बरतावका कोई बुरा प्रभाव मेरे धन्धे पर नहीं पड़ा और अदालतमें मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि सत्यकी मेरी इस पूजासे वकील बन्धुओंमें भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, और विचित्र परिस्थितियोंके रहते हुए भी मुझे उनमेंसे कुछका स्नेह प्राप्त हो गया था।

वकालत करते हुए मैंने एक ऐसी आदत भी डाली थी कि अपना अज्ञान न मैं मुवक्किलोंसे छिपाता था और न वकीलोंसे। जहाँ-जहाँ मुझे कुछ सूझ न पड़ता, वहाँ-वहाँ मैं मुवक्किलसे दूसरे वकीलके पास जानेको कहता; अथवा यदि वह मुझे वकील करता, तो मैं उससे कहता कि अपनेसे अधिक अनुभवी वकीलकी सलाह लेकर मैं उसका काम करूँगा। अपने इस शुद्ध व्यवहारके कारण मैं मुवक्किलोंका अटूट प्रेम और विश्वास सम्पादन कर पाया था। बड़े वकीलके पास जानेकी जो फीस देनी पड़ती, उसके पैसे भी वे प्रसन्नतापूर्वक देते थे। इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे अपने सार्वजनिक काममें मिला।

पिछले प्रकरणोंमें मैं बता चुका हूँ कि दक्षिण आफ्रिकामें वकालत करनेका मेरा हेतु केवल लोकसेवा करना था। इस सेवाके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास सम्पादन करनेकी आवश्यकता थी। उदार दिल हिन्दुस्तानियोंने पैसे लेकर की गई वकालतको भी मेरी सेवा माना और जब मैंने उन्हें अपने हकोंके लिए जेलके दुःख सहनेकी सलाह दी, तब उनमेंसे बहुतोंने उस सलाहको ज्ञानपूर्वक स्वीकार करनेकी अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेमके कारण ही स्वीकार किया था।

यह लिखते हुए वकालतके ऐसे कई मीठे संस्मरण मेरी कलम पर आ रहे हैं। सैकड़ों आदमी मुवक्किल न रहकर मेरे मित्र बन गये थे। वे सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बन गये थे, और मेरे कठोर जीवनको उन्होंने रसमय बना दिया था।

४७. मुवक्किल जेलसे कैसे बचा?

इन प्रकरणोंके पाठक पारसी रुस्तमजीके नामसे भली-भाँति परिचित हैं।[१] पारसी रुस्तमजी एक ही समयमें मेरे मुवक्किल और सार्वजनिक कामके साथी बने, अथवा उनके विषयमें तो यह भी कहा जा सकता है कि पहले वे मेरे साथी बने और बादमें मुवक्किल। मैंने उनका विश्वास इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि अपनी निजी और घरेलू बातोंमें भी वे मेरी सलाह लेते थे और तदनुसार व्यवहार करते थे। बीमार पड़ने पर भी वे मेरी सलाहकी आवश्यकता अनुभव करते थे और हमारी रहन-सहनमें बहुत फर्क होने पर भी वे अपने ऊपर मेरे बताये उपचारोंका प्रयोग करते थे।

इनपर एक बार बड़ी विपत्ति आ पड़ी। अपने व्यापारकी भी बहुत-सी बातें वे मुझसे किया करते थे। लेकिन एक बात उन्होंने मुझसे छिपा रखी थी। पारसी रुस्तमजी चुंगीकी चोरी किया करते थे। वे बम्बई-कलकत्तेसे जो माल मँगाते थे, उसीके सिलसिलेमें यह चोरी चलती थी। सब अधिकारियोंसे उनका अच्छा मेलजोल था, जिस कारण उनपर कोई शक करता ही न था। वे जो बीजक पेश करते, उसी पर चुंगी ले ली जाती थी। ऐसे भी अधिकारी रहे होंगे, जो उनकी चोरीकी ओरसे आँखें मूँद लेते होंगे।

पर अखा भगतकी वाणी कभी मिथ्या हो सकती है? —

'काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरीनुं धन.'[२]

पारसी रुस्तमजीकी चोरी पकड़ी गई, वे दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। आँखोंसे आँसू बह रहे थे और वे कह रहे थे: "भाई, मैंने आपसे कपट किया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैंने चुंगीकी चोरी की है। अब मेरे भाग्यमें तो जेल ही हो सकती है। मैं बरबाद होनेवाला हूँ। इस आफतसे आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने आपसे कुछ छिपाया नहीं। पर यह सोचकर कि व्यापारकी चोरीकी बात आपसे क्या कहूँ, मैंने यह चोरी छिपाई। अब मैं पछता रहा हूँ।"

मैंने धीरज देकर कहा: "मेरी रीतिसे तो आप परिचित हैं। छुड़ाना न छुड़ाना खुदाके हाथ है। मैं तभी छुड़ा सकता हूँ जब अपराध स्वीकार करके छूटना सम्भव हो।"

इन भले पारसीका चेहरा उतर गया।

रुस्तमजी सेठ बोले, "लेकिन मेरा आपके सामने अपराध स्वीकार कर लेना काफी नहीं है?"

१. देखिए खण्ड ३७ पृष्ठ ६८।

२. कच्चा पारा खाना और चोरीका धन खाना समान ही है।

मैंने धीरेसे जवाब दिया, "आपने अपराध तो सरकारका किया है, और स्वीकार मेरे सामने करते हैं। इससे क्या होता है?"

पारसी रुस्तमजीने कहा, "अन्तमें मुझे करना तो वही है, जो आप कहेंगे। पर . . . मेरे पुराने वकील हैं। उनकी सलाह तो आप लेंगे न? वे मेरे मित्र भी हैं।"

जाँचसे पता चला कि चोरी लम्बे अरसेसे चल रही थी। जो चोरी पकड़ी गई वह तो थोड़ी ही थी। हम लोग पुराने वकीलके पास गये। उन्होंने केसकी जाँच की और कहा: "यह मामला जूरीके सामने जायेगा। यहाँके जूरी हिन्दुस्तानीको क्यों छोड़ने लगे? पर मैं आशा कभी न छोडूँगा।"

इन वकीलसे मेरा गाढ़ परिचय नहीं था। पारसी रुस्तमजीने ही जवाब दिया: "मैं आपका आभार मानता हूँ, किन्तु इस मामलेमें मुझे श्री गांधीकी सलाहके अनुसार चलना है। वे मुझे अधिक पहचानते हैं। आप इन्हें जो सलाह देना उचित समझें, देते रहिएगा।"

इस प्रश्नको यों निबटाकर हम रुस्तमजी सेठकी दुकान पर पहुँचे।

मैंने उन्हें समझाया: "मैं इस मामलेको अदालतमें जाने लायक नहीं मानता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी-अधिकारीके हाथमें है। उसे भी सरकारके मुख्य वकीलकी सलाहके अनुसार चलना पड़ेगा। मैं दोनोंसे मिलनेको तैयार हूँ, पर मुझे तो उनके सामने उस चोरीको भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसे वे नहीं जानते। मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। बहुत करके तो वे मान जायेंगे। पर कदाचित् न मानें, तो आपको जेलके लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो यह मत है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं, बल्कि चोरी करनेमें है। लज्जाका काम तो हो चुका है। जेल जाना पड़े, तो उसे प्रायश्चित्त समझिए। सच्चा प्रायश्चित्त तो भविष्यमें फिर कभी चुंगीकी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञामें है।"

मैं नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सारी बातोंको भली-भाँति समझ गये थे। वे बहादुर आदमी थे। पर इस बार हिम्मत हार गये थे। उनकी प्रतिष्ठाके नष्ट होनेका समय आ गया था। और प्रश्न था कि कहीं उनकी अपनी मेहनतसे बनाई हुई इमारत ढह न जाये।

वे बोले, "मैं आपसे कह चुका हूँ कि मेरा सिर आपकी गोदमें है। आपको जैसा करना हो, वैसा कीजिए।"

मैंने इस मामलेमें विनयकी अपनी सारी शक्ति लगा दी। मैं अधिकारीसे मिला और सारी चोरीकी बात उससे निर्भयतापूर्वक कह दी। सब बहीखाते दिखा देनेको कहा और पारसी रुस्तमजीके पश्चात्तापकी बात भी कही।

अधिकारीने कहा, "मैं इस बूढ़े पारसीको चाहता हूँ। उसने मूर्खता की है। पर मेरा धर्म तो आप जानते हैं। बड़े वकील जैसा कहेंगे वैसा मुझे करना होगा। अतएव अपनी समझानेकी शक्तिका उपयोग आपको उनके सामने करना होगा।"

मैंने कहा: "पारसी रुस्तमजीको अदालतमें घसीटने पर जोर न दिया जाये, तो मुझे सन्तोष हो जायेगा।"

इस अधिकारीसे अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकीलसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनसे मिला। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्यप्रियता उनके ध्यानमें आ गई। मैं उनके सामने यह सिद्ध कर सका कि मैं उनसे कुछ छिपा नहीं रहा हूँ।

इस मामलेमें या दूसरे किसी मामलेमें उनके सम्पर्कमें आनेपर उन्होंने मुझे प्रमाण-पत्र दिया था: "मैं देखता हूँ कि आप 'ना' में तो जवाब लेनेवाले ही नहीं हैं।"

रुस्तमजी पर मुकदमा नहीं चला। उनके द्वारा कबूल की गई चुंगीकी चोरीके दूने रुपये लेकर मुकदमा उठा लेनेका हुक्म जारी हुआ। रुस्तमजीने अपनी चुंगी-चोरीकी कहानी लिखकर शीशेमें मढ़वा ली, और उसे अपने दफ्तरमें टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियोंको चेतावनी दी।

रुस्तमजी सेठके व्यापारी-मित्रोंने मुझे चेताया: "यह सच्चा वैराग्य नहीं है, श्मशान-वैराग्य है।" मैं नहीं जानता कि इसमें कितनी सचाई थी। मैंने यह बात भी रुस्तमजी सेठसे कही थी। उनका जवाब यह था: "आपको धोखा देकर मैं कहाँ जाऊँगा।"

पाँचवाँ भाग

१. पहला अनुभव

मेरे स्वदेश आनेके पहले जो लोग फीनिक्ससे वापस लौटनेवाले थे, वे यहाँ आ पहुँचे थे। अनुमान यह था कि मैं उनसे पहले पहुँचूंगा, लेकिन लड़ाईके कारण मुझे लन्दनमें रुकना पड़ा। अतएव मेरे सामने प्रश्न यह था कि फीनिक्सवासियोंको कहाँ रखा जाये। मेरी अभिलाषा यह थी कि सब एक-साथ ही रह सकें और फीनिक्सके आश्रम-जैसा जीवन बिता सकें, तो अच्छा हो। मैं किसी आश्रम-संचालकसे परिचित नहीं था, जिससे साथियोंको उनके यहाँ जानेके लिए लिख सकूँ। अतएव मैंने उन्हें लिखा कि वे एन्ड्रयूजसे मिलें और वे जैसी सलाह दें वैसा करें।

पहले उन्हें कांगड़ी गुरुकुलमें रखा गया, जहाँ स्वामी श्रद्धानन्दजीने उनको अपने ही बच्चोंकी तरह रखा। इसके बाद उन्हें शान्तिनिकेतनमें रखा गया। वहाँ कविवरने और उनके समाजने उन्हें वैसे ही प्रेमसे नहलाया। इन दो स्थानोंमें उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुआ, वह उनके और मेरे लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

कविवर, श्रद्धानन्दजी और श्री सुशील रुद्रको मैं एन्ड्रयूजकी 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण आफ्रिकामें वे इन तीनोंकी प्रशंसा करते कभी थकते ही न थे। दक्षिण आफ्रिकाके हमारे स्नेह-सम्मेलनके अनेकानेक स्मरणोंमें यह तो मेरी आँखोंके सामने तैरा ही करता है कि इन तीन महापुरुषोंके नाम उनके हृदयमें और ओठों पर सदा बने ही रहते थे। एन्ड्रयूजने मेरे फीनिक्स कुटुम्बको सुशील रुद्रके पास ही रख दिया था। रुद्रका अपना कोई आश्रम न था, केवल घर ही था। पर उस घरका कब्जा उन्होंने मेरे इस कुटुम्बको सौंप दिया था। उनके लड़के-लड़की एक ही दिनमें इनके साथ ऐसे घुल-मिल गये थे कि ये लोग फीनिक्सकी याद बिलकुल भूल गये।

मैं बम्बईके बन्दरगाहपर उतरा तभी मुझे पता चला कि उस समय यह परिवार शान्तिनिकेतनमें था। इसलिए गोखलेसे मिलनेके बाद मैं वहाँ जानेको अधीर हो गया।

बम्बईमें सम्मान स्वीकार करते समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था।

मेरे सम्मानमें श्री पेटिटके यहाँ एक सभा रखी गई थी। उसमें तो मैं गुजरातीमें जवाब देनेकी हिम्मत न कर सका। उस महलमें और आँखोंको चौंधिया देनेवाले उस ठाठ-बाटके बीच गिरमिटियोंकी सोहबतमें रहा हुआ मैं अपने-आपको देहाती-जैसा लगा। आजकी मेरी पोशाककी तुलनामें उस समयकी अँगरखा, साफा आदि पोशाक अपेक्षाकृत सभ्य कही जा सकती है। फिर भी मैं उस अलंकृत समाजमें अलग ही छिटका पड़ता था। लेकिन वहाँ तो जैसे-तैसे मैंने अपना काम निबाहा और सर फिरोजशाह मेहताकी गोदमें आसरा लिया।

गुजरातियोंकी सभा तो थी ही। स्व० उत्तमलाल त्रिवेदीने इस सभाका आयोजन किया था। मैंने इस सभाके बारेमें पहलेसे कुछ बातें जान ली थीं। श्री जिन्ना[1] भी गुजरातीके नाते इस सभामें हाजिर थे। वे सभापति थे या मुख्य वक्ता, यह मैं भूल गया हूँ। पर उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजीमें किया। मुझे धुँधला-सा स्मरण है कि दूसरे भाषण भी अधिकतर अंग्रेजीमें ही हुए। जब मेरे बोलनेका समय आया, तो मैंने उत्तर गुजरातीमें दिया। और गुजराती तथा हिन्दुस्तानीके प्रति अपना पक्षपात कुछ ही शब्दोंमें व्यक्त करके मैंने गुजरातियोंकी सभामें अंग्रेजीके उपयोगके विरुद्ध अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। मेरे मनमें अपने इस कार्यके लिए संकोच तो था ही। मेरे मनमें यह शंका बनी रही कि लम्बी अवधिकी अनुपस्थितिके बाद विदेशसे वापस आया हुआ अनुभवहीन मनुष्य प्रचलित प्रवाहके विरुद्ध चले, इसमें अविवेक तो नहीं माना जायेगा? पर मैंने गुजरातीमें उत्तर देनेकी जो हिम्मत की, उसका किसीने उलटा अर्थ नहीं लगाया और सबने मेरा विरोध सहन कर लिया।

यह देखकर मुझे खुशी हुई और इस सभाके अनुभवसे मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि अपने नये जान पड़नेवाले दूसरे विचारोंको जनताके सम्मुख रखनेमें मुझे कठिनाई नहीं पड़ेगी।

यों बम्बईमें दो-एक दिन रहकर और आरम्भिक अनुभव लेकर मैं गोखलेकी आज्ञासे पूना गया।

२. गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बम्बई पहुँचते ही गोखलेने मुझे खबर दी थी: "गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं। अतएव पूना आनेके पहले उनसे मिल आना उचित होगा।" इसलिए मैं उनसे मिलने गया। साधारण बातचीतके बाद उन्होंने कहा:

"मैं आपसे एक वचन माँगता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सरकारके बारेमें आप कोई भी कदम उठायें, उसके पहले मुझसे मिलकर बात कर लिया करें।"

१. गुर्जर सभा बम्बईके अध्यक्षके नाते श्री जिन्नाने सभाका सभापतित्व किया था। देखिए खण्ड १३, पृष्ठ १०।

मैंने जवाब दिया :

यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है। क्योंकि सत्याग्रहीके नाते मेरा यह नियम ही है कि किसीके विरुद्ध कोई कदम उठाना हो, तो पहले उसका दृष्टिकोण उसीसे समझ लूँ और जिस हद तक उसके अनुकूल होना सम्भव हो, उस हद तक अनुकूल हो जाऊँ। दक्षिण आफ्रिकामें मैंने सदा इस नियमका पालन किया है, और यहाँ भी वैसा ही करनेवाला हूँ।"

लॉर्ड विलिंग्डनने आभार माना और कहा : "आप जब मिलना चाहेंगे, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे, और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुरा काम नहीं करना चाहती।"

मैंने जवाब दिया : "यह विश्वास ही तो मेरा सहारा है।"

मैं पूना पहुँचा। वहाँके सब संस्मरण देनेमें मैं असमर्थ हूँ। गोखलेने और सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी (भारत सेवक समाज)के सदस्योंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। जहाँतक मुझे याद है, उन्होंने सब सदस्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ कई विषयों पर मैंने दिल खोलकर बातचीत की।

गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसाइटीमें सम्मिलित हो जाऊँ और मेरी इच्छा तो थी ही। किन्तु सोसाइटीके सदस्योंको ऐसा लगा कि सोसाइटीके आदर्श और काम करनेकी रीति मुझसे भिन्न है, इसलिए मुझे सदस्य बनना चाहिए या नहीं इस बारेमें उनके मनमें शंका थी।[1] गोखलेका विश्वास था कि मुझमें अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेका जितना आग्रह है उतना ही दूसरोंके आदर्शोंको निबाह लेनेका और उनके साथ घुलमिल जानेका भी मेरा स्वभाव है।

उन्होंने कहा : "हमारे सदस्य अभी आपके इस निबाह लेनेवाले स्वभावको पहचान नहीं पाये हैं। वे अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेवाले स्वतन्त्र और दृढ़ विचारके लोग हैं। मैं आशा तो करता हूँ कि वे आपको स्वीकार कर लेंगे। पर स्वीकार न करें, तो आप कभी यह न समझना कि उन्हें आपके प्रति कम आदर या कम प्रेम है। इस प्रेमको अखण्डित रखनेके लिए ही वे कोई जोखिम उठाते हुए डरते हैं। पर आप सोसाइटीके विधिवत् सदस्य बनें या न बनें, मैं तो आपको सदस्य ही मानूँगा।"

मैंने अपने विचार गोखलेको बता दिये थे : "मैं सोसाइटीका सदस्य बनूँ चाहे न बनूँ, तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फीनिक्सके साथियोंको रखना और खुद वहाँ बैठ जाना है। इस विश्वासके कारण कि गुजराती होनेसे मेरे पास गुजरातकी सेवाके जरिए देशकी सेवा करनेकी पूँजी अधिक होनी चाहिए, मैं गुजरातमें ही कहीं स्थिर होना चाहता हूँ।" गोखलेको ये विचार पसन्द आये इसलिए उन्होंने कहा : "आप अवश्य ऐसा करें। सदस्योंके साथ बातचीतका कुछ भी परिणाम आये, यह निश्चित है कि आपको आश्रमके लिए पैसा मुझीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।"

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ २१।

मेरा हृदय फूल उठा। मैं यह सोचकर बहुत खुश हुआ कि मुझे पैसा उगाहनेके धन्धेसे मुक्ति मिल गई और यह कि अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर परेशानीके समय मुझे रास्ता दिखानेवाला कोई होगा। इस विश्वासके कारण मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे सिरका बड़ा बोझ उतर गया हो।

गोखलेने स्व० डा० देवको[१] बुलाकर कह दिया: "गांधीका खाता अपने यहाँ खोल लीजिए और इन्हें आश्रमके लिए तथा अपने सार्वजनिक कार्योंके लिए जितनी रकमकी जरूरत हो, आप देते रहिए।"

अब मैं पूना छोड़कर शान्तिनिकेतन जानेकी तैयारी कर रहा था। अन्तिम रातको गोखलेने मुझे रुचनेवाली एक दावत दी और उसमें खास-खास मित्रोंको न्योता। उसमें उन्होंने जो चीजें मैं खाता था उन्हींका अर्थात् सूखे और ताजे फलोंके आहारका ही प्रबन्ध किया था। दावतकी जगह उनके कमरेसे कुछ ही कदम दूर थी, पर उसमें भी सम्मिलित होनेकी उनकी हालत न थी। लेकिन उनका प्रेम उन्हें दूर कैसे रहने देता? उन्होंने शामिल होनेका आग्रह किया। वे आये भी, पर उन्हें मूर्च्छा[२] आ गई और वापस जाना पड़ा। उनकी ऐसी हालत जब-तब हो जाया करती थी। अतएव उन्होंने सन्देशा भेजा कि दावत जारी ही रखनी है।

दावतका मतलब था, सोसाइटीके आश्रममें मेहमान-घरके पासवाले आँगनमें जाजम बिछाकर बैठना, मूँगफली, खजूर आदि खाना, प्रेमपूर्ण चर्चाएँ करना और एक-दूसरेके दिलोंको अधिक जानना।

पर गोखलेकी यह मूर्च्छा मेरे जीवनके लिए साधारण अनुभव बनकर रहनेवाली न थी।

३. धमकी?

अपने बड़े भाईकी विधवा पत्नी और दूसरे कुटुम्बियोंसे मिलनेके लिए मुझे बम्बईसे राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं उधर गया।

दक्षिण आफ्रिकामें सत्याग्रहकी लड़ाईके सिलसिलेमें मैंने अपनी पोशाक जिस हद तक गिरमिटिया मजदूरोंसे मिलती-जुलती की जा सकती थी, कर ली थी। विलायतमें भी घरमें मैं यही पोशाक पहनता था। हिन्दुस्तान आकर मुझे काठियावाड़ी पोशाक पहननी थी। मेरे पास दक्षिण आफ्रिकामें वह पोशाक थी। अतएव मैं बम्बईमें उसी पोशाकको पहनकर उतरा था। इस पोशाकमें कुर्ता, अँगरखा, धोती और सफेद साफेका समावेश होता था। ये सब देशी मिलके ही कपड़े बने हुए थे। बम्बईसे काठियावाड़ मुझे तीसरे दर्जेमें ही जाना था। उसमें साफा और अँगरखा पहननेमें मुझे झंझट मालूम हुई। अतएव मैंने केवल कुर्ता, धोती और आठ-दस आनेकी काश्मीरी टोपीका उपयोग किया।

१. भारत सेवक समाजके डा० हरि श्रीकृष्ण देव।

२. इस घटनाका उल्लेख १३ फरवरीके अंतर्गत "डायरी: १९१५" में किया गया है। देखिए खण्ड १३, पृष्ठ १६३।

ऐसी पोशाक पहननेवालेकी गिनती गरीब आदमीमें होती थी। उस समय वीरमगाँव अथवा बढ़वाणमें प्लेगके कारण तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जाँच होती थी। मुझे थोड़ा बुखार था। जाँच करनेवाले अधिकारीने हाथ देखा, तो वह उसे गरम लगा। इसलिए उसने मुझे राजकोटमें डाक्टरसे मिलनेका हुक्म दिया और मेरा नाम लिख लिया।

बम्बईसे किसीने तार या पत्र भेजा होगा। इसलिए बढ़वान स्टेशन पर वहाँके प्रसिद्ध प्रजा-सेवक दर्जी मोतीलाल मुझसे मिले। उन्होंने मुझसे वीरमगाँवकी चुंगी-सम्बन्धी जाँच-पड़तालकी और उसके कारण होनेवाली परेशानियोंकी चर्चा की। मैं ज्वरसे पीड़ित था, इसलिए बातें करनेकी बहुत इच्छा न थी। मैंने उन्हें थोड़ेमें ही जवाब दिया :

"आप जेल जानेको तैयार हैं?"

मैंने माना था कि बिना विचारे उत्साहमें जवाब देनेवाले बहुतेरे युवकोंकी भाँति ही मोतीलाल भी होंगे। पर उन्होंने बहुत दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया :

"हम जरूर जेल जायेंगे। पर आपको हमें रास्ता दिखाना होगा। काठियावाड़ीके नाते आप पर हमारा पहला अधिकार है। इस समय तो हम आपको रोक नहीं सकते, पर लौटते समय आपको बढ़वान उतरना होगा। यहाँके युवकोंका काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे। आप अपनी सेनामें जब चाहेंगे तब हमें भरती कर सकेंगे।"

मोतीलाल पर मेरी आँख टिक गई। उनके दूसरे साथियोंने उनकी स्तुति करते हुए कहा :

"ये भाई दर्जी हैं। अपने धन्धेमें कुशल हैं, इसलिए रोज एक घंटा काम करके हर महीने लगभग पन्द्रह रुपये अपने खर्चके लिए कमा लेते हैं, और बाकीका सारा समय सार्वजनिक सेवामें बिताते हैं। ये हम सब पढ़े-लिखोंका मार्गदर्शन करते हैं और हमें लज्जित करते हैं।"

बादमें भाई मोतीलालके सम्पर्कमें काफी आया था और मैंने अनुभव किया था कि उनकी उपर्युक्त स्तुतिमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं थी। जब सत्याग्रहाश्रम स्थापित हुआ, तो वे हर महीने वहाँ कुछ दिन अपनी हाजिरी दर्ज करा ही जाते थे। बालकोंको सीना सिखाते और आश्रमका सिलाई-काम भी कर जाते थे। वीरमगाँवकी बात तो मुझे रोज सुनाते रहते थे। वहाँ यात्रियोंको जिन मुसीबतोंका सामना करना पड़ता था, वे उनके लिए असह्य थीं। इन मोतीलालको भरी जवानीमें बीमारी उठा ले गई और बढ़वान उनके बिना सूना हो गया।

राजकोट पहुँचने पर दूसरे दिन सवेरे मैं उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार अस्पतालमें हाजिर हुआ। वहाँ तो मैं अपरिचित नहीं था। डाक्टर शरमाये और उक्त जाँच करनेवाले अधिकारी पर गुस्सा होने लगे। मुझे गुस्सेका कोई कारण न दिखाई पड़ा। अधिकारीने अपने धर्मका पालन ही किया था। वह मुझे पहचानता नहीं था, और पहचानता होता, तो भी उसने जो हुक्म दिया, वह देना उसका धर्म था। पर चूंकि

मैं सुपरिचित था, इसलिए राजकोटमें मैं जाँच कराने जाऊँ, उसके बदले लोग घर आकर मेरी जाँच करने लगे।

ऐसे मामलोंमें तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जाँच करना आवश्यक है। बड़े माने जानेवाले लोग भी तीसरे दर्जेमें यात्रा करें, तो उन्हें गरीबों पर लगनेवाले नियमोंका स्वेच्छासे पालन करना चाहिए, और अधिकारियोंको पक्षपात नहीं करना चाहिए। पर मेरा अनुभव यह है कि अधिकारी तीसरे दर्जेके यात्रियोंको आदमी समझनेके बदले जानवर-जैसा समझते हैं। 'तू'के सिवा उनके लिए दूसरा कोई सम्बोधन ही नहीं होता। तीसरे दर्जेका यात्री न जवाब दे सकता है, न बहस कर सकता है। उसे इस तरह व्यवहार करना पड़ता है, मानो वह अधिकारीका नौकर हो। अधिकारी उसे मारते-पीटते हैं, उसका माल-असबाब छीन लेते हैं, उसकी ट्रेन छुड़वा देते हैं, उसे टिकट देनेमें हैरान करते हैं। यह सब मैंने स्वयं अनुभव किया है। इस वस्तु-स्थितिमें सुधार तभी हो सकता है, जब कुछ पढ़े-लिखे और धनिक लोग गरीबों-जैसे बनें, तीसरे दर्जेमें यात्रा करके गरीब यात्रीको न मिलनेवाली एक भी सुविधाका उपभोग न करें, और अड़चनों, अशिष्टताओं, अन्यायों तथा वीभत्सताको चुपचाप न सहकर उनका सामना करें और उन्हें दूर करायें।

काठियावाड़में मैं जहाँ-जहाँ भी घूमा, वहाँ-वहाँ मैंने वीरमगाँवकी चुंगी-सम्बन्धी जाँचकी शिकायतें सुनीं। अतएव मैंने लॉर्ड विलिंग्डनके दिये हुए निमन्त्रणका तुरन्त उपयोग किया। इस सम्बन्धमें जो भी कागज-पत्र मिले, सबको मैं पढ़ गया। मैंने देखा कि शिकायतोंमें बहुत सचाई है। इस विषयमें मैंने बम्बई सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। सेक्रेटरीसे मिला। लॉर्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने सहानुभूति प्रकट की, किन्तु दिल्लीकी ढीलकी शिकायत की। सेक्रेटरीने कहा : "हमारे ही हाथकी बात होती, तो हमने यह चुंगी कभीकी उठा दी होती। आप केन्द्रीय सरकारके पास जाइए।"

मैंने केन्द्रीय सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया, पर पत्रोंकी पहुँचके अतिरिक्त कोई उत्तर न पा सका। लगभग दो बरसके पत्र-व्यवहारके बाद जब मुझे लॉर्ड चेम्सफोर्डसे मिलनेका मौका मिला तब मामलेकी सुनवाई हुई। लॉर्ड चेम्सफोर्डसे बात करने पर उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। उन्हें वीरमगाँवकी कोई जानकारी नहीं थी। उन्होंने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी और उसी समय टेलीफोन करके वीरमगाँवके कागज-पत्र मँगवाये, और मुझे वचन दिया कि यदि आपके कथनके विरुद्ध अधिकारियोंको कोई आपत्ति नहीं हुई, तो चुंगी रद कर दी जायेगी। इस मुलाकातके बाद कुछ ही दिनोंमें चुंगी उठ जानेकी खबर मैंने अखबारोंमें पढ़ी।[1]

मैंने इस जीतको सत्याग्रहकी नींव माना, क्योंकि वीरमगाँवके सम्बन्धमें बातें करते हुए बम्बई सरकारके सेक्रेटरीने मुझसे कहा था कि इस विषय पर बगसराके मेरे भाषणकी[2] नकल उनके पास है। उसमें उल्लिखित सत्याग्रह पर उन्होंने अपनी अप्रसन्नता भी प्रकट की थी। उन्होंने पूछा था :

१. देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ६७।

२ देखिए खण्ड १३, पृष्ठ १५४।

"क्या आप इसे धमकी नहीं मानते? और क्या इस तरह कोई शक्तिशालिनी सरकार धमकियोंकी परवाह करती है?"

मैंने जवाब दिया :

"यह धमकी नहीं, लोकशिक्षा है। लोगोंको अपने दुःख दूर करनेके सब वास्तविक उपाय बताना मुझ-जैसोंका धर्म है। जो जनता स्वतन्त्रता चाहती है, उसके पास अपनी रक्षाका कोई अन्तिम उपाय होना चाहिये। साधारणतः ऐसे उपाय हिंसात्मक होते हैं। सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूँ। मुझे इस विषयमें सन्देह नहीं है कि अंग्रेज सरकार शक्तिशालिनी है; पर इस विषयमें भी मुझे कोई सन्देह नहीं कि सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है।"

चतुर सेक्रेटरीने अपना सिर हिलाया और कहा, "ठीक है, हम देखेंगे।"

४. शान्तिनिकेतन

राजकोटसे मैं शान्तिनिकेतन गया। वहाँ शान्तिनिकेतनके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझपर अपना प्रेम बरसाया। स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुन्दर मिश्रण था।[1] वहाँ मैं काकासाहब कालेलकरसे पहले-पहल मिला।

कालेलकर 'काकासाहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था। लेकिन बादमें मालूम हुआ कि केशवराव देशपाण्डे, जो विलायतमें मेरे समकालीन थे, और जिनके साथ विलायतमें मेरा अच्छा परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्यमें 'गंगनाथ विद्यालय' चला रहे हैं। उनकी अनेक भावनाओंमें से एक यह भी थी कि विद्यालयमें पारिवारिक भावना होनी चाहिए। इस विचारसे वहाँ सब अध्यापकोंके नाम इसी तरह रखे गये थे। कालेलकरको 'काका' नाम मिला। फड़के 'मामा' बने। हरिहर शर्मा 'अण्णा' कहलाये। दूसरोंके भी यथायोग्य नाम रखे गये। काकाके साथीके रूपमें आनन्दानन्द (स्वामी) और मामाके मित्रके नाते पटवर्धन (आप्पा) आगे चलकर इस कुटुम्बमें सम्मिलित हुए। इस कुटुम्बके उपर्युक्त पाँचों सदस्य एकके बाद एक मेरे साथी बने। देशपाण्डे 'साहब' के नामसे पुकारे जाने लगे। साहबका विद्यालय बन्द होने पर यह कुटुम्ब बिखर गया। पर इन लोगोंने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध नहीं छोड़ा।

काकासाहब भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करनेमें लग लगे। इसी सिलसिलेमें वे इस समय शान्तिनिकेतनमें रहते थे। इसी मण्डलके एक और सदस्य चिन्तामणि शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनों संस्कृत सिखानेमें हाथ बँटाते थे।

शान्तिनिकेतनमें मेरे मण्डलको अलगसे ठहराया गया था। यहाँ मगनलाल गांधी उस मण्डलको सँभाल रहे थे और फीनिक्स आश्रमके सब नियमोंका पालन सूक्ष्मतासे

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ २६।

करते-कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योगके कारण शान्ति-निकेतनमें अपनी सुगन्ध फैला दी थी।

एन्ड्रचूज तो यहाँ थे ही। पियर्सन थे। जगदानन्द बाबू, नेपाल बाबू, सन्तोष बाबू, क्षितिमोहन बाबू, नगेन बाबू, शरद बाबू और काली बाबूके साथ हमारा खासा सम्पर्क रहा।

अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें घुलमिल गया और स्व-परिश्रमके विषयमें चर्चा करने लगा। मैंने वहाँके शिक्षकोंके सामने यह बात रखी कि वैतनिक रसोइयोंके बदले शिक्षक और विद्यार्थी अपनी रसोई स्वयं बना लें तो अच्छा हो। ऐसा करनेसे आरोग्य और नीतिकी दृष्टिसे रसोई-घरपर शिक्षक-समाजका नियंत्रण स्थापित होगा और विद्यार्थी स्वावलम्बन तथा स्वयंपाकका पदार्थ-पाठ सीखेंगे। एक-दो शिक्षकोंने सिर हिलाया। कुछ लोगोंको यह प्रयोग बहुत अच्छा लगा। नई चीज, फिर वह कैसी भी क्यों न हो, बालकोंको तो अच्छी लगती ही है। इस न्यायसे यह चीज भी उन्हें अच्छी लगी और प्रयोग शुरू हुआ। जब कविश्रीके सामने यह चीज रखी गई, तो उन्होंने अपनी यह सम्मति दी कि यदि शिक्षक अनुकूल हों, तो स्वयं उन्हें यह प्रयोग अवश्य पसन्द होगा। उन्होंने विद्यार्थियोंसे कहा, "इसमें स्वराज्य-की चाबी मौजूद है।"

पियर्सनने प्रयोगको सफल बनानेमें अपने-आपको खपा दिया। उन्हें यह बहुत अच्छा लगा। एक मण्डली साग काटनेवालोंकी बनी, दूसरी अनाज साफ करनेवालोंकी। रसोई-घरके आसपास शास्त्रीय ढंगसे सफाई रखनेके काममें नगेन बाबू आदि जुट गये। उन लोगोंको कुदालीसे काम करते देखकर मेरा हृदय नाच उठा।

लेकिन मेहनतके इस कामको सवा सौ विद्यार्थी और सभी शिक्षक एकाएक तो नहीं अपना सकते थे। अतएव रोज चर्चाएँ चलतीं। कुछ लोग थक जाते। परन्तु पियर्सन क्यों थकने लगे? वे हँसते चेहरेसे रसोई-घरके किसी-न-किसी काममें जुटे ही रहते। बड़े-बड़े बर्तन माँजना उन्हींका काम था। बर्तन माँजनेवाली टुकड़ीकी थकान उतारनेके लिए कुछ विद्यार्थी वहाँ सितार बजाते थे। विद्यार्थियोंने प्रत्येक कामको पर्याप्त उत्साहसे अपना लिया और समूचा शान्तिनिकेतन मधुमक्खियोंके छत्तेकी भाँति गूँजने लगा।

इस प्रकारके फेरफार जब एक बार शुरू हो जाते हैं, तो फिर वे रुक नहीं पाते। फीनिक्सका रसोई-घर स्वावलम्बी बन गया था, यही नहीं, बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसालोंका त्याग कर दिया गया था। अतएव भात, दाल साग तथा गेहूँके पदार्थ भी भापके द्वारा पका लिये जाते थे। बंगाली खुराकमें सुधार करनेके विचारसे उस प्रकारका एक रसोई-घर शुरू किया था। उसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी सम्मिलित हुए थे। ऐसे ही प्रयोगोंमें से सर्वसाधारण रसोई-घरको स्वावलम्बी बनानेका प्रयोग शुरू किया जा सका था।

पर आखिर कुछ कारणोंसे यह प्रयोग बन्द हो गया। मेरा विश्वास यह है कि इस विश्व-विख्यात संस्थाने थोड़े समयके लिए भी इस प्रयोगको अपनाकर कुछ खोया नहीं, अपितु इस प्रकार प्राप्त अनेक अनुभव उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुए।

मेरा विचार शान्तिनिकेतनमें कुछ समय रहनेका था। किन्तु विधाता मुझे जबर-दस्ती घसीटकर ले गया। मैं मुश्किलसे वहाँ एक हफ्ता रहा होऊँगा कि इतनेमें पूनासे गोखलेके अवसानका तार मिला। शान्तिनिकेतन शोकमें डूब गया। सब मेरे पास संवेदनाके लिए आये। मन्दिरमें विशेष सभा की गई।[1] यह गम्भीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूनाके लिए रवाना हुआ। पत्नी और मगनलाल गांधीको अपने साथ लिया, बाकी सब शान्तिनिकेतनमें रहे।

बर्दवानतक एन्ड्रयूज मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तानमें आपके लिए सत्याग्रह करनेका अवसर आयेगा? और अगर ऐसा हो, तो कब आयेगा, इसकी कोई कल्पना आपको है?"

मैंने जवाब दिया, "इसका उत्तर देना कठिन है। अभी एक वर्षतक तो मुझे कुछ करना ही नहीं है। गोखलेने मुझसे प्रतिज्ञा करवाई है कि मुझे एक वर्ष तक भ्रमण करना है, किसी सार्वजनिक प्रश्नपर अपना विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना है। मैं इस प्रतिज्ञाका अक्षरशः पालन करूँगा। बादमें भी जब मुझे किसी प्रश्न पर कुछ कहनेकी जरूरत होगी तभी मैं कहूँगा। इसलिए मैं नहीं समझता कि पाँच वर्षतक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आयेगा।"

यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'हिन्द स्वराज्य' में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, गोखले उनका मजाक उड़ाते थे और कहते थे, "आप एक वर्ष हिन्दु-स्तानमें रहकर देखेंगे, तो आपके विचार अपने-आप ठिकाने आ जायेंगे।"

५. तीसरे दर्जेकी विडम्बना

बर्दवान पहुँचकर हमें तीसरे दर्जेका टिकट लेना था। उसे लेनेमें परेशानी हुई। जवाब मिला: "तीसरे दर्जेके यात्रीको टिकट पहलेसे नहीं दिया जाता।" मैं स्टेशन-मास्टरसे मिलने गया। उनके पास मुझे कौन जाने देता? किसीने दया करके बता दिया कि स्टेशन-मास्टर वे रहे। मैं वहाँ पहुँचा। उनसे भी उपर्युक्त उत्तर ही मिला। खिड़कीके खुलने पर टिकट लेने गया। पर टिकट आसानीसे मिलनेवाला न था। बलवान यात्री एकके बाद एक घुसते जाते और मुझ-जैसोंको पीछे हटाते जाते। आखिर टिकट मिला।

गाड़ी आई। उसमें भी जो बलवान थे वे घुस गये। बैठे हुओं और चढ़नेवालोंके बीच गाली-गलौज और धक्का-मुक्की शुरू हुई। इसमें हिस्सा लेना मेरे लिए सम्भव न था। हम तीनों इधरसे उधर चक्कर काटते रहे। सब ओरसे एक ही जवाब मिलता था: "यहाँ जगह नहीं है।" मैं गार्डके पास गया। उसने कहा, "जगह मिले तो बैठो, नहीं तो दूसरी ट्रेनमें जाना।"

मैंने नम्रतापूर्वक कहा, "लेकिन मुझे जरूरी काम है।" यह सुननेके लिए गार्ड के पास समय नहीं था। मैंने हारकर मगनलालसे कहा, "जहाँ जगह मिले, बैठ

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ट २८।

जाओ।" पत्नीको लेकर मैं तीसरे दर्जेके टिकटसे ड्योढ़े दरजेमें घुसा। गार्डने उसमें जाते देख लिया था। आसनसोल स्टेशनपर गार्ड ज्यादा किरायेके पैसे लेने आया। मैंने कहा :

"मुझे जगह बताना आपका धर्म था। जगह न मिलनेके कारण मैं इसमें बैठा हूँ। आप मुझे तीसरे दर्जेमें जगह दिलाइए। मै उसमें जानेको तैयार हूँ।"

गार्ड साहब बोले, "मुझसे बहस मत कीजिए। मेरे पास जगह नहीं है। पैसे न देने हों, तो गाड़ीसे उतरना पड़ेगा।"

मुझे तो किसी भी तरह पूना पहुँचना था। गार्डसे लड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। मैंने पैसे चुका दिये। उसने ठेठ पूनातकका ड्योढ़ा भाड़ा लिया। यह अन्याय मुझे अखर गया।

सवेरे मुगलसराय स्टेशन आया। मगनलालने तीसरे दर्जेमें जगह कर ली थी। मुगलसरायमें मैं तीसरे दर्जेमें गया। टिकट कलेक्टरको मैंने वस्तु-स्थितिको जानकारी दी, और उससे इस बातका प्रमाण-पत्र माँगा कि मैं तीसरे दर्जेमें चला आया हूँ। उसने देनेसे इन्कार किया। मैंने अधिक किराया वापस प्राप्त करनेके लिए रेलवेके उच्च अधिकारीको पत्र[1] लिखा। उनकी ओरसे इस आशयका उत्तर मिला: "प्रमाण-पत्रके बिना अतिरिक्त किराया लौटानेका हमारे यहाँ रिवाज नहीं है। पर आपके मामलेमें हम लौटाये दे रहे हैं। बर्दवानसे मुगलसराय तकका ड्योढ़ा किराया वापस नहीं किया जा सकता।"

इसके बादके तीसरे दर्जेकी यात्राके मेरे अनुभव तो इतने हैं कि उनकी एक पुस्तक बन जाये। पर उनमें से कुछके प्रासंगिक उल्लेखके सिवा उनका इन प्रकरणोंमें समावेश नहीं हो सकता। शारीरिक असमर्थताके कारण तीसरे दर्जेकी मेरी यात्रा बन्द हो गई। यह बात मुझे सदा खटकी है, और आगे भी खटकती रहेगी।

तीसरे दर्जेकी यात्रामें अधिकारियोंकी मनमानीसे उत्पन्न होनेवाली विडम्बना तो रहती ही है। पर तीसरे दर्जेमें बैठनेवाले कई यात्रियोंका उजड्डपन, उनकी गन्दगी, उनकी स्वार्थबुद्धि और उनका अज्ञान भी कुछ कम नहीं होता। दुःख तो यह है कि अक्सर यात्री यह जानते नहीं कि वे अशिष्टता कर रहे हैं अथवा गन्दगी फैला रहे हैं अथवा उन्हें अपने ही मतलबकी चिन्ता ही है। वे जो करते हैं, वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। हम सभ्य और पढ़े-लिखे लोगोंने उनकी कभी चिन्ता ही नहीं की।

थके-माँदे हम कल्याण जंकशन पहुँचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलालने और मैंने स्टेशनके नलसे पानी लेकर स्नान किया। पत्नीके लिए कुछ तजवीज कर रहा था कि इतनेमें भारत-सेवक-समाजके भाई कौलने हमें पहचान लिया। वे भी पूना जा रहे थे। उन्होंने पत्नीको दूसरे दर्जेके स्नान-घरमें स्नान करानेके लिए ले जानेकी बात कही। इस सौजन्यको स्वीकार करनेमें मुझे संकोच हुआ। पत्नीको दूसरे दर्जेके स्नान-घरका उपयोग करनेका अधिकार नहीं था, इसे मैं जानता था। पर मैंने उसे

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ २८।

इस स्नान-घरमें नहाने देनेके अनौचित्यके प्रति आँखें मूँद लीं। सत्यके पुजारीको यह भी शोभा नहीं देता। पत्नीको वहाँ जानेका कोई आग्रह नहीं था, पर पतिके मोह-रूपी सुवर्णपात्रने सत्यको ढाँक लिया।[1]

६. मेरा प्रयत्न

पूना पहुँचनेपर गोखलेकी उत्तरक्रिया आदि सम्पन्न करके[2] हम सब इस प्रश्नकी चर्चामें लग गये कि अब सोसाइटी किस तरह चलाई जाये, और मुझे उसमें सम्मिलित होना चाहिए या नहीं। मुझपर भारी बोझ आ पड़ा। गोखलेके जीते-जी मेरे लिए सोसाइटीमें दाखिल होनेका प्रयत्न करना आवश्यक न था। मुझे केवल गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके अनुसार चलना था। मुझे यह स्थिति पसन्द थी। भारतवर्षके तूफानी समुद्रमें कूदते समय मुझे एक कर्णधारकी आवश्यकता थी, और गोखलेके समान कर्णधारकी छायामें मैं सुरक्षित था। अब मैंने अनुभव किया कि मुझे सोसाइटीमें भरती होनेके लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए। मुझे यह लगा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहेगी। मैंने बिना संकोचके और दृढ़तापूर्वक यह प्रयत्न शुरू किया।

इस समय सोसाइटीके लगभग सभी सदस्य पूनामें उपस्थित थे। मैंने उन्हें मनाना और मेरे विषयमें उन्हें जो डर था उसे दूर करना शुरू किया। किन्तु मैंने देखा कि सदस्योंमें मतभेद था। कुछकी राय मुझे दाखिल करनेके पक्षमें थी, दूसरोंकी दृढ़तापूर्वक मेरे प्रवेशका विरोध करती थी। मैं अपने प्रति दोनों पक्षोंके प्रेमको देख सकता था। पर मेरे प्रति प्रेमकी अपेक्षा सोसाइटीके प्रति उनकी वफादारी कदाचित् अधिक थी; प्रेमसे कम तो थी ही नहीं। इस कारण हमारी चर्चा मीठी और केवल सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए होती थी। विरुद्ध पक्षवालोंको यही लगा कि अनेक विषयोंमें मेरे और उनके विचारोंके बीच उत्तर-दक्षिणका अन्तर था। इससे भी अधिक उन्हें यह लगा कि जिन ध्येयोंको ध्यानमें रखकर गोखलेने सोसाइटीकी रचना की थी, मेरे सोसाइटीमें रहनेसे उन ध्येयोंके ही खतरेमें पड़ जानेकी पूरी संभावना है। स्वभावतः यह उन्हें असह्य प्रतीत हुआ।

लम्बी चर्चाके बाद हम एक-दूसरेसे अलग हुए। सदस्योंने अन्तिम निर्णयकी बात दूसरी सभातक उठा रखी।

घर लौटते हुए मैं विचारोंके भँवरमें पड़ गया। बहुमतसे दाखिल होनेका प्रसंग आनेपर, क्या वैसा करना मेरे लिए इष्ट होगा? क्या वह गोखलेके प्रति मेरी वफादारी मानी जायेगी? अगर मत मेरे विरुद्ध प्रकट हो, तो क्या उस दशामें मैं सोसाइटीकी स्थितिको नाजुक बनानेका निमित्त न बनूंगा? मैंने स्पष्ट देखा कि जबतक

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। ईशोपनिषद मंत्र १५।

२. गांधीजीने नदीमें तर्पण किया था; देखिए, खण्ड १३; पृष्ठ १६४।

सोसाइटीके सदस्योंमें मुझे दाखिल करनेके बारेमें मतभेद रहे, तबतक स्वयं मुझे ही दाखिल होनेका आग्रह छोड़ देना चाहिए और इस प्रकार विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिए; इसीमें सोसाइटी और गोखलेके प्रति मेरी वफादारी है। ज्यों ही अन्तरात्मामें इस निर्णयका उदय हुआ, त्यों ही मैंने श्री शास्त्रीको पत्र[1] लिखा कि वे मेरे प्रवेशके विषयमें सभा बुलायें ही नहीं। विरोध करनेवालोंको मेरा यह निश्चय बहुत पसन्द आया। वे धर्म-संकटसे बच गये। उनके और मेरे बीचकी स्नेहगाँठ अधिक दृढ़ हो गई, और सोसाइटीमें प्रवेश पानेकी अपनी अर्जीको वापस लेकर मैं सोसाइटीका सच्चा सदस्य बना।

अनुभवसे मैं देखता हूँ कि मेरा प्रथाके अनुसार सोसाइटीका सदस्य न बनना ही उचित था, और जिन सदस्योंने मेरे प्रवेशका विरोध किया था, उनका विरोध वास्तविक था। अनुभवने यह सिद्ध कर दिया है कि उनके और मेरे सिद्धान्तोंके बीच भेद था। किन्तु मतभेदको जान चुकने पर भी हमारे बीच आत्माका अन्तर कभी नहीं पड़ा, खटाई कभी पैदा नहीं हुई। मतभेदके रहते हुए भी हम परस्पर बन्धु और मित्र रहे हैं। सोसाइटीका स्थान मेरे लिए यात्राका धाम रहा है।

लौकिक दृष्टिसे मैं भले ही उसका सदस्य नहीं बना, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे तो मैं उसका सदस्य रहा ही हूँ। लौकिक सम्बन्धकी अपेक्षा आध्यात्मिक सम्बन्ध अधिक मूल्यवान है। आध्यात्मिक सम्बन्धसे रहित लौकिक सम्बन्ध प्राणहीन देहके समान है।

७. कुम्भ मेला

मुझे डा० प्राणजीवनदास मेहतासे मिलने रंगून जाना था। वहाँ जाते हुए श्री भूपेन्द्रनाथ बसुका निमन्त्रण पाकर मैं कलकत्तेमें उनके घर ठहरा था। यहाँ बंगाली शिष्टाचारकी पराकाष्ठा हो गई थी। उन दिनों मैं फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास था। कलकत्तेमें जितने प्रकारका सूखा और हरा मेवा मिला, उतना सब इकट्ठा किया गया था। स्त्रियोंने रात-भर जागकर पिस्ते वगैरा भिगोकर उनके छिलके उतारे थे। ताजे फल भी जितनी सुघड़तासे सजाये जा सकते थे, सजाये गये थे। मेरे साथियोंके लिए अनेक प्रकारके पकवान तैयार किये गये थे। मैं इस प्रेम और शिष्टाचारको तो समझा, लेकिन एक-दो मेहमानोंके लिए समूचे परिवारका सारे दिन व्यस्त रहना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। परन्तु इस मुसीबतसे बचनेका मेरे पास कोई इलाज न था।

रंगून जाते समय स्टीमरमें मैं डेकका यात्री था। यदि श्री बसुके यहाँ प्रेमकी मुसीबत थी, तो स्टीमरमें अप्रेमकी मुसीबत थी। डेककी यात्राके कष्टोंका मैंने बुरी तरह अनुभव किया। नहानेकी जगह इतनी गन्दी थी कि वहाँ खड़ा रहना भी कठिन

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ २०२।

था। पाखाने नरकके कुण्ड ही थे। मल-मूत्रादिमें से चलकर या उन्हें लाँघकर पाखानेमें जाना होता था!

मेरे लिए यह भयंकर बात थी। मैं जहाजके अधिकारीके पास पहुँचा; पर कौन सुनता है? यात्रियोंने अपनी गन्दगीसे डेकको भर डाला था। वे जहाँ बैठे होते वहीं थूक देते, वहीं सुरतीकी पीककी पिचकारियाँ चलाते, वहीं खाने-पीनेके बाद बचा हुआ कचरा डालते। बातचीतसे होनेवाले कोलाहलकी कोई सीमा न थी। सभी अपने लिए अधिकसे-अधिक जगह घेरनेकी कोशिश करते थे। कोई किसीकी सुविधाका विचार तक न करता था। वे स्वयं जितनी जगह घेरते, सामान उससे अधिक जगह घेर लेता था। ये दो दिन बड़ी घबराहटमें बीते।

रंगून पहुँचने पर मैंने एजेंटको सारा हाल लिख भेजा।[1] लौटते समय भी डेकपर ही आया। पर इस पत्रके और डॉ० मेहताके प्रबन्धके फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सुविधासे आया।

मेरे फलाहारकी झंझट तो यहाँ भी अपेक्षाकृत अधिक ही रहती थी। डॉ० मेहताके साथ ऐसा सम्बन्ध था कि उनके घरको मैं अपना ही घर समझ सकता था। इससे मैंने पदार्थोंकी मात्रा पर तो अंकुश रख लिया था, लेकिन उनकी कोई मर्यादा निश्चित नहीं की थी। इस कारण तरह-तरहका जो मेवा आता, उसका मैं विरोध न करता। नाना प्रकारकी वस्तुएँ आँखों और जीभको रुचिकर लगती थीं। खानेका कोई निश्चित समय नहीं था। मैं स्वयं जल्दी खा लेना पसन्द करता था, इसलिए बहुत देर नहीं होती थी। फिर भी रातके आठ-नौ तो सहज ही बज जाते थे।

सन् १९१५ में हरद्वारमें कुम्भका मेला था। उसमें जानेकी मेरी कोई खास इच्छा नहीं थी। लेकिन मुझे महात्मा मुंशीरामजीके दर्शनोंके लिए जरूर जाना था। कुम्भके अवसरपर गोखलेके भारत-सेवक-समाजने एक बड़ी टुकड़ी भेजी थी। उसका प्रबन्ध श्री हृदयनाथ कुंजरूके जिम्मे था। स्व० डा० देव भी उसमें थे। उनका यह प्रस्ताव था कि इस काममें मदद करनेके लिए मैं अपनी टुकड़ी भी ले जाऊँ। शान्ति-निकेतन-वाली टुकड़ीको लेकर मगनलाल गांधी मुझसे पहले हरिद्वार पहुँच गये थे। रंगूनसे लौटकर मैं भी उनसे जा मिला।

कलकत्तेसे हरद्वार पहुँचनेमें खूब परेशानी उठानी पड़ी। डिब्बोंमें कभी-कभी रोशनी तक न होती थी। सहारनपुरसे तो यात्रियोंको मालगाड़ीके या जानवरोंके डिब्बोंमें ही ठूँस दिया गया था। खुले, बिना छतवाले डिब्बोंपर दोपहरका सूरज तपता था। नीचे निरे लोहेका फर्श था। फिर घबराहटका क्या पूछना था? इतने पर भी श्रद्धालु हिन्दू अत्यन्त प्यासे होने पर भी 'मुसलमान पानी' के आने पर उसे हरगिज न पीते थे। 'हिन्दू पानी' की आवाज आती तभी वे पानी पीते। इन्हीं श्रद्धालु हिन्दुओंको डाक्टर दवामें शराब दे, माँसका सत दे अथवा मुसलमान या ईसाई कम्पाउंडर पानी दे, तो उसे लेनेमें उन्हें संकोच नहीं होता, और न पूछताछ करनेकी जरूरत होती है।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ४३।

हमने शान्तिनिकेतनमें ही देख लिया था कि भंगीका काम करना हिन्दुस्तानमें हमारा खास धन्धा ही बन जायेगा। स्वयंसेवकोंके लिए एक धर्मशालामें तम्बू लगाये गये थे। पाखानोंके लिए डा० देवने गड्ढे खुदवाये थे। पर उन गड्ढोंकी सफाईका प्रबन्ध तो ऐसे अवसरपर जो थोड़े-से वैतनिक भंगी मिल सकते थे, उन्हींके द्वारा वे करा सकते थे न? इन गड्ढोंमें जमा होनेवाले पाखानेको समय-समयपर ढँकने और दूसरी तरह उन्हें साफ रखनेका काम फीनिक्सकी टुकड़ीके जिम्मे कर देनेकी मेरी माँगको डा० देवने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। इस सेवाकी माँग तो मैंने की, लेकिन इसे करनेका बोझ मगनलाल गांधीने उठाया। मेरा धन्धा अधिकतर डेरेके अन्दर बैठकर लोगोंको 'दर्शन' देनेका और आनेवाले अनेक यात्रियोंके साथ धर्मकी या ऐसी ही दूसरी चर्चाएँ करनेका बन गया। मै दर्शन देते-देते अकुला उठा। मुझे उससे एक मिनटकी भी फुरसत न मिलती थी। नहाने जाते समय भी दर्शनाभिलाषी मुझे अकेला न छोड़ते थे। फलाहारके समय तो एकान्त होता ही कैसे? अपने तम्बूके किसी भी हिस्सेमें मैं एक क्षणके लिए भी अकेला बैठ नहीं पाया। दक्षिण आफ्रिकामें जो थोड़ी-बहुत सेवा बन पड़ी थी, उसका कितना गहरा प्रभाव सारे भरतखण्डपर पड़ा है, इसका मैं हरद्वारमें अनुभव कर सका।

मैं तो चक्कीके पाटोंके बीच पिसने लगा। जहाँ प्रकट न होता, वहाँ तीसरे दर्जेके यात्रीके नाते कष्ट उठाता और जहाँ ठहरता, वहाँ दर्शनार्थियोंके प्रेमसे अकुला उठता। मेरे लिए यह कहना प्रायः कठिन हो गया है कि इन दोमें से कौन-सी स्थिति अधिक दयनीय थी। दर्शनार्थियोंके प्रेम-प्रदर्शनसे मुझे बहुत बार गुस्सा आया है, और मनमें तो उससे भी अधिक बार दुःखी हुआ हूँ, इसका मुझे ख्याल है। तीसरे दर्जेकी कठिनाइयोंसे मुझे असुविधा हुई है, पर क्रोध शायद ही कभी आया है, और उससे मेरी उन्नति ही हुई है।

उन दिनों मुझमें घूमने-फिरनेकी अच्छी शक्ति थी। इससे काफी भ्रमण करना सम्भव हो गया था। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि रास्तोंमें चलना भी मुश्किल हो जाये। इस भ्रमणमें मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनका पागल-पन, उनकी चंचलता, उनका पाखण्ड और उनकी अव्यवस्था ही अधिक देखी। साधुओं का तो जमघट ही इकट्ठा हो गया था। ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वे सिर्फ मालपुए और खीर खानेके लिए ही जन्मे हों।

यहाँ मैंने पाँच पैरोंवाली एक गाय देखी। मुझे तो आश्चर्य हुआ, किन्तु अनु-भवी लोगोंने मेरा अज्ञान तुरन्त दूर कर दिया। पाँच पैरोंवाली गाय दुष्ट और लोभी लोगोंके लोभका बलिरूप थी। मालूम हुआ, गायके कन्धेको चीरकर उसमें जिन्दे बछड़े-का काटा हुआ पैर फँसाकर कन्धेको सी दिया जाता है और इस दोहरे कसाईपनका उपयोग अज्ञानी लोगोंको ठगनेमें किया जाता है। पाँच पैरोंवाली गायके दर्शनके लिए कौन हिन्दू न ललचायेगा? उस दर्शनके लिए वह जितना दान दे उतना कम है।

कुम्भका दिन आया। मेरे लिए वह धन्य घड़ी थी। मैं यात्राकी भावनासे हरि-द्वार नहीं गया था। तीर्थक्षेत्रमें पवित्रताकी शोधमें भटकनेका मोह मुझे कभी नहीं

रहा। किन्तु १७ लाख लोग पाखण्डी नहीं हो सकते। कहा गया था कि मेलेमें १७ लाख लोग आये होंगे। इनमें असंख्य लोग पुण्य कमानेके लिए, शुद्धि प्राप्त करनेके लिए आये थे, इसमें मुझे कोई शंका न थी। यह कहना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकारकी श्रद्धा आत्माको किस हदतक ऊपर उठाती होगी।

मैं बिछौनेपर पड़ा-पड़ा विचार-सागरमें डूब गया। चारों ओर फैले हुए पाखण्डके बीच ये पवित्र आत्माएँ भी हैं। वे ईश्वरके दरबारमें दण्डनीय नहीं मानी जायेंगी। यदि ऐसे अवसरपर हरिद्वारमें आना ही पाप हो, तो मुझे सार्वजनिक रूपसे उसका विरोध करके कुम्भके दिन तो हरिद्वारका त्याग ही करना चाहिए। यदि यहाँ आनेमें और कुम्भके दिन रहनेमें पाप न हो, तो मुझे कोई-न-कोई कठोर व्रत लेकर प्रचलित पापका प्रायश्चित्त करना चाहिए, आत्मशुद्धि करनी चाहिए। मेरा जीवन व्रतोंकी नींवपर रचा हुआ है। इसलिए मैंने कोई कठिन व्रत लेनेका निश्चय किया। मुझे उस अनावश्यक परिश्रमकी याद आई, जो कलकत्ते और रंगूनमें यजमानोंको मेरे लिए उठाना पड़ा था। इसलिए मैंने आहारकी वस्तुओंकी मर्यादा आँकने और अँधेरेसे पहले भोजन करनेका व्रत लेनेका निश्चय किया। मैंने देखा कि यदि मैं मर्यादाकी रक्षा नहीं करता हूँ, तो यजमानोंके लिए मैं भारी असुविधाका कारण बन जाऊँगा और सेवा करनेके बदले हर जगह लोगोंको अपनी सेवामें ही उलझाये रहूँगा। अतएव चौबीस घंटोंमें पाँच चीजोंसे अधिक कुछ न खानेका और रात्रिके भोजनके त्यागका व्रत मैंने ले लिया। दोनोंकी कठिनाईका पूरा विचार कर लिया। मैंने इन व्रतोंमें कोई भी गुंजाइश न रखनेका निश्चय किया। बीमारीमें दवाके रूपमें बहुत-सी चीजें लेना या न लेना, दवाकी गिनती वस्तुओंमें करना या न करना, इन सब बातोंको सोच लिया और निश्चय किया कि खानेके कोई भी पदार्थ मैं पाँचसे अधिक न लूँगा।

इन दो व्रतोंको लिये तेरह वर्ष हो चुके हैं। इन्होंने मेरी काफी परीक्षा ली है। किन्तु जिस प्रकार परीक्षा ली है, उसी प्रकार ये मेरे लिए काफी हदतक ढालरूप भी सिद्ध हुए हैं। मेरा यह मत है कि इन व्रतोंके कारण मेरा जीवन-काल बढ़ा है, और मैं मानता हूँ कि इनकी वजहसे मैं अनेक बार बीमारियोंसे बच गया हूँ।

८. लछमन झूला

जब मैं पहाड़-से दीखनेवाले महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन करने और उनका गुरुकुल देखने गया, तो मुझे वहाँ बड़ी शान्ति मिली। हरिद्वारके कोलाहल और गुरुकुलकी शान्तिके बीचका भेद स्पष्ट दिखाई देता था।

महात्माने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। ब्रह्मचारी मेरे पाससे हटते ही न थे। रामदेवजीसे भी उसी समय मुलाकात हुई, और उनकी शक्तिका परिचय मैं तुरन्त पा गया। यद्यपि हमें अपने बीच कुछ मतभेदका अनुभव हुआ, फिर भी हम परस्पर स्नेहकी गाँठसे बँध गये।

गुरुकुलमें औद्योगिक शिक्षा शुरू करनेकी आवश्यकताके बारेमें रामदेवजी और दूसरे शिक्षकोंके साथ मैंने काफी चर्चा की। मुझे गुरुकुल छोड़ते हुए दुःख हुआ।

मैंने लछमन झूलेकी तारीफ बहुत सुनी थी। बहुतोंने मुझे सलाह दी थी कि हृषीकेश गये बिना मैं हरिद्वार न छोड़ूँ। मुझे वहाँ पैदल जाना था। इसलिए एक मंजिल हृषीकेशकी और दूसरी लछमन झूलेकी थी।

हृषीकेशमें अनेक संन्यासी मुझसे मिलने आये थे। उनमें से एकको[1] मेरे जीवनमें बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई। फीनिक्स-मण्डल मेरे साथ था। उन सबको देखकर उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। हमारे बीच धर्मकी चर्चा हुई। उन्होंने देखा कि मुझमें धर्मकी तीव्र भावना है। मैं गंगा-स्नान करके आया था। इसलिए शरीर खुला था। मेरे सिर पर शिखा और जनेऊ न देखकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने मुझसे पूछा :

"आप आस्तिक होते हुए भी जनेऊ और शिखा नहीं रखते हैं, इससे हमारे समान लोगोंको दुःख होता है। ये दो हिन्दूधर्मकी बाह्य संज्ञाएँ हैं, और प्रत्येक हिन्दूको इन्हें धारण करना चाहिए।"

लगभग दस सालकी उम्रमें पोरबन्दरमें ब्राह्मणोंके जनेऊओंमें बन्धी हुई चाबियोंकी झँकार सुनकर मुझे उनसे ईर्ष्या होती थी। मैं सोचा करता था कि झंकार करनेवाली कुंजियां जनेऊमें बाँधकर मैं भी घूमूं, तो कितना अच्छा हो! उन दिनों काठियावाड़के वैश्य परिवारोंमें जनेऊ पहननेका रिवाज नहीं था। पर पहले तीन वर्णोंको जनेऊ पहनना चाहिए, इस आशयका नया प्रचार चल रहा था। उसके फलस्वरूप गांधी-कुटुम्बके कुछ व्यक्ति जनेऊ पहनने लगे थे। जो ब्राह्मण हम दो-तीन भाइयोंको राम-रक्षाका पाठ सिखाते थे, उन्होंने हमें जनेऊ पहनाया, और अपने पास कुंजी रखनेका कोई कारण न होते हुए भी मैंने दो-तीन कुंजियाँ उसमें लटका लीं। जनेऊके टूट जाने पर उसका मोह उतर गया था या नहीं, सो तो याद नहीं है। पर मैंने नया जनेऊ नहीं पहना।

बड़ी उम्र होने पर हिन्दुस्तान और दक्षिण आफ्रिकामें भी दूसरोंने मुझे जनेऊ पहनानेका प्रयत्न किया था, पर मेरे ऊपर उनकी दलीलोंका कोई असर न हुआ था। शूद्र जनेऊ न पहन सकें, तो दूसरे वर्ण क्यों पहनें? जिस बाह्य वस्तुकी प्रथा हमारे कुटुम्बमें नहीं थी, उसे आरम्भ करनेका मुझे एक भी सबल कारण नहीं दिखाई देता था।

वैष्णव होनेके कारण मैं कंठी पहनता था। शिखा तो गुरुजन हम भाइयोंके सिरपर रखाते थे। विलायत जानेके समय मैंने इस शर्मके मारे शिखा कटा दी थी कि वहाँ सिर खुला रखना होगा, गोरे शिखाको देखकर हँसेंगे और मुझे जंगली समझेंगे। मेरे साथ रहनेवाले मेरे भतीजे छगनलाल गांधी दक्षिण आफ्रिकामें बड़ी श्रद्धासे शिखा रखते थे। यह शिखा उनके सार्वजनिक काममें बाधक होगी, इस भ्रमके कारण मैंने उनका मन दुखाकर भी उसे कटवा दिया था। यों शिखा रखनेमें मुझे शर्म लगती थी।

मैंने स्वामीजीको उपर्युक्त बातें कह सुनाईं और कहा :

"मैं जनेऊ तो धारण नहीं करूँगा। जिसे न पहनते हुए भी असंख्य हिन्दू हिन्दू माने जाते हैं, उसे पहननेकी मैं अपने लिये कोई जरूरत नहीं देखता। फिर, जनेऊ

१. मंगलनाथजी; देखिए खण्ड १३, पृष्ठ १६७।

धारण करनेका अर्थ है, दूसरा जन्म लेना, अर्थात् स्वयं संकल्पपूर्वक शुद्ध बनना, ऊर्ध्वगामी बनना। आजकल हिन्दू समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी हुई हालतमें हैं। उसमें जनेऊ धारण करनेका हमें अधिकार ही कहाँ है? हिन्दू समाजको जनेऊका अधिकार तभी हो सकता है, जब वह अस्पृश्यताका मैल धो डाले, ऊँच-नीचकी बात भूल जाये, जड़ें जमाये हुए दूसरे दोषोंको दूर करे और चारों ओर फैले हुए अधर्म तथा पाखण्डका अन्त कर दे। इसलिए जनेऊ धारण करनेकी आपकी बात मेरे गले नहीं उतरती। किन्तु शिखाके सम्बन्धमें आपकी बात मुझे अवश्य सोचनी होगी। शिखा तो मैं रखता था। उसे मैंने शर्म और डरके मारे ही कटा डाला है। मुझे लगता है कि शिखा धारण करनी चाहिए। मैं इस सम्बन्धमें अपने साथियोंसे चर्चा करूँगा।"

स्वामीजीको जनेऊके बारेमें मेरी दलील अच्छी न लगी। जो कारण मैंने न पहननेके लिए दिये, वे उन्हें पहननेके पक्षमें दिखाई पड़े। जनेऊके विषयमें हृषीकेशमें मैंने जो विचार प्रकट किये थे, वे आज भी लगभग उसी रूपमें कायम हैं। जब तक अलग-अलग धर्म मौजूद हैं, तबतक प्रत्येक धर्मको किसी विशेष बाह्य चिन्हकी आवश्यकता हो सकती है। लेकिन जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर बन जाती है अथवा अपने धर्मको दूसरे धर्मसे अलग बतानेके काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है। मैं नहीं मानता कि आजकल जनेऊ हिन्दू धर्मको ऊपर उठानेका साधन है। इसलिए उसके विषयमें मैं तटस्थ हूँ।

शिखाका त्याग स्वयं मेरे लिए लज्जाका कारण था। इसलिए साथियोंसे चर्चा करके मैंने उसे धारण करनेका निश्चय किया।

पर अब हम लछमन झूलाकी बात लें। हृषीकेश और लछमन झूलाके प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत भले लगे। प्राकृतिक कलाको पहचाननेकी पूर्वजोंकी शक्तिके विषयमें और इस कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दूरन्देशीको लेकर मैंने मन-ही-मन अत्यन्त आदरका अनुभव किया।

किन्तु मनुष्यकी कृतिसे चित्तको शान्ति न मिली। हरिद्वारकी तरह हृषीकेशमें भी लोग रास्तोंको और गंगाके सुन्दर किनारोंको गन्दा कर देते थे। गंगाके पवित्र जलको दूषित करनेमें भी उन्हें किसी प्रकारका संकोच न होता था। पाखाने जानेवाले दूर जानेके बदले जहाँ लोगोंकी आमद-रफ्त होती, वहीं हाजत रफा करने बैठ जाते थे। यह देखकर हृदयको बहुत आघात पहुँचा।

लछमन झूला जाते हुए लोहेका झूलता पुल देखा। लोगोंसे सुना कि यह पुल पहले रस्सियोंका था और बहुत मजबूत था। उसे तोड़कर एक उदार हृदय मारवाड़ी सज्जनने बड़ा दान देकर लोहेका पुल बनवा दिया, और उसकी चाबी सरकारको सौंप दी! रस्सियोंके पुलकी मुझे कोई कल्पना नहीं है, पर लोहेका पुल प्राकृतिक वातावरणको कलुषित कर रहा था और बहुत अप्रिय मालूम होता था। यात्रियोंके इस रास्तेकी चाबी सरकारको सौंप दी गई, यह चीज मेरी उस समयकी वफ़ादारीको भी असह्य लगी।

वहाँसे भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रमका था। टीनकी चादरोंकी तबेले-जैसी कोठरियोंको स्वर्गाश्रमका नाम दिया गया था। मुझे बतलाया गया कि ये साधकोंके लिए बनवाई गई थीं। उस समय उनमें शायद ही कोई साधक रहता था। उनके पास बने मुख्य भवनमें रहनेवालोंने भी मुझपर अच्छा असर न डाला।

पर हरिद्वारके अनुभव मेरे लिए अमूल्य सिद्ध हुए। मुझे कहाँ बसना और क्या करना चाहिए, इसका निश्चय करनेमें हरिद्वारके अनुभवोंने मेरी बड़ी मदद की।

९. आश्रमकी स्थापना

कुम्भकी यात्रा मेरी हरिद्वारकी दूसरी यात्रा थी।

सन् १९१५ के मई महीनेकी २५ तारीखके दिन सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापना हुई। श्रद्धानन्दजीकी इच्छा थी कि मैं हरिद्वारमें बसूँ। कलकत्तेके कुछ मित्रोंकी सलाह वैद्यनाथ-धाममें बसानेकी थी। कुछ मित्रोंका प्रबल आग्रह राजकोटमें बसनेका था। किन्तु जब मैं अहमदाबादसे गुजरा, तो बहुत-से मित्रोंने अहमदाबाद पसन्द करनेको कहा और आश्रमका खर्च खुद ही उठानेका जिम्मा लिया। उन्होंने मकान खोज देना भी कबूल किया।

अहमदाबादपर मेरी नजर टिकी थी। गुजराती होनेके कारण मैं मानता था कि गुजराती भाषा द्वारा मैं देशकी अधिकसे-अधिक सेवा कर सकूँगा। यह भी धारणा थी कि चूँकि अहमदाबाद पहले हाथकी बुनाईका केन्द्र था, इसलिए चरखेका काम यहीं अधिक अच्छी तरह हो सकेगा। साथ ही, यह आशा भी थी कि गुजरातका मुख्य नगर होनेके कारण यहाँके धनी लोग धनकी अधिक मदद कर सकेंगे।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ मैंने जो चर्चाएँ कीं, उनमें अस्पृश्योंके प्रश्नपर भी चर्चा हुई। मैंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि यदि कोई योग्य अन्त्यज भाई आश्रममें भरती होना चाहेगा, तो मैं उसे अवश्य भरती करूँगा।

"आपकी शर्तोंका पालन कर सकनेवाले अन्त्यज क्या रास्तेमें पड़े हैं?" यों कहकर एक वैष्णव मित्रने अपने मनका समाधान कर लिया।

और आखिर अहमदाबादमें बसनेका निश्चय हुआ।

मकानोंकी तलाश करते हुए कोचरबमें श्री जीवनलाल बैरिस्टरका मकान किराये पर लेनेका निश्चय हुआ। श्री जीवनलाल मुझे अहमदाबादमें बसानेवालोंमें अग्रगण्य थे।

तुरन्त ही प्रश्न उठा कि आश्रमका नाम क्या रखा जाये? मैंने मित्रोंसे सलाह की। कई नाम सामने आये। सेवाश्रम, तपोवन आदि नाम सुझाये गये थे। सेवाश्रम नाम प्रिय था, पर उससे सेवाकी रीतिका बोध नहीं होता था। तपोवन नाम पसन्द किया ही नहीं जा सकता था, क्योंकि यद्यपि मुझे तपश्चर्या प्रिय थी, फिर भी यह नाम बहुत भारी प्रतीत हुआ। हमें तो सत्यकी पूजा, सत्यकी शोध करनी थी, उसीका आग्रह रखना था और दक्षिण आफ्रिकामें मैंने जिस पद्धतिका उपयोग किया था, उसका परिचय भारतवर्षको कराना था तथा यह देखना था कि उसकी शक्ति कहाँ

तक व्यापक हो सकती है। इसलिए मैंने और साथियोंने सत्याग्रह आश्रम नाम पसन्द किया। इस नामसे सेवाका और सेवाकी पद्धतिका भाव सहज ही प्रकट होता था।

आश्रम चलानेके लिए नियमावलीकी आवश्यकता थी। अतएव मैंने नियमावलीका मसविदा[1] तैयार करके उसपर मित्रोंकी राय माँगी। बहुत-सी सम्मतियोंमें से सर गुरुदास बनर्जीकी सम्मति मुझे याद रह गई है। उन्हें नियमावली पसन्द आई, पर उन्होंने सुझाया कि व्रतोंमें नम्रता-व्रतको स्थान देना चाहिए। उनके पत्रकी ध्वनि यह थी कि हमारे युवक-वर्गमें नम्रताकी कमी है। यद्यपि नम्रताके अभावका अनुभव मैं जगह-जगह करता था, फिर भी नम्रताको व्रतोंमें स्थान देनेसे नम्रताके नम्रता न रह जानेका भय लगता था, नम्रताका सम्पूर्ण अर्थ तो शून्यता है। शून्यताकी प्राप्तिके लिए दूसरे व्रत हो सकते हैं। शून्यता मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु अथवा सेवकके प्रत्येक कार्यमें नम्रता — अथवा निरभिमानता — न हो तो वह मुमुक्षु नहीं है, सेवक नहीं है; वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तमिल भाई थे। दक्षिण आफ्रिकासे मेरे साथ पाँच तमिल बालक आये थे और दूसरे यहींके थे। लगभग पचीस स्त्री-पुरुषोंसे आश्रमका आरम्भ हुआ था।

सब एक रसोईमें भोजन करते थे, और इस तरह रहनेकी कोशिश करते थे मानो एक ही कुटुम्बके हों।

१०. कसौटीपर चढ़े

आश्रमको कायम हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे कि इतनेमें जैसी कसौटीकी मुझे आशा नहीं थी वैसी कसौटी हमारी हुई। भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला — "एक गरीब और प्रामाणिक अन्त्यज परिवार है। वह आपके आश्रममें आकर रहना चाहता है। उसे भरती करेंगे?"

मैं चौंका। ठक्करबापा-जैसे पुरुषकी सिफारिश लेकर कोई अन्त्यज परिवार इतनी जल्दी आयेगा, इसकी मुझे जरा भी आशा न थी। मैंने साथियोंको पत्र पढ़नेके लिए दिया। उन्होंने उसका स्वागत किया।

भाई अमृतलाल ठक्करको लिखा गया कि यदि वह परिवार आश्रमके नियमोंका पालन करनेको तैयार हो, तो हम उसे भरती करनेको तैयार हैं।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दूध पीती और घुटनों चलती बच्ची लक्ष्मी[2] तीनों आये। दूदाभाई बम्बईमें शिक्षकका काम करते थे। नियमोंका पालन करनेको तैयार थे। उन्हें आश्रममें रख लिया।

सहायक मित्र-मण्डलमें खलबली मच गई। जिस कुएँमें बंगलेके मालिकका हिस्सा था, उस कुएँसे पानी भरनेमें अड़चन होने लगी। चरसवाले पर हमारे पानीके छींटे

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ९५ और खण्ड ३६, पृष्ठ ९५-१०१।

२. देखिए खण्ड १९, पृष्ठ १५७।

पड़ जाते, तो वह भ्रष्ट हो जाता। उसने गालियाँ देना और दूदाभाईको सताना शुरू किया। मैंने सबसे कह दिया कि गालियाँ सहते जाओ और दृढ़तापूर्वक पानी भरते रहो। हमें चुपचाप गालियाँ सुनते देखकर चरसवाला शरमिन्दा हुआ और उसने गालियाँ देना बन्द कर दिया।

पर पैसेकी मदद बन्द हो गई। जिन भाईने आश्रमके नियमोंका पालन करनेवाले अन्त्यजोंके प्रवेशके बारेमें पहलेसे ही शंका की थी, उन्हें तो आश्रममें अन्त्यजके भरती होनेकी आशा ही न थी।

पैसेकी मदद बन्द होनेके साथ बहिष्कारकी अफवाहें मेरे कानोंतक आने लगीं। मैंने साथियोंसे चर्चा करके तय कर रखा था: "यदि हमारा बहिष्कार किया जाये और हमें कहींसे कोई मदद न मिले, तो भी अब हम अहमदाबाद नहीं छोड़ेंगे। अन्त्यजोंकी बस्तीमें जाकर उनके साथ रहेंगे और जो-कुछ मिलेगा उससे अथवा मजदूरी करके अपना निर्वाह करेंगे।"

आखिर मगनलालने मुझे नोटिस दिया: "अगले महीने आश्रमका खर्च चलानेके लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं।"

मैंने धीरजसे जवाब दिया: "तो हम अन्त्यजोंकी बस्तीमें रहने चले जायेंगे।"

मुझपर ऐसा संकट पहली ही बार नहीं आया था। हर बार अन्तिम घड़ीमें प्रभुने मदद भेजी है। मगनलालके नोटिस देनेके बाद तुरन्त ही एक दिन सवेरे किसी लड़केने आकर खबर दी: "बाहर मोटर खड़ी है और एक सेठ आपको बुला रहे हैं।" मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे पूछा: "मेरी इच्छा आश्रमको कुछ मदद देनेकी है। आप लेंगे?"

मैंने जवाब दिया: "अगर आप कुछ देंगे, तो मैं जरूर लूँगा। मुझे कबूल करना चाहिए कि इस समय मैं आर्थिक संकटमें भी हूँ।"

"मैं कल इसी समय आऊँगा। तब आप आश्रममें होंगे?"

मैंने 'हाँ' कहा और सेठ चले गये। दूसरे दिन नियत समयपर मोटरका भोंपू बोला। लड़कोंने खबर दी। सेठ अन्दर नहीं आये। मैं उनसे मिलने गया। वे मेरे हाथपर तेरह हजारके नोट रखकर बिदा हो गये।

मैंने इस मददकी कभी आशा नहीं रखी थी। मदद देनेकी यह रीति भी नई देखी। उन्होंने आश्रममें पहले कभी कदम नहीं रखा था। मुझे याद आता है कि मैं उनसे एक ही बार मिला था। न आश्रममें आना, न कुछ पूछना; बाहर ही बाहर पैसे देकर लौट जाना! ऐसा यह मेरा पहला ही अनुभव था। इस सहायताके कारण अन्त्यजोंकी बस्तीमें जाना रुक गया। मुझे लगभग एक सालका खर्च मिल गया।

पर जिस तरह बाहर खलबली मची, उसी तरह आश्रममें भी मची। यद्यपि दक्षिण आफ्रिकामें मेरे यहाँ अन्त्यज आदि आते रहते और भोजन करते थे, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अन्त्यज कुटुम्बका आना मेरी पत्नीको और आश्रमकी दूसरी स्त्रियोंको पसन्द आया। उनकी दानीबहनके प्रति घृणा नहीं तो उदासीनता तो थी ही; और उस उदासीनताको मेरी अत्यन्त सूक्ष्म आँखें देख पाती थीं और तेज कान सुन पाते थे। आर्थिक सहायताके अभावके डरने मुझे जरा भी चिन्तित नहीं किया

था। पर यह आन्तरिक क्षोभ कठिन सिद्ध हुआ।[1] दानीबहन साधारण स्त्री थी। दूदाभाईकी शिक्षा भी साधारण थी, पर उनकी बुद्धि अच्छी थी। उनका धीरज मुझे पसन्द आया था। उन्हें कभी-कभी गुस्सा आता था, पर कुल मिलाकर उनकी सहन-शक्तिकी मुझपर अच्छी छाप पड़ी थी। मैं दूदाभाईको समझाता था कि वे छोटे-मोटे अपमान पी लिया करें। वे समझ जाते थे, और दानीबहनसे भी सहन करवाते थे।

इस परिवारको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुत-कुछ सीखा, और प्रारम्भिक कालमें ही इस बातके बिलकुल स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यताके लिए कोई स्थान नहीं है, आश्रमकी मर्यादा निश्चित हो गई; और इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया। इसके बावजूद कि आश्रमका खर्च बराबर बढ़ रहा था, मुख्यतः कट्टर माने जानेवाले हिन्दुओंकी तरफसे सहायता मिलती रही। कदाचित् यह इस बातका स्पष्ट सूचक है कि अस्पृश्यताकी जड़ें भली भाँति हिल गई थीं। इसके अन्य अनेक प्रमाण तो है ही। परन्तु अपनेको सनातनी माननेवाले हिन्दू जहाँ अन्त्यजके साथ रोटी तकका व्यवहार रखा जाता हो, वहाँ भी मदद दें, यह कोई नगण्य प्रमाण नहीं माना जायेगा।

इसी प्रश्नको लेकर आश्रममें हुई एक और स्पष्टता, उसके सिलसिलेमें उत्पन्न हुए नाजुक प्रश्नोंका समाधान, कुछ अनसोची अड़चनोंका स्वागत इत्यादि सत्यकी खोजके सिलसिलेमें हुए प्रयोगोंका वर्णन प्रस्तुत होते हुए भी, मुझे छोड़ देना पड़ रहा है। इसका मुझे दुःख है। किन्तु अब आगेके प्रकरणोंमें यह दोष रहने ही वाला है। मुझे महत्वके तथ्य छोड़ देने पड़ेंगे, क्योंकि उनमें हिस्सा लेनेवाले पात्रोंमें से बहुतेरे अभी मौजूद हैं, और उनकी सम्मतिके बिना उनके नामोंका और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रसंगोंका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करना अनुचित मालूम होता है। समय-समयपर सबकी सम्मति मँगवाना अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले तथ्योंको उनके पास भेजकर सुधरवाना सम्भव नहीं है, और यह आत्मकथाकी मर्यादाके बाहरकी बात है। अतएव इसके आगेकी कथा यद्यपि मेरी दृष्टिमें सत्यके शोधकके लिए जानने योग्य है, तथापि मुझे डर है कि वह अधूरी ही दी जा सकेगी। तिसपर भी मेरी इच्छा और आशा यह है कि भगवान् पहुँचने दें, तो असहयोगके युगतक पहुँच जाऊँ।

११. गिरमिटकी प्रथा[2]

अब नये बसे हुए और भीतरी तथा बाहरी तूफानोंसे उबरे हुए आश्रमको छोड़कर यहाँ गिरमिट-प्रथापर थोड़ा विचार कर लेनेका समय आ गया है।

'गिरमिटिया' यानी वे मजदूर जो पाँच बरस या इससे कमकी मजदूरीके इकरारनामेपर सही करके हिन्दुस्तानके बाहर मजदूरी करने गये हों। नेटालके ऐसे गिरमिटियोंपर लगा तीन पौंडका वार्षिक कर सन् १९१४ में उठा दिया गया, पर गिरमिटकी प्रथा अभीतक बन्द नहीं हुई थी।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ १२९।
२. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ २४९।

सन् १९१६ में भारत-भूषण पण्डित मालवीयजीने यह प्रश्न धारासभामें उठाया था और लार्ड हार्डिंगने उनका प्रस्ताव स्वीकार करके घोषित किया था कि 'समय आनेपर' इस प्रथाको नष्ट करनेका वचन मुझे सम्राट्की ओरसे मिला है। लेकिन मुझे तो स्पष्ट लगा कि इस प्रथाको तत्काल ही बन्द करनेका निर्णय हो जाना चाहिए। हिन्दुस्तानने अपनी लापरवाहीसे बरसोंतक इस प्रथाको चलने दिया। मैंने माना कि अब इस प्रथाको बन्द कराने योग्य जागृति लोगोंमें आ गई है। मैं कुछ नेताओंसे मिला, कुछ समाचारपत्रोंने इस विषयमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाको मिटा देनेके पक्षमें है। क्या इसमें सत्याग्रहका उपयोग हो सकता है? मुझे इस विषयमें कोई शंका नहीं थी, पर उसका उपयोग कैसे किया जाये, सो मैं नहीं जानता था।

इस बीच वाइसरायने 'समय आनेपर' शब्दका अर्थ समझानेका अवसर खोज लिया। उन्होंने घोषित किया कि "दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना समय लगेगा उतने समयमें" यह प्रथा उठा दी जायेगी।

अतएव जब सन् १९१७ के फरवरी महीनेमें भारत-भूषण पण्डित मालवीयजीने गिरमिट-प्रथा सदाके लिए समाप्त कर देनेका कानून बड़ी धारासभामें पेश करनेकी इजाजत माँगी, तो वाइसरायने वैसा करनेसे इन्कार कर दिया। अतएव इस प्रश्नके सम्बन्धमें मैंने हिन्दुस्तानमें घूमना शुरू किया।

भ्रमण आरम्भ करनेसे पहले मुझे वाइसरायसे मिल लेना उचित मालूम हुआ। उन्होंने तुरन्त ही मुझे मिलनेकी तारीख भेजी। उस समयके श्री मेफी, अब सर जान मेफी, उनके मन्त्री थे। श्री मेफीके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया। लार्ड चेम्सफोर्डके साथ सन्तोषजनक बातचीत हुई। उन्होंने निश्चयपूर्वक तो कुछ न कहा, पर मुझे उनकी मददकी आशा बँधी।

भ्रमणका आरम्भ मैंने बम्बईसे किया। बम्बईमें सभा करनेका जिम्मा श्री जहाँगीर पेटिटने अपने सिर लिया। इम्पीरियल सिटिजनशिप एसोसिएशनके नामसे सभा हुई। उसमें पेश किये जानेवाले प्रस्तावोंको तैयार करनेके लिए समितिकी बैठक हुई। उसमें डा० रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, श्री नटराजन आदि थे। श्री पेटिट तो थे ही। प्रस्तावमें गिरमिटिया प्रथा बन्द करनेकी विनती करनी थी। प्रश्न यह था कि वह कब बन्द की जाये? तीन सुझाव थे: 'जितनी जल्दी हो सके,' 'इकतीसवीं जुलाई तक' और 'तुरन्त।' 'इकतीसवीं जुलाई' का मेरा सुझाव था। मुझे तो निश्चित तारीखकी जरूरत थी, ताकि उस अवधिमें कुछ न हो, तो यह सोचा जा सके कि आगे क्या करना है या क्या हो सकता है। सर लल्लूभाईका सुझाव 'तुरन्त' शब्द रखनेका था। उन्होंने कहा: "इकतीसवीं जुलाई' की अपेक्षा 'तुरन्त' शब्द अधिक शीघ्रता-सूचक है।" मैंने समझानेका प्रयत्न किया कि जनता 'तुरन्त' शब्दको नहीं समझ सकती। जनतासे कुछ काम लेना हो, तो निश्चयात्मक शब्द होना चाहिए। 'तुरन्त' का अर्थ तो सब अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार करेंगे। सरकार उसका एक अर्थ करेगी, जनता दूसरा करेगी। 'इकतीसवीं जुलाई' का अर्थ सब एक ही करेंगे,

और इस तारीख तक मुक्ति न मिली तो हमें क्या कदम उठाना चाहिए, सो हम सोच सकेंगे। यह दलील डा० रीडके गले तुरन्त उतर गई। अन्तमें सर लल्लूभाईको भी इकतीसवीं जुलाई पसन्द आ गई और प्रस्तावमें यह तारीख रखी गई। सार्वजनिक सभामें यह प्रस्ताव पेश किया गया और सर्वत्र' 'इकतीसवीं जुलाई'की सीमा अंकित हुई।

बम्बईसे श्रीमती जाइजी पेटिटके अथक परिश्रमसे स्त्रियोंका एक शिष्टमण्डल वाइसरायके पास पहुँचा। उसमें लेडी ताता, स्व० दिलशाद बेगम आदि महिलाएँ थीं। सब बहनोंके नाम तो मुझे याद नहीं हैं, पर इस डेप्युटेशनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था और वाइसरायने उन्हें आशाजनक उत्तर दिया था।

मैं कराची, कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी हो आया था। सब जगह अच्छी सभाएँ हुई थीं, और लोगोंमें सर्वत्र खूब उत्साह था। आन्दोलन आरम्भ करते समय मुझे यह आशा नहीं थी कि ऐसी सभाएँ होंगी और उनमें लोग इतनी संख्यामें उपस्थित होंगे।

इन दिनों मेरी यात्रा अकेले ही होती थी, इस कारण अनोखे अनुभव प्राप्त होते थे। खुफिया पुलिसवाले तो मेरे पीछे लगे ही रहते थे। उनके साथ मेरा झगड़ा होनेका कोई कारण ही न था। मुझे कोई बात छिपानी नहीं थी। इससे वे मुझे परेशान नहीं करते थे और न मैं उन्हें परेशान करता था। सौभाग्यसे, उस समय मुझे 'महात्मा'की पदवी नहीं मिली थी, यद्यपि जहाँ मैं पहचान लिया जाता था, वहाँ इस नामका घोष जरूर होता था।

एक बार रेलमें जाते हुए कई स्टेशनों पर खुफिया पुलिसवाले मेरा टिकट देखने आते और नम्बर वगैरा लेते रहते थे। उनके प्रश्नोंका उत्तर मैं उन्हें तुरन्त ही दे देता था। साथी यात्रियोंने मान लिया था कि मैं कोई सीधा-सादा साधु अथवा फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशनों तक खुफिया पुलिसवाले आये, तो यात्री चिढ़ गये और उन्हें गालियाँ देकर धमकाया: "इस बेचारे साधुको नाहक क्यों सताते हो?" मेरी ओर मुड़कर बोले, "इन बदमाशोंको टिकट मत दिखाओ।"

मैंने यात्रियोंको धीमी आवाजमें कहा, "उनके टिकट देखने से मुझे कोई परेशानी नहीं होती। वे अपना कर्त्तव्य करते हैं। उससे मुझे कोई कष्ट नहीं होता।" यात्रियोंके गले यह बात नहीं उतरी। वे मुझपर अधिक तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि निर्दोष आदमियोंको इस तरह तंग क्यों किया जाता है?

खुफिया पुलिसवालोंसे तो मुझे कोई तकलीफ नही मालूम हुई, पर रेलकी भीड़से तकलीफका मुझे लाहौरसे दिल्लीके बीच कड़वेसे कड़वा अनुभव हुआ। कराचीसे कलकत्ते तक लाहौरके रास्ते जाना था। लाहौरमें ट्रेन बदलनी थी। वहाँकी ट्रेनमें मेरी दाल कहीं गलती नहीं थी। यात्री जबरदस्ती अपना रास्ता बना लेते थे। दरवाजा बन्द होता, तो खिड़कीमेंसे अन्दर घुसते थे। मुझे निश्चित तारीख पर कलकत्ते पहुँचना था। यह ट्रेन खो देता, तो कलकत्ते पहुँच न पाता। मैं जगह मिलनेकी आशा छोड़ बैठा था। कोई मुझे अपने डिब्बेमें आने न देता था। आखिर एक मजदूरने मुझे जगह ढूँढ़ते देखकर कहा, "मुझे बारह आने दो, तो जगह दिला दूं।" मैंने कहा, "मुझे जगह दिला दो, तो जरूर बारह आने दूंगा।" बेचारा मजदूर यात्रियोंसे

गिड़गिड़ाकर कह रहा था, पर कोई मुझे लेनेको तैयार न होता था। ट्रेन छूटने ही वाली थी कि एक डिब्बेके कुछ यात्रियोंने कहा, "यहाँ जगह नहीं है, लेकिन इसको भीतर घुसा सकते हो, तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा।" मजदूर मेरी ओर देखकर बोला, "क्यों जी?" मैंने 'हाँ' कहा और उसने मुझे उठाकर खिड़कीमें से अन्दर डाल दिया। मैं अन्दर पहुँचा, और उस मजदूरने बारह आने कमा लिये।

मेरी यह रात मुश्किलसे बीती। दूसरे यात्री तो ज्यों-त्यों करके बैठ गये। मैं ऊपरवाली बैठकको जंजीर पकड़कर दो घंटे खड़ा ही रहा। इस बीच कुछ यात्री मुझे धमकाते रहे: "अजी, तुम अब तक बैठते क्यों नहीं हो?" मैंने बहुतेरा समझाया कि कहीं जगह नहीं है। यद्यपि वे ऊपरकी बैठकों पर आरामसे लम्बे होकर पड़े थे, पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना भी सहन नहीं हो रहा था। बार-बार मुझे परेशान करते थे। वे जितना मुझे परेशान करते, उतनी ही शान्तिसे मैं उन्हें जवाब देता था। इससे वे कुछ शान्त हुए। मेरा नाम-धाम पूछा। जब मुझे नाम बतलाना पड़ा तब वे शरमाये। मुझसे माफी माँगी और मेरे लिए अपनी बगलमें जगह कर दी। 'सब्रका फल मीठा होता है' कहावत मुझे याद आई। मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। बैठनेके लिए जगहकी जब सचमुच जरूरत थी, तब ईश्वरने दिला दी।

इस तरह मैं टकराता और धक्कामुक्की बरदाश्त करता हुआ समय पर कलकत्ते पहुँच गया। कासिम बाजारके महाराजने अपने यहाँ उतरनेका निमन्त्रण दे रखा था। कलकत्तेकी सभाके अध्यक्ष भी वह थे। कराचीकी ही तरह कलकत्तेमें भी लोगोंका उत्साह उमड़ा पड़ता था। कुछ अंग्रेज भी सभामें उपस्थित थे।

इकतीसवीं जुलाईके पहले[१] गिरमिटकी प्रथा बन्द होनेकी घोषणा हो गई।

सन् १८९४ में इस प्रथाका विरोध करनेवाला पहला प्रार्थना-पत्र मैंने तैयार किया था और यह आशा रखी थी कि किसी दिन यह 'अर्ध-गुलामी' अवश्य ही रद होगी।

१८९४ से शुरू किये गये इस प्रयत्नमें बहुतोंकी सहायता थी। पर यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इसके पीछे शुद्ध सत्याग्रह था।

इसका विशेष विवरण और इसमें भाग लेनेवाले पात्रोंकी जानकारी पाठकोंको 'दक्षिण आफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' में अधिक मिलेगी।

१२. नीलका दाग

चम्पारन जनक राजाकी भूमि है। जिस तरह चम्पारनमें आमके वन हैं, उसी तरह सन् १९१७में वहाँ नीलके खेत थे। चम्पारनके किसान अपनी ही जमीनके $\frac{3}{20}$ भागमें नीलकी खेती उसके असल मालिकोंके लिए करनेको कानूनसे बँधे हुए थे। इसे वहाँ 'तिनकठिया' कहा जाता था। बीस कट्ठेका वहाँ एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे जमीनमें नील बोनेकी प्रथाको 'तिन कठिया' कहते थे।

१. ब्रिटिश गायना, ट्रिनीडाड, जमैका और फीजीमें एक नई सहायताप्राप्त प्रवास योजनापर विचार करनेके लिए लन्दनमें मई १९१७ को अन्तर्विभागीय सम्मेलन हुआ था।

मुझे स्वीकार करना चाहिए कि वहाँ जानेसे पहले मैं चम्पारनका नाम तक नहीं जानता था। नीलकी खेती होती है, इसका ख्याल भी नहीं के बराबर था। नीलकी गोटियाँ मैंने देखी थीं, पर वे चम्पारनमें होती हैं और उनके कारण हजारों किसानोंको कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं थी।

राजकुमार शुक्ल नामक चम्पारनके एक किसान थे। उन्हें इस प्रथासे कष्ट हो रहा था। यह उन्हें अखरता था। लेकिन अपने इस दुःखके कारण उनमें नीलके इस दागको सबके लिए धो डालनेकी तीव्र लगन पैदा हो गई थी।

जब मैं लखनऊ कांग्रेसमें गया, तो वहाँ इस किसानने मेरा पीछा पकड़ा। 'वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे,' वे ऐसा कहते जाते और मुझे चम्पारन आनेका निमन्त्रण देते जाते थे। वकील बाबूसे मतलब था, चम्पारनके मेरे प्रिय साथी, बिहारके सेवा-जीवनके प्राण ब्रजकिशोर बाबूसे। राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तम्बूमें लाये। उन्होंने काले आलपाकाकी अचकन, पतलून वगैरा पहन रखी थी। मेरे मन पर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने मान लिया कि वे भोले किसानोंको लूटनेवाले कोई वकील साहब होंगे। मैंने उनसे चम्पारनकी थोड़ी कथा सुनी। अपने रिवाजके अनुसार मैंने जवाब दिया, "खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप कांग्रेसमें बोलियेगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिए।" राजकुमार शुक्लको कांग्रेसकी मददकी तो जरूरत थी ही। ब्रजकिशोर बाबू चम्पारनके बारेमें कांग्रेसमें बोले और सहानुभूति-सूचक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल प्रसन्न हुए। पर उन्हें इतनेसे ही सन्तोष न हुआ। वे तो खुद मुझे चम्पारनके किसानोंके दुःख बताना चाहते थे। मैंने कहा, "अपने भ्रमणमें मैं चम्पारनको भी सम्मिलित कर लूँगा और एक-दो दिन वहाँ ठहरूँगा।" उन्होंने कहा: "एक दिन काफी होगा। खुद अपनी आँखों देख तो लीजिए।

लखनऊसे मैं कानपुर गया था। वहाँ भी राजकुमार शुक्ल हाजिर ही थे। "यहाँसे चम्पारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिए।" "अभी मुझे माफ कीजिए। पर मैं चम्पारन आनेका वचन देता हूँ।" यह कहकर मैं ज्यादा बँध गया।

मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहाँ भी मेरे पीछे लगे ही रहे। "अब तो दिन मुकर्रर कीजिए।" मैंने कहा, "मुझे फलाँ तारीखको कलकत्ते जाना है, वहाँ आइए और मुझे ले जाइए।" कहाँ जाना, क्या करना और क्या देखना है, इसकी मुझे कोई जानकारी न थी।

कलकत्तेमें भूपेन बाबूके यहाँ मेरे पहुँचनेके पहले उन्होंने वहाँ डेरा डाल दिया था। इस अपढ़, अनगढ़ परन्तु निश्चयवान किसानने मुझे जीत लिया।

सन् १९१७ के आरम्भमें कलकत्तेसे हम दो व्यक्ति रवाना हुए। दोनोंकी एक-सी जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही लगते थे। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ीमें ले गये, उसपर हम दोनों सवार हुए। सवेरे पटना उतरे।

पटनाकी यह मेरी पहली यात्रा थी। वहाँ किसीके साथ मेरा ऐसा परिचय नहीं था, जिससे उनके घर उतर सकूँ। मैंने यह सोच लिया था कि राजकुमार शुक्ल अनपढ़ किसान हैं, तथापि उनका वसीला तो होगा ही। ट्रेनमें मुझे उनकी

कुछ अधिक जानकारी मिलने लगी। पटनामें उनका परदा खुल गया। राजकुमार शुक्लकी बुद्धि निर्दोष थी। उन्होंने जिन वकीलोंको अपना मित्र मान रखा था, वे वकील उनके मित्र नहीं थे; बल्कि वे तो राजकुमार शुक्लको अपना आश्रित जैसा मानते थे। किसान मुवक्किल और वकीलोंके बीच चौमासेकी गंगाके चौड़े पाटके बराबर अन्तर था।

मुझे वे राजेन्द्र बाबूके[1] घर ले गये। राजेन्द्र बाबू पुरी अथवा और कहीं गये थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। मेरे साथ खानेकी कुछ सामग्री थी। मुझे थोड़ी खजूरकी जरूरत थी। बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजारसे ले आये।

पर बिहारमें तो छुआछूतका बहुत कड़ा रिवाज था। मेरी बालटीके पानीके छींटे नौकरको भ्रष्ट करते थे। नौकरको क्या पता कि मैं किस जातिका हूँ। राजकुमार शुक्लने अन्दरके पाखानेका उपयोग करनेको कहा। नौकरने बाहरके पाखानेकी ओर इशारा किया। मेरे लिए इसमें परेशान या गुस्सा होनेका कोई कारण न था। इस प्रकारके अनुभव कर-करके मैं बहुत पक्का हो चुका था। नौकर तो अपने धर्मका पालन कर रहा था और राजेन्द्र बाबूके प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर रहा था।

इन मनोरंजक अनुभवोंके कारण जहाँ राजकुमार शुक्लके प्रति मेरा आदर बढ़ा, वहाँ उनके विषयमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटनासे लगाम मैंने अपने हाथमें ले ली।

१३. बिहारी सरलता

मौलाना मजहरुल हक और मैं एक समय लन्दनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम बम्बईमें सन् १९१५ की कांग्रेसमें मिले थे। उस समय वे मुस्लिम लीगके अध्यक्ष थे। उन्होंने पुरानी पहचान बताकर कहा था कि आप कभी पटना आयें, तो मेरे घर अवश्य पधारिए। इस निमन्त्रणके आधार पर मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपना काम बतलाया। वे तुरन्त अपनी मोटर लाये और मुझे अपने घर ले चलनेका आग्रह किया। मैंने उनका आभार माना और उनसे कहा कि जिस जगह मुझे जाना है, वहाँके लिए वे मुझको पहली ट्रेनसे रवाना कर दें। रेलवे गाइडसे मुझे कुछ पता नहीं चल सकता था। उन्होंने राजकुमार शुक्लसे बातें कीं और सुझाया कि पहले मुझे मुजफ्फरपुर जाना चाहिए। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुरकी ट्रेन जाती थी। उन्होंने मुझे उसमें रवाना कर दिया।

उन दिनों आचार्य कृपलानी मुजफ्फरपुरमें रहते थे। मैं उन्हें जानता था। जब मैं हैदराबाद गया था, तब उनके महान त्यागकी, उनके जीवनकी और उनके पैसेसे चलनेवाले आश्रमकी बात डा० चौइथरामके मुँहसे मैंने सुनी थी। वे मुजफ्फरपुर कालेजमें प्रोफेसर थे। इस समय प्रोफेसरी छोड़ चुके थे। मैंने उन्हें तार किया।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ३६२। पत्र बाँकीपुरसे लिखा गया है और इसमें मकानमालिकका नाम नहीं दिया है।

ट्रेन आधी रातको मुजफ्फरपुर पहुँचती थी। वे अपने शिष्य-मण्डलके साथ स्टेशन पर आये। पर उनके घरबार नहीं था। वे अध्यापक मलकानीके यहाँ रहते थे। मुझे उनके घर ले गये। मलकानी वहाँके कालेजमें प्रोफेसर थे। उस समयके वातावरणमें सरकारी कालेजके प्रोफेसरका मुझे अपने यहाँ टिकाना एक असाधारण बात मानी जायेगी।

कृपलानीजीने बिहारकी और उसमें भी तिरहुत विभागकी दीन दशाकी बातकी और मेरे कामकी कठिनाईकी कल्पना दी। कृपलानीजीने बिहारवालोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ लिया था। उन्होंने उन लोगोंसे मेरे कामका जिक्र कर रखा था।

सवेरे वकीलोंका एक छोटा-सा दल मेरे पास आया। उनमेंसे रामनवमीप्रसाद मुझे याद रह गये हैं। उन्होंने अपने आग्रहसे मेरा ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने कहा :

"आप जो काम करने आये हैं, वह इस जगहसे न होगा। आपको तो हम-जैसोंके यहाँ ठहरना चाहिए। गया बाबू यहाँके प्रसिद्ध वकील हैं। उनकी ओरसे मैं आग्रह करता हूँ कि आप उनके घर ठहरिए। हम सब सरकारसे डरते जरूर हैं। लेकिन हमसे जितनी बनेगी उतनी मदद हम आपकी करेंगे। राजकुमार शुक्लकी बहुत-सी बातें सच हैं। दु:ख इस बातका है कि आज हमारे नेता यहाँ नहीं हैं। बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद और राजेन्द्रप्रसादको मैंने तार किये हैं। दोनों तुरन्त यहाँ आ जायेंगे और आपको पूरी जानकारी व मदद दे सकेंगे। मेहरबानी करके आप गया बाबूके यहाँ चलिए।"

इस भाषणसे मैं ललचाया। इस डरसे कि कहीं मुझे अपने घरमें ठहराने से गया बाबू कठिनाईमें न पड़ जायें, मुझे संकोच हो रहा था। पर गया बाबूने मुझे निश्चिन्त कर दिया। मैं गया बाबूके घर गया। उन्होंने और उनके परिवारवालोंने मुझे अपने प्रेमसे सराबोर कर दिया।

ब्रजकिशोर बाबू दरभंगासे आये। राजेन्द्र बाबू पुरीसे आये। यहाँ जिन्हें देखा, वे लखनऊवाले ब्रजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनमें बिहारवासीकी नम्रता, सादगी, भलमनसी, असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे छलक उठा। ब्रजकिशोर बाबूके प्रति बिहारके वकील-मण्डलका आदरभाव देखकर मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ।

इस मण्डलके और मेरे बीच जीवन-भरकी गाँठ बँध गई। ब्रजकिशोर बाबूने मुझे सारी हकीकतोंकी जानकारी दी। वे गरीब किसानोंके लिए मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे चल रहे थे। इस तरहके मुकदमोंकी पैरवी करके वे थोड़ा व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे। कभी-कभी उसमें भी विफल हो जाते थे। इन भोले किसानोंसे फीस तो वे लेते ही थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोर बाबू अथवा राजेन्द्र बाबू मेहनताना लेनेमें कभी संकोच नहीं करते थे। उनकी दलील यह थी कि पेशेके काममें मेहनताना न लें, तो उनका घर-खर्च न चले और वे लोगोंकी मदद भी न कर सकें। उनके मेहनतानेके और बंगाल तथा बिहारके बैरिस्टरोंको दिये जानेवाले मेहनतानेके, कल्पनामें न आ सकनेवाले आँकड़े सुनकर, मेरा दम घुटने लगा।

"... साहबको हमने 'ओपिनियन' (सम्मति)के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारोंके सिवा तो मैंने बात ही न सुनी।

इस मित्र-मण्डलने इस विषयमें मेरा मीठा उलाहना प्रेमपूर्वक सुन लिया। उसका उन्होंने गलत अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा: "इन मुकदमोंको पढ़ जानेके बाद मेरी राय तो यह बनी है कि अब हमें ये मुकदमे लड़ना ही बन्द कर देना चाहिए। ऐसे मुकदमोंसे लाभ बहुत कम होता है। जो रैयत इतनी कुचली हुई है, जहाँ सब इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ कचहरियोंकी मारफत बहुत थोड़ी ही राहत मिल सकती है। लोगोंके लिए सच्ची दवा तो उनके डरको भगाना है। जब तक यह 'तिनकठिया' प्रथा रद न हो, तब तक हम चैनसे बैठ नहीं सकते। मैं तो दो दिनमें जितना देखा जा सके उतना देखने आया था। लेकिन अब देख रहा हूँ कि यह काम दो वर्ष भी ले सकता है। इतना समय भी लगे तो मैं देनेको तैयार हूँ। मुझे यह तो सूझ रहा है कि इस कामके लिए क्या करना चाहिए। लेकिन इसमें आपकी मदद जरूरी है।"

ब्रजकिशोर बाबूको मैंने बहुत ठंडे दिमागका पाया। उन्होंने शान्तिसे उत्तर दिया: "हमसे जो मदद बनेगी हम देंगे, लेकिन हमें समझाइए कि आप किस प्रकारकी मदद चाहते हैं।"

इस बातचीतमें हमने सारी रात बिता दी।

मैंने कहा, "मुझे आपकी वकालतकी शक्तिकी अधिक जरूरत नही पड़ेगी। आपके समान लोगोंसे तो मैं लेखक और दुभाषियेका काम लेना चाहूँगा। मैं देखता हूँ कि इसमें जेल भी जाना पड़ सकता है। मैं इसे पसन्द करूँगा कि आप यह जोखिम उठायें। पर आप इसे उठाना न चाहें, तो न भी उठायें। वकालत छोड़कर लेखक बनने और अपने धन्धेको अनिश्चित अवधिके लिए बन्द करनेकी माँग करके मैं आप लोगोंसे कुछ कम नहीं माँग रहा हूँ। यहाँकी हिन्दी-बोली समझनेमें मुझे कठिनाई होती है। कागज-पत्र सब कैथीमें या उर्दूमें लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। इनके तरजुमेकी मैं आपसे आशा रखता हूँ। यह काम पैसे देकर कराना हमारे बसका नहीं है। यह सब सेवाभावसे और बिना पैसेके होना चाहिए।"

ब्रजकिशोर बाबू समझ गये; किन्तु उन्होंने मुझसे और अपने साथियोंसे जिरह शुरू की। मेरी बातोंके फलितार्थ पूछे। मेरे अनुमानके अनुसार वकीलोंको किस हद तक त्याग करना चाहिए, कितने लोगोंकी आवश्यकता होगी, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी मुद्दतके लिए आयें, तो काम चलेगा या नहीं, इत्यादि प्रश्न मुझसे पूछे। वकीलों से उन्होंने पूछा कि वे कितना त्याग कर सकते हैं।

अन्तमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया: "हम इतने लोग आप जो काम हमें सौंपेंगे, वह कर देनेके लिए तैयार रहेंगे। इनमें से जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे उतने आपके पास रहेंगे। जेल जानेकी बात नई है। उसके लिए हम शक्ति-संचय करनेकी कोशिश करेंगे।"

१४. अहिंसा देवीका साक्षात्कार

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जाँच करनी थी। नीलके मालिकोंके विरुद्ध जो शिकायतें थीं, उनमें कितनी सचाई है यह देखना था। इस कामके लिए हजारों किसानोंसे मिलना जरूरी था। किन्तु उनके सम्पर्कमें आनेसे पहले मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैं नीलके मालिकोंकी बात सुन लूँ और कमिश्नरसे मिल लूँ।[1] मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मुखत्यारके साथ जो मुलाकात हुई, उसमें उसने साफ कह दिया कि आपकी गिनती परदेशीमें होती है। आपको हमारे और किसानोंके बीच दखल नहीं देना चाहिए। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो, तो मुझे लिखकर सूचित कीजिए। मैंने उससे नम्रता-पूर्वक कहा कि मैं अपनेको परदेशी नहीं मानता और किसान चाहें, तो उनकी स्थितिकी जाँच करनेका मुझे पूरा अधिकार है।

कमिश्नर साहबसे मिला। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू कर दिया और मुझे सलाह दी कि मैं आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ दूँ।

मैंने सारी बातें साथियोंको सुनाकर कहा कि सम्भव है, सरकार मुझे जाँच करनेसे रोके और जेल जानेका समय मेरी अपेक्षासे भी पहले आ जाये। अगर गिरफ्तारी होनी ही है, तो मुझे मोतीहारीमें और सम्भव हो तो बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिए, और इसके लिए वहाँ जल्दीसे-जल्दी पहुँच जाना चाहिए।

चम्पारन तिरहुत विभागका एक जिला है और मोतीहारी उसका मुख्य शहर। बेतियाके आसपास राजकुमार शुक्लका घर था और उसके आसपासकी कोठियोंके किसान ज्यादा-से-ज्यादा कंगाल थे। राजकुमार शुक्लको उनकी दशा दिखानेका लोभ था और मुझे अब उसे देखनेकी इच्छा थी।

अतएव मैं उसी दिन साथियोंको लेकर मोतीहारीके लिए रवाना हो गया। मोतीहारीमें गोरख बाबूने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब मुश्किलसे उसमें समा सकते थे। जिस दिन पहुँचे उसी दिन सुना कि मोतीहारीसे कोई पाँच मील दूर रहनेवाले एक किसानपर अत्याचार किया गया है। मैंने निश्चय किया कि धरणीधरप्रसाद वकीलको साथ लेकर मैं दूसरे दिन सवेरे उसे देखने जाऊँगा। सवेरे हाथीपर सवार होकर हम चल पड़े। चम्पारनमें हाथीका उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरातमें बैलगाड़ियोंका। आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि इतनेमें पुलिस सुपरिंटेंडेंटका आदमी आ पहुँचा और मुझसे बोला, "सुपरिंटेंडेंट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं समझ गया। धरणीधर बाबूको मैंने आगे जानेको कहा। मैं उस जासूसके साथ उसकी भाड़ेकी गाड़ीमें सवार हुआ। उसने मुझे चम्पारन छोड़कर चले जानेका नोटिस दिया। वह मुझे घर ले गया और मेरी सही माँगी। मैंने जवाब दिया कि मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता; मुझे तो आगे बढ़ना है और जाँच करनी है। निर्वासनकी आज्ञाका अनादर करनेके लिए मुझे दूसरे ही दिन कोर्टमें हाजिर होनेका समन मिला।[1]

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ३६८-६९ और ३७६।

मैंने सारी रात जागकर मुझे जो पत्र लिखने थे लिखे और ब्रजकिशोरबाबूको सब प्रकारकी आवश्यक सूचनाएँ दीं।

समनकी बात एकदम चारों ओर फैल गई। लोग कहते थे कि उस दिन मोतीहारीमें जैसा दृश्य देखा गया वैसा पहले कभी न देखा गया था। गोरखबाबूके घर और दफ्तरपर लोगोंकी भीड़ उमड़ पड़ी। सौभाग्यसे मैंने अपना सारा काम रातको निबटा लिया था। इसलिए मैं इस भीड़को सँभाल सका। साथियोंका मूल्य मुझे पूरा-पूरा मालूम हुआ। वे लोगोंको संयत रखनेमें जुट गये। कचहरीमें जहाँ जाता वहाँ दलके दल मेरे पीछे आते।

कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिंटेंडेंट आदिके साथ भी मेरा एक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित हो गया। सरकारी नोटिसों वगैराके खिलाफ कानूनी विरोध करना चाहता, तो मैं कर सकता था। इसके बदले मैंने उनकी सब नोटिसोंको स्वीकार कर लिया और अधिकारियोंके साथ निजी व्यवहारमें मिठाससे काम लिया। इससे वे समझ गये कि मुझे उनका विरोध नहीं करना है, बल्कि उनकी आज्ञाका विनयपूर्वक विरोध करना है। इससे उनमें एक प्रकारकी निर्भयता आ गई। मुझे तंग करनेके बदले उन्होंने लोगोंको काबूमें रखनेमें मेरी और मेरे साथियोंकी सहायताका प्रसन्नतापूर्वक उपयोग किया। किन्तु साथ ही वे समझ गये कि उनकी सत्ता आजसे लुप्त हुई। लोग क्षण-भरको दण्डका भय छोड़कर अपने नये मित्रके प्रेमकी सत्ताके अधीन हो गये।

याद रहे कि चम्पारनमें मुझे कोई पहचानता न था। किसान-वर्ग बिलकुल अनपढ़ था। चम्पारन गंगाके उस पार ठेठ हिमालयकी तराईमें नेपालका समीपवर्ती प्रदेश है, अर्थात् नई दुनिया है। वहाँ न कहीं कांग्रेसका नाम सुनाई देता था, न कांग्रेसके कोई सदस्य दिखाई पड़ते थे। जिन्होंने उसका नाम सुना था वे कांग्रेसका नाम लेनेमें अथवा उसमें सम्मिलित होनेमें डरते थे। आज कांग्रेसके नामके बिना कांग्रेसने और कांग्रेसके सेवकोंने इस प्रदेशमें प्रवेश किया और कांग्रेसकी दुहाई फिर गई।

साथियोंसे परामर्श करके मैंने निश्चय किया था कि कांग्रेसके नामसे कोई भी काम न किया जाये। हमें नामसे नहीं, बल्कि कामसे मतलब है। 'कथनी' नहीं 'करनी' की आवश्यकता है। कांग्रेसका नाम यहाँ अप्रिय है। इस प्रदेशमें कांग्रेसका अर्थ है, वकीलोंकी आपसी खींचातानी, कानूनी गलियोंसे सटक जानेकी कोशिश। कांग्रेसका अर्थ है, बमगोला। कांग्रेस यानी कथनी एक, करनी दूसरी। यह धारणा सरकारकी और सरकारकी भी सरकार निलहे गोरोंकी थी। हमें यह सिद्ध करना था कि कांग्रेस ऐसी नहीं है, कांग्रेस तो दूसरी ही चीज है। इसलिए हमने कहीं भी कांग्रेसका नाम तक न लेने और लोगोंको कांग्रेसकी भौतिक देहका परिचय न करानेका निश्चय किया था। हमने यह सोच लिया था कि वे उसके अक्षरको न जानकर उसकी आत्माको जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है, यही असल बात है।

अतएव कांग्रेसकी ओरसे किन्हीं गुप्त या प्रकट दूतों द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं कराई गई थी। राजकुमार शुक्लमें हजारों लोगोंमें प्रवेश करनेकी शक्ति नहीं

थी। उनके बीच किसीने आज तक राजनीतिका काम किया ही नहीं था। चम्पारनके बाहरकी दुनियाको वे जानते नहीं थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रों-जैसा लगा। अतएव यह कहनेमें अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि इसके कारण मैंने वहाँ ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका साक्षात्कार किया।

जब मैं इस साक्षात्कारके अपने अधिकारकी जाँच करता हूँ, तो मुझे लोगोंके प्रति अपने प्रेमके सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रेमका अर्थ है, प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अविचल श्रद्धा।

चम्पारनका यह दिन मेरे जीवनमें कभी न भूलने-जैसा था। मेरे लिए और किसानोंके लिए यह एक उत्सवका दिन था।

सरकारी कानूनके अनुसार मुझपर मुकदमा चलाया जानेवाला था। पर सच पूछा जाये तो मुकदमा सरकारके विरुद्ध था। कमिश्नरने मेरे विरुद्ध जो जाल बिछाया था, उसमें उसने सरकारको ही फँसा दिया।

१५. मुकदमा वापस लिया गया

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराये हुए थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि किया क्या जाये। सरकारी वकील सुनवाई मुलतवी रखनेकी माँग कर रहा था। मैं बीचमें पड़ा और विनती की कि सुनवाई मुलतवी रखने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मुझे चम्पारन छोड़नेकी नोटिसका अनादर करनेका अपराध स्वीकार करना है। यह कहकर मैं उस बहुत ही छोटे बयानको[1] पढ़ गया, जो मैंने तैयार किया था। वह इस प्रकार था:

"जाब्ता फौजदारीकी दफा १४४के अनुसार दी हुई आज्ञाका खुला अनादर करनेका गम्भीर कदम मुझे क्यों उठाना पड़ा, इस सम्बन्धमें मैं एक छोटा-सा बयान अदालतकी अनुमतिसे देना चाहता हूँ। मेरी नम्र सम्मतिमें यह प्रश्न अनादरका नहीं है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें जन-सेवा और देश-सेवाके ही उद्देश्यसे आया हूँ। निलहे गोरे रैयतके साथ न्यायका व्यवहार नहीं करते, इस कारण उनकी मददके लिए आनेका प्रबल आग्रह मुझसे किया गया। इसलिए मुझे आना पड़ा है। समूचे प्रश्नका अध्ययन किये बिना मैं उनकी मदद किस प्रकार कर सकता हूँ। इसलिए मैं इस प्रश्नका अध्ययन करने आया हूँ और सम्भव हो, तो सरकार और निलहोंकी सहायता लेकर इसका अध्ययन करना चाहता हूँ। मेरे सामने कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है, और मैं यह नहीं मान सकता कि मेरे आनेसे लोगोंकी शान्ति भंग होगी और खून-खराबा होगा। मेरा दावा है कि इस विषयका मुझे अच्छा खासा अनुभव है। पर सरकारका विचार इस सम्बन्धमें मुझसे भिन्न है। उसकी कठिनाईको मैं समझता हूँ और मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि उसे प्राप्त जानकारी पर ही विश्वास करना होता है। कानूनका आदर करने

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ३७७-७८।

वाले एक प्रजाजनके नाते तो मुझे जो आज्ञा दी गई है उसे स्वीकार करनेकी स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिए, और हुई थी। पर मुझे लगा कि वैसा करनेमें जिनके लिए मैं यहाँ आया हूँ मेरा उनके प्रति जो कर्त्तव्य है मैं उसकी हत्या करूँगा। मुझे लगता है कि आज मैं उनकी सेवा उनके बीच रहकर ही कर सकता हूँ। इसलिए स्वेच्छासे चम्पारन छोड़ना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इस धर्म-संकटके कारण मुझे चम्पारनसे हटानेकी जिम्मेदारी मैं सरकार पर डाले बिना रह न सका। मैं इस बातको अच्छी तरह समझता हूँ कि हिन्दुस्तानके लोक-जीवनमें मेरी-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमीको कोई कदम उठाकर उदाहरण प्रस्तुत करते समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस अटपटी परिस्थितिमें हम पड़े हुए हैं, उसमें मेरी-जैसी परिस्थितियोंमें फँसे हुए स्वाभिमानी मनुष्यके सामने इसके सिवा दूसरा कोई सुरक्षित और सम्मानयुक्त मार्ग नहीं है कि आज्ञाका अनादर करके उसके बदलेमें जो दण्ड प्राप्त हो, उसे चुपचाप सहन कर लिया जाये।

"आप मुझे जो सजा देना चाहते हैं, उसे कम करानेकी भावनासे मैं यह बयान नहीं दे रहा हूँ। मुझे तो यही जता देना है कि आज्ञाका अनादर करनेमें मेरा उद्देश्य कानून द्वारा स्थापित सरकारका अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानूनको – अर्थात् अन्तरात्माकी आवाजको – स्वीकार करता है, उसका अनुसरण करना ही है।"

अब मुकदमेकी सुनवाईको मुलतवी रखनेकी जरूरत न रही थी, किन्तु चूँकि मजिस्ट्रेट और वकीलने इस परिणामकी आशा नहीं की थी, इसलिए सजा सुनानेके लिए अदालतने केस मुलत्वी रखा। मैंने वाइसरायको सारी स्थिति तार[1] द्वारा सूचित कर दी थी। पटना भी तार भेजा था। भारत-भूषण पण्डित मालवीयजी आदिको भी वस्तुस्थितिकी जानकारी तारसे भेज दी थी।

सजा सुननेके लिए कोर्टमें जानेका समय हुआ, उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेटका हुक्म आया कि गवर्नर साहबकी आज्ञासे मुकदमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टरका पत्र मिला कि मुझे जो जाँच करनी हो, मैं करूँ और उसमें अधिकारियोंकी ओरसे जो मदद आवश्यक हो, सो माँग लूँ। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणामकी आशा हममेंसे किसीने नहीं रखी थी।

मैं कलेक्टर श्री हेकाकसे मिला। मुझे वह स्वयं भला और न्याय करनेमें तत्पर जान पड़ा। उसने कहा कि आपको जो कागज-पत्र या कुछ और देखना हो, सो आप माँग लें और मुझसे जब भी मिलना चाहें, मिल लिया करें।

दूसरी ओर सारे हिन्दुस्तानको सत्याग्रहका अथवा कानूनकी सविनय अवज्ञाका पहला पदार्थ-पाठ मिला। अखबारोंमें इसकी खूब चर्चा हुई और चम्पारनको तथा मेरी जाँचको अनपेक्षित रीतिसे प्रसिद्धि मिल गई।

अपनी जाँचके लिए मुझे सरकारकी ओरसे तटस्थताकी तो आवश्यकता थी, परन्तु समाचारपत्रोंमें चर्चाकी और उनके संवाददाताओंकी आवश्यकता न थी। यही

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ३६९-७०।

नहीं, बल्कि उनकी आवश्यकतासे अधिक टीकाओंसे और जाँचकी लम्बी-चौड़ी रिपोर्टोंसे हानि होनेका भय था। इसलिए मैंने खास-खास अखबारोंके सम्पादकोंसे प्रार्थना की थी कि वे रिपोर्टरोंको भेजनेका खर्च न उठायें।[1] जितना छपानेकी जरूरत होगी उतना मैं स्वयं भेजता रहूँगा और उन्हें खबर देता रहूँगा।

मैं समझ गया था कि चम्पारनके निलहे खूब चिढ़ गये हैं। मैं यह भी समझता था कि अधिकारी भी मनमें खुश न होंगे; अखबारोंमें सच्ची-झूठी खबरोंके छपनेसे वे अधिक चिढ़ेंगे। उनकी चिढ़का प्रभाव मुझ पर तो कुछ नहीं पड़ेगा, पर गरीब, डरपोक रैयत पर पड़े बिना न रहेगा। ऐसा होनेसे जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूँ, उसमें बाधा पड़ेगी।

निलहोंकी तरफसे विषैला आन्दोलन शुरू हो चुका था। उनकी ओरसे अखबारोंमें मेरे साथियोंके बारेमें खूब झूठा प्रचार हुआ, किन्तु मेरे अत्यन्त सावधान रहनेसे और बारीक-से-बारीक बातोंमें भी सत्य पर दृढ़ रहनेकी आदतके कारण उनके तीर व्यर्थ गये।

ब्रजकिशोर बाबूकी अनेक प्रकारसे निन्दा करनेमें निलहोंने जरा भी कसर नहीं रखी। पर ज्यों-ज्यों वे उनकी निन्दा करते गये, त्यों-त्यों ब्रजकिशोर बाबूकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई।

ऐसी नाजुक स्थितिमें मैंने रिपोर्टरोंको आनेके लिए जरा भी प्रोत्साहित नहीं किया, न नेताओंको बुलाया। मालवीयजीने मुझे कहला भेजा था कि "जब जरूरत समझें, मुझे बुला लें, मैं आनेको तैयार हूँ।" उन्हें भी मैंने तकलीफ नहीं दी। मैंने इस लड़ाईको कभी राजनीतिक रूप धारण न करने दिया। जो कुछ होता था उसकी प्रासंगिक रिपोर्ट मैं मुख्य-मुख्य समाचारपत्रोंको भेज दिया करता था। राजनीतिक काम करनेके लिए भी जहाँ राजनीतिकी गुंजाइश न हो, वहाँ उसे राजनीतिका स्वरूप देनेसे पाण्डेको दोनों दीनसे जाना पड़ता है। और, विषयका इस प्रकार स्थानान्तर न करनेसे दोनों सुधरते हैं। बहुत बारके अनुभवसे मैंने यह सब देख लिया था। चम्पारनकी लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी कि शुद्ध लोकसेवामें प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीतिसे राजनीति मौजूद ही रहती है।

१६. कार्य-पद्धति

चम्पारनकी जाँचका विवरण देनेका अर्थ है, चम्पारनके किसानोंका इतिहास देना। उक्त विवरण इन प्रकरणोंमें नहीं दिया जा सकता। फिर, चम्पारनकी जाँचका अर्थ है, अहिंसा और सत्यका एक बड़ा प्रयोग। इसके सम्बन्धकी जितनी बातें मुझे प्रति सप्ताह सूझती हैं उतनी देता रहता हूँ। उसका विशेष विवरण तो पाठकोंको बाबू राजेन्द्रप्रसाद द्वारा लिखित इस सत्याग्रहके इतिहासमें और 'युगधर्म' प्रेस द्वारा प्रकाशित उसके (गुजराती) अनुवादमें ही मिल सकता है।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ३८१।

अब मैं इस प्रकरणके विषय पर आता हूँ। यदि गोरख बाबूके घर रहकर यह जाँच चलाई जाती, तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतीहारीमें अभी लोग इतने निर्भय नहीं हुए थे कि माँगने पर कोई तुरन्त अपना मकान किराये पर दे दे। किन्तु चतुर ब्रजकिशोर बाबूने एक लम्बे-चौड़े अहातेवाला मकान किराये पर लिया और हम उसमें रहने चले गये।

स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम बिलकुल बिना पैसेके अपना काम चला सकें। आज तककी प्रथा सार्वजनिक कामके लिए जनतासे धन प्राप्त करनेकी नहीं थी। ब्रजकिशोर बाबूका मण्डल मुख्यतः वकीलोंका मण्डल था। अतएव वे जरूरत पड़ने पर अपनी जेबसे खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रोंसे भी माँग लेते थे। उनकी भावना यह थी कि जो लोग स्वयं पैसे-टकेसे सुखी हों, वे लोगोंसे द्रव्यकी भिक्षा क्यों माँगें? मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चम्पारनकी रैयतसे एक कौड़ी भी न ली जाये। यदि ली जाती, तो उसके गलत अर्थ लगाये जाते। यह भी निश्चय था कि इस जाँचके लिए हिन्दुस्तानमें सार्वजनिक चन्दा न किया जाये। वैसा करने पर यह जाँच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। बम्बईसे मित्रोंने १५ हजार रुपयेकी मददका तार भेजा। उनकी यह मदद सधन्यवाद अस्वीकार की गई। निश्चय यह हुआ कि ब्रजकिशोर बाबूका मण्डल चम्पारनके बाहरसे, लेकिन बिहारके ही खुशहाल लोगोंसे जितनी मदद ले सके, ले; और कम पड़नेवाली रकम मैं डॉ० प्राण-जीवनदास मेहतासे प्राप्त कर लूँ। डॉ० मेहताने लिखा कि जितने रुपयोंकी जरूरत हो, माँग लीजिए। अतएव द्रव्यके विषयमें हम निश्चिन्त हो गये। गरीबीसे, कमसे-कम-खर्च करते हुए, लड़ाई चलानी थी, अतएव अधिक द्रव्यकी आवश्यकता पड़नेकी सम्भावना न थी। असलमें पड़ी भी नहीं। मेरा ख्याल है कि कुल मिलाकर दो या तीन हजारसे अधिक खर्च नहीं हुआ। जो द्रव्य इकट्ठा किया गया था उसमें से पाँच सौ या एक हजार रुपये बच गये थे, ऐसा मुझे याद है।

शुरू-शुरूके दिनोंमें हमारा रहन-सहन विचित्र था, और मेरे लिए वह रोजके विनोदका विषय बन गया था। वकील-मण्डलमें हरएकका अपना रसोइया था और हरएकके लिए अलग-अलग रसोई बनती थी। वे रात बारह बजे तक भी भोजन करते थे। ये सब महाशय रहते तो अपने खर्चसे ही थे। किन्तु मेरे लिए उनकी यह रहन-सहन उपाधिरूप थी। मेरे और मेरे साथियोंके बीच इतनी मजबूत प्रेमगाँठ बँध गई थी कि हममें कभी गलतफहमी हो नहीं सकती थी। वे मेरे शब्दबाणोंको प्रेमपूर्वक सहते थे। आखिर यह तय हुआ कि नौकरोंको छुट्टी दे दी जाये। सब एक-साथ भोजन करें और भोजनके नियमोंका पालन करें। सब निरामिषाहारी नहीं थ और दो रसोई-घर चलानेसे खर्च बढ़ता था। अतएव निश्चय हुआ कि निरामिष भोजन ही बनाया जाये और एक ही रसोई-घर रखा जाये। भोजन भी सादा रखनेका आग्रह था।

इससे खर्चमें बहुत बचत हुई, काम करनेकी शक्ति बढ़ी और समय भी बचा। अधिक शक्तिकी बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि किसानोंके दल-के-दल अपनी कहानी लिखानेके लिए आने लगे थे। कहानी लिखानेवालोंके साथ भीड़ तो रहती ही थी।

इससे मकानका अहाता और बगीचा सहज ही भर जाता था। मुझे दर्शनार्थियोंसे सुरक्षित रखनेके लिए साथी भारी प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक निश्चित समय पर मुझे दर्शन देनेके लिए बाहर निकाले सिवा कोई चारा न रह जाता था। कहानी लिखनेवाले भी पाँच-सात बराबर बने ही रहते थे, तो भी दिनके अन्तमें सबके बयान पूरे न हो पाते थे। इतने सारे बयानोंकी आवश्यकता नहीं थी, फिर भी बयान लेनेसे लोगोंको सन्तोष होता था और मुझे उनकी भावनाका पता चलता था।

कहानी लिखनेवालोंको कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता था। जैसे, हरएक किसानसे जिरह की जाये। जिरहमें जो उखड़ जाये, उसका बयान न लिया जाये। जिसकी बात मूलमें ही बेबुनियाद मालूम हो, उसके बयान न लिखे जायें। इस तरह नियमोंके पालनसे यद्यपि थोड़ा अधिक समय खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे और साबित हो सकनेवाले मिलते थे।

इन बयानोंके लेते समय खुफिया पुलिसका कोई-न-कोई अधिकारी हाजिर रहता ही था। इन अधिकारियोंको आनेसे रोका जा सकता था। पर हमने शुरूसे ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें न सिर्फ हम आनेसे नहीं रोकेंगे, बल्कि उनके प्रति विनयका बरताव करेंगे और दे सकने योग्य खबरें भी उन्हें देते रहेंगे। उनके देखते-सुनते ही सारे बयान लिये जाते थे। इसका एक लाभ यह हुआ कि लोगोंमें अधिक निर्भयता आई। खुफिया पुलिससे लोग बहुत डरते थे। ऐसा करनेसे वह डर चला गया; फिर उनकी आँखोंके सामने दिये जानेवाले बयानोंमें अतिशयोक्तिका डर कम रहता था। इस डरसे कि झूठ बोलने पर अधिकारी कहीं उन्हें फाँस न लें, उन्हें सावधानी से बोलना पड़ता था।

मैं निलहोंको खिझाना नहीं चाहता था। मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतनेका प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरुद्ध विशेष शिकायतें आतीं, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलनेका प्रयत्न भी करता था। निलहोंके मण्डलसे भी मैं मिला था और रैयतकी शिकायतें उनके सामने रखकर मैंने उनकी बातें भी सुन ली थीं। उनमेंसे कुछ मेरा तिरस्कार करते थे, कुछ उदासीन रहते थे, और कोई-कोई मेरे साथ सभ्यता और नम्रताका व्यवहार करते थे।

१७. साथी

ब्रजकिशोर बाबू और राजेन्द्र बाबूकी तो एक अद्वितीय जोड़ी थी। उन्होंने अपने प्रेमसे मुझे इतना पंगु बना दिया था कि उनके बिना मैं एक कदम भी नहीं बढ़ सकता था। उनके शिष्य कहिए अथवा साथी, शम्भू बाबू, अनुग्रह बाबू, धरणी बाबू और रामनवमी बाबू—ये वकील लगभग निरन्तर मेरे साथ रहते थे। विन्ध्या बाबू और जनकधारी बाबू भी समय-समय पर साथ रहते थे। यह तो बिहारियोंका संघ हुआ। उनका मुख्य काम था लोगोंके बयान लेना।

आचार्य कृपलानी इसमें सम्मिलित हुए बिना कैसे रह सकते थे? स्वयं सिन्धी होते हुए भी वे बिहारीसे भी बढ़कर बिहारी थे। मैंने ऐसे कम सेवक देखे हैं, जिनमें

वे जिस प्रान्तमें जायें उसमें पूरी तरह घुल-मिल जानेकी शक्ति हो, और जो किसी को यह मालूम न होने दें कि वे दूसरे प्रान्तके हैं। इनमें कृपलानी एक हैं। उनका मुख्य काम द्वारपालका था। दर्शन करनेवालोंसे मुझे बचा लेनेमें उन्होंने इस समय अपने जीवनकी सार्थकता समझ ली थी। किसीको वे विनोद करके मेरे पास आनेसे रोकते थे, तो किसीको अहिंसक धमकीसे। रात होने पर अध्यापकका धन्धा शुरू करते और सब साथियोंको हँसाते थे, और कोई डरपोक पहुँच जाये तो उसे हिम्मत बँधाते थे।

मौलाना मजहरुल हकने मेरे सहायकके रूपमें अपना हक दर्ज करा रखा था और वे महीनेमें एक-दो बार दर्शन दे जाते थे। उस समयके उनके ठाटबाट और दबदबेमें और आजकी उनकी सादगीमें जमीन-आसमानका अन्तर है। हमारे बीच आकर वे हमसे हृदयकी एकता साध जाते थे, पर अपनी साहबीके कारण बाहरके आदमीको वे हमसे अलग-जैसे जान पड़ते थे।

जैसे-जैसे मुझे अनुभव प्राप्त होता गया, वैसे-वैसे मैंने देखा कि चम्पारनमें ठीकसे काम करना हो, तो गाँवोंमें शिक्षाका प्रवेश होना चाहिए। लोगोंका अज्ञान दयनीय था। गाँवोंके बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा माता-पिता दो या तीन पैसेकी आमदनीके लिए उनसे सारे दिन नीलके खेतोंमें मजदूरी करवाते थे। उन दिनों वहाँ पुरुषोंकी मजदूरी दस पैसेसे अधिक नहीं थी। स्त्रियोंकी छः पैसे और बालकोंकी तीन पैसे थी। चार आनेकी मजदूरी पानेवाला किसान भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियोंसे सलाह करके पहले तो छः गाँवोंमें बालकोंके लिए पाठशालाएँ खोलनेका निश्चय किया। शर्त यह थी कि उन गाँवोंके मुखिया मकान और शिक्षकका भोजन-व्यय दें। उसके दूसरे खर्चकी व्यवस्था हम करें। यहाँके गाँवोंमें पैसा तो अधिक नहीं था, पर अनाज वगैरा देनेकी शक्ति लोगोंमें थी। इसलिए लोग अनाज देनेको तैयार हो गये।

महान प्रश्न यह था कि शिक्षक कहाँसे लाये जायें? बिहारमें थोड़ा वेतन लेनेवाले अथवा कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षकोंका मिलना कठिन था। मेरी कल्पना यह थी कि साधारण शिक्षकके हाथमें बच्चोंको कभी न छोड़ना चाहिए। शिक्षकको अक्षर-ज्ञान चाहे थोड़ा हो, पर उसमें चरित्रबल तो होना ही चाहिए।

इस कामके लिए मैंने सार्वजनिक रूपसे स्वयंसेवकोंकी माँग की। उसके उत्तरमें गंगाधरराव देशपाण्डेने बाबासाहब सोमण और पुण्डलीकको भेजा। बम्बईसे अवन्तिका बाई गोखले आईं। दक्षिणसे आनन्दीबाई आईं। मैंने छोटेलाल, सुरेन्द्रनाथ तथा अपने लड़के देवदासको बुला लिया। इसी बीच महादेव देसाई और नरहरि परीख मुझे मिल गये थे। महादेव देसाईकी पत्नी दुर्गाबहन और नरहरि परीखकी पत्नी मणिबहन भी आईं। मैंने कस्तूरबाईको भी बुला लिया था। शिक्षकों और शिक्षिकाओंका इतना संघ काफी था। श्रीमती अवन्तिकाबाई और आनन्दीबाईकी गिनती तो शिक्षितोंमें हो सकती थी, पर मणिबहन परीख और दुर्गाबहन देसाईको सिर्फ थोड़ी-सी गुजराती आती थी। कस्तूरबाईकी पढ़ाई तो नहीं के बराबर ही थी। ये बहनें हिन्दी-भाषी बच्चोंको किस प्रकार पढ़ातीं?

चर्चा करके मैंने बहनोंको समझाया कि उन्हें बच्चोंको व्याकरण नहीं, बल्कि रहन-सहनका तौर-तरीका सिखाना है। पढ़ना-लिखना सिखानेकी अपेक्षा उन्हें स्वच्छताके नियम सिखाने हैं। उन्हें यह भी बताया कि हिन्दी, गुजराती, मराठीके बीच कोई बड़ा भेद नहीं है, और पहले दर्जेमें तो मुश्किलसे अंक लिखना सिखाना है। अतएव उन्हें कोई कठिनाई होगी ही नहीं। परिणाम यह निकला कि बहनोंकी कक्षाएँ बहुत अच्छी तरह चलीं। बहनोंमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया और उन्हें अपने काममें रस भी आने लगा। अवन्तिकाबाईकी पाठशाला आदर्श पाठशाला बन गई। उन्होंने अपनी पाठशालामें प्राण फूँक दिये। उनकी योग्यता भी काफी थी। इन बहनोंके द्वारा गाँवोंके स्त्री-समाजमें भी हमारा प्रवेश हो सका।

पर मुझे पढ़ाईकी व्यवस्था करके ही नहीं रुकना था। गाँवोंमें गन्दगीकी कोई सीमा न थी। गलियोंमें कचरा, कुओंके आसपास कीचड़ और बदबू, आँगन तो इतने गन्दे कि देखे न जा सकें। बड़ोंको स्वच्छताकी शिक्षाकी जरूरत थी। चम्पारनके लोग रोगोंसे पीड़ित देखे जाते थे। जितना हो सके, उतना सफाईका काम करके लोगोंके जीवनके प्रत्येक विभागमें प्रवेश करनेकी हमारी वृत्ति थी।

इस काममें डाक्टरोंकी सहायताकी जरूरत थी। अतएव मैंने गोखलेकी सोसाइटीसे डा० देवकी[1] माँग की। उनके साथ मेरी स्नेहगाँठ तो बँध ही चुकी थी। छः महीनोंके लिए उनकी सेवाका लाभ मिला। उनकी देखरेखमें शिक्षकों और शिक्षिकाओंको काम करना था।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई भी निलहोंके विरुद्ध की जानेवाली शिकायतोंमें न पड़े, राजनीतिको न छुए, शिकायत करनेवालोंको मेरे पास भेज दें। कोई अपने क्षेत्रसे बाहर एक कदम भी न रखें। चम्पारनके इन साथियोंका नियम-पालन अद्भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता, जब किसीने दी हुई सूचनाओंका उल्लंघन किया हो।

१८. ग्राम-प्रवेश

प्रायः प्रत्येक पाठशालामें एक पुरुष और एक स्त्रीकी व्यवस्था की गई थी। उन्हींके द्वारा दवा और सफाईके काम करने थे। स्त्रियोंकी मारफत स्त्री-समाजमें प्रवेश करना था। दवाका काम बहुत सरल बना लिया था।

अंडीका तेल, कुनैन और एक मरहम — इतनी ही चीजें प्रत्येक पाठशालामें रखी जाती थीं। जाँचने पर जीभ मैली दिखाई दे और कब्जकी शिकायत हो, तो अंडीका तेल पिला देना। बुखारकी शिकायत हो, तो अंडीका तेल देकर बादमें कुनैन देना। और, अगर फोड़े हों, तो उन्हें धोकर उनपर मरहम लगा देना। साथ ले जानेके लिए खानेकी दवा अथवा मरहम शायद ही दिया जाता था। कहीं कोई खतरनाक या समझमें न आनेवाली बीमारी होती, तो वह डा० देवको दिखानेके लिए छोड़ दी जाती। डा० देव अलग-अलग जगहोंमें नियत समय पर हो आते थे।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ४५९।

ऐसी सादी सुविधाका लाभ लोग ठीक मात्रामें उठाने लगे थे। आम तौरसे होनेवाली बीमारियाँ थोड़ी ही हैं, और उनके लिए बड़े-बड़े विशारदोंकी आवश्यकता नहीं होती। इसे ध्यानमें रखा जाये, तो उपर्युक्त रीतिसे की गई व्यवस्था किसीको हास्यजनक प्रतीत नहीं होगी। लोगोंको तो नहीं ही हुई।

सफाईका काम कठिन था। लोग गन्दगी दूर करनेको तैयार नहीं थे। जो लोग रोज खेतोंकी मजदूरी करते थे, वे भी अपने हाथसे मैला साफ करनेके लिए तैयार न थे। डा० देव झट हार मान लेनेवाले आदमी न थे। उन्होंने और स्वयं-सेवकोंने अपने हाथसे एक गाँवके रास्तोंकी सफाई की, लोगोंके आँगनोंसे कचरा साफ किया, कुओंके आसपासके गड्ढे भरे, कीचड़ निकाला और गाँववालोंको स्वयंसेवक देनेकी बात प्रेम-पूर्वक समझाते रहे। कुछ स्थानोंमें लोगोंने संकोचमें पड़कर काम करना शुरू किया और कहीं-कहीं तो लोगोंने मेरी मोटरके आने-जानेके लिए अपनी मेहनतसे सड़कें भी तैयार कर दीं। ऐसे मीठे अनुभवोंके साथ ही लोगोंकी लापरवाही के कड़वे अनुभव भी होते रहते थे। मुझे याद है कि सफाईकी बात सुनकर कुछ जगहोंमें लोगोंने अपनी नाराजी भी प्रकट की थी।

इन अनुभवोंमेंसे एक, जिसका वर्णन मैंने स्त्रियोंकी कई सभाओंमें किया है, यहाँ देना अनुचित न होगा। भीतिहरवा एक छोटा-सा गाँव था। उसके पास उससे भी छोटा एक गाँव था। वहाँ कुछ बहनोंके कपड़े बहुत मैले दिखाई दिये। इन बहनोंको कपड़े बदलनेके बारेमें समझानेके लिए मैंने कस्तूरबाईसे कहा। उसने उन बहनोंसे बात की। उनमेंसे एक बहन कस्तूरबाईको अपनी झोंपड़ीमें ले गई और बोली, "आप देखिए, यहाँ कोई पेटी या आलमारी नहीं है कि जिसमें कपड़े बन्द हों। मेरे पास यही एक साड़ी है, जो मैंने पहन रखी है। इसे मैं कैसे धो सकती हूँ? महात्माजीसे कहिए कि वे कपड़े दिलवायें। उस दशामें मैं रोज नहाने और कपड़े बदलनेको तैयार रहूँगी।"

हिन्दुस्तानमें ऐसे झोंपड़े अपवादरूप नहीं है। असंख्य झोंपड़ोंमें साज, सामान, सन्दूक-पेटी, कपड़े-लत्ते कुछ नहीं होते, और असंख्य लोग केवल पहने हुए कपड़ों पर ही अपना निर्वाह करते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी बताने योग्य है। चम्पारनमें बाँस या घासकी कमी नहीं है। लोगोंने भीतिहरवामें पाठशालाका जो छप्पर बनाया था, वह बाँस और घासका था। किसीने उसे रातको जला दिया। सन्देह तो आसपासके निलहोंके आदमियों पर हुआ था। फिरसे बाँस और घासका मकान बनाना मुनासिब मालूम नहीं हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाईके जिम्मे थी। श्री सोमणने ईंटोंका पक्का मकान बनानेका निश्चय किया और उनके स्वपरिश्रमकी छूत दूसरोंको लगी, जिससे देखते-देखते ईंटका मकान बनकर तैयार हो गया। और फिरसे मकानके जल जानेका डर न रहा।

इस प्रकार पाठशाला, सफाई और औषधोपचारके कामोंसे लोगोंमें स्वयंसेवकोंके प्रति विश्वास और आदरकी वृद्धि हुई और उनपर अच्छा प्रभाव पड़ा।

पर मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि इस कामको स्थायी रूप देनेका मेरा मनोरथ सफल न हो सका। जो स्वयंसेवक मिले थे, वे एक विशेष अवधिके लिए ही मिले थे। दूसरे नये स्वयंसेवकोंके मिलनेमें कठिनाई हुई और बिहारसे इस कामके लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चम्पारनका काम पूरा होते-होते एक दूसरा काम, जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतने पर भी छः महीनों तक हुए इस कामने इतनी जड़ पकड़ ली कि एक नहीं तो दूसरे स्वरूपमें उसका प्रभाव आज तक बना हुआ है।

१९. उजला पहलू

जिसका वर्णन मैंने पिछले प्रकरणोंमें किया है, एक ओर समाज-सेवाका वह काम हो रहा था, और दूसरी ओर लोगोंके दुःखोंकी कहानियाँ लिखनेका काम उत्तरोत्तर बढ़ते पैमाने पर हो रहा था। हजारों लोगोंकी गाथा लिखी गई। इसका कोई असर न हो, यह कैसे सम्भव था? जैसे-जैसे मेरे पड़ाव पर लोगोंकी आमदरफ्त बढ़ती गई, वैसे-वैसे निलहोंका क्रोध भी बढ़ता गया और उनकी ओरसे मेरी जाँचको बन्द करानेके प्रयत्न बढ़ते गये।

एक दिन मुझे बिहार-सरकारका पत्र मिला। उसका आशय इस प्रकार था: "आपकी जाँच काफी लम्बे समय तक चल चुकी है, और अब आपको उसे बन्द करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र विनय-पूर्वक लिखा गया था, पर उसका अर्थ स्पष्ट था।

मैंने लिखा कि जाँचका काम तो अभी देर तक चलेगा और समाप्त होने पर भी जब तक लोगोंके दुःख दूर न होंगे, मेरा इरादा बिहार छोड़कर जानेका नहीं है। मेरी जाँच बन्द करनेके लिए सरकारके पास एक समुचित उपाय यही था कि वह लोगोंकी शिकायतको सच मानकर उन्हें दूर करे, अथवा शिकायतोंको ध्यानमें लेकर अपनी जाँच-समिति नियुक्त करे।

लेफ्टिनेंट गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया[1] और कहा कि वे स्वयं एक जाँच-समिति नियुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने मुझे उसका सदस्य बननेके लिए निमन्त्रित किया। समितिके दूसरे नाम देखनेके बाद मैंने साथियोंसे सलाह की और इस शर्तके साथ सदस्य बनना कबूल किया कि मुझे अपने साथियोंसे सलाह-मशविरा करनेकी स्वतन्त्रता रहनी चाहिए और सरकारको यह समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जानेसे मैं किसानोंकी हिमायत करना छोड़ न दूँगा, तथा जाँच पूरी हो जाने पर यदि मुझे सन्तोष न हुआ, तो किसानोंका मार्ग-दर्शन करनेकी अपनी स्वतन्त्रताको मैं हाथसे जाने न दूँगा।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको उचित मानकर इन्हें मंजूर किया। स्व० सर फ्रैंक स्लाई समितिके अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ४४१-४।

जाँच-समितिने किसानोंकी सारी शिकायतोंको सही ठहराया और निलहे गोरों ने उनसे जो रकम अनुचित रीतिसे वसूल की थी, उसका कुछ अंश लौटाने और 'तिनकठिया' कानूनको रद करनेकी सिफारिश की।[1]

इस रिपोर्टके सांगोपांग तैयार होने और अन्तमें कानूनके पास होनेमें सर एडवर्ड गेटका बहुत बड़ा हाथ था। यदि वे दृढ़ न रहे होते अथवा उन्होंने अपनी कुशलता का पूरा उपयोग न किया होता, तो जो सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार हो सकी, वह न हो पाती और आखिरमें जो कानून पास हुआ, वह भी हो न पाता। निलहोंकी सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्टके पेश हो जाने पर भी उनमेंसे कुछने बिलका कड़ा विरोध किया था। पर सर एडवर्ड गेट अन्त तक दृढ़ रहे और उन्होंने समितिकी सिफारिशों पर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार सौ सालसे चले आनेवाले 'तिनकठिया' कानूनके रद होते ही निलहे गोरोंके राज्यका अस्त हुआ। जनताका जो समुदाय बराबर दबा ही रहता था उसे अपनी शक्तिका कुछ भान हुआ, और लोगोंका यह वहम दूर हुआ कि नीलका दाग धोये धुल ही नहीं सकता।

मैं तो चाहता था कि चम्पारनमें शुरू किये गये रचनात्मक कामको जारी रखकर लोगोंमें कुछ वर्षों तक काम करूँ, अधिक पाठशालाएँ खोलूँ, और अधिक गाँवोंमें प्रवेश करूँ। क्षेत्र तैयार था। पर ईश्वरने मेरे मनोरथ प्रायः पूरे होने ही नहीं दिये। मैंने सोचा कुछ था, और दैव मुझे घसीट कर ले गया एक दूसरे ही काममें।

२०. मजदूरोंके सम्पर्कमें

चम्पारनमें अभी मैं समितिके कामको समेट ही रहा था कि इतनेमें खेड़ासे मोहनलाल पण्ड्या और शंकरलाल पारेखका पत्र आया कि खेड़ा जिलेमें फसल नष्ट हो गई है और लगान माफ करानेकी जरूरत है। उन्होंने आग्रह-पूर्वक लिखा कि मैं वहाँ पहुँचूँ और लोगोंकी रहनुमाई करूँ। मौके पर जाँच किये बिना कोई सलाह देनेकी मेरी इच्छा न थी, न मुझमें वैसी शक्ति या हिम्मत ही थी।

दूसरी ओरसे श्री अनसूयाबाईका पत्र उनके मजदूर-संघके बारेमें आया था। मजदूरोंकी तनख्वाहें कम थीं। तनख्वाह बढ़ानेकी उनको माँग बहुत पुरानी थी। इस मामलेमें उनकी रहनुमाई करनेका उत्साह मुझमें था। लेकिन मुझमें यह क्षमता न थी कि इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतीत होनेवाले कामको भी मैं दूर बैठकर कर सकूँ। इस-लिए मौका मिलते ही मै पहले अहमदाबाद पहुँचा। मैंने यह सोचा था कि दोनों मामलोंकी जाँच करके थोड़े समयमें मैं वापस चम्पारन पहुँचूँगा, और वहाँके रचना-त्मक कामकी देखरेख करूँगा।

१. देखिए खण्ड १३, पृष्ठ ५९४-६१९; और खण्ड १३, पृष्ठ ६२०-६२२।

पर अहमदाबाद पहुँचनेके बाद वहाँ ऐसे काम निकल आये कि मैं कुछ समय तक चम्पारन नहीं जा सका और जो पाठशालाएँ वहाँ चल रही थीं, वे एक-एक करके बन्द हो गईं। साथियोंने और मैंने कितने ही हवाई किले रचे थे, पर कुछ समयके लिए तो वे सब ढह गये।

चम्पारनमें ग्राम-पाठशालाओं और ग्राम-सुधारके अलावा गोरक्षाका काम भी मैंने हाथमें लिया था। गोरक्षा और हिन्दी-प्रचारके कामका इजारा मारवाड़ी भाइयोंने ले रखा है, इसे मैं अपने भ्रमणमें देख चुका था। बेतियामें एक मारवाड़ी सज्जनने अपनी धर्मशालामें मुझे आश्रय दिया था। बेतियाके मारवाड़ी सज्जनोंने मुझे अपनी गोशालाके काममें फाँद लिया था। गोरक्षाके विषयमें मेरी जो कल्पना आज है, वही उस समय बन चुकी थी। गोरक्षाका अर्थ है, गोवंशकी वृद्धि, गोजातिका सुधार, बैलसे मर्यादित काम लेना, गोशालाको आदर्श दुग्धालय बनाना, आदि-आदि। इस काममें मारवाड़ी भाइयोंने पूरी मदद देनेका आश्वासन दिया था। पर मैं चम्पारनमें स्थिर होकर रह न सका, इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया।

बेतियामें गोशाला तो आज भी चलती है, पर वह आदर्श दुग्धालय नहीं बन सकी है। चम्पारनके बैलोंसे आज भी उनकी शक्तिसे अधिक काम लिया जाता है। नामधारी हिन्दू आज भी बैलोंको निर्दयतापूर्वक पीटते हैं, और धर्मको बदनाम करते हैं। यह कसक मेरे मनमें सदाके लिए रह गई।

और, जब-जब मैं चम्पारन जाता हूँ, तब-तब इन अधूरे रहे हुए महत्त्वपूर्ण कामोंका स्मरण करके लम्बी साँस लेता हूँ, और उन्हें अधूरा छोड़ देनेके लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियोंका मीठा उलाहना सुनता हूँ।

पाठशालाओंका काम तो किसी न किसी रीतिसे अन्य स्थानोंमें चल रहा है, पर गोसेवाके कार्यक्रमने जड़ ही नहीं पकड़ी थी, इसलिए उसे सही दिशामें गति न मिल सकी।

अहमदाबादमें खेड़ा जिलेके कामके बारेमें सलाह-मशविरा हो ही रहा था कि इस बीच मैंने मजदूरोंका काम हाथमें ले लिया।

मेरी स्थिति बहुत ही नाजुक थी। मजदूरोंका मामला मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्री अनसूयाबाईको अपने सगे भाईके साथ लड़ना था। मजदूरों और मालिकोंके बीचके इस दारुण युद्धमें श्री अम्बालाल साराभाईने मुख्य रूपसे हिस्सा लिया था। मिल-मालिकोंके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध था। उनके विरुद्ध लड़नेका काम विकट था। उनसे चर्चाएँ करके मैंने प्रार्थना की कि वे मजदूरोंकी माँगके सम्बन्धमें पंच नियुक्त करें। किन्तु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीच पंचके हस्तक्षेपकी आवश्यकताको स्वीकार न किया।

मैंने मजदूरोंको हड़ताल करनेकी सलाह दी। यह सलाह देनेसे पहले मैं मजदूरोंके और मजदूर-नेताओंके सम्पर्कमें अच्छी तरह आया। उन्हें हड़तालकी शर्तें समझाईं:

१. किसी भी दशामें शान्ति भंग न होने दी जाये।

२. जो काम पर जाना चाहे उसके साथ जोर-जबरदस्ती न की जाये।

३. मजदूर भिक्षाका अन्न न खायें।

४. हड़ताल कितनी ही लम्बी क्यों न चले, वे दृढ़ रहें और अपने पास पैसा न रहे, तो दूसरी मजदूरी करके खाने योग्य कमा लें।

मजदूर नेताओंने ये शर्तें समझ लीं और स्वीकार कर लीं। मजदूरोंकी आम सभा हुई और उसमें उन्होंने निश्चय किया कि जबतक उनकी माँग मंजूर न की जाये अथवा उसकी योग्यता-अयोग्यताकी जाँचके लिए पंचकी नियुक्ति न हो, तबतक वे काम पर नहीं जायेंगे।

कहना होगा कि इस हड़तालके दौरान मैं श्री वल्लभभाई पटेल और श्री शंकरलाल बैंकरको यथार्थ रूपमें पहचानने लगा। अनसूयाबाईका परिचय तो मुझे इसके पहले ही अच्छी तरह हो चुका था।

हड़तालियोंकी सभा रोज साबरमती नदीके किनारे एक पेड़की छाया-तले होने लगी। उसमें वे लोग सैकड़ोंकी तादादमें जमा होते थे। मैं उन्हें रोज प्रतिज्ञाका स्मरण कराता तथा शान्ति बनाये रखने और स्वाभिमानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता समझाता था। वे अपना 'एक टेक'का झण्डा लेकर रोज शहरमें घूमते थे और जुलूसके रूपमें सभामें हाजिर होते थे।

यह हड़ताल इक्कीस दिन चली। इस बीच समय-समय पर मैं मालिकोंसे बात-चीत किया करता था और उन्हें इन्साफ करनेके लिए मनाता था। मुझे यह जवाब मिलता: "हमारी भी तो टेक है न? हममें और हमारे मजदूरोंमें बाप-बेटेका सम्बन्ध है। उसके बीचमें कोई दखल दे, तो हम कैसे सहन करें? हमारे बीच पंच कैसे?"

२१. आश्रमकी झाँकी

मजदूरोंकी बातको आगे बढ़ानेसे पहले यहाँ आश्रमकी झाँकी कर लेना आवश्यक है। चम्पारनमें रहते हुए भी मैं आश्रमको भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहाँ हो भी आता था।

कोचरब अहमदाबादके पास एक छोटा-सा गाँव है। आश्रमका स्थान इस गाँवमें था। कोचरबमें प्लेग शुरू हुआ। आश्रमके बालकोंको मैं उस बस्तीके बीच सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छताके नियमोंका अधिक-से-अधिक सावधानीसे पालन करने पर भी आसपासकी अस्वच्छतासे आश्रमको अछूता रखना असम्भव था। कोचरबके लोगोंसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करानेकी अथवा ऐसे समय में उनकी सेवा करनेकी हममें शक्ति नहीं थी।

हमारा आदर्श तो यह था कि आश्रमको शहर अथवा गाँवसे अलग रखें, फिर भी वह इतना दूर न हो कि वहाँ पहुँचनेमें बहुत कठिनाई हो। किसी-न-किसी दिन तो आश्रमको आश्रमके रूपमें सुशोभित होनेके पहले, अपनी जमीन पर खुली जगहमें स्थिर होना ही था।

प्लेगको मैंने कोचरब छोड़नेकी नोटिस माना। श्री पूँजाभाई हीराचन्द आश्रमके साथ बहुत निकटका सम्बन्ध रखते थे और आश्रमकी छोटी-बड़ी सेवा शुद्ध और

निरभिमान भावसे करते थे। उन्हें अहमदाबादके कारबारी जीवनका व्यापक अनुभव था। उन्होंने आश्रमके लिए जमीनकी खोज तुरन्त ही कर लेनेका बीड़ा उठाया। कोचरबके उत्तर-दक्षिणके भागमें मैं उनके साथ घूमा। फिर उत्तरकी ओर तीन-चार मील दूर कोई टुकड़ा मिल जाये, तो उसका पता लगानेकी बात मैंने उनसे कही। उन्होंने आजकी आश्रमवाली जमीनका पता लगा लिया। वह जेलके पास है, यह मेरे लिए प्रलोभन था। सत्याग्रह-आश्रममें रहनेवालेके भाग्यमें जेल तो लिखा ही होता है। अपनी इस मान्यताके कारण जेलका पड़ोस मुझे पसन्द आया। मैं यह तो जानता ही था कि जेलके लिए हमेशा वही जगह पसन्द की जाती है, जहाँ आसपास स्वच्छ स्थान हो।

कोई आठ दिनके अन्दर ही जमीनका सौदा तय कर लिया। जमीन पर न तो कोई मकान था, न कोई पेड़। नदीका किनारा और एकान्त, ये दो बड़ी बातें जमीनके हकमें थीं।

हमने तम्बुओंमें रहनेका निश्चय किया और सोचा कि रसोई-घरके लिए टीनका एक कामचलाऊ छप्पर बाँध लेंगे और धीरे-धीरे स्थायी मकान बनाना शुरू कर देंगे।

इस समय आश्रमकी बस्ती बढ़ गई थी। लगभग चालीस छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष थे। सुविधा यह थी कि सब एक ही रसोई-घरमें खाते थे। योजनाकी कल्पना मेरी थी। उसे अमली रूप देनेका बोझ उठानेवाले तो नियमानुसार स्व० मगनलाल गांधी ही थे।

स्थायी मकान बननेसे पहलेकी कठिनाइयोंका पार न था। बारिशका मौसम सामने था। सब सामान चार मील दूर शहरसे लाना होता था। इस निर्जन भूमिमें साँप आदि तो थे ही। ऐसी स्थितिमें बालकोंकी सार-सँभालका खतरा मामूली नहीं था। नियम यह था कि सर्पादिको मारा न जाये। लेकिन उनके भयसे मुक्त तो हममेंसे कोई न था, आज भी नहीं है।

फीनिक्स, टॉल्सटॉय फार्म और साबरमती-आश्रम, तीनों जगहोंमें हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथाशक्ति पालन किया गया है। तीनों जगहों में निर्जन जमीनें बसानी पड़ी थीं। कहना होगा कि तीनों स्थानोंमें सर्पादिका उपद्रव काफी था। तिस पर भी आज तक एक भी जान खोनी नहीं पड़ी। इसमें मेरे समान श्रद्धालुको तो ईश्वरके हाथका, उसकी कृपाका ही दर्शन होता है। अतः कोई यह निरर्थक शंका न उठाये कि ईश्वर कभी पक्षपात ही नहीं करता और मनुष्यके दैनिक कामोंमें दखल देनेके लिए वह बेकार नहीं बैठा है। मैं इस चीजको, इस अनुभवको, दूसरी भाषामें रखना नहीं जानता। ईश्वरकी कृतिको लौकिक भाषामें प्रकट करते हुए भी मैं जानता हूँ कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है। किन्तु यदि पामर मानव वर्णन करने ही बैठे, तो उसके पास तो उसकी अपनी तोतली बोली ही हो सकती है। साधारणतः सर्पादिको मारने पर भी आश्रम-समाजके पच्चीस वर्ष तक बचे रहनेको संयोग माननेके बदले ईश्वरकी कृपा मानना यदि वहम हो, तो वह वहम भी संग्रहणीय है।

उन दिनों जब मजदूरोंकी हड़ताल हुई, आश्रमकी नींव पड़ रही थी। आश्रम की प्रधान प्रवृत्ति बुनाई-कामकी थी। कातनेकी तो अभी हम खोज ही नहीं कर पाये थे। अतएव पहले बुनाई-घर बनानेका निश्चय किया था और उसकी नींव चुनी।

२२. उपवास

मजदूरोंने शुरूके दो हफ्तोंमें खूब हिम्मत दिखाई; शान्ति भी खूब रखी; प्रतिदिनकी सभाओंमें वे बड़ी संख्यामें हाजिर भी रहे। प्रतिज्ञाका स्मरण मैं रोज उन्हें कराता ही था। वे रोज पुकार-पुकार कहते थे, "हम मर मिटेंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

लेकिन आखिर वे कमजोर पड़ते जान पड़े। और जिस प्रकार कमजोर आदमी हिंसक होता है, उसी प्रकार उनमें जो कमजोर पड़े वे मिलमें जानेवालोंका द्वेष करने लगे और मुझे डर मालूम हुआ कि कहीं वे किसीके साथ जबरदस्ती न कर बैठें। रोजकी सभामें लोगोंकी उपस्थिति कम पड़ने लगी। आनेवालोंके चेहरोंपर उदासीनता छाई रहती थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डगमगाने लगे हैं। मैं परेशान हुआ और यह सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा धर्म क्या हो सकता है। मुझे दक्षिण आफ्रिकाके मजदूरोंकी हड़तालका अनुभव था। पर यह अनुभव नया था। जिस प्रतिज्ञाके करनेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका मै प्रतिदिन साक्षी बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूट सकती है? इस विचारको आप चाहे मेरा अभिमान कह लीजिए अथवा मजदूरोंके और सत्यके प्रति मेरा प्रेम कह लीजिए।

सवेरेका समय था। मैं सभामें बैठा था। मेरी समझमें नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। किन्तु सभामें ही मेरे मुँहसे निकल गया, "यदि मजदूर फिरसे तैयार न हों और फैसला होने तक हड़तालको चला न सकें, तो मैं तब तकके लिए उपवास करूँगा।"[1]

जो मजदूर हाजिर थे, वे सब हक्का-बक्का रह गये। अनसूयाबहनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली। मजदूर बोल उठे, "आप नही, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करने चाहिए। हमें माफ कीजिए। हम अपनी प्रतिज्ञाका पालन करेंगे।"

मैंने कहा, "आपको उपवास करनेकी जरूरत नहीं है। आपके लिए तो यही बस है कि आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन करें। हमारे पास पैसा नहीं है। हम मजदूरोंको भीखका अन्न खिलाकर हड़ताल चलाना नहीं चाहते। आप कुछ मजदूरी कीजिए और उससे अपनी रोजकी रोटीके लायक पैसा कमा लीजिए। ऐसा करेंगे तो फिर हड़ताल कितने ही दिन क्यों न चले, आप निश्चिन्त रह सकेंगे। मेरा उपवास तो अब फैसलेसे पहले न छूटेगा।"

वल्लभभाई पटेल मजदूरोंके लिए म्युनिसिपैलिटीमें काम खोज रहे थे, पर वहाँ कुछ काम मिलनेकी सम्भावना न थी। आश्रमकी बुनाई-शालामें रेतका भराव करनेकी जरूरत थी। मगनलाल गांधीने सुझाया कि इस काममें बहुत-से मजदूर लगाये जा सकते हैं। मजदूर इसे करनेको तैयार हो गये। अनसूयाबहनने पहली टोकरी उठाई और नदीमेंसे रेतकी टोकरियाँ ढोनेवाले मजदूरोंकी एक कतार खड़ी हो गई। वह दृश्य देखने योग्य था। मजदूरोंमें नया बल आ गया। उन्हें पैसे चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक गये।

१. उपवासके दौरान दिये गये भाषणोंके लिए देखिए खण्ड १४, पृष्ठ २४३-४५ और २४७-२५०।

इस उपवासमें एक दोष था। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि मालिकोंके साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था। इसलिए उनपर उपवासका प्रभाव पड़े बिना रह ही न सकता था। मैं जानता था कि सत्याग्रहीके नाते मैं उनके विरुद्ध उपवास कर ही नहीं सकता; उनपर कोई प्रभाव पड़े, तो वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषोंके लिए नहीं था; मजदूरोंके दोषके निमित्तसे था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था। इसलिए उनके दोषसे मै दोषित होता था। मालिकोंसे तो मैं केवल विनती ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना उनपर ज्यादती करनेके समान था। फिर भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका प्रभाव उनपर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। प्रभाव पड़ा भी। किन्तु मैं अपने उपवासको रोक नहीं सकता था। मैंने स्पष्ट देखा कि सदोष होते हुए भी ऐसा उपवास करना मेरा धर्म है।

मैंने मालिकोंको समझाया: "मेरे उपवासके कारण आपको अपना मार्ग छोड़ने की तनिक भी जरूरत नहीं।" उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी दिये। उन्हें वैसा करनेका अधिकार था।

सेठ अम्बालाल इस हड़तालके विरुद्ध दृढ़ रहनेवालोंमें अग्रगण्य थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी। उनकी निष्कपटता भी मुझे उतनी ही पसन्द आई। उनसे लड़ना मुझे प्रिय लगा। उनके-जैसे अगुआ जिस विरोधी दलमें थे, उसपर उपवासका पड़नेवाला अप्रत्यक्ष प्रभाव मुझे अखरा। फिर, उनकी धर्मपत्नी श्री सरलादेवीका मेरे प्रति सगी बहन-जैसा प्रेम था। मेरे उपवाससे उन्हें जो घबराहट होती थी, वह मुझसे देखी नहीं जाती थी।

मेरे पहले उपवासमें अनसूयाबहन, दूसरे कई मित्र और मजदूर लोग साथी बने। अधिक उपवास न करनेके लिए मैं उन्हें मुश्किलसे समझा सका।

इस प्रकार चारों ओर प्रेममय वातावरण बन गया। मालिक केवल दयावश होकर समझौतेका रास्ता खोजने लगे। अनसूयाबहनके यहाँ उनकी चर्चाएँ चलने लगीं। श्री आनन्दशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। आखिर वे पंच नियुक्त हुए और हड़ताल टूटी। मुझे केवल तीन उपवास करने पड़े। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई बाँटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ।

समझौतेकी सभामें[1] मिल-मालिक और उत्तरी विभागके कमिश्नर मौजूद थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी: "आपको हमेशा श्री गांधी जैसा कहें वैसा करना चाहिए।" इस घटनाके बाद तुरन्त ही मुझे इन्हीं कमिश्नरसे लड़ना पड़ा था। समय बदला इसलिए वे भी बदल गये, और खेड़ाके पाटीदारोंको मेरी सलाह न माननेकी बात कहने लगे।

यहाँ एक दिलचस्प और करुणाजनक घटनाका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। मालिकोंकी बनवाई हुई मिठाई बहुत ज्यादा थी और सवाल यह खड़ा हो गया था कि वह हजारों मजदूरोंमें कैसे बाँटी जाये? जिस पेड़की छायातले मजदूरोंने प्रतिज्ञा की थी, वहीं उसे बाँटना उचित है, यह सोचकर और दूसरी जगह

१. देखिए खण्ड १४, पृष्ठ २५३-२५५।

हजारों मजदूरोंको इकट्ठा करना कष्टप्रद होगा, यह समझकर पेड़के आसपासके खुले मैदानमें बाँटनेका निश्चय हुआ था।

अपने भोलेपनके कारण मैंने यह मान लिया था कि इक्कीस दिनतक नियमनमें रहे हुए मजदूर बिना प्रयत्नके कतारमें खड़े होकर मिठाई ले लेंगे और अधीरताके साथ उसपर टूट नहीं पड़ेंगे। पर मैदानमें बाँटनेकी दो-तीन रीतियाँ आजमाई गई और वे विफल हुईं। दो-तीन मिनट काम ढंगसे चलता और फिर तुरन्त बंधी कतार टूट जाती। मजदूरोंके नेताओंने खूब कोशिश की, पर वह व्यर्थ सिद्ध हुई। अन्तमें भीड़, कोलाहल और छीनाझपटी यहाँ तक बढ़ गई कि कुछ मिठाई पैरोंके नीचे आकर बरबाद हो गई। मैदानमें बाँटना बंद करना पड़ा और बची हुई मिठाईको जैसे तैसे सेठ अम्बालालके मिर्जापुरवाले बंगलेपर पहुँचाया जा सका। दूसरे दिन यह मिठाई बंगलेके मैदानमें ही बाँटनी पड़ी।

इस घटनामें निहित हास्यरस तो स्पष्ट है। परन्तु उसके करुण रसका उल्लेख करना जरूरी है। 'एक टेक' वाले पेड़के पास मिठाई न बँट सकनेके कारणका पता लगाने पर मालूम हुआ कि मिठाई बँटनेकी खबर पाकर अहमदाबादके भिखारी वहाँ आ पहुँचे थे और वे कतार तोड़कर मिठाई झपट लेनेकी कोशिश करते थे।

यह देश भुखमरीसे इतना पीड़ित है कि भिखारियोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है और वे भोजन पानेके लिए साधारण मर्यादाका भी उल्लंघन करते हैं। धनवान लोग ऐसे भिखारियोंके लिए कामकी व्यवस्था करनेके बदले बिना विचारे भिक्षा देकर उन्हें पोसते हैं।

२३. खेड़ा सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल समाप्त होनेके बाद दम लेनेको भी समय न मिला और मुझे खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम हाथमें लेना पड़ा।

खेड़ा जिलेमें अकालकी-सी स्थिति होनेके कारण खेड़ाके पाटीदार लोग लगान माफ करानेकी कोशिश कर रहे थे।

इस विषयमें श्री अमृतलाल ठक्करने जाँच करके रिपोर्ट तैयार की थी। इस बारेमें कोई निश्चित सलाह देनेसे पहले मैं कमिश्नरसे मिला। श्री मोहनलाल पण्ड्या और श्री शंकरलाल परीख अथक परिश्रम कर रहे थे। वे स्व० गोकलदास कहानदास पारेख और विट्ठलभाई पटेलके द्वारा धारासभाका आन्दोलन कर रहे थे। सरकारके पास प्रतिनिधि मण्डल भी गये थे।

इस समय मैं गुजरात-सभाका सभापति था। सभाने कमिश्नर और गवर्नरको प्रार्थनापत्र भेजे, तार किये और अपमान सहे। सभा उनकी धमकियोंको पचा गई। अधिकारियोंका उस समयका ढंग आज तो हास्यजनक प्रतीत होता है। उन दिनोंका उनका अत्यन्त हलके दर्जेका बरताव आज असम्भव-सा मालूम होता है।

लोगोंकी माँग इतनी साफ और इतनी साधारण थी कि उसके लिए लड़ाई लड़नेकी जरूरत ही न होनी चाहिए थी। कानून यह था कि अगर फसल चार ही

आना या उससे कम आये तो उस सालका लगान माफ किया जाना चाहिए। पर सरकारी अधिकारियोंका अन्दाज चार आनेसे अधिक था। लोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि उपज चार आनेसे कम कूती जाने योग्य है; पर सरकार क्यों मानने लगी? लोगोंकी ओरसे पंच बैठानेकी माँग की गई। सरकारको वह असह्य मालूम हुई। जितना अनुनय-विनय हो सकता था, सो सब कर चुकनेके बाद और साथियोंसे परामर्श करनेके पश्चात मैंने सत्याग्रह करनेकी सलाह दी।

साथियोंमें खेड़ा जिलेके सेवकोंके अतिरिक्त मुख्यतः श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक और श्री महादेव देसाई आदि थे। वल्लभभाई अपनी बड़ी और बढ़ती हुई वकालतकी बलि देकर आये थे। कहा जा सकता है कि इसके बाद वे निश्चित होकर वकालत कर ही न सके।

हम नडियादके अनाथाश्रममें ठहरे थे। अनाथाश्रममें ठहरनेको कोई विशेष महत्त्व न दिया जाये। नड़ियादमें दूसरा ऐसा कोई स्वतन्त्र मकान नही था, जिसमें इतने सारे लोग समा सकें।

अन्तमें नीचे लिखी प्रतिज्ञापर हस्ताक्षर लिये गये:

"हम जानते हैं कि हमारे गाँवोंकी फसल चार आनेसे कम हुई है। इस कारण हमने सरकारसे प्रार्थना की कि वह लगान-वसूलीका काम अगले वर्षतक मुलतवी रखे। फिर भी वह मुलतवी नहीं किया गया। अतएव हम नीचे सही करनेवाले लोग यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस सालका पूरा या बाकी रहा सरकारी लगान नहीं देंगे। पर उसे वसूल करनेके लिए सरकार जो भी कानूनी कार्रवाई करना चाहेगी, हम करने देंगे और उससे होनेवाले दुःख सहन करेंगे। यदि हमारी जमीन जब्त की गई तो हम उसे जब्त भी होंने देंगे, पर अपने हाथों पैसा जमा करके झूठे नहीं ठहरेंगे और स्वाभिमान नहीं खोयेंगे। अगर सरकार बाकी बची हुई सब जगहोंमें दूसरी किस्तकी वसूली मुलतवी रखे तो हममें से जो जमा करा सकते हैं, वे पूरा अथवा बाकी रहा हुआ लगान जमा करनेको तैयार हैं। हममेंसे जो जमा करा सकते हैं, उनके लगान जमा न करानेका कारण यह है कि अगर समर्थ लोग जमा करा दें तो असमर्थ लोग घबराहटमें पड़कर अपनी कोई भी चीज बेचकर या कर्ज करके लगान जमा करा देंगे और दुःख उठायेंगे। हमारी यह मान्यता है कि ऐसी स्थितिमें गरीबोंकी रक्षा करना समर्थ लोगोंका कर्त्तव्य है।"

मैं इस लड़ाईके बारेमें अधिक प्रकरण नहीं लिख सकता।[1] अतएव अनेक मीठे स्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाईका गहरा अध्ययन करना चाहें, उन्हें श्री शंकरलाल पारेख द्वारा लिखित खेड़ाकी लड़ाईका विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास पढ़ जानेकी मैं सिफारिश करता हूँ।

१. अधिक विवरणके लिए देखिए खण्ड १४, पृष्ठ १८४ तथा ४०४।

२४. 'प्याज-चोर'

चम्पारन हिन्दुस्तानके एक कोनेमें था। वहाँकी लड़ाईको अखबारोंसे इस तरह अलग रखा गया था कि बाहरसे देखनेवाले वहाँ कोई आते न थे। पर खेड़ाकी लड़ाई अखबारोंकी चर्चाका विषय बन चुकी थी।

गुजरातियोंको इस नई चीजमें विशेष रस आने लगा था। वे पैसा लुटानेको तैयार थे। सत्याग्रहकी लड़ाई पैसेसे नहीं चल सकती, उसे पैसेकी आवश्यकता तो कमसे-कम रहती है। यह बात उनकी समझमें जल्दी नहीं आ रही थी। मना करने पर भी बम्बईके सेठोंने आवश्यकतासे अधिक पैसे दिये थे और लड़ाईके अन्तमें उसमें से कुछ रकम बच गई थी।

दूसरी तरफ सत्याग्रही सेनाको भी सादगीका नया पाठ सीखना था। मैं यह तो नहीं कह सकता कि वे पूरा पाठ सीख गये थे, पर उन्होंने अपनी रहन-सहनमें बहुत-कुछ सुधार कर लिया था।

पाटीदारोंके लिए भी यह लड़ाई नयी थी। गाँव-गाँव घूमकर लोगोंको इसका रहस्य समझाना पड़ता था।

सरकारी अधिकारी जनताके मालिक नहीं, बल्कि नौकर हैं; जनताके पैसेसे उन्हें तनख्वाह मिलती है — यह सब समझाकर उनका भय दूर करनेका काम मुख्य था। और निर्भय होने पर भी विनयके पालनका उपाय बताना और उसे गले उतारना लगभग असम्भव-सा प्रतीत होता था। अधिकारियोंका डर छोड़नेके बाद उनके द्वारा किये गये अपमानोंका बदला चुकानेकी इच्छा किसे नहीं होती! फिर भी यदि सत्याग्रही अविनयी बनता है, तो वह दूधमें जहर मिलनेके समान है। पाटीदार विनयका पाठ पूरी तरह पढ़ नहीं पाये, इसे मैं बादमें अधिक समझ पाया। मैं अनुभवसे इस परिणामपर पहुँचा हूँ कि विनय सत्याग्रहका कठिनसे-कठिन अंश है। यहाँ विनयका अर्थ केवल सम्मानपूर्वक वचन कहना ही नहीं है। विनयसे तात्पर्य है, विरोधीके प्रति मनमें आदर, सरलभाव, उसके हितकी इच्छा और तदनुसार व्यवहार।

शुरूके दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत दिखाई देती थी। शुरू-शुरूमें सरकारी कार्रवाई भी कुछ ढीली ही थी। लेकिन जैसे-जैसे लोगोंकी दृढ़ता बढ़ती मालूम हुई, वैसे-वैसे सरकारको भी अधिक उग्र कार्रवाई करनेकी इच्छा हुई। कुर्की करनेवालोंने लोगोंके पशु बेच डाले, घरमें से जो चाहा सो माल उठाकर ले गये। चौथाई जुर्मानेके नोटिस निकले। किसी-किसी गाँवकी सारी फसल जब्त कर ली गई। लोगोंमें घबराहट फैली। कुछने लगान जमा करा दिया। दूसरे मन-ही-मन यह चाहने लगे कि सरकारी अधिकारी उनका सामान जब्त करके लगान वसूल कर लें, तो भर पाये। कुछ मर-मिटनेवाले भी निकले।

इसी बीच शंकरलाल पारेखकी जमीनका लगान उनकी जमीनपर रहनेवाले आदमीने जमा करा दिया। इससे हाहाकार मच गया। शंकरलाल पारेखने वह जमीन जनताको देकर अपने आदमीसे हुई भूलका प्रायश्चित्त किया। इससे उनकी प्रतिष्ठाकी रक्षा हुई और दूसरोंके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया।

भयभीत लोगोंको प्रोत्साहित करनेके लिए मोहनलाल पण्ड्याके नेतृत्वमें मैंने एक ऐसे खेतमें खड़ी प्याजकी तैयार फसलको उतार लेनेकी सलाह दी, जो अनुचित रीतिसे जब्त किया गया था। मेरी दृष्टिमें इससे कानूनका भंग न होता था। लेकिन अगर कानून टूटता हो तो भी मैंने यह सुझाया कि मामूली-से लगानके लिए समूची तैयार फसलको जब्त करना कानूनन् ठीक होते हुए भी नीतिके विरुद्ध है और स्पष्ट लूट है, अतएव इस प्रकारकी जब्तीका अनादर करना हमारा धर्म है। लोगोंको स्पष्ट रूपसे समझा दिया था कि ऐसा करनेमें जेल जाने और जुर्माना होनेका खतरा है। मोहनलाल पण्ड्या तो यही चाहते थे। सत्याग्रहके अनुरूप किसी रीतिसे किसीके जेल गये बिना खेड़ाकी लड़ाई समाप्त हो जाये, यह चीज उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी। उन्होंने इस खेतका प्याज खुदवानेका बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियोंने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना कैसे रहती? मोहनलाल पण्ड्या और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगोंका उत्साह बढ़ गया। जहाँ लोग जेल इत्यादिके विषयमें निर्भय बन जाते हैं, वहाँ राजदण्ड लोगोंको दबानेके बदले उनमें शूरवीरता उत्पन्न करता है। अदालतमें लोगोंके दलके-दल मुकदमा देखनेको उमड़ पड़े। मोहनलाल पण्ड्याको और उनके साथियोंको थोड़े-थोड़े दिनोंकी कैद की सजा दी गई।[1] मैं मानता हूँ कि अदालतका फैसला गलत था। प्याज उखाड़नेका काम चोरीकी कानूनी व्याख्याकी सीमामें नहीं आता था। पर अपील करनेकी किसीकी वृत्ति ही न थी।

जेल जानेवालोंको पहुँचानेके लिए एक जुलूस उनके साथ हो गया, और उस दिनसे मोहनलाल पण्ड्याको लोगोंकी ओरसे 'प्याज-चोर' की सम्मानित पदवी प्राप्त हुई, जिसका उपभोग वे आजतक कर रहे हैं।

इस लड़ाईका कैसा और किस प्रकार अन्त हुआ, उसका वर्णन करके हम खेड़ा-प्रकरण समाप्त करेंगे।

२५. खेड़ाकी लड़ाईका अन्त

इस लड़ाईका अन्त विचित्र रीतिसे हुआ। यह तो साफ था कि लोग थक चुके थे। जो दृढ़ बने रहे, उन्हें पूरी तरह बरबाद होने देनेमें संकोच हो रहा था। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रहीके अनुरूप इसकी समाप्तिका कोई शोभास्पद मार्ग निकल आये, तो उसे अपनाना ठीक होगा। ऐसा एक अनसोचा उपाय सामने आ गया। नड़ियाद ताल्लुकेके तहसीलदारने सन्देशा भेजा कि अगर अच्छी स्थितिवाले पाटीदार लगान अदा कर दें, तो गरीबोंका लगान मुलतवी रहेगा। इस विषयमें मैंने लिखित स्वीकृति माँगी और वह मिल गई। तहसीलदार अपनी तहसीलकी ही जिम्मेदारी ले सकता था। सारे जिलेकी जिम्मेदारी तो कलेक्टर ही ले सकता था। इसलिए मैंने कलेक्टरसे पूछा। उनका जवाब मिला कि तहसीलदारने जो कहा है

१. गांधीजीके सम्बन्धित भाषणके लिए देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ४०२-४०४।

उसके अनुसार तो हुक्म निकल ही चुका है। मुझे इसका पता नहीं था। लेकिन यदि ऐसा हुक्म निकल चुका हो तो माना जा सकता है कि लोगोंकी प्रतिज्ञाका पालन हुआ। प्रतिज्ञामें यही वस्तु थी, अतएव इस हुक्मसे हमने सन्तोष माना।

फिर भी इस प्रकारकी समाप्तिसे हम प्रसन्न न हो सके। सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो एक मिठास होती है, वह इसमें नहीं थी। कलेक्टर मानता था कि उसने कुछ किया ही नहीं। गरीब लोगोंको छोड़नेकी बात कही जाती थी, किन्तु वे शायद ही छूट पाये। जनता यह कहनेका अधिकार आजमा न सकी कि गरीबमें किसकी गिनती की जाये। मुझे इस बातका दु:ख था कि जनतामें इस प्रकारकी शक्ति रह नहीं गई थी। अतएव लड़ाईकी समाप्तिका उत्सव तो मनाया गया, पर इस दृष्टिसे मुझे वह निस्तेज लगा।

सत्याग्रहका शुद्ध अन्त तभी माना जाता है, जब जनतामें आरम्भकी अपेक्षा अन्तमें अधिक तेज और शक्ति पाई जाये। मैं इसका दर्शन न कर सका।

इतने पर भी इस लड़ाईके जो अदृश्य परिणाम निकले, उनका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है और उठाया जा रहा है। खेड़ाकी लड़ाईसे गुजरातके किसान-समाजकी जागृतिका और उसकी राजनीतिक शिक्षाका श्रीगणेश हुआ।

विदुषी डा० बेसेंटके 'होमरूल' के तेजस्वी आन्दोलनने उसका स्पर्श अवश्य किया था, लेकिन कहना होगा कि किसानोंके जीवनमें शिक्षित समाजका और स्वयंसेवकोंका सच्चा प्रवेश तो इस लड़ाईसे ही हुआ। स्वयंसेवक पाटीदारोंके जीवनमें ओतप्रोत हो गये थे। स्वयंसेवकोंको इस लड़ाईमें अपने क्षेत्रकी मर्यादाओंका पता चला। इससे उनकी त्यागशक्ति बढ़ी। इस लड़ाईमें वल्लभभाईने अपने-आपको पहचाना। अपने आपमें यही एक कोई ऐसा-वैसा परिणाम नहीं है। इसे हम पिछले साल संकट-निवारणके समय और इस समय बारडोलीमें देख चुके हैं। इससे गुजरातके लोकजीवनमें नया तेज आया, नया उत्साह उत्पन्न हुआ। पाटीदारोंको अपनी शक्तिका जो ज्ञान हुआ, वे उसे फिर नहीं भूले। सभी यह समझ गये कि जनताकी मुक्तिका आधार स्वयं जनतापर, उसकी त्यागशक्तिपर है। खेड़ाके माध्यमसे सत्याग्रहने गुजरातमें अपनी जड़ जमा ली।

यद्यपि लड़ाईके अन्तसे मैं प्रसन्न न हो सका, तो भी मैंने खेड़ाकी जनतामें उत्साह देखा। क्योंकि उसने देख लिया था कि उसकी शक्तिके अनुपातमें उसे सब-कुछ मिल गया था, और भविष्यमें राज्यकी ओरसे होनेवाले कष्टोंके निवारणका मार्ग उसके हाथ लग गया था। उसके उत्साहके लिए इतना ज्ञान पर्याप्त था।

किन्तु खेड़ाकी जनता सत्याग्रहका स्वरूप पूरी तरह समझ नहीं सकी थी इस कारण उसे कैसे कड़वे अनुभव भी हुए यह हम आगे देखेंगे।

२६. एकताकी रट

जिन दिनों खेड़ाका आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों यूरोपका महायुद्ध भी जारी ही था। वाइसरायने उसके सिलसिलेमें नेताओंको दिल्ली बुलाया था। मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं भी उसमें हाजिर होऊँ। मैं बता चुका हूँ कि लार्ड चैम्सफोर्डके साथ मेरी मित्रता थी।

मैंने निमन्त्रण स्वीकार किया और मैं दिल्ली गया; किन्तु इस सभामें सम्मिलित होते समय मेरे मनमें एक संकोच था। मुख्य कारण तो यह था कि इस सभामें अली भाई[1], लोकमान्य और दूसरे नेता निमन्त्रित नहीं किये गये थे। उस समय अलीभाई जेलमें थे। उनसे मैं एक-दो बार ही मिला था, उनके बारेमें सुना बहुत था। उनकी सेवावृत्ति और बहादुरीकी सराहना सब कोई करते थे। हकीम साहबके सम्पर्कमें मैं नहीं आया था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबन्धु एन्ड्रयूजके मुँहसे उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। कलकत्तेमें हुई मुस्लिम लीगकी बैठकके समय शुएब कुरेशी और बैरिस्टर ख्वाजासे मेरी जान-पहचान हुई थी। डा० अन्सारी और डा० अब्दुर्रहमानके साथ भी जान-पहचान हो चुकी थी। मैं सज्जन मुसलमानोंकी संगतिके अवसर ढूँढ़ता रहता था, और जो पवित्र तथा देशभक्त माने जाते थे, उनसे जान-पहचान करके उनकी भावना जाननेकी तीव्र इच्छा मुझमें रहती थी। इसलिए वे अपने समाजमें मुझे जहाँ-कहीं ले जाते वहाँ बिना किसी आनाकानीके मैं चला जाता था।

इस बातको तो मैं दक्षिण आफ्रिकामें ही समझ चुका था कि हिन्दू-मुसलमानके बीच सच्चा मित्रभाव नहीं है। मैं वहाँ ऐसे एक भी उपायको हाथसे जाने न देता था, जिससे दोनोंके बीचकी अनबन दूर हो। झूठी खुशामद करके अथवा स्वाभिमान खोकर उनको अथवा किसी औरको रिझाना मेरे स्वभावमें न था। लेकिन वहींसे मेरे दिलमें यह बात जमी हुई थी कि मेरी अहिंसाकी कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस एकताके सिलसिलेमें ही होगा। आज भी मेरी वह राय कायम है। ईश्वर प्रतिक्षण मुझे कसौटीपर कस रहा है। मेरा प्रयोग चालू ही है।

इस प्रकारके विचार लेकर मैं बम्बई बन्दरपर उतरा था। इसलिए मुझे इन दोनों भाइयोंसे मिलकर प्रसन्नता हुई। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारी जानपहचान होनेके बाद तुरन्त ही अली भाइयोंको तो सरकारने जीते-जी दफना दिया था। मौलाना मुहम्मदअलीको जब इजाजत मिलती, तब वे बैतूल या छिन्दवाड़ा जेलसे मुझे लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलनेकी इजाजत सरकारसे माँगी थी, पर वह न मिल सकी।

अलीभाइयोंकी नजरबन्दीके बाद मुसलमान भाई मुझे कलकत्ता मुस्लिम लीगकी बैठकमें लिवा ले गये थे। वहाँ मुझसे बोलनेको कहा गया। मैं बोला। मैंने मुसलमानोंको समझाया कि अलीभाइयोंको छुड़ाना उनका धर्म है। इसके बाद[2] वे मुझे अलीगढ़

१. देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ३५१-५३।

२. गांधीजी अलीगढ़ मुस्लिम लीगके कल्कत्ता अधिवेशनके पहले गये थे। देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ९६-९७ और ११८।

कालेजमें भी ले गये थे। वहाँ मैंने मुसलमानोंको देशके लिए फकीरी अख्तियार करनेकी दावत दी।

अलीभाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया और इसी निमित्तसे इन भाइयोंकी खिलाफत-सम्बन्धी हलचलका अध्ययन किया। मुसलमानोंके साथ चर्चाएँ कीं। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा मित्र बनना चाहता हूँ, तो मुझे अलीभाइयोंको छुड़ानेमें और खिलाफतके प्रश्नको न्याय-पूर्वक सुलझानेमें उनकी पूरी मदद करनी चाहिए। खिलाफतका सवाल मेरे लिए सरल था। मुझे उसके स्वतन्त्र गुण-दोष देखनेकी जरूरत नहीं थी। मुझे लगा कि अगर उसके सम्बन्धकी मुसलमानोंको माँग नीति-विरुद्ध न हो, तो मुझे उनकी मदद करनी चाहिए। धर्मके प्रश्नमें श्रद्धा सर्वोपरि होती है। यदि एक ही वस्तुके प्रति सबकी एकसी श्रद्धा हो, तो संसारमें एक ही धर्म रह जाये। मुझे मुसलमानोंकी खिलाफत-सम्बन्धी माँग नीति-विरुद्ध प्रतीत नही हुई; यही नहीं, बल्कि ब्रिटेनके प्रधानमन्त्री लायड जार्जने इस माँगको स्वीकार किया था, इसलिए मुझे तो उनसे वचनका पालन करवानेका भी प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें था कि मर्यादित माँगके गुण-दोष जाँचनेका काम केवल अपनी अन्तरात्माको प्रसन्न करनेके लिए ही करना था।

चूँकि मैंने खिलाफतके मामलेमें मुसलमानोंका साथ दिया था, इसलिए इस सम्बन्धमें मित्र और आलोचकोंने मेरी काफी आलोचना की है। उन सबपर विचार करनेके बाद जो राय मैंने बनाई और जो मदद दी या दिलाई, उसके बारेमें मुझे कोई पश्चात्ताप नही है, न उसमें मुझे कोई सुधार ही करना है। मुझे लगता है कि आज भी ऐसा सवाल उठे, तो मेरा व्यवहार पहलेकी तरह ही होगा।

इस प्रकारके विचार लेकर मैं दिल्ली गया। मुसलमानोंके दुःखकी चर्चा मुझे वाइसरायसे करनी थी। खिलाफतके प्रश्नने अभी पूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एन्ड्रयूजने एक नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया। उन्हीं दिनों इटली और इंग्लैंडके बीच गुप्त सन्धि होनेकी जो चर्चा अंग्रेजी अखबारोंमें छिड़ी थी, उसकी बात कहकर दीनबन्धुने मुझसे कहा: "यदि इंग्लैडने इस प्रकारकी गुप्त सन्धि किसी राष्ट्रके साथ की हो, तो आप इस सभामें सहायककी तरह कैसे भाग ले सकते हैं?" मैं इन सन्धियोंके विषयमें कुछ जानता नहीं था। दीनबन्धुका शब्द मेरे लिए पर्याप्त था। इस कारणको निमित्त बनाकर मैंने लार्ड चैम्सफोर्डको पत्र लिखा कि सभामें सम्मिलित होते हुए मुझे संकोच हो रहा है। उन्होंने मुझे चर्चाके लिए बुलाया। उनके साथ और बादमें श्री मेफीके साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सभामें सम्मिलित होना स्वीकार किया। थोड़ेमें वाइसरायकी दलील यह थी: "आप यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल जो कुछ करे, उसकी जानकारी वाइसरायको होनी चाहिए। मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश सरकार कभी भूल करती ही नहीं। कोई भी ऐसा दावा नही करता। किन्तु यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि उसका अस्तित्व संसारके लिए कल्याणकारी है, यदि आप यह मानते हैं कि उसके कार्योंसे इस देशको कुल मिलाकर कुछ लाभ हुआ

है, तो क्या आप यह स्वीकार नही करेंगे कि उसकी विपत्तिके समय उसे मदद पहुँचाना प्रत्येक नागरिकका धर्म है? गुप्त सन्धिके विषयमें आपने समाचारपत्रोंमें जो देखा है, वही मैंने भी देखा है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता, यह मैं आपको विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ। अखबारोंमें कैसी-कैसी गप्पें आती हैं, यह तो आप जानते ही हैं। क्या अखबारमें आई हुई एक निन्दासूचक बातपर आप ऐसे समय राज्यका त्याग कर सकते हैं? लड़ाई समाप्त होने पर आपको जितने नैतिक प्रश्न उठाने हों उतने उठा सकते हैं, और जितनी तकरार करनी हो, कर सकते हैं।"

यह दलील नई नही थी। जिस अवसरपर और जिस रीतिसे यह पेश की गई, उससे मुझे नई-जैसी लगी और मैंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया। खिलाफतके बारे में यह निश्चय हुआ कि मैं वाइसरायको पत्र लिखकर भेजूँ।

२७. रंगरूटोंकी भरती

मैं सभामें हाजिर हुआ। वाइसरायकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियोंकी मददवाले प्रस्तावका समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानीमें बोलनेकी इजाजत चाही। वाइसरायने इजाजत दी, किन्तु साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेको कहा। मुझे भाषण तो करना ही नहीं था। मैंने वहाँ जो कहा सो इतना ही था: "मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा ख्याल है, और उस जिम्मेदारीको समझते हुए मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूँ।"[१]

हिन्दुस्तानीमें बोलनेके लिए मुझे बहुतोंने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि इधर के जमानेमें वाइसरायकी सभामें हिन्दुस्तानीमें बोलनेका यह पहला उदाहरण था। धन्यवादकी और पहले उदाहरणकी बात सुनकर मुझे दुःख हुआ। मैं शरमाया। अपने ही देशमें, देशसे सम्बन्ध रखनेवाले कामकी सभामें, देशकी भाषाका बहिष्कार अथवा उसकी अवगणना कितने दुःखकी बात थी। और, मेरे जैसा कोई हिन्दुस्तानीमें एक या दो वाक्य बोले, तो उसमें धन्यवाद किस बातका!

ऐसे प्रसंग हमारी गिरी हुई दशाका ख्याल करानेवाले हैं। सभामें कहे गये वाक्योंमें मेरे लिए तो बहुत वजन था। मैं उस सभाको अथवा उस समर्थनको भूल नहीं सकता था। अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्लीमें ही पूरी कर लेनी थी। वाइसरायको पत्र लिखनेका काम मुझे सरल न जान पड़ा। सभामें जानेकी अपनी अनिच्छा, उसके कारण, भविष्यकी आशाएँ आदिकी सफाई देना मुझे अपने लिए, सरकारके लिए और जनताके लिए आवश्यक मालूम हुआ।

मैंने वाइसरायको जो पत्र[२] लिखा उसमें लोकमान्य तिलक, अलीभाई आदि नेताओंकी अनुपस्थितिके विषयमें अपना खेद प्रकट किया तथा लोगोंकी राजनीतिक

१. भाषणके लिए देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ३५६।

२. देखिए, खण्ड १४, पृष्ठ ३५७-६० और ३५७-६०।

माँगका और लड़ाईके कारण उत्पन्न हुई मुसलमानोंकी माँगोंका उल्लेख किया। मैंने इस पत्रको छपानेकी अनुमति चाही और वाइसरायने वह खुशीसे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योंकि सभाके समाप्त होते ही वाइसराय शिमला पहुँच गये थे। वहाँ डाक द्वारा पत्र भेजनेमें देर होती थी। मेरी दृष्टिसे पत्र महत्वका था। समय बचानेकी आवश्यकता थी। चाहे जिस व्यक्तिके साथ पत्र भेजनेकी इच्छा न थी। मुझे लगा कि पत्र किसी पवित्र मनुष्यके द्वारा जाये, तो अच्छा हो। दीनबन्धु और सुशील रुद्रने रेवरेंड आयरलैंड नामक एक सज्जनका नाम सुझाया। उन्होंने पत्र ले जाना स्वीकार किया, बशर्ते कि पढ़नेपर वह उन्हें शुद्ध प्रतीत हो। पत्र व्यक्तिगत नहीं था। उन्होंने पढ़ा। उनको अच्छा लगा और वे ले जानेको राजी हुए। मैंने दूसरे दर्जेका रेल किराया देनेकी व्यवस्था की, किन्तु उन्होंने उसे लेनेसे इनकार किया और रातकी यात्रा होते हुए भी ड्योढ़े दर्जेका ही टिकट लिया। उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टतापर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथों द्वारा दिये गये पत्रका परिणाम मेरी दृष्टिसे अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रँगरूट भरती करनेकी थी। इसकी याचना मैं खेड़ामें न करता, तो और कहाँ करता? पहले अपने साथियोंको न न्योतता तो किसे न्योतता? खेड़ा पहुँचते ही वल्लभभाई इत्यादिके साथ मैंने सलाह की। उनमें से कुछके गले बात तुरन्त उतरी नहीं। जिनके गले उतरी, उन्होंने कार्यकी सफलताके विषयमें शंका प्रकट की। जिन लोगोंमें से रँगरूटोंकी भरती करनी थी, उन लोगोंमें सरकारके प्रति किसी प्रकारका अनुराग न था। सरकारी अफसरोंका उन्हें जो कड़वा अनुभव हुआ था, वह भी ताजा ही था।

फिर भी सब इस पक्षमें हो गये कि काम शुरू कर दिया जाये। शुरू करते ही मेरी आँख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ शिथिल पड़ा। खेड़ाकी लड़ाईमें लोग अपनी बैलगाड़ी मुफ्तमें देते थे। जहाँ एक स्वयंसेवककी हाजिरीकी जरूरत थी वहाँ तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसे देने पर भी गाड़ी दुर्लभ हो गई। लेकिन हम यों निराश होनेवाले नहीं थे। गाड़ीके बदले हमने पैदल यात्रा करनेका निश्चय किया।

रोज बीस मीलकी मंजिल तय करनी थी। जहाँ गाड़ी न मिलती, वहाँ खाना तो मिलता ही कैसे? माँगना भी उचित नहीं जान पड़ा। अतएव यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने खानेके लिए पर्याप्त सामग्री अपनी थैलीमें लेकर निकले। गर्मीके दिन थे, इसलिए साथमें ओढ़नेके लिए कुछ रखनेकी आवश्यकता न थी।

हम जिस गाँवमें जाते, उसमें सभा करते। लोग आते, लेकिन भरतीके लिए नाम तो मुश्किलसे एक या दो ही मिलते। "आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार उठानेके लिए क्यों कहते हैं?" "सरकारने हिन्दुस्तानका क्या भला किया है कि आप हमें उसकी मदद करनेको कहते हैं?" ऐसे अनेक प्रकारके प्रश्न मेरे सामने रखे जाते थे।

यह सब होते हुए भी धीरे-धीरे हमारे सतत कार्यका प्रभाव लोगोंपर पड़ने लगा था। वैसे, नाम भी काफी संख्यामें दर्ज होने लगे थे और हम यह मानने लगे

थे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े, तो दूसरोंके लिए रास्ता खुल जायेगा। यदि रँगरूट निकलें, तो उन्हें कहाँ रखा जाये इत्यादि प्रश्नोंकी चर्चा मैं कमिश्नरसे करने लगा था।

कमिश्नर दिल्लीके ढंगपर जगह-जगह सभाएँ करने लगे थे। गुजरातमें भी वैसी सभा हुई। उसमें मुझे और साथियोंको निमन्त्रित किया गया था। मैं उसमें भी सम्मिलित हुआ था। पर यदि दिल्लीकी सभामें मेरे लिए कम स्थान था, तो यहाँकी सभामें तो उससे भी कम स्थान मुझे अपने लिए मालूम हुआ। 'जी हुजूरी, के वातावरणमें मुझे चैन नहीं पड़ता था। यहाँ मैं कुछ अधिक बोला था। मेरी बातमें खुशामद-जैसी तो कोई चीज थी ही नहीं, बल्कि दो कड़वे शब्द भी थे।

रँगरूटोंकी भरतीके सिलसिलेमें मैंने जो पत्रिका प्रकाशित की थी, उसमें भरती के लिए निमन्त्रित करते हुए जो एक दलील दी गई थी वह कमिश्नरको बुरी लगी थी। उसका आशय यह था: "ब्रिटिश राज्यके अनेकानेक दुष्कृत्योंमें समूची प्रजाको निःशस्त्र बनानेके कानूनको इतिहास उसका कालेसे-काला काम मानेगा। इस कानूनको रद कराना हो और शस्त्रोंका उपयोग सीखना हो, तो यह एक सुवर्ण अवसर है। संकटके समयमें मध्यम श्रेणीके लोग स्वेच्छासे शासनकी सहायता करेंगे, तो अविश्वास दूर होगा, और जो शस्त्र धारण करना चाहेगा वह आसानीसे वैसा कर सकेगा।" इसको लक्ष्यमें रखकर कमिश्नरको कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेदके रहते हुए भी सभामें मेरी उपस्थिति उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने मतका समर्थन यथासम्भव मीठे शब्दोंमें करना पड़ा था।

ऊपर वाइसरायको लिखे जिस पत्रका उल्लेख किया गया है, उसका सार[1] नीचे दिया जाता है:

"युद्ध परिषदमें उपस्थित रहनेके विषयमें मेरी अनिच्छा थी, पर आपसे मिलनेके बाद वह दूर हो गई, और उसका एक कारण यह अवश्य था कि आपके प्रति मुझे बड़ा आदर है। न आनेके कारणोंमें मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, श्रीमती बेसेंट और अलीभाई निमन्त्रित नहीं किये गये थे। इन्हें मैं जनताके बहुत शक्तिशाली नेता मानता हूँ। मुझे तो लगता है कि इन्हें निमन्त्रित न करनेमें सरकारने गम्भीर भूल की है, और मैं अभी भी सुझाता हूँ कि प्रान्तीय परिषदें की जायें, तो उनमें इन्हें निमन्त्रित किया जाये। मेरा यह नम्र मत है कि कोई सरकार ऐसे प्रौढ़ नेताओंकी उपेक्षा नहीं कर सकती, फिर भले उनके साथ उसका कैसा भी मतभेद क्यों न हो। इस स्थितिमें, मैं सभाकी समितियोंमें उपस्थित नहीं रह सका, और सभामें प्रस्तावका समर्थन करके सन्तुष्ट रहा। सरकारके सम्मुख मैंने जो सुझाव रखे हैं, उनके स्वीकृत होते ही मैं अपने समर्थनको अमली रूप देनेकी आशा रखता हूँ।

"जिस शासनमें आगे चलकर हम सम्पूर्ण रूपसे साझेदार बननेकी आशा रखते हैं, संकटके समयमें उसकी पूरी मदद करना हमारा धर्म है। किन्तु मुझे यह तो कहना ही चाहिए कि इसके साथ यह आशा बंधी हुई है कि इस मददके कारण हम

१. पूरे पत्रके लिए देखिए खण्ड १४, पृष्ठ ३५७-६०।

अपने ध्येय तक शीघ्र पहुँच सकेंगे। अतएव लोगोंको यह माननेका अधिकार है कि आपके भाषणमें जिन सुधारोंके तुरन्त अमलमें आनेकी आशा प्रकट की गई है, उन सुधारोंमें कांग्रेस और मुस्लिम लीगकी मुख्य माँगोंका समावेश किया जायेगा।"

"यदि मेरे लिए यह सम्भव होता, तो मैं ऐसे समय होमरूल आदिका उच्चारण तक न करता; बल्कि समस्त शक्तिशाली भारतीयोंको प्रेरित करता कि साम्राज्यके संकटके समय वे उसकी रक्षाके लिए चुपचाप खप जायें। इतना करनेसे ही हम साम्राज्यके बड़ेसे-बड़े और आदरणीय साझेदार बन जाते और रंगभेद तथा देश-भेदका नाम-निशान भी न रहता। पर शिक्षित समाजने इससे कम प्रभावकारी मार्ग अपनाया है। आम लोगोंपर उसका बड़ा प्रभाव है। मैं जबसे हिन्दुस्तान आया हूँ, तभीसे आम लोगोंके गाढ़ सम्पर्कमें आता रहा हूँ, और मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि होमरूलकी लगन उनमें पैठ गई है। होमरूलके बिना लोगोंको कभी सन्तोष न होगा। वे समझते हैं कि होमरूल प्राप्त करनेके लिए जितना बलिदान दिया जाये उतना कम है। अतएव यद्यपि साम्राज्यके लिए जितने स्वयंसेवक दिये जा सकें उतने देने चाहिए, तथापि आर्थिक सहायताके विषयमें मैं ऐसा नहीं कह सकता। लोगोंकी हालतको जाननेके बाद मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान जो सहायता दे चुका है, वह उसके सामर्थ्यसे अधिक है। लेकिन मैं यह समझता हूँ कि सभामें जिन्होंने समर्थन किया है, उन्होंने मरते दम तक सहायता करनेका निश्चय किया है। लेकिन हमारी स्थिति विषम है। हम किसी पेढ़ीके हिस्सेदार नहीं हैं। हमारी मददकी नींव भविष्यकी आशापर खड़ी की गई है, और यह आशा क्या है, सो जरा खोलकर कहनेकी जरूरत है। मैं सौदा करना नहीं चाहता; पर मुझे इतना तो कहना ही चाहिए कि उसके बारेमें हमारे मनमें निराशा पैदा हो जाये, तो साम्राज्यके विषयमें आजतककी हमारी धारणा भ्रम सिद्ध होगी।"

"आपने घरके झगड़े भूल जानेकी सलाह दी है। यदि उसका अर्थ यह हो कि अत्याचार और अधिकारियोंके अपकृत्य सहन कर लिये जायें, तो यह असम्भव है। संगठित अत्याचारका सामना अपनी समूची शक्ति लगाकर करना मैं अपना धर्म मानता हूँ। अतएव आपको, अधिकारियोंको यह सुझाना चाहिए कि वे एक भी मनुष्यकी अवगणना न करें, और लोकमतका उतना आदर करें, जितना पहले कभी नहीं किया है। चम्पारनमें सौ साल पुराने अत्याचारका विरोध करके मैंने ब्रिटिश न्यायकी सर्व-श्रेष्ठता सिद्ध कर दिखाई है। खेड़ाकी जनताने देख लिया है कि जब उसमें सत्यके लिए दुःख सहनेकी शक्ति होती है, तब वास्तविक सत्ता, राज्यसत्ता नहीं, बल्कि लोकसत्ता होती है; और फलतः जनता जिस शासनको शाप देती थी, उसके प्रति उसकी कटुता कम हुई है, और जिस हुकूमतने सविनय कानून-भंगको सहन कर लिया वह लोकमतकी पूरी उपेक्षा करनेवाली नहीं हो सकती — इसका उसे विश्वास हो गया है। अतएव मैं यह मानता हूँ कि चम्पारन और खेड़ामें मैंने जो काम किया है, वह इस लड़ाईमें मेरी सेवा है। यदि आप मुझसे इस प्रकारका अपना काम बन्द कर देनेको कहेंगे, तो मैं यह मानूँगा कि आपने मुझे मेरी साँस बन्द करनेके लिए

कहा है। यदि आत्मबलको अर्थात् प्रेमबलको शस्त्रबलके बदले लोकप्रिय बनानेमें, मैं सफल हो जाऊँ, तो मैं मानता हूँ कि हिन्दुस्तान सारे संसारकी टेढ़ी नजरका भी सामना कर सकता है। अतएव हरबार मैं दुःखसहन करनेकी इस सनातन नीतिको अपने जीवनमें बुन लेनेके लिए अपनी आत्माको कसता रहूँगा, और इस नीतिको स्वीकार करनेके लिए दूसरोंको निमन्त्रण देता रहूँगा। यदि मैं किसी अन्य कार्यमें योग देता हूँ, तो उसका हेतु भी केवल इसी नीतिकी अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करना है।"

"अन्तमें मैं आपसे बिनती करता हूँ कि आप मुसलमानी राज्योंके बारेमें स्पष्ट आश्वासन देनेके लिए ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलको लिखिए। आप जानते हैं कि इसके बारेमें हरएक मुसलमानको चिन्ता बनी रहती है। स्वयं हिन्दू होनेके कारण मैं उनकी भावनाके प्रति उपेक्षाका भाव नहीं रख सकता। उनका दुःख हमारा ही दुःख है। इन मुसलमानी राज्योंके अधिकारोंकी रक्षामें, उनके धर्मस्थानोंके बारेमें उनकी भावनाका आदर करनेमें और हिन्दुस्तानकी होमरूल-विषयक माँगको स्वीकार करनेमें साम्राज्यकी सुरक्षा समाहित है। चूँकि मैं अंग्रेजोंसे प्रेम करता हूँ, इसलिए मैंने यह पत्र लिखा है और मैं चाहता हूँ कि जो वफादारी अंग्रेजमें है, वही हरएक हिन्दुस्तानीमें जागे।"

२८. मृत्यु-शय्यापर

रंगरूटोंकी भरतीके काममें मेरा शरीर काफी क्षीण हो गया। उन दिनों मेरे आहारमें मुख्यतः सिकी और कुटी हुई मूँगफली, उसके साथ थोड़ा गुड़, केले वगैरा फल और दो-तीन नींबूका पानी, इतनी चीज़ें रहा करती थी। फिर भी ये चीज़ें मैंने जरूरतसे अधिक खा लीं और उसके कारण पेटमें सहज पेचिश रहने लगी। मैं समय-समयपर आश्रममें तो आता ही था। मुझे यह पेचिश बहुत चिंताके योग्य प्रतीत नहीं हुई। रात आश्रम पहुँचा। उन दिनोंमें दवा कदाचित् ही लेता था। विश्वास यह था कि एक बारका खाना छोड़ देनेसे तकलीफ दूर हो जायेगी। दूसरे दिन सवेरे कुछ भी नहीं खाया था। इससे दर्द लगभग बन्द हो चुका था। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास चालू रखना चाहिए अथवा खाना ही हो तो, फलके रस-जैसी कोई चीज लेनी चाहिए।

उस दिन कोई त्योहार था। मुझे याद पड़ता है कि मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि मैं दोपहरको भी नहीं खाऊँगा। लेकिन उसने मुझसे आग्रह किया और मैं लालचमें पड़ गया। उन दिनों मैं किसी भी पशुका दूध नहीं लेता था। इससे घी और छाछका भी त्याग कर रखा था। इसलिए उसने मुझसे कहा कि आपके लिए दले हुये गेहूँको तेलमें भूनकर लपसी बनाई गई है और खास तौर पर आपके लिए ही पूरे मूँग भी बनाये गये हैं। मैं स्वादके विचारसे थोड़ा ढीला पड़ गया। फिर भी इच्छा तो यह रखी थी कि कस्तूरबाईको खुश रखनेके लिए थोड़ा खा लूँगा, स्वाद भी ले लूँगा और शरीरकी रक्षा भी कर लूँगा। पर शैतान अपना निशाना ताक कर ही बैठा था। खाने बैठा, तो थोड़ा खानेके बदले पेट भरकर खा गया।

इस प्रकार स्वाद तो मैंने पूरा कर लिया, पर साथ ही यमराजको न्योता भी भेज दिया। खानेके बाद एक घंटा भी न बीता था कि जोरकी पेचिश शुरू हो गई।

रात नड़ियाद तो वापस जाना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। पर सवा मीलका वह रास्ता तय करना मुश्किल हो गया। अहमदाबाद स्टेशनपर वल्लभभाई पटेल मिलनेवाले थे। वे मिले और उन्होंने मेरी पीड़ा ताड़ ली। फिर भी मैंने उन्हें अथवा दूसरे साथियोंको यह मालूम न होने दिया कि पीड़ा असह्य है।

नड़ियाद पहुँचे। वहाँसे अनाथाश्रम जाना था, जो आध मीलसे कुछ कम ही दूर था। लेकिन उस दिन यह दूरी दस मीलके बराबर मालूम हुई। बड़ी मुश्किलसे घर पहुँचा। लेकिन पेटका दर्द बढ़ता ही जाता था। १५-१५ मिनटसे पाखानेकी हाजत मालूम होती थी। आखिर मैं हार गया। मैंने अपनी असह्य वेदना लोगोंपर प्रकट की और बिछौना पकड़ा। आश्रमके आम पाखानेमें जाया करता था, उसके बदले दो-मंजिलेपर कमोड मँगवाया। शर्म तो बहुत आई, पर मैं लाचार हो गया था। फूलचन्द बापूजी बिजलीकी गतिसे कमोड ले आये। चिन्तातुर होकर साथियोंने मुझे चारों ओरसे घेरा लिया। उन्होंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। पर वे बेचारे मेरे दुःखमें किस प्रकार हाथ बँटा सकते थे? मेरे हठका पार न था। मैंने डाक्टरको बुलानेसे इनकार कर दिया। दवा तो लेनी ही न थी; सोचा, किये हुए पापकी सजा भोगूँगा। साथियोंने यह सब मुँह लटकाकर सहन किया। चौबीस घंटोंमें तीस-चालीस बार पाखानेकी हाजत हुई होगी। खाना मैं बन्द कर ही चुका था, और शुरूके दिनोंमें तो मैंने फलका रस भी नहीं लिया था। लेनेकी बिल्कुल रुचि न थी। आजतक जिस शरीरको मैं पत्थरके समान मानता था, वह अब गीली-मिट्टी-जैसा बन गया। शक्ति क्षीण हो गई। साथियोंने दवा लेनेके लिए समझाया। मैंने इनकार किया। उन्होंने पिचकारी लगानेकी सलाह दी। मैंने उसके लिए भी इनकार कर दिया। उस समयका पिचकारी-विषयक मेरा अज्ञान हास्यास्पद था। मैं मानता था कि पिचकारीमें किसी-न-किसी प्रकारकी लसी (सीरम) होगी ही। बादमें मुझे मालूम हुआ कि सुझाई गई पिचकारी तो निर्दोष वनस्पतिसे बनी औषधिकी थी। पर जब समझ आई, तब अवसर बीत चुका था। हाजतें तो जारी ही थीं। अतिशय परिश्रमके कारण बुखार आ गया और बेहोशी भी आ गई। मित्र अधिक घबराये; और डाक्टर भी आये, पर जो रोगी उनकी बात नही माने उसके लिए वे क्या कर सकते थे?

सेठ अम्बालाल और उनकी धर्मपत्नी दोनों नड़ियाद आये। साथियोंसे चर्चा करनेके बाद वे अत्यन्त सावधानीके साथ मुझे मिर्जापुरवाले अपने बँगलेपर ले गये। इतनी बात तो मैं अवश्य कह सकता हूँ कि अपनी इस बीमारीमें मुझे जो निर्मल और निष्काम सेवा प्राप्त हुई, उससे अधिक सेवा कोई पा नहीं सकता। मुझे हलका बुखार रहने लगा। मेरा शरीर क्षीण होता गया। बीमारी काफी लम्बे समयतक चलेगी, शायद मैं बिछौनेसे उठ नहीं सकूँगा, ऐसा भी एक विचार मनमें पैदा हुआ। अम्बालाल सेठके बँगलेमें प्रेमसे घिरा होने पर भी मैं अशान्त हो उठा और मैंने

उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे आश्रम ले जायें। मेरा अतिशय आग्रह देखकर वे मुझे आश्रम ले गये।

मैं अभी आश्रममें पीड़ा भोग ही रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई समाचार लाये कि जर्मनी पूरी तरह हार चुका है, और कमिश्नरने कहलवाया है कि रंगरूट भरती करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर भरतीकी चिन्तासे मैं मुक्त हुआ और मुझे शान्ति मिली।

उन दिनों मैं जलका उपचार करता था और उससे शरीर टिका हुआ था। पीड़ा शान्त हो गई थी, किन्तु किसी भी उपायसे शरीर पुष्ट नहीं हो रहा था। वैद्य मित्र और डाक्टर मित्र अनेक प्रकारकी सलाह देते थे, पर मैं किसी तरह दवा पीनेको तैयार नहीं हुआ। दो-तीन मित्रोंने सलाह दी कि दूध लेनेमें आपत्ति हो, तो मांसका शोरबा लेना चाहिए और औषधके रूपमें मांसादि चाहे जो वस्तु ली जा सकती है। इसके समर्थनमें उन्होंने आयुर्वेदके प्रमाण दिये। एकने अण्डे लेनेकी सिफारिश की। लेकिन मैं इनमेंसे किसी भी सलाहको स्वीकार न कर सका। मेरा उत्तर एक ही था — "नहीं।"

खाद्याखाद्यका निर्णय मेरे लिए केवल शास्त्रोंके श्लोकोंपर अवलम्बित न होकर मेरे जीवनके साथ स्वतन्त्र रीतिसे जुड़ा हुआ था। चाहे जो चीज खाकर और चाहे-जैसा उपचार करके जीनेका मुझे तनिक भी लोभ न था। जिस धर्मका आचरण मैंने अपने पुत्रोंके लिए किया, स्त्रीके लिए किया, स्नेहियोंके लिए किया, उस धर्मका त्याग मैं अपने लिए कैसे करता?

इस प्रकार मुझे अपनी इस बहुत लम्बी और जीवनकी सबसे पहली बड़ी बीमारीमें धर्मका निरीक्षण करने और उसे कसौटीपर चढ़ानेका अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैंने बिलकुल आशा छोड़ दी थी। मुझे ऐसा भास हुआ कि अब मृत्यु समीप ही है। श्री अनसूयाबहनको खबर भिजवाई। वे आईं। वल्लभभाई आये। डाक्टर कानूगा आये। डा० कानूगाने नाड़ी देखी और कहा: "मैं खुद तो मरनेके कोई चिन्ह देख नहीं रहा हूँ। नाड़ी साफ है। केवल कमजोरीके कारण आपके मनमें घबराहट है।" लेकिन मेरा मन निश्चिंत नहीं हुआ। रात तो बीती। किन्तु उस रात मैं शायद ही सो सका होऊँगा।

सवेरा हुआ। मौत नहीं आई। फिर भी उस समय जीनेकी आशा न बाँध सका, और यह समझकर कि मृत्यु समीप है, जितनी देर बन सके उतनी देर तक साथियोंसे गीता-पाठ सुननेमें लगा रहा। कामकाज करनेकी कोई शक्ति रही ही नहीं थी। पढ़ने जितनी भी शक्ति नहीं रह गई थी। किसीके साथ बात करनेकी इच्छा न होती थी, थोड़ी बात करनेसे दिमाग थक जाता था। इस कारण जीनेमें कोई रस न रह गया था। जीनेके लिए जीना मुझे कभी पसन्द ही नहीं रहा। बिना कुछ कामकाज किये साथियोंकी सेवा लेकर क्षीण हो रहे शरीरको टिकाये रखनेमें भारी उकताहट मालूम होती थी।

यों मैं मौतकी राह देखता बैठा था। इतनेमें डा० तलवलकर एक विचित्र प्राणीको लेकर आये। वे महाराष्ट्रीय हैं। हिन्दुस्तान उन्हें पहचानता नहीं। मैं उन्हें

देखकर समझ सका था कि वे मेरी तरह 'चक्रम' हैं। वे अपने उपचारका प्रयोग मुझपर करनेके लिए आये थे। उन्हें डा० तलवलकर अपनी सिफारिशके साथ मेरे पास लाये थे। उन्होंने ग्रांट मेडिकल कालेजमें डाक्टरीका अध्ययन किया था, पर वे डिग्री नहीं पा सके थे। बादमें मालूम हुआ कि वे ब्रह्मसमाजी हैं। नाम उनका केलकर है। बड़े स्वतन्त्र स्वभावके हैं। वे बरफके उपचारके बड़े हिमायती हैं। मेरी बीमारीकी बात सुनकर जिस दिन वे मुझपर बरफका अपना उपचार आजमानेके लिए आये, उसी दिनसे हम उन्हें 'आइस डाक्टर'के उपनामसे पहचानते हैं। अपने विचारोंके विषयमें वे अत्यन्त आग्रही हैं। उनका विश्वास है कि उन्होंने डिग्रीधारी डाक्टरोंसे भी कुछ अधिक अच्छी खोजें की हैं, पर अपना यह विश्वास वे मुझमें पैदा नहीं कर सके, यह उनके और मेरे दोनोंके लिए दुःखकी बात रही है। मैं एक हदतक उनके उपचारोंमें विश्वास करता हूँ। पर मेरा ख्याल है कि कुछ अनुमानों तक पहुँचनेमें उन्होंने जल्दी की है।

पर उनकी खोजें योग्य हों अथवा अयोग्य, मैंने उन्हें अपने शरीरपर प्रयोग करने दिया। मुझे बाह्य उपचारोंसे स्वस्थ होना अच्छा लगता था, सो भी बरफके अर्थात् पानीके। अतएव उन्होंने मेरे सारे शरीरपर बरफ घिसनी शुरू की। इस इलाजसे जितने परिणामकी आशा वे लगाये हुए थे, उतना परिणाम तो मेरे सम्बन्धमें नहीं निकला। फिर भी मैं, जो रोज मौतकी राह देखा करता था, अब मरनेके बदले कुछ जीनेकी आशा रखने लगा। मुझमें कुछ उत्साह पैदा हुआ। मनके उत्साहके साथ मैंने शरीरमें भी उत्साहका अनुभव किया। मैं कुछ अधिक खाने लगा। रोज पाँच-दस मिनट घूमने लगा। अब उन्होंने सुझाया, "अगर आप अंडेका रस पियें, तो आपमें जितना उत्साह आया है, उससे अधिक उत्साह आनेकी गारंटी मैं दे सकता हूँ। अंडे दूधके समान ही निर्दोष हैं। वे मांस तो हरगिज नहीं हैं। हरएक अंडेमें से बच्चा पैदा होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिनसे बच्चे पैदा होते ही नहीं, ऐसे निर्बीज अंडे भी मिलते हैं; इसे मैं आपके सामने सिद्ध कर सकता हूँ।" पर मैं ऐसे निर्बीज अंडे लेनेको भी तैयार न हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे बढ़ी और मैं आसपासके कामोंमें थोड़ा-थोड़ा रस लेने लगा।

२९. रौलट ऐक्ट और मेरा धर्म-संकट

मित्रोंने सलाह दी कि माथेरान जानेसे मेरा शरीर शीघ्र पुष्ट हो जायेगा। अतएव मैं माथेरान गया। किन्तु वहाँका पानी भारी था, इसलिए मेरे सरीखे रोगीके लिए वहाँ रहना कठिन हो गया। पेचिशके कारण गुदाद्वार इतना नाजुक हो गया था कि सामान्य स्पर्श भी सहन नहीं होता था। उसमें दरारें पड़ गई थीं और इसलिए मल-त्यागके समय कष्ट होता था। इससे कुछ भी खाते हुए डर लगता था। एक हफ्तेमें माथेरानसे वापस लौटा। मेरी तबीयतकी हिफाजतका जिम्मा शंकरलाल बैंकरने अपने हाथमें लिया था। उन्होंने डा० दलालसे सलाह लेनेका आग्रह किया। डा० दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करनेकी शक्तिने मुझे मुग्ध कर लिया।

वे बोले: "जबतक आप दूध न लेंगे, मैं आपके शरीरको फिरसे हृष्ट-पुष्ट न बना सकूँगा। उसे पुष्ट बनानेके लिए आपको दूध लेना चाहिए और लोहे तथा आर्सेनिककी पिचकारियाँ लेनी चाहिए। यदि आप इतना करें, तो आपके शरीरको पुनः पुष्ट करनेकी गारंटी मैं देता हूँ।"

मैंने जवाब दिया: "पिचकारी लगाइए, लेकिन दूध मैं न लूँगा।"

डाक्टरने पूछा: "दूधके सम्बन्धमें आपकी ऐसी प्रतिज्ञा क्यों है?"

"यह जानकर कि गाय-भैंसपर 'फूँके' की क्रिया की जाती है, मुझे दूधसे नफरत हो गई है। और, यह तो मैं सदासे मानता रहा हूँ कि दूध मनुष्यका आहार नहीं है। इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।"

यह सुनकर कस्तूरबाई, जो मेरी खटियाके पास ही खड़ी थी, बोल उठी: "तब तो बकरीका दूध आप ले सकते हैं।"

डाक्टर बीचमें बोले: "आप बकरीका दूध लें, तो मेरा काम बन जाये।"

मैं फिसल गया। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मेरे अन्दर जीनेका लोभ पैदा कर दिया, और मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरार्थके पालनसे सन्तोष मानकर उसकी आत्माका हनन किया। यद्यपि दूधकी प्रतिज्ञा लेते समय मेरे सामने गाय-भैंस ही थी, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूध-मात्रकी मानी जानी चाहिए। और, जबतक मैं पशुके दूध-मात्रको मनुष्यके आहारके रूपमें निषिद्ध मानता हूँ, तबतक मुझे उसे लेनेका अधिकार नहीं, इस बातको जानते हुए भी मैं बकरीका दूध लेनेको तैयार हो गया। सत्यके पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईके लिए जीनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको लांछित किया। मेरे इस कार्यका दंश अभीतक गया नहीं है, और बकरीका दूध छोड़नेके बारेमें सोचता तो रहता ही हूँ। बकरीका दूध पीते समय मैं रोज दुःखका अनुभव करता हूँ। किन्तु सेवा करनेका महासूक्ष्म मोह, जो मेरे पीछे पड़ा है, मुझे छोड़ता नहीं।

अहिंसाकी दृष्टिसे आहारके मेरे प्रयोग मुझे प्रिय हैं। उनसे मुझे आनन्द प्राप्त होता है। वह मेरा विनोद है। परन्तु बकरीका दूध मुझे आज इस दृष्टिसे नहीं अखरता। वह अखरता है सत्यकी दृष्टिसे। मुझे ऐसा भास होता है कि मैं अहिंसाको जितना पहचान सका हूँ, सत्यको उससे अधिक पहचानता हूँ। मेरा अनुभव यह है कि अगर मैं सत्यको छोड़ दूँ, तो अहिंसाकी भारी गुत्थियाँ मैं कभी सुलझा नहीं सकूँगा। सत्यके पालनका अर्थ है—लिये हुए व्रतके शरीर और आत्माकी रक्षा, उसके शब्दार्थ और भावार्थका पालन। मुझे हर दिन यह बात खटकती रहती है कि मैंने दूधके बारेमें व्रतकी आत्माका—भावार्थका—हनन किया है। यह जानते हुए भी मैं यह नहीं जान सका कि अपने व्रतके प्रति मेरा धर्म क्या है, अथवा कहिए कि मुझमें उसे पालनेकी हिम्मत नहीं है। दोनों बातें एक ही हैं; क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव रहता है। हे ईश्वर, तू मुझे श्रद्धा दे!

बकरीका दूध शुरू करनेके कुछ दिन बाद डा० दलालने गुदाद्वारकी दरारोंका आपरेशन किया और वह बहुत सफल हुआ।

बिछौना छोड़कर उठनेकी कुछ आशा बँध रही थी और मैंने अखबार वगैरा पढ़ना शुरू ही किया था कि इतनेमें रौलट कमेटीकी[1] रिपोर्ट मेरे हाथमें आई। उसकी सिफारिशें पढ़कर मैं चौंका। भाई उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकरने कहा कि कोई निश्चित कदम उठाना चाहिए। एकाध महीनेमें मैं अहमदाबाद गया। वल्लभभाई प्रायः प्रतिदिन मुझे देखने आते थे। मैंने उनसे बात की और सुझाया कि इस विषयमें कुछ करना चाहिए। "क्या किया जा सकता है?" इसके उत्तरमें मैंने कहा: "यदि थोड़े लोग भी इस सम्बन्धमें प्रतिज्ञा करनेवाले मिल जायें, और फिर कमेटीकी सिफारिशके अनुसार कानून बने तो, हमें सत्याग्रह शुरू करना चाहिए। यदि मैं बिछौने पर पड़ा न होता, तो अकेला भी इसमें जूझता और यह आशा रखता कि दूसरे बादमें आ मिलेंगे। किन्तु अपनी लाचार स्थितिमें अकेले जूझनेकी मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है।"

इस बातचीतके परिणामस्वरूप ऐसे कुछ लोगोंकी एक छोटी सभा बुलानेका निश्चय हुआ, जो मेरे सम्पर्कमें ठीक-ठीक आ चुके थे। मुझे तो यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि प्राप्त प्रमाणोंके आधारपर रौलट कमेटीने जो कानून बनानेकी सिफारिश की है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे यह भी इतना ही स्पष्ट प्रतीत हुआ कि स्वाभिमानकी रक्षा करनेवाली कोई भी जनता ऐसे कानूनको स्वीकार नहीं कर सकती।

सभा हुई। उसमें मुश्किलसे कोई बीस लोगोंको न्योता गया था। जहाँतक मुझे याद है, वल्लभभाईके अतिरिक्त उसमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री हार्निमेन, स्व० उमर सोबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनसूयाबहन आदि सम्मिलित हुए थे। प्रतिज्ञा-पत्र[2] तैयार हुआ और मुझे याद है कि जितने लोग हाजिर थे, उन सबने उसपर हस्ताक्षर किये। इस समय मैं कोई अखबार नहीं निकालता था। पर समय-समयपर अखबारोंमें लिखा करता था, उसी तरह लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने जोरका आन्दोलन चलाया। इस अवसरपर उनकी काम करनेकी और संगठन करनेकी शक्तिका मुझे खूब अनुभव हुआ।

कोई भी चलती हुई संस्था सत्याग्रह-जैसे नये शस्त्रको स्वयं उठा ले, इसे मैंने असम्भव माना। इस कारण सत्याग्रह-सभाकी[3] स्थापना हुई। उसके मुख्य सदस्योंके नाम बम्बईमें ही लिखे गये। केन्द्र बम्बई रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्रोंपर खूब हस्ताक्षर होने लगे। खेड़ाकी लड़ाईकी तरह पत्रिकाएँ निकलीं और जगह-जगह सभाएँ हुईं।

मैं इस सभाका सभापति बन गया था। मैंने देखा कि शिक्षित समाजके और मेरे बीच बहुत मेल नहीं बैठ सकता। सभामें गुजराती भाषाके उपयोगके मेरे आग्रहने और मेरे कुछ दूसरे तरीकोंने उन्हें परेशानीमें डाल दिया। फिर भी बहुतोंने मेरी पद्धतिको निबाहनेकी उदारता दिखाई, यह मुझे स्वीकार करना चाहिए।

१. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ ११३-१२१।
२. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १०४-१०५।
३. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २३६-३८।

लेकिन मैंने शुरूमें ही देख लिया कि यह सभा लम्बे समयतक टिक ही न सकेगी। इसके अलावा, सत्य और अहिंसापर जो जोर मैं देता था, वह कुछ लोगोंको अप्रिय मालूम हुआ। फिर भी शुरूके दिनोंमें यह काम धड़ल्लेके साथ आगे बढ़ा।

३०. वह अद्भुत दृश्य!

एक ओरसे रौलट कमेटीकी रिपोर्टके विरुद्ध आन्दोलन बढ़ता गया, दूसरी ओरसे सरकार कमेटीकी सिफारिशोंपर अमल करनेके लिए दृढ़ होती गई। रौलट विधेयक प्रकाशित हुआ। मैं एक ही बार धारासभाकी बैठकमें गया हूँ —— रौलट विधेयककी चर्चा सुनने। शास्त्रीजीने[1] अपना जोशीला भाषण किया, सरकारको चेतावनी दी। जिस समय शास्त्रीजीकी वाग्धारा बह रही थी, वाइसराय उनके सामने टकटकी लगाकर देख रहे थे। मुझे तो जान पड़ा कि इस भाषणका असर उनपर हुआ होगा। शास्त्रीजीकी भावना उमड़ी पड़ती थी।

सोये हुए आदमीको जगाया जा सकता है; किन्तु यदि जागनेवाला सोनेका बहाना करे, तो उसके कानपर ढोल बजानेसे भी क्या होगा? धारासभामें बिलोंकी चर्चाका स्वांग तो करना ही था। सरकारने वह किया। उसे जो काम करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था। इसलिए शास्त्रीजीकी चेतावनी व्यर्थ सिद्ध हुई।

मेरी तूतीकी आवाजको तो भला कौन सुनता? मैंने वाइसरायसे मिलकर उन्हें बहुत समझाया। व्यक्तिगत पत्र लिखे। सार्वजनिक पत्र लिखे। मैंने उनमें स्पष्ट बता दिया कि सत्याग्रहको छोड़कर मेरे पास दूसरा कोई मार्ग नहीं है। लेकिन सब व्यर्थ हुआ।[2]

अभी विधेयक गजटमें नहीं छपा था। मेरा शरीर कमजोर था, फिर भी मैंने लम्बी यात्राका खतरा उठाया। मुझमें ऊँची आवाजसे बोलनेकी शक्ति नहीं आई थी। खड़े रहकर बोलनेकी शक्ति जो गई, सो अभीतक लौटी नहीं है। थोड़ी देर खड़े रहकर बोलनेपर सारा शरीर काँपने लगता था और छाती तथा पेटमें दर्द मालूम होने लगता था।[3] पर मुझे लगा कि मद्रासले आया हुआ निमन्त्रण स्वीकार करना ही चाहिए।

दक्षिणके प्रान्त उस समय भी मुझे घर सरीखे मालूम होते थे। दक्षिण आफ्रिकाके कारण तमिल-तेलुगु आदि दक्षिण प्रदेशके लोगोंपर मेरा अधिकार है, ऐसा मैं मानता आया हूँ। और, अपनी इस मान्यतामें मैंने थोड़ी भी भूल की है, ऐसा मुझे आजतक प्रतीत नहीं हुआ। निमन्त्रण स्व० कस्तूरीरंगा आयंगारकी ओरसे मिला था। मद्रास जानेपर पता चला कि इस निमन्त्रणके मूलमें राजगोपालाचारी थे।

१. श्रीनिवास शास्त्री।

२. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १३३-३४, २२६-२८, २३२, २८३-८४, ३११-१२ और ३२०।

३. मद्रासमें गांधीजीके भाषण महादेव देसाईने पढ़े थे। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १४२ और १४६।

राजगोपालाचारीके साथ यह मेरा पहला परिचय कहा जा सकता है। मैं इसी समय उन्हें प्रत्यक्ष पहचानने लगा था।

सार्वजनिक काममें अधिक हिस्सा लेनेके विचारसे और श्री कस्तूरीरंगा आयंगार इत्यादि मित्रोंकी माँगपर वे सेलम छोड़कर मद्रासमें वकालत करनेवाले थे। मुझे उनके घरपर ठहराया गया था। कोई दो दिन निकल जानेके बाद ही मुझे पता चला कि मैं उनके घर ठहरा हूँ। क्योंकि बंगला कस्तूरीरंगा आयंगारका था, इसलिए मैंने अपनेको उन्हींका मेहमान मान लिया था। महादेव देसाईने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचारी दूर-दूर रहते थे। पर महादेवने उन्हें भली-भाँति पहचान लिया था। महादेवने मुझे सावधान करते हुए कहा, "आपको राजगोपालाचारीसे जान-पहचान बढ़ा लेनी चाहिए।"

मैंने परिचय बढ़ाया। मैं प्रतिदिन उनके साथ लड़ाईकी रचनाके विषयमें चर्चा करता था। सभाओंके सिवा मुझे और कुछ सूझता ही न था। यदि रौलट विधेयक कानून बन जाये, तो उसकी सविनय अवज्ञा किस प्रकार की जाये? उसकी सविनय अवज्ञा करनेका अवसर तो सरकार दे तभी मिल सकता है। दूसरे कानूनोंकी सविनय अवज्ञाकी जा सकती है? इस अवज्ञाकी मर्यादा क्या हो? ऐसे प्रश्नोंकी चर्चा होती थी।

श्री कस्तूरीरंगा आयंगरने नेताओंकी एक छोटी सभा भी बुलाई। उसमें भी खूब चर्चा हुई। श्री विजयराघवाचार्यने उसमें पूरा हिस्सा लिया। उन्होंने सुझाव दिया कि सूक्ष्मसे-सूक्ष्म सूचनाएँ लिखकर मैं सत्याग्रहका शास्त्र तैयार कर लूँ। मैंने बताया कि यह काम मेरी शक्तिसे बाहरका है।

इस प्रकार मन्थन-चिन्तन चल रहा था कि इतनेमें समाचार मिला कि विधेयक कानूनके रूपमें गजटमें छप गया है। इस खबरके बादकी रातको मैं विचार करते-करते सो गया। सवेरे जल्दी नींद खुल गई। अर्धनिद्राकी दशा रही होगी, ऐसेमें मुझे सपनेमें एक विचार सूझा। मैंने सवेरे ही सवेरे राजगोपालाचारीको बुलाया और कहा:

"मुझे रात स्वप्नावस्थामें यह विचार सूझा कि इस कानूनके जवाबमें हम सारे देशको हड़ताल करनेकी सूचना दें। सत्याग्रह आत्मशुद्धिकी लड़ाई है। वह धार्मिक युद्ध है। धर्म-कार्यका आरम्भ शुद्धिसे करना ठीक मालूम होता है। उस दिन सब उपवास करें और काम-धन्धा बन्द रखें। मुसलमान भाई जैसे रोजेमें रखते हैं, उससे अधिक उपवास न करेंगे, इसलिए चौबीस घंटोंका उपवास करनेकी सिफारिश की जाये। इसमें सब प्रान्त सम्मिलित होंगे या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्धकी आशा तो मुझे है ही। यदि इतने स्थानोंपर भी ठीकसे हड़ताल रहे, तो हमें सन्तोष मानना चाहिए।"

राजगोपालाचारीको यह सुझाव बहुत अच्छा लगा। बादमें दूसरे मित्रोंको तुरन्त इसकी जानकारी दी गई। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटी-सी विज्ञप्ति[1] तैयार कर ली। पहले १९१९ के मार्चकी ३०वीं तारीख रखी गई थी। बादमें यह

१. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ ५०-५१।

तारीख ६ अप्रैल निश्चित हुई। लोगोंको बहुत ही थोड़े दिनकी मुद्दत दी गई थी। चूँकि काम तुरन्त करना जरूरी समझा गया था, अतएव तैयारीके लिए लम्बी मुद्दत देनेकी गुंजाइश ही न थी।

लेकिन न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गई। समूचे हिन्दुस्तानमें — शहरोंमें और गाँवोंमें — हड़ताल हुई। वह दृश्य भव्य था।

३१. वह सप्ताह — १

दक्षिणमें थोड़ी यात्रा करके सम्भवतः ४ अप्रैलको मैं बम्बई पहुँचा। शंकरलाल बैंकरका तार था कि ६ तारीख मनानेके लिए मुझे बम्बईमें मौजूद रहना चाहिए।

पर इससे पहले दिल्लीमें तो ३० मार्चके दिन ही हड़ताल मनाई जा चुकी थी। दिल्लीमें स्व० श्रद्धानन्दजी और मरहूम हकीम साहब अजमलखाँकी दुहाई फिरती थी। दिल्लीमें उस दिन ऐसी हड़ताल हुई, जैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा, मानो हिन्दू और मुसलमान दोनों एक-दिल हो गये हैं। श्रद्धानन्दजीको जामा मस्जिदमें निमन्त्रित किया गया और उन्हें वहाँ भाषण करने दिया गया। अधिकारी यह सब सहन नहीं कर पाये। रेलवे स्टेशनकी तरफ जाते हुए जुलूसको पुलिसने रोका और गोलियाँ चलाईं। कितने ही लोग घायल हुए। कुछ जानसे मारे गये। दिल्लीमें दमनका दौरदौरा शुरू हुआ। श्रद्धानन्दजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार दिया कि बम्बईमें ६ठी तारीख मनाकर तुरन्त दिल्ली पहुँचूँगा[1]।

जो हाल दिल्लीका था, वही लाहौर-अमृतसरका भी रहा। अमृतसरसे डा० सत्यपाल और किचलूके तार थे कि मुझे वहाँ तुरन्त पहुँचना चाहिए। इन दो सज्जनोंको मैं उस समय बिलकुल जानता नहीं था। पर वहाँ भी इस निश्चयकी सूचना भेजी थी कि दिल्ली होकर अमृतसर पहुँचूँगा।

६ अप्रैलके दिन बम्बईमें सवेरे-सवेरे हजारों लोग चौपाटीपर स्नान करने गये और वहाँसे ठाकुरद्वार[2] जानेके लिए जुलूस रवाना हुआ। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जुलूसमें मुसलमान भी अच्छी संख्यामें सम्मिलित हुए थे। इस जुलूसमें से मुसलमान भाई हमें एक मस्जिदमें ले गये। वहाँ श्रीमती सरोजिनीदेवी और मुझसे भाषण कराये। वहाँ श्री विट्ठलदास जेराजाणीने स्वदेशी और हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी प्रतिज्ञा लिवानेका सुझाव रखा। मैंने ऐसी उतावलीमें प्रतिज्ञा करानेसे इनकार किया और जितना हो रहा था, उतनेसे सन्तोष करनेकी सलाह दी। की हुई प्रतिज्ञा फिर तोड़ी नहीं जा सकती। स्वदेशीका अर्थ हमें समझना चाहिए। हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी प्रतिज्ञाकी जिम्मेदारीका ख्याल हमें रहना चाहिए, आदि बातें कहीं, और यह सूचना

१. स्वामी श्रद्धानन्दजीके नाम तारोंके लिए देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १७८, १८४, १८७।

२. मूल गुजराती और शुरूके अंग्रेजी अनुवादोंमें 'ठाकुरद्वार' गया है। माधवबाग होना चाहिए। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १९४।

दी कि प्रतिज्ञा लेनेका जिसका विचार हो, वह चाहे तो अगले दिन सवेरे चौपाटीके मैदानपर पहुँच जाये।

बम्बईकी हड़ताल सम्पूर्ण थी। यहाँ कानूनकी सविनय अवज्ञाको तैयारी कर रखी थी। जिनकी अवज्ञा की जा सके ऐसी दो-तीन चीजें थीं। जो कानून रद किये जाने लायक थे और जिनकी अवज्ञा सब सरलतासे कर सकते थे, उनमें से एकका ही उपयोग करनेका निश्चय था। नमक-करका कानून सबको अप्रिय था। उस कर को रद करानेके लिए बहुत कोशिशें हो रही थीं। अतएव मैंने एक सुझाव यह रखा था कि सब लोग बिना परवानेके अपने घरमें नमक बनायें। दूसरा सुझाव सरकार द्वारा जब्त की हुई पुस्तकें छपाने और बेचनेका था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थीं: 'हिन्द स्वराज्य' और 'सर्वोदय।' इन पुस्तकोंका छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय अवज्ञा मालूम हुई। इसलिए ये पुस्तकें छपाई गईं और शामको उपवास छूटनेके बाद और चौपाटीकी विराट सभाके विसर्जित होनेके बाद इन्हें बेचनेका प्रबन्ध किया गया।

शामको कई स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। एक मोटरमें मैं निकला और एकमें श्रीमती सरोजिनी नायडू निकलीं। जितनी प्रतियाँ छपाई गई थीं, उतनी सब बिक गईं। इनकी जो कीमत वसूल होती, वह लड़ाईके काममें ही खर्चकी जानेवाली थी। एक प्रतिका मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथपर अथवा सरोजिनीदेवीके हाथ पर शायद ही किसीने चार आने रखे होंगे। जिसकी जेबमें जो था सो सब देकर किताबें खरीदनेवाले बहुतेरे निकल आये। कोई-कोई दस पाँचके नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रतिके लिए ५० रुपयेके नोट भी मिले थे। लोगोंको समझा दिया गया था कि खरीदनेवालेके लिए भी जेलका खतरा है। लेकिन क्षण-भरके लिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया था।

७ तारीखको पता चला कि जिन किताबोंके बेचनेपर सरकारने रोक लगाई थी, सरकारकी दृष्टिसे वे बेची नहीं गई हैं। जो पुस्तकें बिकी हैं वे तो उनकी दूसरी आवृत्ति मानी जायेंगी। जब्त की हुई पुस्तकोंमें उनकी गिनती नहीं हो सकती। सरकारकी ओरसे यह कहा गया था कि नई आवृत्ति छपाने, बेचने और खरीदनेमें कोई गुनाह नहीं है। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

उस दिन सवेरे लोगोंको चौपाटीपर स्वदेशी-व्रत और हिन्दू-मुस्लिम-एकताका व्रत लेनेके लिए इकट्ठा होना था। विठ्ठलदास जेराजाणीको यह पहला अनुभव हुआ कि हर सफेद चीज दूध नहीं होती। बहुत थोड़े लोग इकट्ठा हुए थे। इनमें दो-चार बहनोंके नाम मेरे ध्यानमें आ रहे हैं। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रतोंका मसविदा बना रखा था। उपस्थित लोगोंको उनका अर्थ अच्छी तरह समझा दिया गया और उन्हें व्रत लेने दिये गये। थोड़ी उपस्थितिसे मुझे आश्चर्य नहीं हुआ; दुःख भी नहीं हुआ। परन्तु मैं उसी समयसे धूम-धड़ाकेके काम और धीमे तथा शान्त रचनात्मक कामके बीचका भेद तथा लोगोंमें पहले कामके लिए पक्षपात और दूसरेके लिए अरुचिका अनुभव करता आया हूँ।

पर इस विषयको एक अलग प्रकरण देना पड़ेगा। ७ अप्रैलकी रातको मैं दिल्ली-अमृतसर जानेके लिए रवाना हुआ। ८ को मथुरा पहुँचनेपर कुछ ऐसी भनक कान तक आई कि शायद मुझे गिरफ्तार करेंगे। मथुराके बाद एक स्टेशनपर गाड़ी रुकती थी। वहां आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मेरे पकड़े जानेके बारेमें पक्की खबर दी और जरूरत हो, तो अपनी सेवा अर्पण करनेके लिए कहा। मैंने धन्यवाद दिया और कहा कि जरूरत पड़नेपर आपकी सेवा नहीं भूलूंगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस अधिकारीने मेरे हाथपर आदेश-पत्र[1] रखा। आदेश इस प्रकारका था: "आपके पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशान्ति बढ़नेका डर है, अतएव आप पंजाबकी सीमामें प्रवेश न करें।" आदेश-पत्र देकर पुलिसने मुझे उतर जानेको कहा। मैंने उतरनेसे इनकार किया और कहा: "मैं अशान्ति बढ़ाने नहीं, बल्कि निमन्त्रण पाकर अशान्ति घटानेके लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए खेद है कि मैं इस आदेशका पालन नहीं कर सकूँगा।"

पलवल आया। महादेव मेरे साथ थे। उन्हें दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजीको खबर देने और लोगोंको शान्त रखनेके लिए कहा। मैंने महादेवसे यह भी कहा कि वे लोगोंको बता दें कि सरकारी आदेशका अनादर करनेके कारण जो सजा होगी उसे भोगनेका मैंने निश्चय कर लिया है, साथ ही लोगोंको यह समझानेके लिए कहा कि मुझे सजा होने पर भी उनके शान्त रहनेमें ही हमारी जीत है।

मुझे पलवल स्टेशनपर उतार लिया गया और पुलिसके हवाले किया गया। फिर दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जेके डिब्बेमें मुझे बैठाया गया और साथमें पुलिसका दल भी बैठा। मथुरा पहुँचनेपर मुझे पुलिसकी बारकमें ले गये। मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है, सो कोई पुलिस अधिकारी मुझे बता न सका। सुबह ४ बजे मुझे जगाया गया और बम्बईकी ओर जानेवाली मालगाड़ीमें बैठा दिया गया। दोपहरको मुझे सवाई माधोपुर स्टेशनपर उतारा गया। वहाँ बम्बईकी डाक गाड़ीमें लाहोरसे इन्स्पेक्टर बोरिंग आये। उन्होंने मेरा चार्ज लिया। अब मुझे पहले दर्जेमें बैठाया गया। साथमें साहब बैठे। अभीतक मैं साधारण कैदी था, अब 'जेंटलमैन कैदी' माना जाने लगा। साहबने सर माइकल ओडायरका बखान शुरू किया। उन्हें मेरे विरुद्ध तो कोई शिकायत है ही नहीं, किन्तु मेरे पंजाब जानेसे उन्हें अशान्तिका पूरा भय है, आदि बातें कहकर मुझे स्वेच्छासे लौट जाने और फिर पंजाबकी सीमा पार न करनेका अनुरोध किया। मैंने उनसे कह दिया कि मुझसे इस आज्ञाका पालन नहीं हो सकेगा, और मैं स्वेच्छासे वापस जानेको तैयार नहीं। अतएव साहबने लाचार होकर कानूनी कार्रवाई करनेकी बात कही। मैंने पूछा, "लेकिन यह तो कहिए कि आप मेरा क्या करना चाहते हैं?" वे बोले, "मुझे पता नहीं है। मैं दूसरे आदेशकी राह देख रहा हूँ? अभी तो मैं आपको बम्बई ले जा रहा हूँ।?[2]

१. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २१४।

२. गिरफ्तारीके पूरे विवरणके लिए देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २३५-३९।

सूरत पहुँचनेपर किसी दूसरे अधिकारीने मुझे अपने कब्जेमें लिया। उसने मुझे रास्तेमें कहा: "आप रिहा कर दिये गये हैं। लेकिन आपके लिए मैं ट्रेनको मरीन लाइन्स स्टेशनके पास रुकवाऊँगा। आप वहाँ उतर जायेंगे, तो ज्यादा अच्छा होगा। कोलाबा स्टेशनपर बड़ी भीड़ होनेकी सम्भावना है।" मैंने उससे कहा कि आपका कहा करनेमें मुझे प्रसन्नता होगी। वह खुश हुआ और उसने मुझे धन्यवाद दिया। मैं मरीन लाइन्सपर उतर गया। वहाँ किसी परिचितकी घोड़ागाड़ी दिखाई दी। वे मुझे रेवाशंकर झवेरीके घर छोड़ गये। उन्होंने मुझे खबर दी: "आपके पकड़े जानेकी खबर पाकर लोग क्रुद्ध हो गये हैं और पागलसे हो गये हैं। पायधुनीके पास दंगेका खतरा है। मजिस्ट्रेट और पुलिस वहाँ पहुँच गई है।"

मैं घर पहुँचा ही था कि इतनेमें उमर सोबानी और अनसूयाबहन मोटरमें आये और मुझे पायधुनी चलनेको कहा। उन्होंने बताया, "लोग अधीर हो गये हैं और उत्तेजित हैं। हममेंसे किसीके किये शान्त नहीं हो सकते। आपको देखेंगे, तभी शान्त होंगे।"

मैं मोटरमें बैठ गया। पायधुनी पहुँचते ही रास्तेमें भारी भीड़ दिखाई दी। लोग मुझे देखकर हर्षोन्मत्त हो उठे। अब जुलूस बना। 'वन्देमातरम्' और 'अल्लाहो अकबर' के नारोंसे आकाश गूँज उठा। पायधुनीपर घुड़सवार दिखाई दिये। ऊपरसे ईंटोंकी वर्षा हो रही थी। मैं हाथ जोड़कर लोगोंसे प्रार्थना कर रहा था कि वे शान्त रहें। पर जान पड़ा कि हम भी ईंटोंकी इस बौछारसे बच नहीं पायेंगे। अब्दुर्रहमान गलीमेंसे क्राफर्ड मार्केटकी ओर जाते हुए जुलूसको रोकनेके लिए घुड़सवारोंकी एक टुकड़ी सामनेसे आ पहुँची। वे जुलूसको किलेकी ओर जानेसे रोकनेकी कोशिश कर रहे थे। लोग वहाँ समा नहीं पा रहे थे। लोगोंने पुलिसकी पाँतको चीरकर आगे बढ़नेके लिए जोर लगाया। वहाँ हालत ऐसी न थी कि मेरी आवाज सुनाई पड़ सके। यह देखकर घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और अपनी संगीनोंको घुमाते हुए इस टुकड़ीने एकदम घोड़े दौड़ाने शुरू कर दिये। मुझे लगा कि उनकी संगीनें हमारा भी काम तमाम कर दें तो आश्चर्य नहीं। पर मेरा वह डर निराधार था। बगलसे होकर सारी संगीनें रेलगाड़ीकी गतिसे सनसनाती हुई दूर निकल जाती थीं। लोगोंकी भीड़में दरार पड़ी। भगदड़ मच गई। कुछ कुचले गये। कुछ घायल हुए। घुड़सवारोंको निकलनेके लिए रास्ता नहीं था। लोगोंके लिए आसपास बिखरनेका रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटें तो उधर भी हजारों ठसाठस भरे हुए थे। सारा दृश्य भयंकर प्रतीत हुआ। घुड़सवार और जनता दोनों पागल-जैसे मालूम हुए। घुड़सवार कुछ देखते ही नहीं थे अथवा देख नहीं सकते थे। वे तो टेढ़े होकर घोड़ोंको दौड़ानेमें लगे थे। मैंने देखा कि जितनी देर तक वे इन हजारोंके दलको चीरनेमें लगे रहे, उतने समयतक उन्हें कुछ दिखाई ही नहीं दिया था।

इस तरह लोगोंको तितर-बितर किया गया और आगे बढ़नेसे रोका गया। हमारी मोटरको आगे जाने दिया गया। मैंने कमिश्नरके कार्यालयके सामने मोटर रुकवाई और मैं उससे पुलिसके व्यवहारकी शिकायत करनेके लिए उतरा।

३२. वह सप्ताह — २

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहबके कार्यालयमें गया। उनकी सीढ़ीके पास जहाँ देखो वहीं हथियारबन्द सैनिक बैठे हुए थे; मानो लड़ाईकी तैयारी हो रही हो। बरामदेमें भी हलचल मची हुई थी। मैं खबर देकर आफिसमें पैठा, तो देखा कि कमिश्नरके पास श्री बोरिंग बैठे हुए हैं।

मैंने कमिश्नरसे उस दृश्यका वर्णन किया, जिसे मैं अभी-अभी देखकर आया था। उन्होंने संक्षेपमें जवाब दिया: "मैं नहीं चाहता था कि जुलूस फोर्टकी ओर जाये। वहाँ जानेपर उपद्रव हुए बिना न रहता। और मैंने देखा कि लोग लौटनेवाले न थे। इसलिए सिवा घोड़े दौड़ानेके मेरे पास दूसरा कोई उपाय न था।"

मैंने कहा, "किन्तु उसका परिणाम तो आप जानते थे। लोग घोड़ोंके पैरों तले दबनेसे बच नहीं सकते थे। मेरा तो ख्याल है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ी भेजनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।"

साहब बोले, "आप इसे जान नहीं सकते। आपकी शिक्षाका लोगोंपर क्या असर हुआ है, इसका पता आपकी अपेक्षा हम पुलिसवालोंको अधिक रहता है। हम पहलेसे कड़ी कार्रवाई न करें, तो अधिक नुकसान हो सकता है। मैं आपसे कहता हूँ कि लोग आपके काबूमें भी रहनेवाले नहीं हैं। वे कानूनको तोड़नेकी बात तो झट समझ जायेंगे, लेकिन शान्तिकी बात समझना उनकी शक्तिसे परे है। आपके हेतु अच्छे हैं, लेकिन लोग उन्हें समझेंगे नहीं। वे तो अपने स्वभावका ही अनुसरण करेंगे।'

मैंने जवाब दिया, "किन्तु आपके और मेरे बीच जो भेद है, सो इसी बातमें है। मैं कहता हूँ कि लोग स्वभावसे लड़ाकू नहीं, बल्कि शान्तिप्रिय हैं।"

हममें बहस होने लगी। आखिर साहबने कहा, "अच्छी बात है, यदि आपको विश्वास हो जाये कि लोग आपकी शिक्षाको समझे नहीं हैं, तो आप क्या करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया, "यदि मुझे इसकी प्रतीति हो जाये, तो मैं इस लड़ाईको मुलतवी कर दूँगा।"

"मुलतवी करनेका मतलब क्या? आपने तो श्री बोरिंगसे कहा है कि मुक्त होनेपर आप तुरन्त वापस पंजाब जाना चाहते हैं।"

"हाँ, मेरा इरादा तो लौटती ट्रेनसे ही वापस जानेका था, पर अब आज तो जाना हो ही नहीं सकता।"

"आप धैर्यसे काम लेंगे, तो आपको और अधिक बातें मालूम होंगी। आप जानते हैं, अहमदाबादमें क्या हो रहा है? अमृतसरमें क्या हुआ है? लोग सब कहीं पागलसे हो गये हैं। मुझे भी पूरा पता नहीं है। कई स्थानोंमें तार भी काटे गये हैं। मैं तो कहता हूँ कि इस सारे उपद्रवकी जवाबदेही आपके सिरपर है।"

मैंने कहा: "मुझे जहाँ अपनी जिम्मेदारी महसूस होगी वहाँ मैं उसे अपने ऊपर लिये बिना नहीं रहूँगा। अहमदाबादमें लोग थोड़ा भी उपद्रव करें, तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ नहीं जानता। वहाँ तो मैं कभी

गया ही नहीं। वहाँ मुझे कोई जानता भी नहीं है। पर मैं इतना जानता हूँ कि पंजाबकी सरकारने मुझे वहाँ जानेसे रोका न होता, तो मैं शान्ति-रक्षामें बहुत मदद कर सकता था। मुझे रोककर तो सरकारने लोगोंको चिढ़ाया है।"

इस तरह हमारी बातचीत होती रही। हममें मतैक्य होना सम्भव नहीं था। मैं यह कहकर विदा हुआ कि चौपाटीपर सभा करने और लोगोंको शान्ति रखनेके लिए समझानेका मेरा इरादा है। चौपाटीपर सभा हुई। मैंने लोगोंको शान्ति और सत्याग्रहकी मर्यादाके विषयमें समझाया और बतलाया, "सत्याग्रह सच्चे व्यक्तिका हथियार है। यदि लोग शान्ति न रखेंगे, तो मैं सत्याग्रहकी लड़ाई कभी लड़ न सकूँगा।"[१]

अहमदाबादसे श्री अनसूयाबहनको भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ उपद्रव हुआ है। किसीने अफवाह फैला दी थी कि वे भी पकड़ी गई हैं। इससे मजदूर पागल हो उठे थे। उन्होंने हड़ताल कर दी थी, उपद्रव भी मचाया था, और एक सिपाहीका खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। मुझे पता चला कि नड़ियादके पास रेलकी पटरी उखाड़नेकी कोशिश भी हुई थी। वीरमगाँवमें एक सरकारी कर्मचारीका खून हो गया था। अहमदाबाद पहुँचा तब वहाँ मार्शल लॉ जारी था। लोगोंमें आतंक फैला हुआ था। लोगोंने जैसा किया वैसा पाया और ब्याज समेत।

मुझे कमिश्नर श्री प्रेटके पास ले जानेके लिए एक आदमी स्टेशनपर हाजिर था। मैं उनके पास गया। वे बहुत गुस्सेमें थे। मैंने उन्हें शान्तिसे उत्तर दिया। जो हत्या हुई थी उसके लिए मैंने खेद प्रकट किया। यह भी सुझाया कि मार्शल लॉ की आवश्यकता नहीं है, और पुनः शान्ति स्थापित करनेके लिए जो उपाय करने जरूरी हों, सो करनेकी अपनी तैयारी बताई। मैंने आम सभा बुलानेकी माँग की। यह सभा आश्रमकी भूमिपर करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। उन्हें यह बात अच्छी लगी। जहाँतक मुझे याद है, मैंने रविवार ता० १३ अप्रैलको सभा की थी। मार्शल लॉ भी उसी दिन अथवा दूसरे दिन रद हुआ था। इस सभामें मैंने लोगोंको उनके दोष दिखानेका प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्तके रूपमें तीन दिनका उपवास किया और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जिन्होंने हत्या वगैरामें हिस्सा लिया हो, उन्हें सुझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें।[२]

मैंने अपना धर्म स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों आदिके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी और जिनके विषयमें मैं अच्छे व्यवहारकी आशा रखता था, उन्होंने उपद्रवमें हिस्सा लिया, यह मुझे असह्य मालूम हुआ और मैंने अपनेको उनके दोषमें हिस्सेदार माना।

जिस तरह मैंने लोगोंको समझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें, उसी तरह सरकारको भी गुनाह माफ करनेकी सलाह दी। दोनोंमें से किसी एकने भी मेरी बात नहीं सुनी। न लोगोंने अपने दोष स्वीकार किये, न सरकारने किसीको माफ किया।

१. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २१८-१९।

२. सभा सोमवार, दिनांक १४-४-१९१९ को हुई थी। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २२८-३२।

स्व० रमणभाई आदि नागरिक मेरे पास आये और मुझे सत्याग्रह मुलतवी करने के लिए मनाने लगे। पर मुझे मनानेकी आवश्यकता ही नहीं रही थी। मैंने स्वयं निश्चय कर लिया था कि जब तक लोग शान्तिका पाठ न सीख लें, तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाये। इससे वे प्रसन्न हुए।

कुछ मित्र नाराज भी हुए। उनका खयाल यह था कि अगर मैं सब कहीं शान्तिकी आशा रखूँ और सत्याग्रहकी यही शर्त रहे, तो बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही नहीं सकता। मैंने अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगोंमें काम किया गया है, जिनके द्वारा सत्याग्रह करनेकी आशा रखी जाती है, वे यदि शान्तिका पालन न करें, तो अवश्य ही सत्याग्रह कभी चल नहीं सकता। मेरी दलील यह थी कि सत्याग्रही नेताओंको इस प्रकारकी मर्यादित शान्ति बनाये रखनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अपने इन विचारोंको मैं आज भी बदल नहीं सका हूँ।

३३. हिमालय जैसी भूल

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं तुरन्त ही नड़ियाद गया। 'हिमालय जैसी भूल' नामक जो शब्द-प्रयोग प्रचलित हुआ है, उसका उपयोग मैंने पहली बार नड़ियादमें किया। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल मालूम पड़ने लगी थी। पर नड़ियादमें वहाँकी स्थितिका विचार करके और यह सुनकर कि खेड़ा जिलेके बहुत-से लोग पकड़े गये हैं, जिस सभामें मैं घटित घटना पर भाषण कर रहा था, उसमें मुझे अचानक यह ख्याल आया कि खेड़ा जिलेके और ऐसे दूसरे लोगोंको कानूनका सविनय भंग करनेके लिए निमन्त्रित करनेमें मैंने जल्दबाजी की, भूल की, और वह भूल मुझे हिमालय जैसी मालूम हुई। इस प्रकार अपनी भूल कबूल करनेके लिए मेरी खूब हँसी उड़ाई गई। फिर भी अपनी इस स्वीकृतिके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। मैंने हमेशा यह माना है कि जब हम दूसरोंके गज-जैसे दोषोंको रजवत् मानकर देखते हैं, और अपने रजवत् प्रतीत होनेवाले दोषोंको पहाड़-जैसा देखना सीखते हैं, तभी हमें अपने और पराये दोषोंका ठीक-ठीक अन्दाज हो पाता है। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बननेकी इच्छा रखनेवालेको तो इस साधारण नियमका पालन बहुत अधिक सूक्ष्मताके साथ करना चाहिए।

अब हम यह देखें कि हिमालय जैसी प्रतीत होनेवाली वह भूल क्या थी। कानूनका सविनय भंग उन्हीं लोगों द्वारा किया जा सकता है, जिन्होंने विनयपूर्वक और स्वेच्छासे कानूनका सम्मान किया हो। अधिकतर तो हम कानूनका पालन इसलिए करते हैं कि उसे तोड़ने पर जो सजा होती है, उससे हम डरते हैं। और, यह बात उस कानून पर विशेष रूपसे घटित होती है, जिसमें नीति-अनीतिका प्रश्न नहीं होता। कानून हो चाहे न हो, जो लोग भले माने जाते हैं, वे एकाएक कभी चोरी नहीं करते। फिर भी रातमें साइकल पर बत्ती जलानेके नियमसे बच निकलनेमें भले आदमियोंको भी क्षोभ नहीं होता, और ऐसे नियमका पालन करनेकी कोई सलाह

भी देता है, तो भले आदमी भी तुरन्त उसका पालन करनेके लिए तैयार नहीं होते। किन्तु जब उसे कानूनमें स्थान मिलता है और उसका भंग करने पर दण्डित होनेका डर लगता है, तब दण्ड देनेकी असुविधासे बचनेके लिए वे भी रातमें साइकल पर बत्ती जलाते हैं। इस प्रकारका नियम-पालन स्वेच्छासे किया हुआ पालन नहीं कहा जा सकता। लेकिन सत्याग्रही समाजके जिन कानूनोंका सम्मान करेगा, वह सम्मान ऐसा मानकर करेगा कि सोच-समझ कर, स्वेच्छासे, सम्मान करना धर्म है। जिसने इस प्रकार समाजके नियमोंका विचारपूर्वक पालन किया है, उसीको समाजके नियमोंमें नीति-अनीतिका भेद करनेकी शक्ति प्राप्त होती है, और उसीको मर्यादित परिस्थितियों में अमुक नियमोंको तोड़नेका अधिकार प्राप्त होता है। लोगोंके इस तरहका अधिकार प्राप्त करनेसे पहले मैंने उन्हें सविनय कानून-भंगके लिए निमन्त्रित किया, अपनी यह भूल मुझे हिमालय जैसी लगी। और, खेड़ा जिलेमें प्रवेश करनेपर मुझे खेड़ाकी लड़ाईका स्मरण हुआ और मुझे लगा कि मै बिलकुल गलत रास्ते चल पड़ा हूँ। मुझे लगा कि लोग सविनय कानून-भंग करने योग्य बनें, इसके पहले उन्हें उसके गम्भीर रहस्यका ज्ञान होना चाहिए। जिन्होंने कानूनोंको रोज जान-बूझकर तोड़ा हो, जो गुप्त रीतिसे अनेक बार कानूनोंका भंग करते रहते हों, वे अचानक सविनय कानून-भंगको कैसे समझ सकते हैं? उसकी मर्यादाका पालन कैसे कर सकते हैं? यह तो सहज ही समझमें आ सकता है कि इस प्रकारकी आदर्श स्थिति तक हजारों या लाखों लोग नहीं पहुँच सकते। किन्तु यदि बात ऐसी है, तो सविनय कानून-भंग करानेसे पहले शुद्ध स्वयंसेवकोंका एक ऐसा दल खड़ा होना चाहिए, जो लोगोंको ये सारी बातें समझाये और प्रतिक्षण उनका मार्गदर्शन करे। और ऐसे दलको सविनय कानून-भंगका तथा उसकी मर्यादाका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।

इन विचारोंसे भरा हुआ मैं बम्बई पहुँचा और सत्याग्रह-सभाके द्वारा सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका दल खड़ा किया। लोगोंको सविनय कानून-भंगका मर्म समझानेके लिए जिस तालीमकी जरूरत थी, वह इस दलके जरिए देनी शुरू की, और इस चीजको समझानेवाली पत्रिकाएँ निकालीं।[1]

यह काम चला तो सही, लेकिन मैंने देखा कि मैं इसमें ज्यादा दिलचस्पी पैदा नहीं कर सका। स्वयंसेवकोंकी बाढ़ नहीं आई। यह नहीं कहा जा सकता कि जो भरती हुई उन सबने नियमित तालीम ली। भरतीके लिए नाम लिखानेवाले भी जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे दृढ़ बननेके बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय कानून-भंगकी गाड़ी जैसा मैंने सोचा था, उससे धीमी चलेगी।

१. पहली दो पत्रिकाएँ 'सत्याग्रही' शीर्षकसे निकाली गई थीं और उसके बादकी उन्नीस पत्रिकाएँ 'सत्याग्रह-माला' शीर्षकसे निकली थीं। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ १९६-२१२।

३४. 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया'

एक तरफ तो चाहे जैसा धीमा होने पर भी शान्ति-रक्षाका यह आन्दोलन चल रहा था और दूसरी तरफ सरकारकी दमन-नीति पूरे जोरसे चल रही थी। पंजाबमें उसके प्रभावका साक्षात्कार हुआ। वहाँ फौजी कानून यानी नादिरशाही शुरू हुई। नेतागण पकड़े गये। खास अदालतें बनाई गईं। ये अदालतें नहीं थीं; बल्कि केवल गवर्नरका हुक्म बजानेका साधन बनी हुई थीं। उन्होंने बिना सबूत और शहादतके लोगोंको सजाएँ दीं। फौजी सिपाहियोंने निर्दोष लोगोको कीड़ोंकी तरह पेटके बल चलाया। इसके सामने जलियाँवाला बागका घोर हत्याकाण्ड तो मेरी दृष्टिमें किसी गिनतीमें नहीं था; यद्यपि आम लोगोंका और दुनियाका ध्यान इस हत्याकाण्डने ही खींचा था।

मुझपर दबाब पड़ने लगा कि मैं, जैसे भी बने, पंजाब पहुँचूँ। मैंने वाइसरायको पत्र लिखे, तार किये, परन्तु जानेकी इजाजत नहीं मिली। बिना इजाजतके जाने पर अन्दर तो जा नहीं सकता था; केवल सविनय कानून-भंग करनेका सन्तोष ही मिल सकता था। मेरे सामने यह विकट प्रश्न खड़ा था कि इस धर्म-संकटमें मुझे क्या करना चाहिए। मुझे लगा कि निषेधाज्ञाका अनादर करके प्रवेश करूँगा, तो वह विनयपूर्ण अनादर न माना जायेगा। शान्तिकी जो प्रतीति मैं चाहता था, वह मुझे अब तक हुई नहीं थी। पंजाबकी नादिरशाहीने लोगोंकी अशान्तिको अधिक भड़का दिया था। मुझे लगा कि ऐसे समय मेरे द्वारा की गई कानूनकी अवज्ञा जलती आगमें घीका काम करेगी। अतएव पंजाबमें प्रवेश करनेकी सलाहको मैंने तुरन्त माना नहीं। मेरे लिए यह निर्णय एक कड़वा घूँट था। पंजाबसे रोज अन्यायके समाचार आते थे और मुझे उन्हें रोज सुनना तथा दाँत पीसकर रह जाना पड़ता था।

इतनेमें श्री हॉर्निमैनको, जिन्होंने 'क्रॉनिकल'को एक प्रचण्ड शक्ति बना दिया था, सरकार चुरा ले गई और जनताको इसका पता तक न चलने दिया गया। इस चोरीमें जो गन्दगी थी, उसकी बदबू मुझे अभी तक आया करती है।[1] मैं जानता हूँ कि श्री हॉर्निमैन अराजकता नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह समितिकी सलाहके बिना पंजाब सरकारका हुक्म तोड़ा, यह उन्हें अच्छा नहीं लगा था। सविनय कानून-भंगको मुलतवी रखनेमें वे पूरी तरह सहमत थे। उसे मुलतवी रखनेका अपना निर्णय मैंने प्रकट किया, इसके पहले ही मुलतवी रखनेकी सलाह देनेवाला उनका पत्र मेरे नाम रवाना हो चुका था, और वह मेरा निर्णय प्रकट होनेके बाद मुझे मिला। इसका कारण अहमदाबाद और बम्बईके बीचका फासला था। अतएव उनके देश-निकालेसे मुझे जितना आश्चर्य हुआ, उतना ही दुःख भी हुआ।

इस घटनाके कारण 'क्रॉनिकल'के व्यवस्थापकोंने उसे चलानेका बोझ मुझपर डाला। श्री ब्रेलवी तो थे ही। इसलिए मुझे अधिक कुछ करना नहीं पड़ता था। फिर भी मेरे स्वभावके अनुसार मेरे लिए यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी हो गई थी।

१. श्री हॉर्निमैनके निर्वासनके समाचारकी गांधीजी पर क्या प्रतिक्रिया हुई, इसके लिए देखिए खण्ड १५, पृष्ठ २५९-६०।

किन्तु मुझे यह जिम्मेदारी अधिक दिन तक उठानी नहीं पड़ी। सरकारकी मेहरबानीसे 'क्रॉनिकल' बन्द हो गया।

जो लोग 'क्रॉनिकल'की व्यवस्थाके कर्त्ताधर्ता थे, वे ही 'यंग इंडिया'की व्यवस्था पर भी निगरानी रखते थे। वे थे उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकर। इन दोनों सज्जनोंने मुझे सुझाया कि मैं 'यंग इंडिया'की जिम्मेदारी अपने सिर लूँ। और 'क्रॉनिकल'के अभावकी थोड़ी पूर्ति करनेके विचारसे 'यंग इंडिया'को हफ्तेमें एक बारके बदले दो बार निकालना उन्हें और मुझे ठीक लगा।[1] मुझे लोगोंको सत्याग्रहका रहस्य समझानेका उत्साह था। पंजाबके बारेमें मैं और कुछ नहीं तो, कमसे-कम उचित आलोचना तो कर ही सकता था, और उसके पीछे सत्याग्रहरूपी शक्ति है, उसका पता सरकारको था ही। अतएव इन मित्रोंकी सलाह मैंने स्वीकार कर ली।

किन्तु अंग्रेजीके द्वारा जनताको सत्याग्रहकी शिक्षा कैसे दी जा सकती थी? गुजरात मेरा मुख्य कार्य-क्षेत्र था। भाई इन्दुलाल याज्ञिक इस समय उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकरकी मण्डलीमें थे। वे 'नवजीवन' नामक गुजराती मासिक चला रहे थे। उसका खर्च भी उक्त मित्र पूरा करते थे। भाई इन्दुलालने और उन मित्रोंने यह पत्र मुझे सौंप दिया और भाई इन्दुलालने इसमें काम करना भी स्वीकार किया। इस मासिकको साप्ताहिक बनाया गया।[2]

इस बीच 'क्रॉनिकल' फिर जी उठा, इसलिए 'यंग इंडिया' पुनः साप्ताहिक हो गया और मेरी सलाहके कारण उसे अहमदाबाद ले जाया गया। दो पत्रोंके अलग-अलग स्थानोंसे निकलनेमें खर्च अधिक होता था और मुझे अधिक कठिनाई होती थी। 'नवजीवन' तो अहमदाबादसे ही निकलता था। ऐसे पत्रोंके लिए स्वतन्त्र छापाखाना होना चाहिए, इसका अनुभव मुझे 'इंडियन ओपिनियन'के सिलसिलेमें हो ही चुका था। इसके अतिरिक्त, उस समयके अखबारोंके कानून ऐसे थे कि मैं जो विचार प्रगट करना चाहता था, उन्हें व्यापारिक दृष्टिसे चलनेवाले छापाखानोंके मालिक छापनेमें हिचकिचाते थे। अपना स्वतन्त्र छापाखाना खड़ा करनेका यह भी एक प्रबल कारण था। यह काम अहमदाबादमें ही सरलतासे हो सकता था अतएव 'यंग इंडिया'को अहमदाबाद ले गये।

इन पत्रोंके द्वारा मैंने जनताको यथाशक्ति सत्याग्रहकी शिक्षा देना शुरू किया। पहले दोनों पत्रोंकी थोड़ी ही प्रतियाँ खपती थीं। लेकिन बढ़ते-बढ़ते वे चालीस हजारके आसपास पहुँच गईं। 'नवजीवन'के ग्राहक एकदम बढ़े, जब कि 'यंग इंडिया'के धीरे-धीरे। मेरे जेल जानेके बाद इसमें कमी हुई और आज दोनोंकी ग्राहक-संख्या ८,०००से नीचे चली गई है।

इन पत्रोंमें विज्ञापन न लेनेका मेरा आग्रह शुरूसे ही था। मैं मानता हूँ कि इससे कोई हानि नहीं हुई, और इस प्रथाके कारण पत्रोंके विचार-स्वातन्त्र्यकी रक्षा करनेमें बहुत मदद मिली।

१. देखिए खण्ड १५, पृष्ठ ३६६-७०।

२. गांधीजीने **नवजीवन**के सम्पादन और देख-रेखकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनेकी सूचना जुलाई १९१९ में दी थी। देखिए खण्ड १५, पृष्ठ ४३३-३४।

इन पत्रों द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका। क्योंकि यद्यपि मैं सविनय कानून-भंगको तुरन्त ही शुरू नहीं कर सका, फिर भी मैं अपने विचार स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकट कर सका और जो लोग सलाह और सुझावके लिए मेरी ओर देख रहे थे, उन्हें आश्वासन दे सका। मेरा ख्याल है कि दोनों पत्रोंने उस कठिन समयमें जनताकी अच्छी सेवा की और फौजी कानूनके जुल्मको हलका करनेमें हाथ बँटाया।

३५. पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ, उसके लिए अगर सर माइकल ओडायरने मुझे गुनहगार ठहराया था, तो वहाँके कोई कोई नवयुवक फौजी कानूनके लिए भी मुझे गुनहगार ठहरानेमें न हिचकिचाते थे। क्रोधावेशसे भरे इन नवयुवकोंकी दलील यह थी कि यदि मैंने सविनय कानून-भंगको मुलतवी न किया होता, तो जलियाँवाला बागका कत्ले-आम कभी न होता और न फौजी कानून ही जारी हुआ होता। किसी-किसीने तो यह धमकी भी दी कि मेरे पंजाब जानेपर मुझे मारे बिना न छोड़ेंगे।

किन्तु मुझे तो अपना कदम इतना उपयुक्त मालूम होता था कि उसके कारण समझदार आदमियोंमें गलतफहमी होनेकी सम्भावना ही न थी।

मैं पंजाब जानेके लिए अधीर हो रहा था। मैंने पंजाब कभी देखा न था। अपनी आँखोंसे जो कुछ देखनेको मिले, वह देखनेकी मेरी तीव्र इच्छा थी। मुझे बुलानेवाले डा० सत्यपाल, डा० किचूल तथा पं० रामभजदत्त चौधरीको मैं देखना चाहता था। वे जेलमें थे। पर मुझे पूरा विश्वास था कि सरकार उन्हें लम्बे समय तक जेलमें रख ही नहीं सकेगी। मैं जब-जब बम्बई जाता, तब-तब बहुत-से पंजाबी मुझसे मिला करते थे। मैं उन्हें प्रोत्साहन देता था, जिससे वे प्रसन्न होते थे। इस समय मुझमें विपुल आत्मविश्वास था।

लेकिन मेरा जाना टलता जाता था। वाइसराय लिखाते रहते थे कि 'अभी जरा देर है।'

इस बीच हंटर-कमेटी आई। उसे फौजी कानूनके दिनोंमें पंजाबके अधिकारियों द्वारा किये गये कारनामोंकी जाँच करनी थी। दीनबन्धु एन्ड्रयूज वहाँ पहुँच गये थे। उनके पत्रोंमें हृदयद्रावक वर्णन होते थे। उनके पत्रोंकी ध्वनि यह थी कि अखबारोंमें जो कुछ छपता था, फौजी कानूनका जुल्म उससे कहीं अधिक था। पत्रोंमें मुझे पंजाब पहुँचनेका आग्रह किया गया। दूसरी तरफ मालवीयजीके भी तार आ रहे थे कि मुझे पंजाब पहुँचना चाहिए। इसपर मैंने वाइसरायको फिर तार दिया। उत्तर मिला: "आप फलाँ तारीखको जा सकते हैं।" मुझे तारीख ठीक याद नहीं है, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।[1]

१. तारीख १५ होनी चाहिए। देखिए खण्ड १६, पृष्ठ २०९ की पादटिप्पणी ३।

लाहौर पहुँचनेपर जो दृश्य मैंने देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशनपर लोगोंका समुदाय इस कदर इकट्ठा हुआ था, मानो बरसोंके बिछोहके बाद कोई प्रियजन आ रहा हो और सगे-सम्बन्धी उससे मिलने आये हों। लोग हर्षोन्मत्त हो गये थे। मुझे पं० रामभजदत्त चौधरीके घर ठहराया था। श्रीमती सरलादेवी चौधरानीपर जिन्हें मैं पहलेसे जानता था, मेरी सार-सँभालका बोझ आ पड़ा था। 'सार-सँभालका बोझ' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि आजकलकी तरह उस समय भी जहाँ मैं ठहरता था, वहाँ मकान-मालिकका मकान धर्मशाला-सा हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि बहुतसे पंजाबी नेताओंके जेलमें होनेके कारण मुख्य नेताओंका स्थान पं० मालवीयजी, पं० मोतीलालजी और स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजीने ले रखा था। मालवीयजी और श्रद्धानन्दजीके सम्पर्कमें तो मैं भली-भाँति आ चुका था, पर पं० मोतीलालजीके निकट सम्पर्कमें लाहौरमें ही आया। इन नेताओंने और स्थानीय नेताओंने, जिन्हें जेल जानेका सम्मान नहीं मिला था, मुझे तुरन्त अपना बना लिया। मैं कहीं भी अपरिचित-सा नहीं जान पड़ा।

हंटर-कमेटीके सामने गवाही न देनेका निश्चय हम सबने सर्व-सम्मतिसे किया। इसके सब कारण उस समय प्रकाशित कर दिये गये थे। इसलिए यहाँ मैं उनकी चर्चा नहीं करता। आज भी मेरा यह खयाल है कि वे कारण सबल थे और कमेटी का बहिष्कार उचित था।[1]

पर यह निश्चय हुआ कि यदि हंटर-कमेटीका बहिष्कार किया जाये, तो जनता की ओरसे अर्थात् कांग्रेसकी ओरसे एक कमेटी होनी चाहिए। पं० मालवीयजी, पं० मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजन दास, श्री अब्बास तैयबजी, श्री जयकर तथा मुझे इस कमेटीमें रखा गया। हम जाँचके लिए अलग-अलग स्थानोंमें बँट गये। इस कमेटी की व्यवस्थाका भार सहज ही मुझपर आ पड़ा था, और चूँकि अधिक-से-अधिक गाँवोंकी जाँचका काम मेरे हिस्सेमें आया था, इसलिए मुझे पंजाब और पंजाबके गाँव देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इस जाँचके दौरान मैं पंजाबकी स्त्रियोंसे तो इस तरहसे मिला, मानो मैं उन्हें युगोंसे पहचानता होऊँ। जहाँ जाता वहाँ उनके दल-के-दल मुझसे मिलते, और वे मेरे सामने अपने काते हुये सूतका ढेर लगा देती थीं। इस जाँचके सिलसिलेमें अनायास ही मैं देख सका कि पंजाब खादीका महान क्षेत्र हो सकता है।

लोगोंपर ढाये गये जुल्मोंकी जाँच करते हुए जैसे-जैसे मैं गहराईमें जाने लगा, वैसे-वैसे सरकारी अराजकताकी, अधिकारियोंकी नादिरशाही और निरंकुशताकी अपनी कल्पनासे परेकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने दुःखका अनुभव किया। जिस पंजाबसे सरकारको अधिक-से-अधिक सिपाही मिलते हैं, उस पंजाबमें लोग इतना ज्यादा जुल्म कैसे सहन कर सके, यह बात मुझे उस समय भी आश्चर्य-जनक मालूम हुई थी और आज भी मालूम होती है।

१. कांग्रेस जाँच समितिके वक्तव्यके लिए देखिए खण्ड १६, पृष्ठ ५६७-७२।

इस कमेटीकी रिपोर्ट[1] तैयार करनेका काम भी मुझे ही सौंपा गया था। जो यह जानना चाहते हैं कि पंजाबमें किस तरहसे जुल्म हुए थे, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिए। इस रिपोर्टके बारेमें मैं इतना कह सकता हूँ कि उसमें जान-बूझकर एक भी जगह अतिशयोक्ति नहीं हुई है। जितनी हकीकतें दी गई हैं, उनके लिए उसमें प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। इस रिपोर्टमें जितने प्रमाण दिये गये हैं, उनसे अधिक कमेटीके पास मौजूद थे। जिसके विषयमें तनिक भी शंका थी, ऐसी एक भी बात रिपोर्टमें नहीं दी गई। इस तरह केवल सत्यको ही ध्यानमें रखकर लिखी हुई रिपोर्टसे पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ताको दृढ़ बनाये रखनेके लिए किस हद तक जा सकता है। कैसे अमानुषिक काम कर सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस रिपोर्टकी एक भी बात आज तक झूठ साबित नहीं हुई।

३६. खिलाफतके बदले गोरक्षा

अब थोड़ी देरके लिए पंजाबके हत्याकाण्डको छोड़ दें।

कांग्रेसकी तरफसे पंजाबकी डायरशाहीकी जाँच चल रही थी। इतनेमें एक सार्वजनिक निमन्त्रण मेरे हाथमें आया। उसमें स्व० हकीम साहब और भाई आसफ-अलीके नाम थे। उसमें यह भी लिखा था कि सभामें श्रद्धानन्दजी उपस्थित रहने-वाले हैं। मुझे कुछ ऐसा ख्याल है कि वे उप-सभापति थे। यह निमन्त्रण दिल्लीमें खिलाफतके सम्बन्धमें उत्पन्न परिस्थितिका विचार करनेवाली और सन्धिके उत्सवमें सम्मिलित होने या न होनेका निर्णय करनेवाली हिन्दू-मुसलमानोंकी एक संयुक्त सभामें उपस्थित होनेका था। मुझे कुछ ऐसा याद है कि यह सभा नवम्बर महीनेमें हुई थी। इस निमन्त्रणमें यह लिखा था कि सभामें केवल खिलाफतके प्रश्नकी ही चर्चा नहीं होगी, बल्कि गोरक्षाके प्रश्नपर भी विचार होगा, और यह कि गोरक्षा साधनेका यह एक सुन्दर अवसर बनेगा। मुझे यह वाक्य चुभा। इस निमन्त्रणपत्रका उत्तर देते हुए मैंने लिखा कि मैं उपस्थित होनेकी कोशिश करूँगा और यह भी लिखा कि खिलाफत और गोरक्षाको एक-साथ मिलाकर उन्हें परस्पर सौदेका सवाल नहीं बनाना चाहिए। हर प्रश्नका विचार उसके गुण-दोषकी दृष्टिसे किया जाना चाहिए।

मैं सभामें हाजिर रहा। सभामें उपस्थिति अच्छी थी। बादमें जिस तरह हजारों लोग उमड़ने लगे थे, वैसा कोई दृश्य वहाँ नहीं था। इस सभामें श्रद्धानन्दजी उपस्थित थे। मैंने उनके साथ उक्त विषयपर चर्चा कर ली। उन्हें मेरी बात जँची और उसे पेश करनेका भार उन्होंने मुझपर डाला। हकीम साहबके साथ भी मैंने बात कर ली थी। मेरा कहना यह था कि दोनों प्रश्नोंपर उनके अपने गुण-दोषकी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। यदि खिलाफतके प्रश्नमें सार हो, उसमें सरकारकी ओरसे अन्याय हो रहा हो, तो हिन्दुओंको मुसलमानोंका साथ देना चाहिए और इस

१. देखिए खण्ड १७, पृष्ठ १२८-३२२।

प्रश्नके साथ गोरक्षाके प्रश्नको नहीं जोड़ना चाहिए। अगर हिन्दू ऐसी कोई शर्त करते हैं, तो वह उन्हें शोभा नहीं देगा। मुसलमान खिलाफतके लिए मिलनेवाली मददके बदलेमें गोवध बन्द करें, तो वह उनके लिए भी शोभास्पद न होगा। पड़ोसी और एक ही भूमिके निवासी होनेके नाते तथा हिन्दुओंकी भावनाका आदर करनेकी दृष्टिसे यदि मुसलमान स्वतन्त्र रूपसे गोवध बन्द करें, तो यह उनके लिए शोभाकी बात होगी। वह उनका फर्ज है। वह एक स्वतन्त्र प्रश्न है। अगर यह फर्ज है और मुसलमान इसे फर्ज समझें, तो हिन्दू खिलाफतके काममें मदद दें या न दें, तो भी मुसलमानोंको गोवध बन्द करना चाहिए। मैंने अपनी तरफसे यह दलील पेश की कि इस तरह दोनों प्रश्नोंका विचार स्वतन्त्र रीतिसे किया जाना चाहिए, और इसलिए इस सभामें तो सिर्फ खिलाफतके प्रश्नकी ही चर्चा मुनासिब है। सभाको मेरी बात पसन्द पड़ी। गोरक्षाके प्रश्नपर सभामें चर्चा नहीं हुई।[1]

लेकिन मौलाना अब्दुलबारी साहबने कहा: "हिन्दू खिलाफतके मामलेमें मदद चाहे न दें, लेकिन चूँकि हम एक मुल्कके रहनेवाले हैं, इसलिए मुसलमानोंको हिन्दुओंके जज्बातकी खातिर गोकुशी बन्द करनी चाहिए।" एक समय तो ऐसा मालूम हुआ कि मुसलमान सचमुच गोवध बन्द कर देंगे।

कुछ लोगोंकी यह सलाह थी कि पंजाबके सवालको भी खिलाफतके साथ जोड़ दिया जाये। मैंने इस विषयमें अपना विरोध प्रकट किया। मेरी दलील यह थी कि पंजाबका प्रश्न स्थानीय है; पंजाबके दुःखकी वजहसे हम हुकूमतसे सम्बन्ध रखनेवाले सन्धि-विषयक उत्सवसे अलग नहीं रह सकते। इस सिलसिलेमें खिलाफतके सवालके साथ पंजाबको जोड़ देनेसे, हम अपने सिर अविवेकका आरोप ले लेंगे। मेरी यह बात भी सबको पसन्द आई।

इस सभामें मौलाना हसरत मोहानी भी थे। उनसे मेरी जान-पहचान तो हो ही चुकी थी। पर वे कैसे लड़वैया हैं, इसका अनुभव मुझे यहीं हुआ। यहींसे हमारे बीच मतभेद शुरू हुआ और कई मामलोंमें वह आखिर तक बना रहा।

कई प्रस्तावोंमें एक प्रस्ताव यह भी था कि हिन्दू-मुसलमान सबको स्वदेशी व्रतका पालन करना चाहिए और इसके लिए विदेशी कपड़ेका बहिष्कार करना चाहिए। खादीका पुनर्जन्म अभी हुआ नहीं था। मौलाना हसरत मोहानीको यह प्रस्ताव जँच नहीं रहा था। यदि अंग्रेजी हुकूमत खिलाफतके मामलेमें इन्साफ न करे, तो उन्हें उससे बदला लेना था। इसलिए उन्होंने सुझाया कि यथासम्भव हर ब्रिटिश मालका बहिष्कार करना चाहिए। हसरत मोहानीकी दलीलें सुनकर लोग ऐसा हर्षनाद करते थे कि मुझे लगा, यहाँ मेरी तूती कोई नहीं सुनेगा। पर मुझे अपना धर्म चूकना और छिपाना नहीं चाहिए, यह सोचकर मैं बोलनेके लिए उठा। लोगोंने मेरा भाषण बहुत ध्यानसे सुना। मैंने सभी तरहके ब्रिटिश मालके बहिष्कारकी आवश्यकता और अयोग्यताके बारेमें अपनी वे दलीलें पेश कीं, जो अब तक सुपरिचित हो चुकी हैं। मैंने अपनी अहिंसा-वृत्तिका भी प्रतिपादन किया। मैंने देखा कि सभापर मेरी दलीलोंका

१. इस अवसरपर गांधीजीके भाषणके लिए देखिए खण्ड १६, पृष्ठ ३२२-२६।

गहरा असर पड़ा है। मंचपर तो मुझे सम्पूर्ण समर्थन मिला और मेरी हिमायतमें एकके बाद एक भाषण होने लगे। नेतागण यह देख सके कि ब्रिटिश मालके बहिष्कार का प्रस्ताव पास करनेसे एक भी हेतु सिद्ध नहीं होगा। हाँ, हँसी काफी होगी। सारी सभामें शायद ही कोई ऐसा आदमी देखनेमें आता था, जिसके शरीर पर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न हो। इतना तो अधिकांश लोग समझ गये कि जो बात सभामें उपस्थित लोग भी नहीं कर सकते, उसे करनेका प्रस्ताव पास करनेसे लाभके बदले हानि ही होगी।

मौलाना हसरत मोहानीने अपने भाषणमें कहा, "हमें आपके विदेशी वस्त्रके बहिष्कारसे सन्तोष हो ही नहीं सकता। कब हम अपनी जरूरतका सब कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कब विदेशी वस्त्रका बहिष्कार होगा? हमें तो ऐसी कोई चीज चाहिए, जिसका प्रभाव ब्रिटिश जनतापर तत्काल पड़े। आपका बताया हुआ बहिष्कार भी चाहे रहे, पर इससे ज्यादा तेज कोई चीज आप हमें बताइए।" मैं यह भाषण सुन रहा था। मुझे लगा कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके अलावा कोई दूसरी नई चीज सुझानी चाहिए। उस समय मैं तो स्पष्ट रूपसे जानता था कि विदेशी वस्त्रका बहिष्कार तुरन्त नहीं हो सकता। यदि हम चाहें तो सम्पूर्ण रूपसे खादी उत्पन्न करनेकी शक्ति हममें है, इस बातको मैं जिस तरह बादमें देख सका, उस तरह उस समय नहीं देख सका था। केवल मिलें तो दगा दे जायेंगी, यह मैं उस समय भी जानता था। जब मौलाना साहबने अपना भाषण पूरा किया, तब मैं जवाब देनेके लिए तैयार हो रहा था।

मुझे कोई उर्दू या हिन्दी शब्द तो नहीं सूझा। मुसलमानोंकी ऐसी खास सभामें तर्कयुक्त भाषण करनेका मेरा यह पहला अनुभव था। कलकत्तेमें मुस्लिम लीग की सभामें मैं बोला था, किन्तु वह तो कुछ मिनटोंका और दिलको छूनेवाला भाषण था। पर यहाँ तो मुझे विरुद्ध मतवाले समाजको समझाना था। लेकिन मैंने हिचक छोड़ दी थी। मुझे दिल्लीके मुसलमानोंके सामने शुद्ध उर्दूमें लच्छेदार भाषण नहीं करना था, बल्कि अपना मंशा टूटी-फूटी हिन्दीमें समझा देना था। यह काम मैं भलीभाँति कर सका। यह सभा इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण थी कि हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्र-भाषा बन सकती है। अगर मैंने अंग्रेजीमें भाषण किया होता, तो मेरी गाड़ी आगे न बढ़ती; और मौलाना साहबने जो चुनौती मुझे दी, उसे देनेका मौका न आया होता, और आया भी होता तो मुझे उसका जवाब न सूझता।

उर्दू या हिन्दी शब्द ध्यानमें न आनेसे मैं शरमाया, पर मैंने जवाब तो दिया ही। मुझे 'नान-को-ऑपरेशन' शब्द सूझा। जब मौलाना भाषण कर रहे थे, तब मैं यह सोच रहा था कि मौलाना खुद कई मामलोंमें जिस सरकारका साथ दे रहे हैं, उस सरकारके विरोधकी बात करना उनके लिए बेकार है। मुझे लगा कि जब तलवारसे सरकारका विरोध नहीं करना है, तो उसका साथ न देनेमें ही सच्चा विरोध है। और फलतः मैंने 'नान-को-ऑपरेशन' शब्दका प्रयोग पहली बार इस सभामें किया। अपने भाषणमें मैंने इसके समर्थनमें अपनी दलीलें दीं। उस समय मुझे इस बातका

कोई ख्याल न था कि इस शब्दमें किन-किन बातोंका समावेश हो सकता है। इसलिए मैं तफसीलमें न जा सका। मुझे तो इतना ही कहनेकी याद है:

"मुसलमान भाइयोंने एक और भी महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे; पर यदि कहीं सुलहकी शर्तें उनके खिलाफ जायें, तो वे सरकारकी सहायता करना बन्द कर देंगे। मेरे विचारमें यह जनताका अधिकार है। सरकारी उपाधियाँ धारण करने अथवा सरकारी नौकरियाँ करनेके लिए हम बँधे हुए नहीं हैं। जब सरकारके हाथों खिलाफत-जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रश्नके सम्बन्धमें हमें नुकसान पहुँचता है, तब हम उसकी सहायता कैसे कर सकते हैं? इसलिए अगर खिलाफतका फैसला हमारे खिलाफ हुआ, तो उसकी सहायता न करनेका हमें हक होगा।"

पर इसके बाद इस वस्तुका प्रचार होनेमें कई महीने बीत गये। यह शब्द कुछ महीनों तक तो इस सभाकी कार्रवाईमें ही दबा पड़ा रहा। एक महीने बाद जब अमृतसरमें कांग्रेसका अधिवेशन हुआ, तो वहाँ मैंने असहयोगके प्रस्तावका समर्थन किया। उस समय तो मैंने यही आशा रखी थी कि हिन्दू-मुसलमानोंके लिए सरकारके खिलाफ असहयोग करनेका अवसर नहीं आयेगा।

३७. अमृतसरकी कांग्रेस

फौजी कानूनके दौरान जिन सैकड़ों निर्दोष पंजाबियोंको नामकी अदालतोंने नामके सबूत लेकर छोटी-बड़ी मुद्दतोंके लिए जेलमें ठूँस दिया था, पंजाबकी सरकार उन्हें जेलमें रख न सकी। इस घोर अन्यायके विरुद्ध चारों ओरसे ऐसी जबरदस्त आवाज उठी कि सरकारके लिए इन कैदियोंको अधिक समय तक जेलमें रखना सम्भव न रहा। अतएव कांग्रेस-अधिवेशनके पहले बहुतसे कैदी छूट गये। लाला हरकिशनलाल आदि सब नेता रिहा हो गये और कांग्रेस अधिवेशनके दिनोंमें अलीभाई भी छूट कर आ गये। इससे लोगोंके हर्षकी सीमा न रही। पं० मोतीलाल नेहरू, जिन्होंने अपनी वकालतको एक तरफ रखकर पंजाबमें ही डेरा डाल दिया था, कांग्रेसके सभापति थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वागत-समितिके अध्यक्ष थे।

अब तक कांग्रेसमें मेरा काम इतना ही रहता था कि हिन्दीमें अपना छोटा-सा भाषण करूँ, हिन्दी भाषाकी वकालत करूँ और उपनिवेशोंमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंका मामला पेश करूँ। यह ख्याल नहीं था कि अमृतसरमें मुझे इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा। लेकिन जैसा कि मेरे सम्बन्धमें पहले भी हो चुका है, जिम्मेदारी अचानक मुझपर आ पड़ी।

नये सुधारोंके सम्बन्धमें सम्राटकी घोषणा प्रकाशित हो चुकी थी। वह ऐसी नहीं थी कि उससे मुझे पूर्ण सन्तोष हो सकता। औरोंको तो वह बिलकुल ही पसन्द नहीं थी। लेकिन उस समय मैंने यह माना था कि उक्त घोषणामें सूचित सुधार त्रुटिपूर्ण होते हुए भी स्वीकार किये जा सकते हैं। सम्राटकी घोषणामें मुझे लॉर्ड सिंहका[1]

१. भारत उप-मन्त्री।

हाथ दिखाई पड़ा था। उस समयकी मेरी आँखोंने घोषणाकी भाषामें आशाकी किरणें देखी थीं। किन्तु लोकमान्य, चित्तरंजन दास आदि अनुभवी योद्धा सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी तटस्थ थे।

मेरा डेरा मालवीयजीने अपने ही कमरेमें रखा था। उनकी सादगीकी झाँकी काशी विश्वविद्यालयके शिलान्यासके समय मैं कर चुका था।[1] लेकिन इस बार तो उन्होंने मुझे अपने कमरेमें ही स्थान दिया था। इससे मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ। उनका कमरा क्या था, गरीबोंकी धर्मशाला थी। उसमें चलने-फिरने तकको जगह नहीं बची थी। जहाँ-तहाँ लोग पड़े ही मिलते थे। वहाँ न कोई खाली जगह थी, न एकान्त। चाहे जो आदमी चाहे जिस समय आता था और उनका चाहे जितना समय ले लेता था। इस कमरेके एक कोनेमें मेरा दरबार अर्थात् खटिया थी।

किन्तु मुझे इस प्रकरणमें मालवीयजीकी रहन-सहनका वर्णन नहीं करना है। अतएव मैं अपने विषयपर आता हूँ।

इस स्थितिमें मालवीयजीके साथ रोज मेरी बातचीत होती थी। वे मुझे सबका पक्ष बड़ा भाई जैसे छोटेको समझाता है, वैसे प्रेमसे समझाते थे। सुधार-सम्बन्धी प्रस्तावमें भाग लेना मुझे धर्म-रूप प्रतीत हुआ। पंजाब-विषयक कांग्रेसकी रिपोर्टकी जिम्मेदारीमें मेरा हिस्सा था। पंजाबके बारेमें सरकारसे काम लेना था। खिलाफतका प्रश्न तो था ही। मैंने यह भी माना था कि मान्टेग्यु हिन्दुस्तानके साथ विश्वासघात नहीं होने देंगे। कैदियोंकी और उनमें भी अलीभाइयोंकी रिहाईको मैंने शुभ चिह्न माना था। अतएव मुझे लगा कि सुधार स्वीकार करनेका प्रस्ताव पास होना चाहिए। चित्तरंजन दासका दृढ़ मत था कि सुधारोंको बिलकुल असन्तोषजनक और अधूरे मानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे। किन्तु देशबन्धु जिस प्रस्ताव को पसन्द करें, उसके पक्षमें अपना वजन डालनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था।

उन पुराने अनुभवी और कसे हुए लोकनायकोंके साथ अपना मतभेद मुझे स्वयं असह्य मालूम हुआ। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने कांग्रेसकी बैठकमें से भागनेका प्रयत्न किया। पं० मोतीलाल नेहरू और मालवीयजीको मैंने यह सुझाया कि मुझे अनुपस्थित रहने देनेसे सब काम बन जायेगा और मैं महान नेताओंके साथ मतभेद प्रकट करनेके संकटसे बच जाऊँगा।

यह सुझाव इन दोनों बुजुर्गोंके गले न उतरा। जब बात लाला हरकिशनलालके कान तक पहुँची, तो उन्होंने कहा: "यह हरगिज न होगा। इससे पंजाबियोंको भारी

१. दिनांक २-१०-१९२८ के श्रीप्रकाशके नाम पत्रमें गांधीजी लिखते हैं: "बनारसके प्रसंगके संदर्भमें यह है कि मैंने उसे जानबूझकर छोड़ दिया है; अपने जीवनके अन्य अनेक प्रसंग भी मैंने इसी तरह जान-बूझकर छोड़े हैं। सच तो यह है कि मैं जैसे-जैसे आगेके अध्यायों पर पहुँच रहा हूँ मेरा असमंजस बढ़ता जाता है; क्योंकि मुख्य पात्र अभी जीवित है और जनताकी निगाहोंके खूब सामने हैं . . .। निस्सन्देह बनारसके प्रसंगको मैं स्वयं भी अपने जीवनकी गौरवपूर्ण घटनाओंमें गिनता हूँ।" बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें दिये गये गांधीजीके भाषणके लिए देखिये खण्ड १३, पृष्ठ २१२-२१८।

आघात पहुँचेगा।" मैंने लोकमान्य और देशबन्धुके साथ विचार-विमर्श किया। श्री जिन्नासे मिला। किसी तरह कोई रास्ता निकलता न था। मैंने अपनी वेदना मालवीयजीके सामने रखी: "समझौतेके कोई लक्षण मुझे दिखाई नहीं देते। यदि मुझे अपना प्रस्ताव रखना ही पड़ा, तो अन्तमें मत तो लिये ही जायेंगे। पर यहाँ मत ले सकनेकी कोई व्यवस्था मैं नहीं देख रहा हूँ। आज तक हमने भरी सभामें हाथ उठवाये हैं। हाथ उठाते समय दर्शकों और प्रतिनिधियोंके बीच कोई भेद नहीं रहता। ऐसी विशाल सभामें मत गिननेकी कोई व्यवस्था हमारे पास नहीं होती। अतएव मुझे अपने प्रस्तावपर मत लिखवाने हों, तो भी इसकी सुविधा नहीं है।" लाला हरकिशनलालने यह सुविधा सन्तोषजनक रीतिसे कर देनेका जिम्मा लिया। उन्होंने कहा, "मत लेनेके दिन दर्शकोंको नहीं आने देंगे। केवल प्रतिनिधि ही आयेंगे, और वहाँ मतोंकी गिनती करा देना मेरा काम होगा। पर आप कांग्रेसकी बैठकमें अनुपस्थित तो रह ही नहीं सकते।" आखिर मैं हार गया और मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। बड़े संकोचसे मैंने उसे पेश करना कबूल किया। श्री जिन्ना और मालवीयजी उसका समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि यद्यपि हमारे मतभेदमें कहीं कटुता नहीं थी, भाषणोंमें भी दलीलोंके सिवा और कुछ नहीं था, फिर भी सभा जरा-सा भी मतभेद सहन नहीं कर सकती थी और नेताओंके मतभेदसे उसे दुःख हो रहा था। सभाको तो नेताओंका एकमत चाहिए था।

जब भाषण हो रहे थे उस समय भी मंचपर मतभेद मिटानेकी कोशिशें चल रही थीं। एक दूसरेके बीच चिट्ठियाँ आ-जा रही थीं। मालवीयजी जैसे भी बने, समझौता करानेका प्रयत्न कर रहे थे। इतनेमें जयरामदासने मेरे हाथपर अपना सुझाव रखा और सदस्योंको मत देनेके संकटसे उबार लेनेके लिए बहुत मीठे शब्दोंमें मुझसे प्रार्थना की। मुझे उनका सुझाव पसन्द आया। मालवीयजीकी दृष्टि तो चारों ओर आशाकी खोजमें घूम ही रही थी। मैंने कहा: "यह सुझाव दोनों पक्षोंको पसन्द आने लायक मालूम होता है।" मैंने उसे लोकमान्यको दिखाया। उन्होंने कहा, "दासको पसन्द आ जाये, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" देशबन्धु पिघले। उन्होंने विपिनचन्द्र पालकी तरफ देखा। मालवीयजीको पूरी आशा बँध गई। उन्होंने परची हाथसे छीन ली। अभी देशबन्धुके मुँहसे हाँ का शब्द पूरा निकल भी नहीं पाया था कि वे बोल उठे: "सज्जनो, आपको जानकर खुशी होगी कि समझौता हो गया है।" फिर क्या था? तालियोंकी गड़गड़ाहटसे मण्डप गूँज उठा और लोगोंके चेहरों पर जो गम्भीरता थी, उसके बदले खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव[1] क्या था, इसकी चर्चाकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यह प्रस्ताव किस तरह स्वीकृत हुआ, इतना ही इस सम्बन्धमें बतलाना मेरे इन प्रयोगोंका विषय है। समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

१. अमृतसर कांग्रेसमें गांधीजीके भाषण, प्रस्ताव और संशोधनोंके लिए देखिए खण्ड १६, पृष्ठ ३६६-७१।

३८. कांग्रेसमें प्रवेश

मुझे कांग्रेसके कामकाजमें हिस्सा लेना पड़ा, इसे मैं कांग्रेसमें अपना प्रवेश नहीं मानता। इससे पहलेकी कांग्रेसकी बैठकोंमें मैं गया सो सिर्फ अपनी वफादारीकी निशानी के रूपमें। छोटे-से-छोटे सिपाहीके कामके सिवा मेरा वहाँ दूसरा कोई कार्य हो सकता है, ऐसा पहलेकी बैठकोंके समय मुझे कभी आभास नहीं हुआ था, न इससे अधिक कुछ करनेकी मुझे इच्छा हुई थी।

अमृतसरके अनुभवने बतलाया कि मेरी एक-दो शक्तियाँ कांग्रेसके लिए उपयोगी हैं। मैं यह देख सका था कि पंजाबकी जाँच-कमेटीके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबन्धु आदि खुश हुए थे। इसलिए उन्होंने मुझे अपनी बैठकों और चर्चाओंमें बुलाया। इतना तो मैंने देख लिया था कि विषय-विचारिणी-समितिका सच्चा काम इन्हीं बैठकोंमें होता था, और ऐसी चर्चाओंमें वे लोग सम्मिलित होते थे, जिनपर नेता विशेष विश्वास या आधार रखते थे और दूसरे वे लोग होते थे, जो किसी-न-किसी बहानेसे घुस जाते थे।

अगले साल करने योग्य कामोंमें से दो कामोंमें मुझे दिलचस्पी थी, क्योंकि उनके विषयमें मैं कुछ जानता था। एक था, जलियाँवाला बागके हत्याकांडका स्मारक। इसके बारेमें कांग्रेसने बड़ी शानके साथ प्रस्ताव पास किया था। स्मारकके लिए करीब पाँच लाख रुपयेकी रकम इकट्ठा करनी थी। उसके न्यासियों (ट्रस्टियों) में मेरा नाम था। देशमें जनताके कामके लिए भिक्षा माँगनेकी जबरदस्त शक्ति रखनेवालोंमें पहला पद मालवीयजीका था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत कम नहीं रहेगा। अपनी यह शक्ति मैंने दक्षिण आफ्रिकामें देख ली थी। राजा-महाराजाओंपर अपना जादू चलाकर उनसे लाखों रुपये प्राप्त करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी, आज भी नहीं है। इस विषयमें मालवीयजीके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मुझे कोई मिला ही नहीं। मैं जानता था कि जलियाँवाला बागके कामके लिए उन लोगोंसे पैसा नहीं माँगा जा सकता। अतएव न्यासीका पद स्वीकार करते समय ही मैं यह समझ गया था कि इस स्मारकके लिए धन-संग्रह करनेका बोझ मुझपर पड़ेगा, और यही हुआ भी। बम्बईके उदार नागरिकोंने इस स्मारकके लिए दिल खोलकर धन दिया और आज जनताके पास उसके लिए जितना चाहिए उतना पैसा है। किन्तु हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखोंके मिश्रित रक्तसे पावन इस भूमि पर किस तरहका स्मारक बनाया जाये, अर्थात् पड़े हुए पैसोंका क्या उपयोग किया जाये, यह एक विकट सवाल हो गया है। क्योंकि तीनोंके बीच अथवा कहिए कि दोनोंके बीच आज दोस्तीके बदले दुश्मनीका भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति लेखक अथवा मुंशीका काम करनेकी थी, जिसका उपयोग कांग्रेस कर सकती थी। नेतागण यह समझ चुके थे कि लम्बे समयके अभ्यासके कारण कहाँ, क्या और कितने कम शब्दोंमें अविनय-रहित भाषामें लिखना चाहिए, सो मैं जानता हूँ। उस समय कांग्रेसका जो विधान था, वह गोखलेकी छोड़ी हुई पूँजी थी। उन्होंने कुछ नियम बना दिये थे। उनके सहारे कांग्रेसका काम चलता था। वे नियम

कैसे बनाये गये, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुँह सुना था। पर अब सब कोई यह अनुभव कर रहे थे कि कांग्रेसका काम उतने ही नियमोंसे नहीं चल सकता। उसका विधान बनानेकी चर्चाएँ हर साल उठती थीं। पर कांग्रेसके पास ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं थी जिससे पूरे वर्ष-भर उसका काम चलता रहे अथवा कोई भविष्यकी बात सोचे। उसके तीन मन्त्री होते थे, पर वास्तवमें कार्यवाहक मन्त्री तो एक ही रहता था। वह भी चौबीसों घंटे दे सकनेवाला नहीं होता था। एक मन्त्री कार्यालय चलाये या भविष्यका विचार करे अथवा भूतकालमें उठाई हुई कांग्रेसकी जिम्मेदारियोंको वर्तमान वर्षमें पूरा करे? इसलिए इस वर्ष यह प्रश्न सबकी दृष्टिमें अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। कांग्रेसमें हजारोंकी भीड़ होती थी। उसमें राष्ट्रका काम कैसे हो सकता था? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी कोई सीमा न थी। किसी भी प्रान्तसे चाहे जितने प्रतिनिधि आ सकते थे। कोई भी प्रतिनिधि हो सकता था। अतएव कुछ व्यवस्था करनेकी आवश्यकता सबको प्रतीत हुई। विधान तैयार करनेका भार उठानेकी जिम्मेदारी मैंने अपने सिर ली। मेरी एक शर्त थी। जनतापर दो नेताओंका प्रभुत्व मैं देख रहा था। इससे मैंने चाहा कि उनके प्रतिनिधि मेरे साथ रहें। मैं समझता था कि वे स्वयं शान्तिसे बैठकर विधान बनानेका काम नहीं कर सकते। इसलिए लोकमान्य और देशबन्धुसे उनके विश्वासके दो नाम मैंने माँगे। मैंने यह सुझाव रखा कि इनके सिवा विधान-समितिमें और कोई न हो। यह सुझाव मान लिया गया। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबन्धुने श्री आई बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी कहीं मिलकर नहीं बैठी। फिर भी हमने अपना काम एकमतसे पूरा किया।[1] पत्र-व्यवहार द्वारा अपना काम चला लिया। इस विधानके लिए मुझे थोड़ा गर्व है। मैं मानता हूँ कि इसका अनुसरण करके काम किया जाये, तो हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब होगा तब होगा, परन्तु मेरी यह मान्यता है कि इस जिम्मेदारीको लेकर मैंने काँग्रेसमें सच्चा प्रवेश किया।

३९. खादीका जन्म

मुझे याद नहीं पड़ता कि सन् १९०८[2] तक मैंने चरखा या करघा कहीं देखा हो। फिर भी मैंने 'हिन्द स्वराज्य' में यह माना था कि चरखेके जरिए हिन्दुस्तानकी कंगाली मिट सकती है। और यह बात तो सभी समझ सकते हैं कि जिस उपायसे भुखमरी मिटेगी उसी उपायसे स्वराज्य मिलेगा। सन् १९१५ में मैं दक्षिण आफ्रिकासे हिन्दुस्तान वापस आया, तब भी मैंने चरखेके दर्शन नहीं किये थे। आश्रमके खुलते ही

१. देखिए खण्ड १८, पृष्ठ ३१०-१२ और पृष्ठ ४४९-४५२। नागपुर अधिवेशनमें स्वीकृत संविधानके लिए देखिए खण्ड १९, पृष्ठ १९४-२०२।

२. १९०९ होना चाहिए।

उसमें करघा शुरू किया था। करघा शुरू करनेमें भी मुझे बड़ी मुश्किलका सामना करना पड़ा। हम सब अनजान थे, अतएव करघेके मिल जाने-भरसे तो करघा चल नहीं सकता था। आश्रममें हम सब कलम चलानेवाले या व्यापार करना जाननेवाले लोग इकट्ठा हुए थे। हममें कोई कारीगर न था। इसलिए करघा प्राप्त करनेके बाद बुनना सिखानेवालेकी आवश्यकता पड़ी। काठियावाड़ और पालनपुरसे करघा मिला और एक सिखानेवाला आया। उसने अपना पूरा हुनर नहीं बताया। पर मगनलाल गांधी शुरू किये हुए कामको जल्दी छोड़नेवाले न थे। उनके हाथमें कारीगरी तो थी ही। इसलिए उन्होंने बुननेकी कला पूरी तरह समझ ली और फिर आश्रममें एकके बाद एक नये-नये बुननेवाले तैयार हुए।

हमें तो अब अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए आश्रमवासियोंने मिलके कपड़े पहनने बन्द किये और यह निश्चय किया कि वे हाथ-करघेपर देशी मिलके सूतका बुना हुआ कपड़ा पहनेंगे। ऐसा करनेसे हमें बहुत कुछ सीखनेको मिला। हिन्दुस्तानके बुनकरोंके जीवनकी, उनकी आमदनीकी, सूत प्राप्त करनेमें होनेवाली उनकी कठिनाईकी, इसमें वे किस प्रकार ठगे जाते थे और आखिर किस प्रकार दिन-दिन कर्जदार होते जाते थे, इस सबकी जानकारी हमें मिली। हम स्वयं अपना सब कपड़ा तुरन्त बुन सकें, ऐसी स्थिति तो थी ही नहीं। इस कारणसे बाहरके बुनकरोंसे हमें अपनी आवश्यकताका कपड़ा बुनवा लेना पड़ता था। देशी मिलके सूतका हाथसे बुना कपड़ा आसानीसे नहीं मिलता था। बुनकर सारा अच्छा कपड़ा विलायती सूतका ही बुनते थे, क्योंकि हमारी मिलें महीन सूत नहीं कातती थीं। आज भी वे महीन सूत अपेक्षाकृत कम ही कातती हैं; बहुत महीन तो कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्नके बाद कुछ बुनकर हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुन देनेकी मेहरबानी की। इन बुनकरोंको आश्रमकी तरफसे यह गारंटी देनी पड़ी थी कि देशी सूतका बना हुआ कपड़ा खरीद लिया जायेगा। इस प्रकार विशेष रूपसे तैयार कराया हुआ कपड़ा बुनवाकर हमने पहना और मित्रोंमें उसका प्रचार किया। यों हम कातनेवाली मिलोंके अवैतनिक एजेंट बने। मिलोंके सम्पर्कमें आनेपर उनकी व्यवस्थाको और उनकी लाचारीकी जानकारी हमें मिली। हमने देखा कि मिलोंका ध्येय खुद कातकर खुद ही बुनना था। वे हाथ-करघोंकी सहायता स्वेच्छासे नहीं, बल्कि अनिच्छासे करती थीं। यह सब देखकर हम हाथसे कातनेके लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जब तक हाथसे कातेंगे नहीं, तबतक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलोंके एजेंट बनकर हम देश-सेवा करते हैं, हमें यह प्रतीति नहीं हुई।

लेकिन न तो कहीं चरखा मिलता था, और न कोई चरखेका चलानेवाला मिलता था। कुकड़ियाँ आदि भरनेके चरखे तो हमारे पास थे, पर चरखों पर काता जा सकता है, इसका तो हमें ख्याल ही नहीं था। एक बार कालीदास वकील एक बहनको खोजकर लाये। उन्होंने कहा कि यह बहन सूत कातकर दिखायेगी। उसके पास एक आश्रमवासीको भेजा, जो नये काम सीख लेनेमें बड़े होशियार थे। पर हुनर उनके हाथ न लगा।

दिन तो बीतते जा रहे थे। मैं अधीर हो उठा था। आश्रममें आनेवाले हर ऐसे आदमीसे, जो इस विषयमें कुछ बता सकता हो, मैं पूछताछ किया करता था। पर कातनेका इजारा तो स्त्रीका ही था। अतएव ओने-कोनेमें पड़ी हुई कातना जाननेवाली स्त्री तो स्त्रीको ही मिल सकती थी।

सन् १९१७में मेरे गुजराती मित्र मुझे भड़ौंच शिक्षा-परिषदमें घसीट ले गये थे। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई मुझे मिलीं। वे पढ़ी-लिखी अधिक नहीं थीं, पर उनमें हिम्मत और समझदारी साधारणतया जितनी शिक्षित बहनोंमें होती है, उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवनमें अस्पृश्यताकी जड़ काट डाली थी; वे बेधड़क अन्त्यजोंमें मिलतीं और उनकी सेवा करती थीं। उनका शरीर कसा हुआ था और चाहे जहाँ अकेले जानेमें उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती थी। वे घोड़ेकी सवारीके लिए भी तैयार रहती थीं। उनके पास पैसा था, पर उनकी अपनी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। इन बहनका विशेष परिचय गोधराकी परिषदमें प्राप्त हुआ। अपना दुःख मैंने उनके सामने रखा और दमयन्ती जिस प्रकार नलकी खोजमें भटकी थी, उसी प्रकार चरखेकी खोजमें भटकनेकी प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा बोझ हलका कर दिया।

४०. चरखा मिला!

गुजरातमें अच्छी तरह भटक चुकनेके बाद गायकवाड़के बीजापुर गाँवमें गंगा-बहनको चरखा मिला। वहाँ बहुत-से कुटुम्बोंके पास चरखा था, जिसे उठाकर उन्होंने छत पर धर दिया था। पर यदि कोई उनका सूत खरीद ले और उन्हें पूनी मुहैया कर दे, तो वे कातनेको तैयार थे। गंगाबहनने मुझे खबर भेजी। मेरे हर्षका पार न रहा। पूनी मुहैया करनेका काम मुश्किल मालूम हुआ। स्व० भाई उमर सोबानीसे चर्चा करनेपर उन्होंने अपनी मिलसे पूनीकी गुच्छियाँ भेजनेका जिम्मा लिया। मैंने वे गुच्छियाँ गंगाबहनके पास भेजीं और सूत इतनी तेजीसे कतने लगा कि मैं दंग रह गया।

भाई उमर सोबानीकी उदारता विशाल थी, फिर भी उसकी हद थी। दाम देकर पूनियाँ लेनेका निश्चय करनेमें मुझे संकोच हुआ। इसके सिवा, मिलकी पूनियाँ हम लेते हैं, तो फिर मिलका सूत लेनेमें क्या दोष है? हमारे पूर्वजोंके पास मिलकी पूनियाँ कहाँ थीं? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहनको लिखा कि वे पूनी बनानेवालेकी खोज करें। उन्होंने इसका जिम्मा लिया और एक धुनियाँको खोज निकाला। उसे ३५ रुपये या इससे अधिक वेतनपर रखा गया। बालकोंको पूनी बनाना सिखलाया। मैंने कपासकी भिक्षा माँगी। भाई यशवन्तप्रसाद देसाईने रुईकी गाँठें देनेका जिम्मा लिया। गंगाबहनने काम एकदम बढ़ा दिया। बुनकरोंको लाकर बसाया और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। बीजापुरकी खादी मशहूर हो गई।

अब दूसरी तरफ आश्रममें चरखेका प्रवेश होनेमें देर न लगी। मगनलाल गांधीकी शोधक-शक्तिने चरखेमें सुधार किये और आश्रममें चरखे तथा तकुए बने।

आश्रमकी खादीके पहले थानकी लागत फी गज सतरह आने आई। मैंने मित्रोंसे मोटी और कच्चे सूतकी खादीके दाम सतरह आना फी गजके हिसाबसे लिये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

मैं बम्बईमें रोग-शय्यापर पड़ा भी सबसे पूछता रहता था। वहाँ दो कातनेवाली बहनें मिलीं। उन्हें एक सेर सूतका एक रुपया दिया। मैं खादी-शास्त्रमें अभी निपट अनाड़ी था। मुझे हाथकते सूतकी जरूरत थी। कत्तिनोंकी जरूरत थी। गंगाबहन जो भाव देती थीं, उससे तुलना करने पर मालूम हुआ कि मैं ठगा जा रहा हूँ। लेकिन वे बहनें कम लेनेको तैयार न थीं। अतएव उन्हें छोड़ देना पड़ा। पर उन्होंने अपना काम किया। उन्होंने श्री अवन्तिकाबाई, श्री रमीबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकरकी माताजी और श्रीमती वसुमतीबहनको[1] कातना सिखा दिया और मेरे कमरेमें चरखा गूँजने लगा। यह कहनेमें अतिशयोक्ति न होगी कि इस यन्त्रने मुझ बीमारको चंगा करनेमें मदद की। बेशक, यह असर मानसिक था। पर मनुष्यको स्वस्थ या अस्वस्थ करनेमें मनका हिस्सा कौन कम होता है? मैंने भी चरखा हाथमें लिया। परन्तु मैं इस समय इससे आगे जा नहीं सका।

बम्बईमें हाथकी पूनियाँ कैसे प्राप्त की जायें? श्री रेवाशंकर झवेरीके बंगलेके पाससे रोज एक धुनियाँ ताँत बजाता हुआ निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दोंके लिए रुई धुना करता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना स्वीकार किया। भाव ऊँचा माँगा, जो मैंने दिया। इस तरह तैयार हुआ सूत मैंने ठाकुरजी की मालाके लिए दाम लेकर वैष्णवोंको बेचा। भाई शिवजीने बम्बईमें चरखा सिखानेका वर्ग शुरू किया। इन प्रयोगोंमें पैसा काफी खर्च हुआ। श्रद्धालु देशभक्तोंने पैसे दिये और मैंने खर्च किये। मेरे नम्र विचारमें यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उससे बहुत-कुछ सीखनेको मिला। चरखेकी मर्यादाका माप मिल गया।

अब मैं केवल खादीमय बननेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिलके कपड़ेकी थी। बीजापुरमें और आश्रममें जो खादी बनती थी, वह बहुत मोटी और ३० इंच अर्जकी होती थी। मैंने गंगाबहनको चेतावनी दी कि अगर वे एक महीनेके अन्दर ४५ इंच अर्जकी खादीकी धोती तैयार करके न देंगी, तो मुझे मोटी खादी की घुटनोंतक की धोती पहनकर अपना काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन अकुलाईं। मुद्दत कम मालूम हुई, पर वे हारी नहीं। उन्होंने एक महीनेके अन्दर मेरे लिए ५० इंचका धोती-जोड़ा मुहैया कर दिया और मेरा दारिद्र्य दूर किया।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गाँवसे एक अन्त्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहनको आश्रममें लाये और उनके द्वारा बड़े अर्जकी खादी बुनवाई। खादी-प्रचारमें इस दम्पतीका हिस्सा सामान्य नहीं कहा जा सकता। उन्होंने गुजरातमें और गुजरातके बाहर हाथका सूत बुननेकी कला दूसरोंको सिखाई है। निरक्षर परन्तु संस्कारशील गंगाबहन जब करघा चलाती हैं, तब उसमें इतनी लीन हो जाती हैं कि

१. ये वास्तवमें उड़ीसाके गोविन्द बाबू थे जिन्होंने इन बहनोंको कातना सिखाया था। देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ ४५१।

इधर-उधर देखने या किसीके साथ बातचीत करनेकी फुरसत भी अपने लिए नहीं रखतीं।

४१. एक संवाद

जिस समय स्वदेशीके नामसे परिचित यह आन्दोलन चलने लगा, उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरे पास काफी टीकाएँ आने लगीं। भाई उमर सोबानी स्वयं एक होशियार मिल-मालिक थे। अतएव वे अपने ज्ञानका लाभ तो मुझे देते ही थे, पर दूसरोंकी रायकी जानकारी भी मुझे देते रहते थे। उनमेंसे एककी दलीलका असर उनपर भी हुआ और उन्होंने मुझे उन भाईके पास ले चलनेकी सूचना की। मैंने उसका स्वागत किया। हम उनके पास गये। उन्होंने आरम्भ इस प्रकार किया:

"आप यह तो जानते हैं न कि आपका स्वदेशी-आन्दोलन पहला ही नहीं है?"

मैंने जवाब दिया: "जी हाँ।"

"आप जानते हैं न कि बंग-भंगके समय[1] स्वदेशी-आन्दोलनने खूब जोर पकड़ा था, जिसका हम मिलवालोंने खूब फायदा उठाया था और कपड़ेके दाम बढ़ा दिये थे? कुछ न करने लायक बातें भी की थीं?"

"मैंने यह बात सुनी है और सुनकर मैं दुःखी हुआ हूँ।"

"मैं आपका दुःख समझता हूँ, पर उसके लिए कोई कारण नहीं है। हम परोपकारके लिए अपना व्यापार नहीं करते। हमें तो पैसा कमाना है। अपने हिस्सेदारोंको जवाब देना है। वस्तुका मूल्य उसकी माँगपर निर्भर करता है, इस नियमके विरुद्ध कौन जा सकता है? बंगालियोंको जानना चाहिए था कि उनके आन्दोलनसे स्वदेशी वस्त्रके दाम अवश्य बढ़ेंगे।"

"वे बेचारे मेरी तरह विश्वासशील हैं। इसलिए उन्होंने मान लिया कि मिल-मालिक नितान्त स्वार्थी नहीं बन जायेंगे। विश्वासघात तो कदापि न करेंगे। स्वदेशीके नामपर विदेशी कपड़ा हरगिज न बेचेंगे।"

"मैं जानता था कि आप ऐसा मानते हैं। इससे मैंने आपको सावधान करनेका विचार किया और यहाँ आनेका कष्ट दिया, ताकि आप भोले बंगालियोंकी तरह धोखेमें न रह जायें।"

यह कहकर सेठजीने अपने गुमाश्तेको नमूने लानेका इशारा किया। ये रद्दी रुईमेंसे बने हुए कम्बलके नमूने थे। उन्हें हाथमें लेकर वे भाई बोले, "देखिए, यह माल हमने नया बनाया है। इसकी अच्छी खपत है। रद्दी रुईसे बनाया है, इसलिए सस्ता तो पड़ता ही है। इस मालको हम ठेठ उत्तर तक पहुँचाते हैं। हमारे एजेंट चारों ओर फैले हुए हैं। अतएव आप देखते हैं कि हमें आपके समान एजेंटोंकी जरूरत नहीं रहती। सच तो यह है कि जहाँ आप-जैसोंकी आवाज नहीं पहुँचती, वहाँ भी हमारा एजेंट और माल पहुँचता है। साथ ही, आपको यह भी जानना

१. यह बादमें १९११ में रद कर दिया गया था।

चाहिए कि हिन्दुस्तानकी आवश्यकताका सब माल हम उत्पन्न नहीं करते है। अतएव स्वदेशीका प्रश्न मुख्यत: उत्पादनका प्रश्न है। जब हम आवश्यक मात्रामें कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कपड़ेकी किस्ममें सुधार कर सकेंगे, तब विदेशी कपड़ेका आना अपने-आप बन्द हो जायेगा। इसलिए आपको मेरी सलाह तो यह है कि आप अपना स्वदेशी-आन्दोलन जिस तरह चला रहे हैं, उस तरह न चलायें और नई मिलें खोलनेकी ओर ध्यान दें। हमारे देशमें स्वदेशी माल खपानेका आन्दोलन चलानेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसे उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है।"

मैंने कहा, "यदि मैं यही काम कर रहा होऊँ, तब तो आप उसे आशीर्वाद देंगे न?"

"सो किस तरह? यदि आप मिल खोलनेका प्रयत्न करते हों, तो आप धन्यवादके पात्र हैं।"

"ऐसा तो मैं नहीं कर रहा हूँ, पर मैं चरखेके काममें लगा हुआ हूँ।"

"यह क्या चीज है?" मैंने चरखेकी बात सुनाई और कहा, "मैं आपके विचारोंसे सहमत हूँ। मुझे मिलोंकी दलाली नहीं करनी चाहिए। इससे फायदेके बदले नुकसान ही है। मिलोंका माल पड़ा नहीं रहता। मुझे तो उत्पादन बढ़ानेमें और उत्पन्न हुए कपड़ेको खपानेमें लगना चाहिए। इस समय मैं उत्पादनके काममें ही लगा हुआ हूँ। इस प्रकारकी स्वदेशीमें मेरा विश्वास है, क्योंकि उसके द्वारा हिन्दुस्तानकी भूखों मरनेवाली अर्ध-बेकार स्त्रियोंको काम दिया जा सकता है। उनका काता हुआ सूत बुनवाना और उसकी खादी लोगोंको पहनाना, यही मेरा विचार है और यही मेरा आन्दोलन है। मैं नहीं जानता कि चरखा-आन्दोलन कहाँतक सफल होगा। अभी तो उसका आरम्भ-काल ही है। पर मुझे उसमें पूरा विश्वास है। कुछ भी हो, उसमें नुकसान तो है ही नहीं। हिन्दुस्तानमें उत्पन्न होनेवाले कपड़ेमें जितनी वृद्धि इस आन्दोलनसे होगी उतना फायदा ही है। अतएव इस प्रयत्नमें आप जो बताते हैं वह दोष तो है ही नहीं।"

"यदि आप इस रीतिसे आन्दोलन चलाते हों, तो मुझे कुछ कहना नहीं है। हाँ, इस युगमें चरखा चल सकता है या नहीं, यह एक अलग बात है। मैं तो आपकी सफलता ही चाहता हूँ।"

४२. असहयोगका प्रवाह

आगे चलकर खादीकी प्रगति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन इन प्रकरणोंमें नहीं किया जा सकता। कौन-कौन-सी वस्तुएँ जनताके सामने किस प्रकार आईं, यह बता देनेके बाद उनके इतिहासमें उतरना इन प्रकरणोंका क्षेत्र नहीं है। ऐसा करें तो उक्त विषयोंकी अलग पुस्तक ही तैयार हो सकती है। यहाँ तो मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि सत्यकी शोध करते हुए कुछ वस्तुएँ मेरे जीवनमें एकके बाद एक किस प्रकार अनायास आती चली गईं।

अतएव मैं मानता हूँ कि अब असहयोगके विषयमें थोड़ा कहनेका समय आ गया है। खिलाफतके बारेमें अलीभाइयोंका जबरदस्त आन्दोलन तो चल ही रहा था। मरहूम मौलाना अब्दुल बारी वगैरा उलेमाओंके साथ इस विषयकी खूब चर्चाएँ हुईं। मुसलमान शान्तिको, अहिंसाको, कहाँतक पाल सकते हैं, इस बारेमें भी विवेचन हुआ। आखिर यह तय हुआ कि अमुक हदतक युक्तिके रूपमें उसका पालन करनेमें कोई एतराज नहीं हो सकता; और अगर किसीने एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा की है, तो फिर वह उसे पालनेके लिए बाध्य है। आखिर खिलाफत-परिषद्में असहयोगका प्रस्ताव पेश हुआ और बड़ी चर्चाके बाद वह मंजूर हुआ। मुझे याद है कि एक बार इलाहाबादमें इसके लिए सारी रात सभा चलती रही थी। हकीम साहबको शान्तिमय असहयोगकी शक्यताके विषयमें शंका थी। किन्तु उनकी शंका दूर होने पर वे उसमें सम्मिलित हुए और उनकी सहायता अमूल्य सिद्ध हुई।

इसके बाद गुजरातमें सभा हुई।[1] उसमें मैंने असहयोगका प्रस्ताव रखा। उसमें विरोध करनेवालोंकी पहली दलील यह थी कि जबतक कांग्रेस असहयोगका प्रस्ताव स्वीकार न करे, तबतक प्रान्तीय परिषदोंको प्रस्ताव पास करनेका अधिकार नहीं है। मैंने सुझाया कि प्रान्तीय परिषदें पीछे कदम नहीं हटा सकतीं; लेकिन आगे कदम बढ़ानेका अधिकार तो सब शाखा-संस्थाओंको है। यही नहीं, बल्कि उनमें हिम्मत हो, तो ऐसा करना उनका धर्म है। इससे मुख्य संस्थाका गौरव बढ़ता है। असहयोगके गुण-दोषपर अच्छी और मीठी चर्चा हुई। मत गिने गये और विशाल बहुमतसे असहयोगका प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्तावके पास होनेमें अब्बास तैयबजी और वल्लभभाई पटेलका बड़ा हाथ रहा। अब्बास साहब सभापति थे और उनका झुकाव असहयोगके प्रस्तावकी तरफ ही था।

कांग्रेसकी महासमितिने इस प्रश्नपर विचार करनेके लिए कांग्रेसका एक विशेष अधिवेशन सन् १९२० के सितम्बर महीनेमें कलकत्तेमें करनेका निश्चय किया। तैयारियाँ बहुत बड़े पैमानेपर हुईं। लाला लाजपतराय सभापति चुने गये थे। बम्बईसे खिलाफत-स्पेशल और कांग्रेस-स्पेशल रवाना हुईं। कलकत्तेमें सदस्यों और दर्शकोंका बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ।

मौलाना शौकतअलीके कहनेपर मैंने असहयोगके प्रस्तावका मसविदा रेलगाड़ीमें तैयार किया। आजतक मेरे मसविदोंमें 'शान्तिमय' शब्द प्रायः नहीं आता था। मैं अपने भाषणोंमें इस शब्दका उपयोग करता था। सिर्फ मुसलमान भाइयोंकी सभाओंमें 'शान्तिमय' शब्दसे जो मुझे समझाना था, वह मैं नहीं समझा पाता था। इसलिए मैंने मौलाना अबुल कलाम आजादसे दूसरा शब्द माँगा। उन्होंने 'बाअमन' शब्द दिया और असहयोगके लिए 'तर्के मवालात' शब्द सुझाया।

इस तरह अभी गुजरातीमें, हिन्दीमें, हिन्दुस्तानीमें असहयोगकी भाषा मेरे दिमागमें गढ़ी जा रही थी कि इतनेमें ऊपर लिखे अनुसार कांग्रेसके लिए प्रस्तावका मसविदा तैयार करनेका काम मेरे हाथमें आया। प्रस्तावमें 'शान्तिमय' शब्द लिखना

[1] देखिए खण्ड १८, पृष्ठ २१६-१९।

रह गया। मैंने प्रस्ताव तैयार करके रेलगाड़ीमें ही मौलाना शौकतअलीको दे दिया। रातमें मुझे ख्याल आया कि मुख्य शब्द 'शान्तिमय' तो छूट गया है। मैंने महादेव को दौड़ाया और कहलवाया कि छापते समय प्रस्तावमें 'शान्तिमय शब्द बढ़ा लें। मेरा कुछ ऐसा ख्याल है कि शब्द बढ़ानेसे पहले प्रस्ताव छप चुका था। विषय-विचारिणी-समितिकी बैठक उसी रात थी। अतएव उसमें उक्त शब्द मुझे बादमें बढ़वाना था। मैंने देखा कि यदि मेरे पास प्रस्तावका तैयार मसविदा न होता, तो बड़ी मुश्किलका सामना करना पड़ता।

मेरी स्थिति दयनीय थी। मैं नहीं जानता था कि कौन प्रस्तावका विरोध करेगा और कौन प्रस्तावका समर्थन करेगा। लालाजीके रुखके विषयमें मैं कुछ नहीं जानता था। कलकत्तेमें तपे-तपाये अनुभवी योद्धा उपस्थित हुए थे। विदुषी एनी बेसेंट, पं० मालवीयजी, श्री विजयराघवाचार्य, पं० मोतीलालजी, देशबन्धु आदि उनमें थे।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायको ध्यानमें रखकर ही असहयोगकी बात कही गई थी। श्री विजयराघवाचार्यको इसमें कोई दिलचस्पी मालूम न हुई। उन्होंने कहा: "यदि असहयोग ही करना है, तो वह अमुक अन्यायके लिए ही क्यों किया जाये? स्वराज्यका अभाव बड़ेसे-बड़ा अन्याय है। अतएव उसके लिए असहयोग किया जा सकता है।" मोतीलालजी भी स्वराज्यकी माँगको प्रस्तावमें दाखिल कराना चाहते थे। मैंने तुरन्त ही इस सूचनाको स्वीकार कर लिया और प्रस्तावमें स्वराज्यकी माँग भी सम्मिलित कर ली। विस्तृत, गम्भीर और कुछ तीखी चर्चाओंके बाद असहयोगका प्रस्ताव पास हुआ।[१]

मोतीलालजी उसमें सबसे पहले सम्मिलित हुए। मेरे साथ हुई उनकी मीठी चर्चा मुझे अभीतक याद है। उन्होंने कुछ शाब्दिक परिवर्तन सुझाये थे, जिन्हें मैंने स्वीकार कर लिया था। देशबन्धुको मना लेनेका बीड़ा उन्होंने उठाया था। देशबन्धुका हृदय असहयोगके साथ था, पर उनकी बुद्धि उनसे कह रही थी कि असहयोगको जनता ग्रहण नहीं करेगी। देशबन्धु और लालाजीने असहयोगके प्रस्तावको पूरी तरह तो नागपुरमें स्वीकार किया।

इस विशेष अधिवेशनके अवसरपर लोकमान्यकी अनुपस्थिति मेरे लिए बहुत दुःखदायक सिद्ध हुई। आज भी मेरा मत है कि वे जीवित होते, तो कलकत्तेकी घटनाका स्वागत करते। पर वैसा न होता और वे विरोध करते, तो भी मुझे वह अच्छा ही लगता। मुझे उससे कुछ सीखनेको मिलता। उनके साथ मेरे मतभेद सदा ही रहे, पर वे सब मीठे थे। उन्होंने मुझे हमेशा यह माननेका मौका दिया था कि हमारे बीच निकटका सम्बन्ध है। यह लिखते समय उनके स्वर्गवासकी बात मेरे सामने खड़ी है। मेरे साथी पटवर्धनने आधी रातको मुझे टेलीफोनपर उनके अव-सानका समाचार दिया था। उसी समय मैंने साथियोंसे कहा था: "मेरे पास एक बड़ा सहारा था, जो आज टूट गया।[२]" उस समय असहयोगका आन्दोलन पूरे

१. असहयोग प्रस्ताव पर गांधीजीके भाषणोंके लिए देखिए खण्ड १८, पृष्ठ २६९-७६।

२. लोकमान्यको गांधीजीकी श्रद्धांजलिके लिए देखिए खण्ड १८, पृष्ठ ११९।

जोरसे चल रहा था। मैं उनसे उत्साह और प्रेरणा पानेकी आशा रखता था। अन्तमें जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमन्त हुआ, तब उसके प्रति उनका रुख क्या रहा होता, सो तो भगवान जाने; पर इतना मैं जानता हूँ कि राष्ट्रके इतिहासकी उस महत्त्व-पूर्ण घड़ीमें उनकी उपस्थितिका अभाव सबको खटक रहा था।

४३. नागपुरमें

कांग्रेसके विशेष अधिवेशनमें स्वीकृत असहयोगके प्रस्तावको नागपुरमें होनेवाले वार्षिक अधिवेशनमें बहाल रखना था। कलकत्तेकी तरह नागपुरमें भी असंख्य लोग इकट्ठा हुए थे। अभीतक प्रतिनिधियोंकी संख्या निश्चित नहीं हुई थी। अतएव जहाँ तक मुझे याद है, इस अधिवेशनमें चौदह हजार प्रतिनिधि हाजिर हुए थे। लालाजीके आग्रहसे विद्यालयों-सम्बन्धी प्रस्तावमें मैंने एक छोटा-सा परिवर्तन स्वीकार कर लिया था। देशबन्धुने भी कुछ परिवर्तन कराया था और अन्तमें शान्तिमय असहयोगका प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुआ था।[1]

इसी बैठकमें महासभाके विधानका प्रस्ताव पास करना था। यह विधान मैंने कलकत्तेकी विशेष बैठकमें पेश तो किया ही था। इसलिए वह प्रकाशित हो गया था और उसपर चर्चा भी हो चुकी थी। श्री विजयराघवाचार्य इस बैठकके सभापति थे। विधानमें विषय-विचारिणी-समितिने एक ही महत्त्वका परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियोंकी संख्या पन्द्रह सौ मानी थी। विषय-विचारिणी-समितिने इसे बदलकर छः हजार कर दिया। मैं मानता था कि यह कदम बिना सोचे उठाया गया है। इतने वर्षोंके अनुभवके बाद भी मेरा यही ख्याल है। मैं इस कल्पनाको बिलकुल गलत मानता हूँ कि बहुत-से प्रतिनिधियोंसे काम अधिक अच्छा होता है अथवा जनतन्त्रकी अधिक रक्षा होती है। ये पन्द्रह सौ प्रतिनिधि उदार मनवाले, जनताके अधिकारोंकी रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छः हजार निरंकुश प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा जनतन्त्रकी अधिक अच्छी रक्षा करेंगे। जनतन्त्रकी रक्षाके लिए जनतामें स्वतन्त्रताकी, स्वाभिमानकी और एकताकी भावना होनी चाहिए और अच्छे तथा सच्चे प्रतिनिधियोंको ही चुननेका आग्रह रहना चाहिए। किन्तु संख्याके मोहमें पड़ी हुई विषय-विचारिणी-समिति छः हजारसे भी अधिक प्रतिनिधि चाहती थी। इसलिए छः हजारपर मुश्किलसे समझौता हुआ।

कांग्रेसमें स्वराज्यके ध्येयपर चर्चा हुई थी। विधानकी धारामें साम्राज्यके भीतर अथवा उसके बाहर, जैसे मिले वैसे, स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात थी। कांग्रेसमें ऐसा भी एक पक्ष था, जो साम्राज्यके अन्दर रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। उस पक्षका समर्थन पं० मालवीयजी और श्री जिन्नाने किया था, पर उन्हें अधिक मत न मिल सके। विधानकी एक धारा यह थी कि शान्तिपूर्ण और सत्यरूप साधनों

१. गांधीजीके असहयोग सम्बन्धी प्रस्तावके मसविदेके लिए देखिए खण्ड १९, पृष्ठ १८७-८९; और प्रस्ताव जिस रूपमें स्वीकृत हुआ था, उसके लिए देखिए खण्ड १९, पृष्ठ ५८२-८४।

द्वारा ही हमें स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए। इस शर्तका भी विरोध किया गया था। पर कांग्रेसने उसे अस्वीकार किया और सारा विधान काँग्रेसमें सुन्दर चर्चा होनेके बाद स्वीकृत हुआ। मेरा मत है कि यदि लोगोंने इस विधानपर प्रामाणिकता-पूर्वक और उत्साह-पूर्वक अमल किया होता, तो उससे जनताको बड़ी शिक्षा मिलती। उसके अमलमें स्वराज्यकी सिद्धि निहित थी। पर यह विषय यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

इसी सभामें हिन्दू-मुस्लिम-एकताके बारेमें, अस्पृश्यता-निवारणके बारेमें और खादीके बारेमें भी प्रस्ताव पास हुए। उस समयसे कांग्रेसके हिन्दू सदस्योंने अस्पृश्यताको मिटानेका भार अपने ऊपर लिया है और खादीके द्वारा कांग्रेसने खिलाफतके सवालके सिलसिलेमें असहयोगका निश्चय करके हिन्दू-मुस्लिम एकता सिद्ध करनेका एक महान प्रयास किया था।

पूर्णाहुति

अब इन प्रकरणोंको समाप्त करनेका समय आ पहुँचा है।[1]

इससे आगेका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि शायद ही कोई चीज ऐसी हो, जिसे जनता जानती न हो। फिर सन् १९२१ से मैं कांग्रेसके नेताओंके साथ इतना अधिक ओतप्रोत होकर रहा हूँ कि मैं किसी प्रसंगका वर्णन नेताओंके सम्बन्धकी चर्चा किये बिना, यथार्थ रूपमें कर ही नहीं सकता। ये सम्बन्ध अभी ताजे हैं। श्रद्धानन्दजी, देशबन्धु, लालाजी और हकीम साहब आज हमारे बीच नहीं हैं। पर सौभाग्यसे दूसरे कई नेता अभी मौजूद हैं। कांग्रेसके महान परिवर्तनके बादका इतिहास अभी तैयार हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग कांग्रेसके माध्यमसे हुए हैं। अतएव उन प्रयोगोंके वर्णनमें नेताओंके सम्बन्धोंकी चर्चा अनिवार्य है। शिष्टताके विचारसे भी फिलहाल तो मैं ऐसा कर ही नहीं सकता। अन्तिम बात यह है कि इस समय चल रहे प्रयोगोंके बारेमें मेरे निर्णय निश्चयात्मक नहीं माने जा सकते। अतएव इन प्रकरणोंको सम्प्रति तो बन्द कर देना ही मुझे अपना कर्त्तव्य मालूम होता है। यह कहना गलत न होगा कि इसके आगे खुद मेरी कलम ही चलनेसे इनकार करती है।

पाठकोंसे विदा लेते हुए मुझे दुःख होता है। मेरे निकट अपने इन प्रयोगोंकी बड़ी कीमत है। मैं नहीं जानता कि मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूँ या नहीं। यथार्थ वर्णन करनेमें मैंने कोई कसर नहीं रखी है। सत्यको मैंने जिस रूपमें देखा है, जिस मार्गसे देखा है, उसे उसी तरह प्रकट करनेका मैंने सतत प्रयत्न किया है, और पाठकोंके लिए उसका वर्णन करके चित्तमें शान्तिका अनुभव किया है, क्योंकि मैंने आशा यह रखी है कि इससे पाठकोंमें सत्य और अहिंसाके प्रति अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

१. २९-११-१९२८ का श्री सी० एफ० एन्ड्र्यूजके नाम पत्रमें भी गांधीजीने इसका उल्लेख किया है। देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ १३०।

ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि सत्यसे भिन्न कोई परमेश्वर है। यदि इन प्रकरणोंके पन्ने-पन्नेसे यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बननेका एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है, तो मैं इस प्रयत्नको व्यर्थ समझूँगा। मेरा प्रयत्न चाहे व्यर्थ हो, किन्तु यह बात व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होने पर भी कच्ची है, अपूर्ण है। अतएव हजारों सूर्योंको इकट्ठा करनेसे भी जिस सत्यरूपी सूर्यके तेजका पूरा आँकलन नहीं हो सकता, सत्यकी मेरी झांकी उसी सूर्यकी केवल एक किरणके दर्शनके समान ही है। आजतक के अपने प्रयोगोंके अन्तमें, मैं इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि सत्यका सम्पूर्ण दर्शन, सम्पूर्ण अहिंसाके बिना असम्भव है।

ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए जीवमात्रके प्रति आत्मवत् प्रेमकी परम आवश्यकता है। और, जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवनके किसी भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि सत्यकी मेरी पूजा मुझे राजनीतिमें खींच लाई है। जो मनुष्य यह कहता है कि धर्मका राजनीतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह धर्मको नहीं जानता, ऐसा कहनेमें मुझे संकोच नहीं होता, और न ऐसा कहनेमें मैं अविनय करता हूँ।

बिना आत्मशुद्धिके जीवमात्रके साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धिके बिना अहिंसा-धर्मका पालन सर्वथा असम्भव है। अशुद्ध आत्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्गके सभी क्षेत्रोंमें शुद्धिकी आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टिके बीच ऐसा निकटका सम्बन्ध है कि एककी शुद्धि अनेकोंकी शुद्धिके बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत प्रयत्न करनेकी शक्ति तो सत्यनारायणने सबको जन्मसे ही दी है।

लेकिन मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध बननेका अर्थ है मनसे, वचनसे और कायासे निर्विकार बनना, राग-द्वेषादिसे रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुँचनेका प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुँच नहीं पाया हूँ, इसलिए लोगोंकी स्तुति मुझे भुलावेमें नहीं डाल सकती। उलटे, यह स्तुति प्रायः तीव्र वेदना पहुँचाती है। शस्त्रयुद्धसे संसारको जीतनेकी अपेक्षा मनके विकारोंको जीतना मुझे कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आनेके बाद भी मैं अपने भीतर छिपे हुये विकारोंको देख सका हूँ, शरमिन्दा हुआ हूँ, किन्तु हारा नहीं हूँ। सत्यके प्रयोग करते हुए मैंने आनन्द लूटा है, और आज भी लूट रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे विकट मार्ग तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है। मनुष्य जबतक स्वेच्छासे अपनेको सबसे नीचे नहीं रखता, तबतक उसे मुक्ति नहीं मिलती। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस नम्रताके बिना मुक्ति कभी नहीं मिलती। ऐसी नम्रताके लिए प्रार्थना करते हुए और उसके लिए संसारकी सहायताकी याचना करते हुए इस समय तो मैं इन प्रकरणोंको बन्द करता हूँ।

२. पत्र : बालमन्दिरके बच्चोंको

करांची
४ फरवरी, १९२९

बालमन्दिरके बच्चो,

बालमन्दिरके बच्चे बहुत ऊधम करते हैं। शरारतमें हरिने अपना हाथ तोड़ लिया। यह कैसी शरारत? शरारतकी भी तो हद होती है न? इसका जवाब सभी बच्चे एक-एक करके लिखें।

दूसरा सवाल :

अब भी मसाला कौन-कौन खाता है? जो खाते हैं, क्या वे उसे छोड़ेंगे? जिन्होंने छोड़ रखा है, क्या उनका मन उसे खानेको करता है? और अगर करता है तो क्या?

तीसरा सवाल :

अब रसोई-घर या कक्षामें कौन-कौन शोर करते हैं? याद रखो कि तुम सबने मुझे शोर न करनेका वचन दिया है।

जितना मुझे डराया था उतनी ठंड कराचीमें नहीं है। यह पत्र मैं चार बजे सुबह लिख रहा हूँ। डाक जल्दी चली जाती है। घड़ी देखनेपर मुझे लगा कि चार बज गये हैं; मगर वह मेरी भूल थी; तब तीन ही बजे थे। मैं तभी उठ पड़ा था, फिर एक घंटेके लिए कौन सोये? इस तरह उद्योग मन्दिरको पत्र लिखनेके लिए एक घंटा और मिल गया। कैसी अच्छी बात है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ९२२२)की फोटो-नकलसे।

३. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

कराची
४ फरवरी, १९२९

बहनो,

अब तो तुम्हारी कक्षाएँ नियमित रूपसे चलती होंगी। जो व्यवस्था इस समय आसानीसे हो गई है, मैं मानता हूँ कि उससे अच्छी व्यवस्था नहीं हो सकती। इस व्यवस्थासे पूरा लाभ उठाना।

रसिक[1] के स्वास्थ्यकी स्थितिको तो बहुत ही खराब कहना चाहिए। यह पत्र तुम्हारे पास पहुँचेगा, तबतक वह रहेगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

१. हरिलाल गांधीका पुत्र।

परन्तु हम तो रोज पढ़ते हैं कि जन्म-मरण दोनों एक ही चीजके दो पहलू हैं। जो जन्म लेता है वह मरता है, जो मरता है वह जन्म लेता है। इस कोल्हूमें से कोई-कोई बिलकुल निकल भी जाते हैं। मगर जो निकलते हैं और जो नहीं निकलते, उन दोनोंके जन्म-मरणसे हर्ष-शोक होनेका कारण बिलकुल नहीं है। यह जानता हूँ इसीलिए मैं निश्चिन्त होकर घूमता रहता हूँ। रसिक तो अब 'रामायण'का पुजारी हो गया है, इसलिए ऐसी प्रतीति होती है कि उसकी आत्मा शान्त ही है।

मैं चाहता हूँ कि सब बहनें रसोईघर और बाल-मन्दिरको ज्यादा सुशोभित करें। बच्चोंमें मसाले खानेका लोभ मत उपजने देना। तुम भविष्यमें देखोगी कि इससे बच्चोंको लाभ ही होता है। अब तो तुमने देख लिया होगा कि मसालेके बिना आम तौर पर शरीर बिगड़ता नहीं है। कुछ लोगोंमें उसकी आदत घर कर गई हो और वे न छोड़ सकें, तो यह बात बिलकुल अलग है। इस बातपर विचार करना। बच्चोंका शोर बन्द करना तो तुम्हारे ही हाथमें है। तुम्हें गंगाबहनका बोझा हलका करना चाहिए। उनसे दूसरा काम भी लिया जा सकता है। घंटोंको बाँटकर अमुक समयके लिए तो तुम्हें गंगाबहनको रसोईघरमें आने ही नहीं देना चाहिए।

छारोड़ीके[1] सिवा कहींसे भी घी मँगवानेका विचार छोड़ देना चाहिए। वहाँका घी न मिले, तब फिर उसके बिना काम चलानेकी आदत डाल लेनी चाहिए। अब तो यह साबित हो गया माना जा सकता है कि अलसीके तेलसे जरा भी नुकसान नहीं होता। दूध-दही मिले तो घी न मिलनेपर चिन्ताका कारण ही नहीं है।

सागकी मर्यादा बाँध ही लेना। साफ किया हुआ कोई भी साग एक बारमें फी आदमी दस तोलेसे ज्यादा हरगिज न बनाया जाये, यह नियम बना लेना आवश्यक है।

इन परिवर्तनोंमें तुम्हारे मानसिक सहयोगकी जरूरत है। यानी तुम्हें इन्हें हृदय और मनसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

बाल-मन्दिरके लिए तुम्हें तैयार होना है। वह तैयारी अब तुम जी-भरकर कर सकती हो, क्योंकि तुम्हारे लिए ही एक शिक्षक नियुक्त है और वह कुशल है।

मैं १५ तारीखके बजाय १६की रातको वहाँ पहुँचूंगा। यहाँ देरसे आया इस कारण एक दिन टूट गया।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]

बापूना पत्रो – १ : आश्रमनी बहनोने

१. आश्रमके पास एक गाँव।

४. पत्र : पुरुषोत्तम गांधीको

४ फरवरी, १९२९

चि० पुरुषोत्तम,

तुम्हें अपना शरीर पूरी तरह सुधारना चाहिए। यदि आश्रममें रहते हुए यह सम्भव हो जाये तो अच्छा हो। फिर भी मुझे इसका आग्रह नहीं है। यदि वहाँ सुधार पानेका विश्वास न हो तो हजीरा चले जाओ। वह बहुत अच्छी जगह है। किन्तु मेरी धारणा है कि जुदा-जुदा रंगकी शीशियोंमें पानी भरकर उन्हें सूर्यके प्रकाशमें निश्चित अवधितक रखकर वह पानी पीना ठीक रहेगा। मैंने इससे सम्बन्धित प्रकरण दुबारा पढ़ लिया है। पीली नारंगी रंगकी बोतलमें पानी भरकर उसे धूपमें रखनेके बाद पानी पीओ और उसका प्रभाव देखो। सुबह दलियाकी राब लेनेसे भी फायदा हो सकता है। इसके बारेमें छोटालालजीसे पूछना। वह तुम्हें राब तैयार करके ही दे देंगे। मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम्हें कुछ समयके लिए अपने साथ-साथ रखूँ और तुम्हारा शरीर स्वस्थ बना डालूँ। वर्धाके बारेमें तुम्हारा विचार तो ठीक ही है। इस बीच ऊपरका उपचार करना और फिर क्या करना है उसके बारेमें सोचना।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (सी० डब्ल्यू० ८९५)से।
सौजन्य : नारणदास गांधी

५. पत्र : छगनलाल जोशीको

मौनवार, ४ फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

तुम्हें यात्राके दौरान दो पत्र लिखे थे; आशा है, वे मिल गये होंगे। कार्ड भी तो पत्र ही है।

साथके किशोरलाल भाई तथा आश्रमकी बहनोंके नामके पत्रोंमें बहनोंसे सम्बन्धित अंश सबके पढ़ने योग्य हैं; इसलिए वे अंश सबको दिखला देना। तुम्हारे लिफाफेमें जो पत्र भेजता हूँ तुम्हें वे सभी पढ़ लेने चाहिए। जो तुम्हारे पढ़नेके न होंगे, उनके ऊपर निजी शब्द लिख दूंगा। प्रत्येक कामकी देखरेखके लिए तुम पर्याप्त समय तो निकालते ही रहना। सभी कामोंके लिए समय निर्धारित कर लेना और निश्चित समयमें उसको समाप्त करनेका प्रयत्न करना। भविष्यमें करनेके कामोंकी सूची रखना और उसे देखते रहनेकी आदत डालना। ऐसा करनेसे स्मरण-शक्ति पर

अधिक बोझ नहीं पड़ेगा। कोई भी व्यक्ति किये जानेवाले सारे कामोंको याद नहीं रख सकता।

मुझे वहाँ पहुँचनेमें एक दिनकी देरी होगी। यहाँका कार्यक्रम कुछ गड़बड़ हो गया था और नया बनाना पड़ा। सोमवारको मौनवार होता है; इस कारण एक दिन और बढ़ाये बिना काम नहीं चल सकता था।

तुम अपना स्वास्थ्य पत्थरकी तरह बना डालो। यह हो सकता है। तुम्हें दूध और घी ज्यादा लेना चाहिए। यदि तेल माफिक आता हो तो मैं घीको जरूरी नहीं समझता। यदि तुम्हें बादाम पच सकें तो मुझे लगता है कि घीकी तनिक भी जरूरत नहीं है। किन्तु यह प्रयोग तो शायद मेरे आनेके बाद करना ठीक होगा।

विमु और धीरूको[1] तुम्हें अपने हाथमें ले लेना चाहिए अथवा रमाको उनका पालन-पोषण सीखना चाहिए। वे अच्छे बच्चे हैं; सिर्फ उनकी अच्छी देख-रेखकी जरूरत है।

आजके सभी पत्र सवेरे-सवेरे लिख रहा हूँ। डाक जल्दी जाती है और आज मैं तीन बजे उठ गया था; इसलिए पत्र लिख रहा हूँ। वहाँके मुकाबिलेमें यहाँ ठंड कम है। लोगोंका कहना है कि कलसे हवा बदल गई है।

तीसरे दर्जेमें यात्रा करनेमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। आधे रास्तेतक तो गाड़ीमें बहुत कम लोग थे। रातको सबको सोनेके लिए काफी जगह मिल गई थी। पाखानेकी दिक्कत थी। इसलिए प्रोफेसरके[2] लिए आबूसे हैदराबाद तककी दूसरे दर्जेकी टिकट ली। वे और सुब्बैया[3] बारी-बारी उसमें गये। इससे सुब्बैया टाइप कर सका और 'यंग इंडिया'के लेख टाइप करके भेजे जा सके। इस प्रकार यात्रा करनेसे लगभग पचास रुपये बच गये और मुझे जो अतिरिक्त शान्ति मिली, सो अलग। मैंने देखा है कि मेरा फिरसे तीसरे दर्जेमें यात्रा करना लोगोंको भी पसन्द आया है।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५३८३)की फोटो-नकलसे।

६. पत्र : गंगाबहन वैद्यको

मौनवार, ४ फरवरी, १९२९

चि० गंगाबहन,

काकूके कपड़ोंके सम्बन्धमें, तुमसे जो दो बातें कही थीं, उन्हें भली तरह याद रखना।

बहुत ज्यादा काम करनेका लोभ छोड़ दो। तुम्हें कमसे-कम चार घंटे रसोईके बाहर रहना ही चाहिए। दूसरी मदद करनेवाली बहनोंके लिए वस्तुओंकी सूची बना लो। इसके बाद कुछ खो जाये या बिगड़ जाये तो चिन्ताकी बात नहीं है।

१. छगनलाल जोशीकी पुत्री तथा पुत्र।
२. आचार्य कृपलानी।
३. गांधीजीके सचिव।

इस प्रकार सोचकर देखो कि यदि रोज चार घंटे तबीयत अच्छी न रहे तो तुम क्या करो? आखिरकार हमें अपनी संस्थाको तो चलाना ही है।

संस्था चलानेका अर्थ तो यह है कि कोई व्यक्ति किसी काममें स्थायी रूपसे न लगे और काम रोज नये प्रशिक्षित व्यक्तियों द्वारा चलाया जाये। हमारे सभी विभागोंमें काम इसी प्रकार होना चाहिए। कोई भी काम किसी एक ही व्यक्तिपर निर्भर नहीं होना चाहिए। इस प्रकार हममें से जो काम करनेवाले हैं उन्हें दूसरोंको तैयार करना है।

समयका विचार सिर्फ कुसुमके लिए ही करना है, यह मत सोचना। संस्थाकी व्यवस्थामें इस बातका ध्यान रखना ही पड़ता है। नियमोंके बिना काम नहीं चल सकता। दुर्घटनाएँ रोज नहीं होतीं, रोज हों तो वह दुर्घटना नहीं रहेगी। यदि रोज रोटी बिगड़ जाये तो हम रोटी बनाना बन्द कर दें। रोटी आदि किसी एक दिन खराब बन जाये तो उसका क्या प्रबन्ध करना होगा यह हमें पहलेसे ही सोच लेना चाहिए। लेकिन ऐसा करनेके लिए भी तुम्हें थोड़ा चैन तो मिलना ही चाहिए।

मैं देखता हूँ कि यह रसोई तुम्हारे लिए एक बड़ी पाठशालाके समान हो गई है और तुम्हें इसमें रोज नये अनुभव मिल रहे हैं।

शरीरका ध्यान रखना। फिलहाल तो तुम्हें दूध और फल ही लेना चाहिए। थोड़ी-थोड़ी मात्रामें जितने दूधकी जरूरत हो उतना दूध पीना। व्यक्ति फल तो चाहे जितने खा लेता है; इसलिए उनके परिमाणका ठीक अन्दाज लगा लेना। अभी काफी और चीनीका उपयोग मत करना।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो : गं० स्व० गंगाबहेनने

७. पत्र : मीराबहनको

४ फरवरी, १९२९

चि० मीरा,

मैं बिलकुल संयोगसे ही ३ बजे रातसे जाग रहा हूँ। अब सुबहके पाँच बजनेको हैं और मैंने उद्योग-मन्दिरकी डाक लगभग निबटा दी है।

मैंने फिर तीसरे दर्जेमें सफर किया। कोई दुर्घटना नहीं हुई और न कोई उल्लेखनीय असुविधा हुई। और मेरी मानसिक शान्ति तो बढ़ी ही। दूसरे दर्जेमें सफर करते हुए मेरे जीको कभी शान्ति नहीं रहती।

रसिकके[1] बारेमें तुम्हें देनेको कोई और समाचार नहीं है। कराचीमें मुझे अपने नाम कोई तार नहीं मिला और इस पत्रके डाकमें पड़नेसे पहले आज मुझे कोई डाक नहीं मिलेगी। डाक सुबह ९ बजे बन्द होती है।

१. हरिलाल गांधीके पुत्र।

क्या मैंने तुम्हें यह खबर दी थी कि उ० मं० में पिछले सप्ताह इतनी ठंड पड़ी कि बाल्टियों और छोटे हौजका पानी जम गया था? थर्मामीटरमें तापमान २८ डिग्री तक नीचे आ गया था, जो साबरमतीमें पहले कभी नहीं सुना गया। हमारे यहाँ तरकारियों और कपास वगैराकी बहुत बढ़िया फसल थी। बेचारे सोमाभाईने इस काममें अपनी जान लड़ा दी थी। खैर, इस भयंकर पालेसे लगभग सब-कुछ बरबाद हो गया, यहाँतक कि पपीतेका सुन्दर बगीचा भी नष्ट हो गया। सारा खेत रोता-सा नजर आता है। उसकी ओर देखा नहीं जाता। फिर भी इस विपत्तिके पीछे प्रकृतिका कोई शुभ हेतु है, जिसे हम समझ तो नहीं सकते परन्तु उसपर हमारी पूर्ण आस्था है। और हमारे हृदयमें आस्थाका होना ही अदृष्ट और अदृश्य वस्तुओंका प्रमाण है।

मुझे आशा है कि अब तुम्हारी तन्दुरुस्ती पूरी तरह सुधर गई होगी। तुम अपने शरीरकी मर्यादाओंको समझो — क्या नहीं समझोगी — और एक संन्यासीका जिस प्रकार यह धर्म है कि वह अपने सुरक्षित व्यक्तिकी सुख-सुविधाकी व्यवस्था करे उसी प्रकार तुम भी जो चीजें तुम्हारे शारीरिक स्वास्थ्यके लिए जरूरी हों उन्हें आग्रहपूर्वक ले लिया करो। अवश्य ही तुम शरीरको लाड़-प्यार न दो, पर उसे अपने विकासके लिए ईश्वरकी तरफसे मिली हुई थाती समझो और तब उसकी बुनियादी आवश्यकताएँ पूरी करना उचित ही नहीं, बल्कि तुम्हारा फर्ज होगा।

कार्यक्रमकी सभी तिथियाँ दो दिन आगे बढ़ा देनेसे ही काम नहीं चलेगा। उसका क्रम भी बदल दिया गया है और हैदराबाद सिन्धको प्रधान कार्यालय मानना ज्यादा ठीक रहेगा। मैंने तार भेजनेपर खर्च नहीं किया क्योंकि तुम्हारे भेजे हुए पत्र तो मुझे मिल ही जायेंगे।

सस्नेह,

बापू

[पुनश्च :]

हाँ, तुमने यूरोप-यात्राके बारेमें मेरे लेख[1] पढ़े होंगे। क्या तुम सहमत नहीं हो? रोलाँको लिखना।

बापू

अंग्रेजी (जी० एन० ९३९५) से तथा (सी० डब्ल्यू० ५३४०) से भी।
सौजन्य : मीराबहन

१. देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ ४४६।

८. भाषण: सार्वजनिक सभा, कराचीमें[1]

४ फरवरी, १९२९

महात्माजीने थैली स्वीकार करते हुए कराचीके नागरिकोंको इतनी उदारतापूर्वक चन्दा देनेके लिए धन्यवाद दिया, लेकिन कहा कि देशके प्रति, बल्कि एक प्रकारसे सारे संसारके प्रति की गई लालाजीकी सेवाओंको देखते हुए जो भी रकम दी जाये वह बहुत ज्यादा नहीं समझी जा सकती। लालाजीकी सेवाओंको धनसे नहीं तोला जा सकता। लेकिन उन्होंने जो काम आरम्भ किया था उसको जारी रखने और उसका विस्तार करनेके लिए धनकी जरूरत है। महात्माजीने आशा व्यक्त की कि इस कोषके लिए सिन्ध उन्हें बहुत बड़ी धनराशी देगा।

उन्होंने कहा कि लालाजीका काम किसी जाति या प्रान्त विशेष तक सीमित नहीं था। उसी प्रकार उनकी सोसाइटीका[2] काम भी सीमित नहीं था। इसके सदस्य सभी प्रान्तोंके रहनेवाले हैं और इसका कार्य विभिन्न प्रान्तोंमें चल रहा है। इसलिए ऐसा नहीं सोचा जाना चाहिए कि सोसाइटीके कामका लाभ सिन्धको नहीं होगा। लालाजी समस्त संसारसे प्रेम करते थे, किन्तु उन्होंने यह समझ लिया था कि जो व्यक्ति अपने देशकी सेवा नहीं करता वह संसारकी सेवा नहीं कर सकता। वह एक सच्चे देशभक्त थे। वह अपने देशके लिए जिये और उसीकी सेवा करते हुए मरे। आप लोग जो धन दे रहे हैं उसका उपयोग लालाजी द्वारा आरम्भ किये गये कार्यको आगे बढ़ानेमें किया जायेगा।

महात्माजीने आगे कहा कि लालाजी भी वही चीज चाहते थे जो लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द, हकीम अजमल खाँ और देशबन्धु दास चाहते थे। वह चीज थी भारतकी स्वतन्त्रता।

यदि हम अपने अन्दर त्यागकी भावना पैदा कर सकें और जिस स्वराज्यको लालाजी अपने जीवनमें प्राप्त करना चाहते थे, उस स्वराज्यको प्राप्त कर लें तो वही लालाजीका सच्चा स्मारक होगा।

यदि इस वर्ष अच्छा कार्य किया जाये तो स्वराज्य अगले वर्ष आ सकता है, और यदि नहीं आता तो अहिंसापूर्ण असहयोग और कर-बन्दी आन्दोलन आरम्भ किया जायेगा। यह तभी हो सकता है जब हम इस वर्षके दौरान रचनात्मक कार्य करके उसके लिए जमीन तैयार कर लें।

१. यह सभा नारायणदास आनन्दजी, एम० एल० सी० की अध्यक्षतामें रामबाग मैदानमें हुई थी। इसमें गांधीजीको "लाजपत राय स्मारक कोष" के लिए एक थैली भेंट की गई।

२. सर्वेंट्स ऑफ पीपुल सोसाइटी।

रचनात्मक कार्यके महत्त्वपूर्ण मुद्दोंके बारेमें बोलते हुए उन्होंने कहा कि खद्दर विदेशी कपड़ेके बहिष्कारका एकमात्र कारगर साधन है। उन्होंने शराबका परित्याग करनेपर भी बल दिया।

आगे बोलते हुए उन्होंने कहा कि १९२१ में मैंने जो बात कही थी उसे मैं फिर दोहराऊँगा, और वह यह कि जबतक सभी सम्प्रदायोंके बीच एकता नहीं होती तबतक स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। एक सम्प्रदाय-विशेष निःसन्देह अहिंसापूर्ण असहयोग जारी रख सकता है। मैं व्यक्तिगत रूपसे सरकारके साथ असहयोग कर ही रहा हूँ लेकिन इससे देशको स्वराज्य नहीं मिल गया है। अगले वर्ष जनताका कोई वर्ग या कोई प्रान्त या कोई ताल्लुका अहिंसापूर्ण असहयोग आरम्भ कर सकता है, लेकिन कांग्रेस चाहती है कि समस्त देश इस संघर्षके लिए तैयारी करे। फिर, स्वामी श्रद्धानन्द और लालाजीने हमें दलित वर्गोंके प्रति हमारा कर्त्तव्य बताया था। मैं सनातनी हिन्दू होनेका दावा करता हूँ, हालाँकि मुझे भय है कि मेरे इस दावेको बहुतसे लोग नहीं मानते। लेकिन पण्डित मदनमोहन मालवीय भी, जिनको सभी लोग एक सच्चा सनातनी हिन्दू मानते हैं, अछूत भाइयोंको गंगाके पवित्र तटपर ले जाकर उन्हें पवित्र मन्त्रकी दीक्षा और नेक सलाह दे रहे हैं और हिन्दुओंमें मिला रहे हैं।

[अंग्रेजीसे]
ट्रिब्यून, ७-२-१९२९

९. तार: मोतीलाल नेहरूको

[४ या ५ फरवरी, १९२९][1]

आपका तार मिला। सिन्धका दौरा पन्द्रहको समाप्त होगा। समिति [सदस्यों]को इतनी देर नहीं रोक सकता। मेरा सुझाव है कि आप प्रतिनिधि या प्रतिनिधियोंको सोलहके बाद साबरमती भेजें। कराचीमें बुधवारतक हूँ।[2]

गांधी

अंग्रेजी (एस० एन० १५३२७)की फोटो-नकलसे।

१. यह मोतीलाल नेहरूके ४ फरवरीके तारके उत्तरमें था जिसमें कहा गया था: "विदेशी कपड़ेके बहिष्कार-कार्यक्रमपर कार्य समिति आपसे परामर्श करना आवश्यक मानती है। सिन्धसे लौटते समय या किसी अन्य तिथिको, समितिसे मिलनेके लिए क्या आप एक दिनके लिए दिल्ली या लाहौर आ सकते हैं? तार दें।"

२. गांधीजीके इस तारके उत्तरमें मोतीलाल नेहरूने ५ फरवरीको यह तार दिया: "पूरी समितिके साथ आपका परामर्श ज्यादा अच्छा। समितिके कई सदस्य दिल्लीमें रुके रहेंगे। किसी भी हालतमें अन्य [सदस्य] वापस लौट सकते हैं। आपकी उपस्थितिसे पंजाबकी समस्या सुलझानेमें भी मदद मिलेगी।"

१०. भाषण: भारत सरस्वती मन्दिर, करांचीमें[1]

५ फरवरी, १९२९

गांधीजीने राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओंके बने रहनेका औचित्य बताते हुए छोटा किन्तु जोरदार भाषण दिया। उन्होंने कहा, राष्ट्रीय शालाएँ असहयोग आन्दोलनका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण फल हैं। उनकी संख्या घट गई है, यह दुर्भाग्यकी बात है; इससे माता-पिताओंकी उदासीनता प्रकट होती है। जो संस्थाएँ देशके निराशाजनक राजनीतिक वातावरणके बावजूद अब भी कायम हैं वे मरुभूमिमें नखलिस्तानोंकी तरह हैं और मुझे विश्वास है कि उस भयंकर संकटकी घड़ीमें ये शालाएँ राष्ट्रके आवाहन का उत्तर देंगी जिस समय कि महलों सरीखे स्कूलों और कालेजोंके छज्जे सैनिकोंकी बारकें बनी हुई होंगी जहाँसे वे स्वतन्त्रताकी लड़ाई लड़नेवालोंको गोलियोंसे भून रहे होंगे। बारडोलीके सरदार जो विलक्षण कार्य करके दिखा सके वह उन स्वयंसेवकोंके बल पर ही जो गुजरातकी राष्ट्रीय शालाओंसे सीधे प्राप्त हुए थे, अथवा जो उस सेवा-भावनाके वातावरणकी उपज थे जो इन राष्ट्रीय शालाओंने अपने चारों ओर उसी प्रकार फैला दिया था जिस प्रकार कि एक पुष्पोद्यान अपने चारों ओरके वातावरणको सुवासित कर देता है। राष्ट्रीय शालाओं द्वारा उत्पन्न यही वातावरण था जिसने १९२७ की असाधारण बाढ़के बाद गुजरातमें पैदा होनेवाले संकटके दौरान वल्लभभाईको दृढ़ और कठिन परिश्रमी स्वयंसेवकोंकी वह फौज प्रदान की थी जिसकी सहायतासे सरदार इस संकटसे गुजरातको उस समय उबार सके, जब कि सरकारी तन्त्र लोगोंको सहायता पहुँचानेमें बिलकुल असमर्थ सिद्ध हो चुका था।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित गांधीजीकी सिन्ध यात्राके विवरणसे लिया गया है।

११. भाषण : अस्पृश्योंकी सभा, कराचीमें[1]

५ फरवरी, १९२९

अस्पृश्योंने अपने अभिनन्दनपत्रमें गांधीजीसे कहा था कि वे उनके लिए और सहायताकी व्यवस्था करायें। इसका उत्तर देते हुए गांधीजीने कहा कि आप लोगोंको जो सहायता प्राप्त हो चुकी है, पहले आप अपनेको उसके योग्य बनाइए, और उसके बाद आपको बिना माँगे अपने-आप आपकी जरूरतसे भी ज्यादा मिल जायेगा। उन्होंने कहा, आप शराब, जुआ, मुर्दा जानवरोंका मांस खाना छोड़िए और सफाई तथा स्वच्छताके नियमोंका पालन कीजिए। यदि आप अपने अन्दर ये सुधार लानेमें सफल हो गये तो फिर आपको आगे बढ़नेसे कोई नहीं रोक सकता। आप अपने पेशेको लेकर कभी लज्जाका अनुभव न करें। मेरे विचारसे आपका पेशा बहुत भला, पवित्र और मानवजातिके अस्तित्वके लिए आवश्यक है। भंगियोंने लाला लाजपतराय स्मारकके लिए गांधीजीको एक थैली भेंट की।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१२. भाषण : 'दलित' वर्गोंकी सभा, कराचीमें[2]

५ फरवरी, १९२९

गांधीजीने कहा कि आप लोग राजपूतोंके वंशज[3] होनेका दावा करते हैं, यह अच्छी बात है, लेकिन आप अपने आचरण द्वारा उन गुणोंको प्रदर्शित करके अपना दावा सिद्ध कीजिए जो कि शास्त्रोंने राजपूतोंमें गिनाये हैं। आप लोगोंको स्त्रियोंके प्रति सम्मान दिखाना चाहिए और निर्भीकताकी साक्षात् प्रतिमूर्ति होना चाहिए। आपमें निर्बलों और असहायोंकी रक्षा करनेकी क्षमता होनी चाहिए और जिस प्रकार आपने मुझसे सहायताकी याचना की है, उस प्रकारकी याचना आपको कभी नहीं करनी चाहिए।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१ और २. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित गांधीजीकी सिन्ध-यात्राके वर्णनसे लिया गया है।

३. 'दलित' वर्गोंके सदस्योंने अपनेको मायावंशी राजपूत बताया था।

१३. भाषण : सिखोंकी सभा, कराचीमें[1]

५ फरवरी, १९२९

गांधीजीने श्रोताओं[सिखों]को बताया कि न तो मुसलमानों और न हिन्दुओंका ही ऐसा कोई इरादा है कि वे अपना अनन्य शासन स्थापित करें। कुछ व्यक्तियोंके भाषणोंसे आपको यह नहीं मान बैठना चाहिए कि ऐसे लोग सारे हिन्दू-समाज या सारे मुसलमान-समाजकी राय व्यक्त कर रहे हैं, और सबसे बड़ी बात तो आपको यह नहीं भूलनी चाहिए कि अगर कोई एक सम्प्रदाय ऐसी कुटिल इच्छा रखता भी हो तो उसको निराशा ही हाथ लगेगी। अगर एक जाति पर किसी दूसरी जातिका शासन होना ही है, तब तो अंग्रेज लोग हैं ही जिनके पास इतने साधन और इतनी शक्ति है कि वे अपना शासन सुरक्षित रख सकें। वर्तमान परिस्थितियोंमें दो ही बातें सम्भव हैं : एक तो यह कि जिन विभिन्न वर्गोंसे मिलकर भारत राष्ट्र बना है, उन सभी वर्गोंके सम्मिलित प्रयाससे मौजूदा (ब्रिटिश) शासनका अन्त और स्वराज्यकी स्थापना हो; या दूसरी यह कि हमारी मौजूदा गुलामी चिरस्थायी हो जाये। गांधीजीने कहा – यह सही नहीं है कि कांग्रेस अथवा नेहरू-रिपोर्टने सिखोंके दावोंकी उपेक्षा की है। उन्होंने उनको याद दिलाया कि नेहरू रिपोर्टमें जो सिफारिशें की गई हैं वे सिख-प्रतिनिधियोंकी सहमतिसे ही की गई हैं, और फिर सर्वदलीय परिषदका समापन करनेके बजाय उसे स्थगित ही इसलिए किया गया है ताकि अन्य चीजोंके अलावा, उसमें सिखोंके प्रतिनिधित्वके सवालपर भी विचार किया जा सके। औपनिवेशिक स्वराज्यके बारेमें की गई शिकायतके सिलसिलेमें गांधीजीने अपनी सर्वविदित राय पुनः दोहराई और सिखोंसे अनुरोध किया कि वे धीरज रखें और कांग्रेसमें, और इस प्रकार अपने आपमें, विश्वास न खोयें। क्योंकि, उन्होंने कहा, कांग्रेसका रूप वही तो हो सकता है जो सब लोग मिल कर उसे देंगे। राष्ट्रकी इच्छासे अलग कांग्रेसका कोई अस्तित्व नहीं है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित गांधीजीकी सिन्ध-यात्राके वर्णनसे लिया गया है।

१४. भाषण: डी० जे० एस० कालेज हॉल, कराचीमें

५ फरवरी, १९२९

बहनो और भाइयो,

मैं आपको अभिनन्दनपत्र[1] तथा इस थैलीके लिए धन्यवाद देता हूँ, जिसे आपने लालाजी स्मारक कोषके लिए एकत्र किया है। आपने मुझे जो कुछ दिया है वह सब धन कोषमें चला जायेगा; मेरे पास नहीं रहेगा। आपने अभिनन्दनपत्रमें मेरी प्रशंसा में बहुत-सी बातें कही हैं। तथापि, अंग्रेजीमें एक कहावत है जिसकी मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ। वह कहावत है: "अनुकरण करना सबसे सच्ची स्तुति है।" यदि मैं किसीकी प्रशंसा करता हूँ तो वह व्यक्ति जो-कुछ कहता है उसके अनुसार मुझे कार्य अवश्य करना चाहिए। लेकिन मैं देखता हूँ कि आपने ठीक इसका उलटा किया है। आपने मेरी प्रशंसा करके जैसे मुझे आसमान पर बैठा दिया है, लेकिन मेरी इच्छाके अनुसार एक भी काम नहीं किया। इस प्रशंसासे मुझे कोई लाभ नहीं हुआ, और न आपको ही। आपने क्या किया है? आपने मुझे अंग्रेजीमें लिखा हुआ एक अभिनन्दनपत्र भेंट किया है। उसमें आपने सराहना-भरे शब्दोंमें मेरे कार्योंका उल्लेख किया है, लेकिन अब यह स्पष्ट है कि आप मुझे समझ नहीं सके हैं। मेरी इच्छा है कि भारतकी सेवा करनेकी इच्छा रखनेवाले सभी छात्र किसी-न-किसी रूपमें कुछ काम अवश्य करें। उन्हें अपनी भाषामें बोलनेकी कोशिश करनी चाहिए। शायद आपका ख्याल था कि यदि आप मुझे सिन्धी भाषामें अभिनन्दनपत्र देंगे तो मैं उसे समझ नहीं सकूँगा। लेकिन वैसी हालतमें आप मुझे उसका एक हिन्दी अनुवाद दे सकते थे। तब मैं आपकी देशभक्तिकी भावनाकी कद्र करता और अभिनन्दनपत्रके लिए आपका आभार मानता। तब मैं कहता, चलो, सिन्धियोंने और कुछ किया हो या न किया हो, कमसे-कम उन्होंने सिन्धी भाषामें अभिनन्दनपत्र देकर मेरी एक सीख पर तो अमल किया। ऐसा नहीं कि मैं अंग्रेजीको बिलकुल हटा देना चाहता हूँ। नि:सन्देह स्वराज्यके अन्तर्गत भारतमें अंग्रेजीका स्थान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी भाषाके रूपमें रहेगा, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसे आपकी मातृभाषाका स्थान हथिया लेने दिया जाये। विदेशी लोग भी जब कभी मुझसे मिलने आते हैं तब वे मेरे सामने कमसे-कम इस बातकी कोशिश अवश्य करते हैं कि हिन्दी या गैर-अंग्रेजीके ज्यादासे-ज्यादा जितने शब्द उनको आते हैं उनको बोलें, और मुलाकातके अन्तमें वे 'वन्देमातरम्' या 'सलाम' कहते हैं। कल एक अंग्रेज महिला अपनी लड़कियोंके साथ मेरे पास आई थीं। मैं उनकी लड़कियोंसे अंग्रेजीमें बोलना चाहता था, पर उन्होंने मुझसे उर्दूमें ही बोलना पसन्द किया। लेकिन आपने क्या किया है? आपने

१. यह अभिनन्दनपत्र लॉ कालेज, इंजीनियरिंग कॉलेज और आर्ट्स कॉलेजके छात्रों द्वारा संयुक्त रूपसे दिया गया था।

तो जैसे मुझसे कहा है: "हाँ, हम जानते हैं कि आपको क्या पसन्द है, लेकिन, हम आपको वही चीज देंगे जो आपको पसन्द नहीं है।" यह तो बिलकुल लोमड़ी और सारसकी कहानीवाली बात हुई। आप जानते हैं कि किस प्रकार दोनोंने एक दूसरेको खाने पर बुलाया और फिर भूखा रखा। आपने मुझे यहाँ इसी प्रकार बुलाया है। आपने मुझे संसारका सबसे महान व्यक्ति कहा है, लेकिन आप शिष्टताकी पहली आवश्यक शर्त भूल गये, जो यह थी कि आप मुझसे मातृभाषामें बोलें। अथवा क्या ऐसा था कि मुझे महात्मापनकी हिमालय जैसी ऊँची हिमाच्छादित ऊँचाई तक उठाकर और अपने आचरण द्वारा मेरा अनुकरण करनेके कर्त्तव्यसे खुदको मुक्त करके आप मेरा मजाक बनाना चाहते थे? मैं मुस्करा रहा हूँ, इससे आप ऐसा न समझें कि मैं दिलमें खुश हूँ। सच कहूँ, तो मैं दिल ही दिलमें रो रहा हूँ। आपको विदेशी कपड़े पहने देखकर मुझे मार्मिक पीड़ा हो रही है। मुझे यह बहुत ही अजीब बात लग रही है। नेहरू रिपोर्टमें सिफारिश की गई है कि स्वराज्यके अन्तर्गत हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा और सरकारी भाषा होगी। लेकिन आप इसपर शायद जवाब देंगे, "ओह, ये सब पुराने विचार हैं जो दकियानूस बुड्ढोंको माफिक आते हैं; हम उनका अनु-करण करने नहीं जा रहे हैं। हम लोग तो 'इंडिपेंडेंसवाले' है।" लेकिन तब मैं आपको जनरल बोथाके उदाहरणकी याद दिलाऊँगा, जिन्होंने बोअर युद्धके बाद दक्षिण आफ्रिकी वार्त्ताके समय ब्रिटिश सम्राट तकके सामने अंग्रेजीमें बोलनेसे इनकार कर दिया था और एक दुभाषिएकी मदद लेकर खुद डच भाषामें ही बोलना पसन्द किया था। स्वतन्त्रता-प्रेमी लोगोंका प्रतिनिधि यही तो कर सकता था। आप अपनी इन गरीब बहनोंके पवित्र हाथोंसे तैयार की हुई हाथकती खादी पहननेसे इनकार करनेका साहस कैसे कर सकते हैं? आपने मुझे खद्दरकी माला पहनाई है; तब फिर आप स्वयं विदेशी कपड़ेके बने कालर पहननेका साहस कैसे करते हैं? अगर कालर पहनना जरूरी ही हो तो आप विट्ठलदास जेराजाणी द्वारा तैयार किये खद्दरके कालर क्यों नहीं पहन सकते? ये दिखावटी विदेशी चीजें सजावट नहीं, बल्कि ये आपकी पैरोंमें पड़ी बेड़ियाँ हैं। क्योंकि इनके कारण प्रतिवर्ष ६९ करोड़ रुपया भारतसे बाहर चला जाता है और इससे भारतको गुलामीकी स्थितिमें रखनेमें मदद मिलती है। इसीलिए मैं चिल्ला-चिल्ला कर कहता हूँ: "लड़को और लड़कियो, देखो, तुम लोग दिखावटकी वस्तुओंपर कितना धन बरबाद कर रहे हो; अपने देशवासियोंकी याद करो जो भूखके कारण मर रहे हैं। तुम्हें एक दिन ईश्वरके न्यायासनके सामने जाकर इस दारुण प्रश्नका उत्तर देना होगा कि "तुमने अपने भाईके साथ क्या बर-ताव किया?" हमारे जनसाधारणकी स्थिति लगातार बदतर होती जा रही है। यहाँतक कि हमारा व्यापार भी हमारे शोषणका एक साधन बना लिया गया है। सामान्यतः व्यापारकी तरक्कीके साथ-साथ समृद्धि भी बढ़ती है, लेकिन भारतमें स्थिति इसके ठीक विपरीत है। हमारा विदेशी व्यापार राष्ट्रीय समृद्धिको बढ़ानेके बजाय हमारे करोड़ों कारीगरोंके मुँहकी रोटी छीननेका साधन बन गया है। निःसन्देह आपका कराची, जो भारतका प्रवेश-द्वार है, बम्बई, मद्रास और कलकत्ताकी तरह

समृद्ध होता जा रहा है। यहाँ जमीन मिलना मुश्किल है और उसकी कीमत दिनों-दिन बढ़ रही है। इस बातसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत अमीर होता जा रहा है, लेकिन यह निष्कर्ष मिथ्या होगा। श्री राजगोपालाचारीने एक सुन्दर चार्ट तैयार किया है, जिसमें इस विरोधाभासको अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। उस चार्टमें यह दिखाया गया है कि आप जब खादी खरीदते हैं तब आपकी दी हुई पाई-पाई किस तरह भारतके गरीब मेहनतकशोंकी जेबमें जाती है जब कि विदेशी कपड़ेका इस्तेमाल करनेपर आप उसका जो भी मूल्य चुकाते हैं उस मूल्यमें से ९५ प्रतिशत देशके बाहर चला जाता है और केवल लगभग ५ प्रतिशत हमारे देशवासियों की जेबमें बचता है। हमारे व्यवसायी लंकाशायरके दलाल बनकर रह गये हैं और उक्त शोषणमें अपने भागके रूपमें वे जो ५ प्रतिशत पाते हैं उसीके कारण कराची, बम्बई और हमारे अन्य बड़े-बड़े बन्दरगाहोंकी शान-शौकत बनती दिखाई देती है। लॉर्ड सेलिसबरीने एक ऐतिहासिक अवसर पर कहा था कि चूँकि हिन्दुस्तानका रक्त निकालना है इसलिए उसके उस हिस्सेमें नश्तर लगाना होगा जहाँ रक्त ज्यादा इकट्ठा हो गया है। यदि लॉर्ड सेलिसबरीके जमानेमें भी रक्त खींचकर राजस्व प्राप्त करनेका तरीका अपनानेकी जरूरत थी तो आज, जब भारत इतने वर्षोंके शोषणके बाद कहीं अधिक गरीब हो गया है, उस तरीकेका इस्तेमाल करनेकी जरूरत कितनी ज्यादा न होगी। फिर क्या आपने कभी इस बातपर विचार किया है कि आप जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं इसकी देशको क्या कीमत देनी पड़ती है? अर्थशास्त्रके विद्यार्थी होनेके नाते आपको जानना चाहिए कि शिक्षापर सरकारी खजानेसे जितना रुपया खर्च किया जाता है उसका एक बहुत ही नगण्य अंश आपकी फीसके रुपयोंसे पूरा हो पाता है। क्या आपने कभी सोचा है कि बाकी धन कहाँसे आता है? यह रुपया गरीबोंकी जेबसे आता है — उड़ीसाके चलते-फिरते नर-कंकालोंकी जेबसे आता है। वे नहीं जानते कि कालेजकी शिक्षा क्या होती है, उनकी आँखें बुझी-बुझी हैं; उनके शरीर सूखे हुए हैं। जब कोई अमीर गुजराती बनिया या कोई धनी मारवाड़ी वहाँ जाता है तो वह उन नर-कंकालोंके आगे कुछ मुट्ठी अधपका भात फेंक आता है और इस प्रकार ये नर-कंकाल किसी प्रकार अपनेको जीवित रख पाते हैं। आपने इन लोगोंके लिए क्या किया है? और न आपको यह बात ही भूलनी चाहिए कि आपकी शिक्षा का खर्च आबकारीसे प्राप्त होनेवाले उस बदनाम राजस्वसे पूरा किया जाता है जो आपके कितने ही देशवासियोंके नैतिक पतनका कारण है। अगर लालाजीकी आत्मा इस हालमें मौजूद है तो निश्चय ही वह कहेगी, "सिन्धने मेरे स्मारकके लिए इतना अधिक धन तो दिया, लेकिन जब इतने सारे लोग भूखसे पीड़ित हैं तब क्या इस तरीकेसे स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता हैं?" आपने इतना सारा धन दिया है लेकिन उससे लालाजीकी आत्माको सन्तोष नहीं है और न ही मैं सन्तुष्ट हूँ। हालाँकि मैं ऊपरसे खुश दिखाई पड़नेकी कोशिश कर रहा हूँ और आपको हँसानेकी कोशिश कर रहा हूँ, लेकिन मैं दिल ही दिलमें रो रहा हूँ। आप इस तरीकेसे स्वराज्य कैसे प्राप्त कर सकते हैं? स्वराज्य केवल वही लोग पा सकते हैं जो अपनी छाती संगीनों

से बिंधवानेको तैयार हों, जो राष्ट्रके लिए जेलोंमें कैद होने और यन्त्रणा पानेकी कामना करते हों; और जब उन्हें वध-स्थल पर ले जाया जाये तो यह कहकर अपनी आँखोंपर पट्टी बँधवानेसे इनकार कर दें कि "हमारी आँखोंपर पट्टी क्यों बाँधते हो, हम तुम्हारे फरसेकी तेज धारसे नहीं डरते; तुम अपना काम करो, हमें कोई भय नहीं है क्योंकि हम जानते हैं कि देशभक्तों के खूनमेंसे ही स्वतन्त्रताका पूर्ण विकसित फूल उपजेगा।" आप लोग अत्युत्साही मालूम होते हैं। इस हालके बाहर बहुत-से लोग खड़े हैं जिन्हें यदि अपने मनकी करने दी जाये तो वे शीशे तोड़कर जबर्दस्ती अन्दर घुस आयेंगे। लेकिन मैं आपको याद दिला दूँ कि मैंने आपको कसौटी पर कसा और आप परीक्षामें विफल रहे हैं। एक और बात है जो मैं आपको बताना चाहता हूँ। १९२७ में बाढ़के दिनोंमें प्रो० नारायणदास मलकानीने मुझे यहाँके संकटके बारेमें लिखा था। उन्हें गुजराती स्वयंसेवकोंको बाहरसे यहाँ बुलाना जरूरी लगा था। क्या यह शर्मकी बात नहीं है कि आपको इस बातकी जरूरत महसूस हो कि गुजराती स्वयंसेवक यहाँ आयें और आपकी सेवा करें? आप ज्यादासे-ज्यादा बाहरसे आर्थिक सहायता कबूल कर सकते हैं; लेकिन क्या यह लज्जाकी बात नहीं कि आप गुजरातसे आदमियोंकी सहायताकी माँग भी करें? अपने प्रोफेसरोंकी सारी शिक्षाओंके बावजूद, अपने तमाम ज्ञानके बावजूद, आप अपनी मदद स्वयं करनेको तैयार नहीं। फिर एक तीसरी चीज है जो और भी महत्त्वपूर्ण है। मुझे बताया गया है कि किसी सिन्धी युवकके सामने जब विवाहका प्रस्ताव रखा जाता है तो वह फौरन अपने भावी ससुरके खर्चे पर इंग्लैंड भेजे जानेकी इच्छा व्यक्त करता है और शादीके बाद भी अपनी पत्नीके पितासे पैसा ऐंठनेका कोई मौका हाथसे नहीं जाने देता। आप लोग अपने आपको बहुत चतुर समझते हैं। आप लोग खूब पैसा पाते हैं और बैरिस्टर या आई० सी० एस० बननेकी कोशिश करते हैं। अब भला इस सबका क्या मतलब होता है? इस प्रकार आप अपनी ही स्त्रियों, अपनी ही पत्नियोंके ऊपर अत्याचार करते हैं। हमारी भाषामें पत्नीको अर्धांगिनी कहा गया है। लेकिन आपने तो उसे केवल क्रय-विक्रयकी वस्तु बना डाला है। हिन्दीमें एक शब्द है अर्धांगवायु। क्या मुझे कोई अर्धांगवायुके लिए सटीक अंग्रेजी शब्द सुझा सकता है? (दीर्घामें से एक आवाज: 'पैरेलिसिस') हाँ, इसके लिए 'पैरेलिसिस' बिलकुल ठीक शब्द है। यह दिखाता है कि आप हिन्दी भली प्रकार जानते है और श्री ललाने जो अंग्रेजीमें अभिनन्दनपत्र भेंट किया इसके विरुद्ध हमें एक निन्दा प्रस्ताव पास करना चाहिए। . . . तो मैं यह कहने जा रहा था कि समाजमें आज दिखाई पड़नेवाली अर्धांगवायु या फालिजकी इस स्थितिके लिए आप पुरुष द्वारा समाजके दूसरे अर्धांगका दमन ही जिम्मेदार है। आपने मिल्टन, ब्राउनिंग और विटियरको तो काफी पढ़ा है। क्या आपने उनसे यही सीखा है कि अपनी पत्नियोंको, जिन्हें आपके हृदयकी और घरकी रानी होना चाहिए, आप 'लौंडी' बना दें। धिक्कार है आपपर! आप मुझसे कहिए कि आप भूखे रहेंगे, लेकिन अपनी स्त्रियोंको कभी अपना गुलाम नहीं बनायेंगे। मुझे वचन दीजिए कि देती-लेती प्रथा खतम कर

दी जायेगी। कसम खाइए, कि आप अपनी ही स्वतन्त्रताकी तरह अपनी स्त्रियोंकी स्वतन्त्रताका भी सम्मान करेंगे और स्त्रियोंको उनका सच्चा दर्जा और गौरव प्रदान करनेके लिए आप मर मिटेंगे। अन्यथा याद रखिए, सारा संसार आपको तिरस्कारकी दृष्टिसे देखेगा। अभी कुछ दिन पहले प्रो० नारायणदास मलकानीने मुझे तार किया था कि उन्होंने अपनी लड़कीकी शादीमें दहेजके रूपमें केवल एक साड़ी दी है। वह चाहते थे कि मैं वर-वधूको अपना आशीर्वाद भेजूँ। लेकिन, मैं ऐसा करनेमें हिचकिचाया। क्योंकि एक सिन्धी मित्रने, जिनसे मैंने इसकी चर्चा की, मुझे बताया कि सिन्धमें इतना कम दहेज देकर किसी आदमीके लिए अपनी लड़कीका ब्याह करना असम्भव है। इससे देखा जा सकता है कि आपने अपनी कैसी ख्याति बना ली है। वचन दीजिये कि आज जिस देती-लेती प्रथाके कारण आपकी स्त्रियोंका अपमान होता है उस प्रथाको बनाये रखनेमें आप सहयोग नहीं करेंगे। तब मैं समझूँगा कि आप अपने देशकी स्वतन्त्रताके लिए तैयार हैं। यदि कोई लड़की मेरे संरक्षणमें हो तो मैं उसे भले ही आजीवन कुँवारी रखूँ, लेकिन किसी ऐसे व्यक्तिसे उसका विवाह नहीं करूँगा जो उससे विवाह करनेकी शर्तके रूपमें एक पाई भी माँगता हो। तो आप इन चार चीजोंको याद रखें: अपनी मातृ-भाषाका प्रयोग करें; केवल हाथ-कते, हाथ-बुने वस्त्र ही पहनें; अपनी स्त्रियोंको सामाजिक निर्योग्यताओंसे मुक्त करें और हमारे देशके जो गरीब लोग हैं उनकी मददके लिए कुछ काम करें। अन्तमें मैं आपको चेतावनी देना चाहूँगा कि यदि आप मेरे प्रति श्रद्धा और आदरकी घोषणा कर चुकनेके बाद भी मेरी सलाहके अनुसार आचरण नहीं करते तो आप लोग भाट कहलायेंगे। आपको चाहिए कि आप विदेशियोंको भी अपनी ही भाषामें अभिनन्दनपत्र दें। जिन्हें अभिनन्दनपत्र दिया जाये उनकी सुविधाके लिए आप दुभाषिएकी मददसे अनुवाद करवा दे सकते हैं। जनरल बोथाका उदाहरण ध्यानमें रखिए जो अंग्रेजी जानते थे, लेकिन इसके बावजूद जब वे इंग्लैंडके सम्राट एडवर्डसे मिले तब उन्होंने एक दुभाषिएकी मददसे डच भाषामें ही बातचीत की। यदि आपको गवर्नरको भी अभिनन्दनपत्र देना हो तो अपनी मातृभाषामें ही देना चाहिए। आपको अंग्रेजीका प्रयोग केवल ऐसे अवसरों तक सीमित कर देना चाहिए जब वह नितान्त आवश्यक हो जाये। तभी आप अंग्रेजीके भी साथ न्याय कर सकेंगे। विदेशी ढंगके कपड़े पहनना छोड़नेकी कोशिश कीजिये, क्योंकि वे भारतीय परिस्थितियोंके अनुकूल नहीं हैं। आप गुलाम रहना चाहते हैं या स्वतन्त्र? आपकी अपनी ही बहनों द्वारा तैयार किये गये मोटे कपड़े पहननेमें कोई शर्म नहीं। यदि मेरी माँ मोटी रोटियाँ बनाये, तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि उन्हें मुझे फेंक देना चाहिए और ज्यादा अच्छी रोटियोंके लिए किसी होटलमें जाना चाहिए? नहीं। आप महान् खलीफा हजरत उमरकी कहानी जानते ही हैं; जब उनके सैनिक महीन पिसा आटा और बारीक कपड़ा इस्तेमाल करने लगे तो उन्होंने सैनिकोंसे कहा कि मेरे पाससे चले जाओ, क्योंकि तुम लोग पैगम्बरके सच्चे अनुयायी नहीं हो। पैगम्बर तो हमेशा मोटे आटेकी रोटी खाते और हाथ-कता मोटा कपड़ा पहनते थे। मेरी कामना है कि आप उस

महान और ईश्वर-भीरु खलीफाके जीवनसे कुछ सीख सकते। अब जरा मुझे बतलाइए कि मैंने जिन त्यागोंका उल्लेख किया है आपमेंसे कितने लोग वे त्याग करनेको तैयार हैं? आप तैयार हैं? (सब लड़कोंने तीन बार जोरसे कहा: "हाँ"।)[1]

अंग्रेजी (एस० एन० १६१०५ आर०)से।

१५. पत्र : छगनलाल जोशीको

कराची
बुधवार, ६ फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

पत्र लिखनेका समय तो नहीं है। तुम्हारी मेहनत मैं जानता हूँ। सिन्धका दौरा पूरा होनेपर शायद मुझे दिल्ली जाना पड़े। मुझे मालूम है कि मेरी गैरहाजिरीमें कई काम ज्यादा अच्छी तरह चलते हैं; क्योंकि मेरे उपस्थित रहनेसे होनेवाला शोरगुल, परेशानी आदि तब नहीं रहते।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५३८४)की फोटो नकलसे।

१६. भाषण : पारसियोंकी सभा, कराचीमें[2]

६ फरवरी, १९२९

गांधीजीने हमेशाकी तरह पारसियोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि मुझे यह देखकर तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ कि कराचीके पारसियोंने लालाजी-स्मारक-कोषके लिए कुल मिला कर ७,००० रुपयेकी अच्छी खासी राशि प्रदान की है, लेकिन उन्होंने पारसियोंको याद दिलाया कि पारसियोंकी दानशीलता हालाँकि संसार-भरमें सबसे बड़ी है, लेकिन इतनेसे उन्हें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। मानवताकी सेवाके लिए उन्हें केवल अपना धन ही नहीं, बल्कि अपना कुछ सक्रिय सहयोग देना चाहिए, और ऐसा वे खादीको अपनाकर आसानीसे कर सकते हैं। इस प्रकार वे भारतके करोड़ों अधभूखे गरीबों अर्थात् दरिद्रनारायणके साथ अपना एक अटूट सम्बन्ध

१. बादमें गांधीजीने कराची-भंगी संघके नये पुस्तकालयका उद्घाटन किया। इस अवसरपर भंगियोंने अपने अभिनन्दनपत्रमें कहा कि उन्होंने जीवनको सुधारने और शराब न पीनेका संकल्प किया है। उत्तरमें गांधीजीने कहा कि उन्हें अपने पेशेपर शर्मिन्दा नहीं होना चाहिए और अखबार तथा पुस्तकें पढ़कर मस्तिष्कको सुसंस्कृत बनाना चाहिए।

२. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित गांधीजीकी सिन्ध-यात्राके वर्णनसे लिया गया है।

जोड़ लेंगे। गांधीजीने श्रोताओंसे अपील की कि वे पिछली पीढ़ियोंके महान पारसी दानवीरोंके अध्यवसाय और सादगीका अनुकरण करें और अपने समाजको शराब-खोरीकी लतसे मुक्त करें।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१७. भाषण: छात्रोंकी सभा, कराचीमें[1]

६ फरवरी, १९२९

इस सभामें बोलते हुए गांधीजीने भारतीय छात्रोंसे आग्रह किया कि जैसे इंग्लैंडमें यूरोपीय लोग लेटिन और यूनानी भाषाएँ सीखते हैं उसी प्रकार वे भी दो भारतीय भाषाएँ सीखें। इसके बाद उन्होंने किसी जीवित व्यक्तिको 'महात्मा' कहनेकी रीतिकी निंदा की। उन्होंने कहा कि 'महात्मा' एक प्रशंसासूचक शब्द है जिसका प्रयोग मृत्युके बाद किया जाना चाहिए।

अन्तमें उन्होंने भारतीयोंके लिए सही किस्मका शिरोवस्त्र क्या हो सकता है, इस सवालकी चर्चा की और एक प्रत्यक्ष उदाहरण देकर बताया कि भारतीय लोग साधारणतया सिरपर जो चीज पहनते हैं वह कितनी अस्वास्थ्यकर होती है। अपने पास बैठे एक लड़केकी टोपी दिखाते हुए उन्होंने लोगोंका ध्यान उस धोई न जा सकनेवाली टोपी पर जमी धूल, मैल, तेल और सूखे पसीनेकी ओर दिलाया और कहा कि लोग फिर भी ऐसी गन्दी चीजोंको सालों-साल पहनते रहते हैं और उन्हें फेंकते नहीं, क्योंकि वे कुछ महँगी होती हैं। वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दिया है कि सभी गहरे रंग, खास तौरसे काला रंग, तापको आकृष्ट करते हैं और उसे संरक्षित रखते हैं। भारतमें पहनी जानेवाली टोपियाँ ज्यादातर काले रंग या किसी गहरे रंगकी होती हैं। इसके बाद गांधीजीने प्रस्ताव किया कि जो व्यक्ति अपनी विदेशी टोपीको वहीं उसी जगह जलवा देनेको तैयार हो उसे वह अपनी खद्दरकी बनी गांधी टोपी मुफ्तमें देनेको तैयार हैं। कई सौ छात्रोंने तुरन्त अपनी टोपियाँ दे दीं और कराची कांग्रेस कमेटीके मन्त्री, डा० ताराचन्द लालवानीने सभी विदेशी टोपियोंको इकट्ठा करके अवाक् खड़ी भीड़के सामने उनकी होली जला दी।[2]

[अंग्रेजीसे]
लीडर, १०-२-१९२९

१. गांधीजीके सम्मानमें कराची विद्यार्थी संगमकी ओरसे एक सभाका आयोजन किया गया था।

२. इसके बाद कराचीकी महिलाओं और छात्रोंकी ओरसे गांधीजीको थैलियाँ भेंट की गईं। गांधीजी शामको ७ बजे जैकोबाबादके लिए रवाना हो गये।

१८. मृत्युके बारेमें

मृत्युका आतंक आज भी मनुष्यके लिए सबसे अधिक आतंककारी बना हुआ है। हालाँकि हमारे साहित्यमें बहुत कुछ ऐसा है जो हमें मृत्युकी तरफसे उदासीन रहनेकी शिक्षा देता है, लेकिन ऐसा भी बहुत कुछ है जो हमारे अन्दर मृत्युका मनको ठिठुरा देनेवाला भय पैदा करता है। आजके इस जमानेमें, जब कि हम अपने देशकी सेवाके प्रसंगमें मिलनेवाली मृत्युको आनन्द और सम्मानकी वस्तु समझना चाहते हैं, एक मित्र द्वारा लेकी लिखित 'हिस्टरी ऑफ यूरोपियन मॉरल्स' में से भेजा गया निम्न-लिखित उद्धरण[1] पाठकोंको दिलचस्प लगेगा।

> **[मृत्युके बाद] आत्माका क्या होता है इसके बारेमें पुराने जमानेके दार्शनिकों (स्टोइकों)में काफी मतभेद था और जहाँ उनकी राय एक थी वहाँ भी उनके मतमें एक जैसी निश्चितता नहीं थी। लेकिन वे सभी एकमतसे यह मानते थे कि मृत्यु एक सहज विश्रामकी स्थिति है, और मृत्युको जो एक अत्यन्त आतंककारी वस्तुके रूपमें चित्रित किया जाता है वह एक अस्वस्थ कल्पनाकी उपज है। उनका कहना था कि मृत्यु ही एक मात्र ऐसी बुराई है जिससे हमें कोई कष्ट नहीं होता। जबतक हम हैं, तब तक मृत्यु नहीं है; जब मृत्यु आ गई, तो हम नहीं होते। यह धारणा मिथ्या है कि मृत्यु जीवनके बादकी ही स्थिति है, वह जीवनसे पहलेकी स्थिति भी है। मृत्यु, यानी, जन्म लेनेसे पूर्व हम जैसे थे, वैसे होना। जिस मोमबत्तीको बुझा दिया गया हो, वह उसी अवस्थामें है जिस अवस्थामें वह जलाये जानेसे पूर्व थी, और मृत व्यक्ति अजन्मे मनुष्यके समान है। मृत्यु सभी दुःखोंका अन्त है। वह या तो खुशी लाती है या कष्टोंका अन्त करती है। वह गुलामको उसके क्रूर स्वामीसे मुक्त करती है, बन्दी-गृहके द्वार खोल देती है, पीड़ाकी आशंकाको शान्त कर देती है, गरीबीके संघर्षका अन्त कर देती है। यह प्रकृतिका अन्तिम और सर्वोत्तम वरदान है, क्योंकि यह मनुष्यको सभी चिन्ताओंसे मुक्त कर देती है। अपने बुरेसे बुरे रूपमें मृत्यु एक आनन्ददायी भोजके अन्त जैसी है। हम चाहे मृत्युको अच्छी चीज समझें या उसका भय मानें, लेकिन वह कोई अभिशाप या बुराई नहीं है। मृत्यु तो हमारे शरीरके तत्त्वोंका पंचभूतोंमें मिल जाना मात्र है, और यह हमारी प्रकृतिका एक नियम है जिसकी अधीनता सहर्ष स्वीकार करना हमारा कर्त्तव्य है।**

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ७-२-१९२९

१. यहाँ केवल प्रथम अनुच्छेद ही दिया जा रहा है।

१९. अमानुषिक प्रणाली

बम्बईके इम्पीरियल इंडियन सिटिजनशिप एसोसिएशनने क्रिसमस सप्ताहमें नीचे लिखा संवाद पत्रोंमें छपवाया था :[१]

> **देशकी जनताको याद होगा कि पिछले सितम्बर महीनेमें रायटरने एक संवाद दिया था कि ब्रिटिश गियानासे अपनी जन्मभूमि भारतको लौटनेवाले प्रवासी भारतीयोंमें से ३७ की एस० एस० 'सतलज' जहाज पर मृत्यु हो गई है। . . . इसकी जाँच प्रवासियोंके संरक्षक, मेजर डब्ल्यू० ओ० वाकर, आई० एम० एस० (कलकत्ता), और चौबीस परगनाके कलक्टर श्री ई० एच० ब्लैंडी, आई० सी० एस० ने की थी। सरकारी जाँचकी रिपोर्टमें कहा गया है कि एस० एस० 'सतलज' जहाज पर कुल ७४५ यात्री थे, जिनमें से ३७ की मृत्यु हो गई। इनमें भी ३० तो श्वास-तन्त्रके रोगोंके कारण मरे और बाकीके ७ हृदय रोग, मूत्राशयकी सूजन, आन्त्ररोग, बुढ़ापे और मलेरिया आदिके कारण मौतके शिकार बने थे। आगे चलकर, रिपोर्टमें यह भी कहा गया है कि मरनेवालोंमें ज्यादातर संख्या बूढ़े लोगोंकी थी। ये लोग काफी तन्दुरुस्त न थे और अगर इन्हें अपने वतनको लौटनेकी बहुत ज्यादा फिक्र न होती तो शायद ऐसी कमजोरीकी हालतमें इतनी लम्बी यात्रा करनेकी सलाह इन्हें न दी जाती। रिपोर्ट यह भी कहती है कि इस तरहकी घटना कोई नई नहीं, क्योंकि पिछले वर्षोंमें भी ऐसी घटनाएँ होती रही हैं। सन १९२३ से अबतक जो भारतीय इन जहाजों पर चढ़कर स्वदेश लौटे हैं उनमें से कुछ-न-कुछ बराबर मरते रहे हैं। . . .**

यह संवाद मुझे उस समय मिला, जब मुझे दम मारनेकी भी फुरसत नहीं थी, इसलिए मेरे सहायकने इसे 'यंग इंडिया'की फाइलमें रख छोड़ा था। इस समय जब कि मैं रेलगाड़ीमें बैठा हुआ सिन्धकी ओर जा रहा हूँ, मुझे इस महत्त्वपूर्ण संवादको हाथमें लेनेका मौका मिला है।

जिस राज्य-प्रणालीने हमें गुलाम बनाये रखा है, वह इतनी दुष्ट है कि इन्साफ करनेका ढोंग रचकर इन्साफ न करना उसे खूब आता है। प्रवासियोंको स्वदेश वापस लानेवाले जहाजोंपर गैर-मामूली तादादमें लोग मरते हैं। इसपर कहीं लोगोंका ध्यान न जाए, इस गरजसे खुद अपराधी ही पहलेसे खुली जाँच करानेका ढोंग रचता है, जो वास्तवमें खुली जाँच न होकर उसके काले कारनामों पर सफेदी पोतनेका एक बहाना भर है। जाँच करनेवाले कहते हैं कि ऐसी मौतें तो इन जहाजोंपर हमेशासे

१. इसके कुछ अंश ही यहाँ दिये जा रहे हैं।

होती रही हैं, मानो परम्परा बुराईको भी अच्छाईमें बदल देती हो। जाँच-कमेटीमें दो साहब थे, जिनमें एक तो स्वदेश लौटनेवाले प्रवासियोंके 'संरक्षक' कहे जाते हैं और दूसरे कलेक्टर हैं और ये दोनों ही अपने पेशेके कारण स्वभावसे ऐसी घटनाओंके आदी बन गये हैं। मैं तो इन जहाजोंको भी जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि किस तरह 'निर्वासित' कुली इन जहाजोंपर 'सारडाइन मछलियोंकी तरह एक जगह ठसाठस भर दिये जाते हैं,' (यह उक्ति मेरे अपने दिमागकी उपज नहीं है, इसके जन्मदाता तो वे ही लोग हैं जो कुलियोंको विदेश ले जानेका काम करते हैं) और सो भी ऐसे दरबोंमें जहाँ न तो हवाका पता होता है और न सूर्यकी रोशनीका ही। इसपर हमारे लोगोंकी थोड़ी-सी सर्दीके पड़ते ही धूप और हवासे बचनेकी आदत का ख्याल कीजिए। इस आदतसे उन्हें तब ज्यादा नुकसान नहीं पहुँचता जब लाचार होकर वे लगभग सारे दिन घरके बाहर रहकर काम करते हैं। लेकिन इसका असर उनपर उस समय तो बहुत ही घातक होता है जब एस० एस० 'सतलज' जैसे जहाजके बन्द कैदखाने जैसे कमरोंमें उन्हें करीब-करीब अपनी सारी मुसाफिरी तय करनी पड़ती है।

मेरी रायमें इम्पीरियल इंडियन सिटिजनशिप एसोसिएशनको चाहिए कि वह इस तथाकथित जाँचपर ही सन्तोष न कर बैठे, बल्कि अब चूँकि वह इस भयंकर मृत्युसंख्याकी ओर जनताका ध्यान खींच चुका है इसलिए उसे निष्पक्ष खुली जाँच करवानेकी माँग करनी चाहिए और इस जाँचमें विशेषज्ञों द्वारा कुलियोंको विदेश ले जानेवाले जहाजोंकी बनावटकी भी जाँच करवानी चाहिए। इससे पता चलेगा कि इन दु:खद घटनाओंमें, जिनके बारेमें स्वीकार किया जा चुका है कि वे पहलेसे बराबर होती रही हैं, अनेक विभागोंका हाथ था। साथ ही, इस जाँचसे यह भी मालूम होगा कि इस तरहकी मौतोंके लिए इन जहाजोंके मालिकोंका लोभ जितना जिम्मेदार है उतनी ही जिम्मेदारी है इनके कप्तानों और अधिकारियों द्वारा प्रवासी कुलियोंके प्रति बरती जानेवाली घोर निर्मम उपेक्षाकी, क्योंकि वे लोग प्रवासी भारतीय कुलियोंको अपने समान ही मनुष्य समझकर उनके साथ मनुष्यताका बर्ताव नहीं करते बल्कि उन्हें पशु समझते और वैसा ही व्यवहार करते हैं। सच पूछा जाये तो जहाजोंमें इनकी अपेक्षा पशुओंकी ज्यादा देख-भाल की जाती है, क्योंकि अगर उनकी अच्छी तरह देख-भाल न जायेगी तो उनके मालिक हर्जाना वसूल करेंगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ७-२-१९२९

२०. 'युद्धके प्रति मेरा दृष्टिकोण'

उक्त शीर्षकके अन्तर्गत १३ सितम्बर, १९२८ के 'यंग इंडिया' में प्रकाशित मेरे लेखको[1] लेकर मेरे पास बहुतसे पत्र आये हैं और यूरोपके जो अखबार युद्धके विरुद्ध युद्ध छेड़नेके पक्षमें हैं उनमें भी बहुत-से पत्र छपे हैं। मुझे व्यक्तिगत रूपसे लिखे गये पत्रोंमें से एक पत्र टॉल्स्टॉयके मित्र और अनुयायी, वी० चैरकॉफका है। चूँकि इस पत्रके लेखकका शान्ति-प्रेमी लोगोंमें अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान है, अतः पाठक उनके पत्रको पढ़ना चाहेंगे। वह इस प्रकार है:[2]

> **आपके रूसी मित्र आपको अपना हार्दिक अभिनन्दन भेजते हैं और ईश्वर तथा मानव-जातिके लिए आपकी अनवरत सेवाओंकी अधिकाधिक सफलताकी कामना करते हैं। हम आपके जीवन, आपके विचारों और आपके कार्योंको बड़ी दिलचस्पीके साथ देखते रहते हैं और आपकी हर सफलतापर हर्ष मनाते हैं। हम महसूस करते हैं कि अपने देशमें आपको जो उपलब्धि होती है वह साथ ही साथ हमारी उपलब्धि भी है, क्योंकि हमारी परिस्थितियाँ यद्यपि भिन्न हैं, तथापि हम दोनों एक ही उद्देश्यके लिए कार्य कर रहे हैं। आपने अपनी उपस्थितिसे, अपने जीवनके उदाहरण द्वारा और अपने फलदायी सामाजिक कार्यों द्वारा जो-कुछ दिया है और दे रहे हैं, उसके लिए हम आपके प्रति कृतज्ञता अनुभव करते हैं। हम आपके साथ अत्यन्त गहरी और आनन्ददायी एकताका अनुभव करते हैं।**
>
> **इस वर्ष 'यंग इंडिया' के १३ सितम्बरके अंकमें 'युद्धके प्रति मेरा दृष्टिकोण' शीर्षकके अन्तर्गत प्रकाशित आपका लेख देखकर आपके अनेक प्रशंसकों और मित्रोंको दुःख पहुँचा है। और मैं इस विषयपर अपनी भावनाओं तथा अपने विचारोंको व्यक्त करना आवश्यक समझता हूँ। . . .**
>
> **ब्रिटिश सरकार द्वारा छेड़ी गई पिछली तीन लड़ाइयोंमें आपने जो भाग लिया है उसे आप उचित बताते हैं। इसी विषयको लेकर कुछ वर्ष पहले अपने एक लेखमें, अगर मुझे ठीक याद है तो, आपने कुछ दूसरी ही बात कही थी। उस समय आपने अपने कामको उचित नहीं ठहराया था बल्कि आपने तो पहले ही असंगतिको भी स्वीकार किया था। और मुझे याद है कि अपनी पिछली भूलको जिस तत्परतासे आपने स्वीकार किया था उससे मैं और यहाँ आपके अन्य मित्र बहुत प्रभावित हुए थे और हमें बड़ी सान्त्वना**

१. देखिए खण्ड ३७ पृष्ठ २८१-८३।

२. इस पत्रके केवल कुछ अंश ही यहाँ दिये जा रहे हैं।

मिली थी। लेकिन अब उसके विपरीत आप युद्धके समर्थनमें सामान्य रूपसे रखे जानेवाले तर्कोंकी चर्चा करते हुए अपने उन कार्योंको ठीक बताते हैं। . . .

और न ही इस प्रश्नको इस आधारपर तय किया जा सकता है कि किसीको अमुक सरकारसे सहानुभूति है अथवा नहीं। फिर भी आप वही आधार स्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि आप कहते हैं: "यदि कोई राष्ट्रीय सरकार हो तो मैं ऐसे प्रसंगोंकी कल्पना कर सकता हूँ जब सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले लोगोंको सैनिक प्रशिक्षण देनेके पक्षमें मत देना मेरा कर्त्तव्य होगा।" इस तरीकेसे आप उन दूसरे लोगोंको भी ठीक ठहराते हैं जो किसी दूसरी सरकारके साथ सहानुभूति रखनेके कारण युद्धकी तैयारीका समर्थन करते हैं। इस प्रकार वह व्यक्ति जनताको कितने बड़े भ्रमजालमें डाल देता है, जो एक तरफ तो युद्धका इतना कट्टर विरोधी है कि सेनामें भर्ती होनेसे इनकार करता है, पर दूसरी ओर सैनिक शिक्षाका भी समर्थन करता है?

आगे आप कहते हैं कि "इसके सभी सदस्य अहिंसामें विश्वास नहीं रखते" और यह कि "किसी व्यक्ति या समाजको जबरदस्ती अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।" लेकिन सैनिक शिक्षाके पक्षमें मत न डालकर तो मैं किसीको कुछ भी करनेके लिए विवश नहीं करता, वैसे ही जैसे जेब-कतरोंको प्रशिक्षित करनेके पक्षमें मत न डाल कर मैं जेब-कतरोंके प्रति कोई हिंसा नहीं करता।

आपने बन्दरों द्वारा चट कर ली जानेवाली फसलकी एक मिसाल दी है। लेकिन आप मनुष्योंकी जगह बन्दरोंकी बात लाकर मामलेको गड़बड़ा देते हैं। यदि आपकी फसलपर पशुओंके बदले मनुष्य हमला करें, तो क्या आप मनुष्योंकी जान लेनेके बदले अपनी फलसकी बलि दे देना ही अपना कर्त्तव्य नहीं मानेंगे?

आप कहते हैं कि आपके लिए उस समाजसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना, जिसके कि आप सदस्य हैं, पागलपन होगा, और यह भी कि जबतक आप पशुबल पर आधारित किसी शासन-तन्त्रमें रहते हैं और अपनी खुशीसे उन अनकानेक सुविधाओं तथा विशेषाधिकारोंका उपयोग करते हैं जो वह आपके लिए मुहैया करता है तबतक आपका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जब वह सरकार युद्धमें रत हो तो आप अपनी सामर्थ्य-भर उसकी सहायता करें।

पहली बात तो यह कि मेरे चारों ओरके अन्य लोग जो दुष्कर्म कर रहे हैं उसमें उनका समर्थन न करनेसे मैं न केवल उस समाजसे जिसका कि मैं सदस्य हूँ अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं करता बल्कि इसका ठीक उलटा करता हूँ। मैं अपने इस सम्बन्धका उपयोग सर्वोत्तम ढंगसे समाजकी सेवा करनेके लिए करता हूँ।

दूसरी बात यह कि मैं जिस प्रकारका जीवन जी रहा हूँ यदि उसका मौजूदा तौर-तरीका बनाये रखनेके लिए मुझे युद्धमें राज्यकी सहायता करनी पड़े, तो मुझे जीवनका अपना वह तौर-तरीका हर कीमतपर छोड़ देना चाहिए, भले ही ऐसा करनेमें मुझे अपने प्राणोंका उत्सर्ग करना पड़े, किन्तु मुझे किसी भी प्रकार अपने भाइयोंकी हत्या करनेमें लोगोंकी मदद नहीं करनी चाहिए। इसके अलावा यह भी बिलकुल सम्भव है कि हम हिंसाके प्रयोगके बिना हासिल की जा सकनेवाली सुविधाएँ सरकारसे हासिल करें, उनका उपयोग करें, लेकिन साथ ही सरकारके कुकृत्योंका कोई समर्थन न करें।

शायद, यह गलतफहमी कुछ इस कारण भी पैदा होती है कि आपने हिंसा और हत्याके बीच कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खींची। ऐसे भी मामले होते हैं जब बहुत सावधानीसे विचार किये बिना वास्तवमें यह स्पष्ट बताना कठिन होगा कि निश्चित रूपसे हिंसा की जा रही है अथवा नहीं। लेकिन युद्धके मामलेमें तो सन्देहकी कोई गुंजाइश ही नहीं है कि इसका आधार मनुष्यकी हत्या करना है। इसपर शायद हम दोनों सहमत हैं।. . .

मुझे श्री चैरकॉफको यह विश्वास दिलानेकी जरूरत नहीं कि मैं न केवल उनके इस पत्रका बुरा नहीं मानता बल्कि उनकी हार्दिकताके लिए और खरी ईमानदारीके लिए उसका स्वागत करता हूँ।

इस पत्रमें उठाये गये मुद्दोंका बहुत विस्तारसे उत्तर देनेका मेरा विचार नही है। मैं ऐसा मानता हूँ कि इस विषयपर एक सीमासे आगे बहसकी गुंजाइश नहीं है। यह तो इस गहरे विश्वासका मामला है कि युद्ध विशुद्ध रूपसे एक बुराई है। युद्धसे घृणा करनेमें मैं किसीसे पीछे नहीं हूँ। लेकिन गहरा विश्वास एक चीज है और सही आचरण दूसरी चीज। एक युद्ध-विरोधी अपने ध्येयके हितमें जो-कुछ करता है, मुमकिन है कि दूसरा युद्ध-विरोधी उसे पसन्द न करे और वह कोई ठीक उलटी चीज करे, फिर भी युद्धके सम्बन्धमें दोनोंका विचार एक ही हो। यह विरोधाभास मनुष्य-स्वभावकी चकरा देनेवाली जटिलताके कारण उत्पन्न होता है। इसलिए मैं इतना ही कह सकता हूँ कि एक ही सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवालोंको भी परस्पर सहिष्णुता बरतनी चाहिए।

अब मैं पत्रमें उठाये गये कुछ मुद्दोंको लेता हूँ। मुझे अपना लिखा या कहा गया ऐसा कुछ याद नहीं आता जिसमें मैंने ब्रिटेन द्वारा चलाये गये युद्धोंमें भाग लेनेपर पश्चात्ताप प्रकट किया हो। मैंने शायद इतना ही कहा होगा कि मुझे दुःख है कि मैंने ब्रिटेनकी सहायता की, क्योंकि यह बात मुझे बादमें स्पष्ट हुई कि ब्रिटेनकी नीति भारतके लिए अहितकर और मानवताके लिए खतरनाक थी। यदि मुझे युद्धके रूपमें उन तीनों युद्धोंमें भाग लेनेपर पश्चात्तापका अनुभव हुआ होता, तो मुझे उसकी याद रहती और मैं उसे बार-बार व्यक्त करता रहता — हाँ, इस बीच उन युद्धोंमें अपने भाग लेनेके बारेमें मेरी राय ही बदल गई होती तो दूसरी बात थी।

कार्य-साधकता शब्दका हम जो अर्थ समझते हैं, उसके विचारसे मैंने कोई काम नहीं किया। मैंने अपने किये जिन कार्योंका विवरण दिया है, वे सभी शान्तिके पक्षको दृढ़ बनानेके उद्देश्यसे किये गये थे, ऐसा मेरा दावा है। इसका यह मतलब नहीं कि उन कार्योंसे शान्तिका पक्ष सचमुच मजबूत हो ही गया। मैं तो केवल यह तथ्य रख रहा हूँ कि मेरा अपना मंशा शान्तिको बल पहुँचाना था।

हाँ, यह सम्भावना अवश्य है कि उस समय मैं मानसिक तौर पर इतना दुर्बल या अस्थिर रहा होऊँ और आज भी इतना दुर्बल या अस्थिर हूँ कि अपनी भूलको ठीक उसी प्रकार न देख पाया होऊँ जैसे एक अन्धा व्यक्ति वह नहीं देख सकता जो उसके पड़ोसियोंको दिखाई पड़ता है। मैं रोज देखता हूँ कि हम आत्म-प्रवंचनामें अत्यन्त ही सक्षम हैं। लेकिन फिलहाल मुझे किसी आत्म-प्रवंचनाकी प्रतीति नहीं है। मैं तो यही अनुभव करता हूँ कि जिस माध्यमसे शान्तिको देख रहा हूँ उससे मेरे यूरोपीय मित्र सर्वथा अपरिचित हैं। मैं एक ऐसे देशका वासी हूँ जिसे बलात् निरस्त्र कर दिया गया है और जिसे सदियोंसे दासतामें रखा गया है। इसलिए शान्तिके बारेमें मेरा दृष्टिकोण आवश्यक रूपसे यूरोपीय मित्रोंसे भिन्न होगा ही।

मैं एक दृष्टान्त लेता हूँ। मान लीजिए कि बिल्लियाँ और चूहे हृदयसे शान्तिकी इच्छा करते हैं। तब बिल्लियोंको चूहोंके विरुद्ध युद्ध छोड़ना पड़ेगा। लेकिन चूहे किस प्रकार शान्तिको बढ़ावा देंगे? वे क्या चीज छोड़ेंगे? उनका मत लेना आवश्यक भी है? और मान लीजिए कि बिल्लियाँ उस समझौतेको नहीं मानतीं जिसे बिल्लियोंकी सभामें तय किया गया हो और चूहोंका शिकार करती रहती हैं, तो चूहे क्या करेंगे? मुमकिन है उनमें कुछ ऐसे बुद्धिमान चूहे भी हों और वे कहें: "हम तबतक स्वेच्छापूर्वक अपनी बलि देते रहेंगे जबतक बिल्लियाँ पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो जातीं और शिकार करनेमें उनको रस मिलना बन्द नहीं हो जाता।" चूहे अपने सिद्धान्तका प्रचार खूब करें, लेकिन शान्ति-प्रेमी होनेके नाते उन चूहोंके प्रति इनका क्या रवैया होना चाहिए जो अपने अत्याचारियोंके सामनेसे भागनेके बजाय यह फैसला करते हैं कि वे शस्त्रास्त्रोंसे लैस होकर शत्रुओंका मुकाबिला करेंगे? उनका यह प्रयास व्यर्थ हो सकता है, लेकिन जिन बुद्धिमान चूहोंकी मैंने कल्पना की है मुझे भय है कि वे कर्त्तव्यबद्ध होंगे कि अपना शान्तिका रवैया बरकरार रखते हुए भी अन्य चूहोंको साहसी और शक्तिशाली बननेमें सहायता दें। वे नीतिवश ऐसा नहीं करेंगे, बल्कि इसके पीछे उनका नेकसे-नेक मंशा होगा। मेरा रवैया बिलकुल यही है। चूँकि हम लोग दुर्बल हैं इसलिए अहिंसाको समझना हमारे लिए आसान नहीं है, उसपर आचरण करना तो और भी कम आसान है। हम सबको प्रार्थनामय भावसे और विनम्रतापूर्वक काम करना चाहिए और ईश्वरसे बराबर प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमें विवेकदृष्टि दे; और हमें प्रतिदिन ईश्वरीय प्रेरणा और समझके अनुसार आचरण करनेको सदैव तत्पर रहना चाहिए। शान्तिके एक प्रेमी और समर्थकके नाते आज मेरा कर्त्तव्य यही है कि पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके संघर्षमें मैं अहिंसाके सिद्धान्तपर अविचल रूपसे दृढ़ रहूँ। और यदि भारत इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता

पुनः प्राप्त करनेमें सफल हुआ, तो विश्व-शान्तिके क्षेत्रमें उसका यही सबसे बड़ा योगदान होगा। इसलिए अच्छा यही होगा कि यूरोपीय युद्ध-विरोधी लोग यूरोपमें ऐसा लोकमत तैयार करें जो ब्रिटेनको अपने कदम पीछे हटानेको और भारतका लगातार शोषण करनेसे रोकनेको मजबूर कर दे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ७-२-१९२९

२१. एक और श्रद्धांजलि

पिछले हफ्ते मैंने राइट आनरेबुल श्रीनिवास शास्त्रीको प्रो० बेल द्वारा अर्पित की गई श्रद्धांजलि प्रकाशित की थी।[1] अब चूँकि हमारे इन महान् और नेक देश-वासीका स्वदेश लौटना निकट ही है इसलिए मैं उनको लिखा गया एक लगभग सार्वजनिक पत्र पाठकोंके सामने रखता हूँ।[2] हालाँकि यह पत्र प्रशंसासे भरा हुआ है, लेकिन इसमें एक भी शब्द ऐसा नहीं, जिसके वे पात्र न हों। यह इस बातका प्रमाण है कि श्रीयुत शास्त्रीने किस प्रकार बहुत-से दक्षिण आफ्रिकियोंके दिलमें जगह बना ली है। सरकारी रियायतोंके मुकाबिले यह चुपचाप किया गया हृदय-परिवर्तनका काम दक्षिण आफ्रिकामें बसे हमारे देशभाइयोंके लिए कहीं ज्यादा सहायताप्रद सिद्ध होगा। हृदय-परिवर्तन इन रियायतोंको भी सम्भव बना देता है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ७-२-१९२९

२२. दण्ड-संहिताका आतंक

एक वकील मित्र लिखते हैं:

मैंने ३-१-१९२९ का 'यंग इंडिया' (पृष्ठ ८) पढ़ा। आप लिखते हैं, "यदि इस नवयुवकमें हिम्मत हो तो इसे यह विवाह अवश्य नामंजूर कर देना चाहिए।. . .यदि न समझे तो लड़कों और लड़कियोंको नम्रतापूर्वक विरोध करके धर्मका पालन करना चाहिए।"[3]

हिन्दू विवाहके एक बार हो जाने पर उसके बन्धनको तोड़ा नहीं जा सकता। लड़का अपनी पत्नीको छोड़ सकता है और बड़ा होने पर बादमें जब उसकी इच्छा हो तब दूसरी स्त्रीसे विवाह सकता है। लड़की पुनर्विवाह नहीं

१. देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ ४४६।

२. यह पत्र यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

३. देखिए खण्ड ३७, पृष्ठ १९५।

कर सकती, क्यों कि उच्च वर्गोंमें एक बार विवाह हो जाने पर उसका विच्छेद नहीं किया जा सकता। यदि वह दूसरा विवाह करती है, तो द्वि-विवाहका अपराध करती है। अतः कृपया हमें बताइए कि उस लड़कीका भाग्य क्या होगा जिसका एक बार विवाह हो चुका हो; और जो लड़के द्वारा, जैसा कि आपने सुझाया है, उस तथाकथित विवाहको अस्वीकार कर देनेके बाद दूसरा विवाह नहीं कर सकती। गौड़की दण्ड-संहिता, पृष्ठ २०१९ के अनुसार "और चूँकि हिन्दू पुरुषोंको एकाधिक पत्नियाँ रखनेकी अनुमति है जब कि स्त्रियाँ केवल एक पति रख सकती हैं, अतः जहाँ स्त्रियाँ इस अपराधकी दोषी हो सकती हैं वहाँ पुरुष इस कानूनकी व्यवस्थाओंसे मुक्त हैं।" आपने जिस दम्पतिको सलाह दी है उनको अनिवार्यतः जिस दण्ड-संहिताका पालन करना है उसके अनुसार अब आप कृपया अपनी सलाहमें सुधार कर दें।

मुझे अपनी सलाहमें सुधार करनेकी जरूरत नहीं है। प्रत्येक सुधारकके लिए सर्वोपरि संहिता स्वयं उसका अन्तःकरण ही है। जिस विवाहकी बात मेरे दिमागमें थी वह वास्तवमें विवाह है ही नहीं। लेकिन यदि किसी कानूनी अदालतमें इसके विपरीत निर्णय होता है तो यह कानून सत्यके हितमें चन्द लोगोंके कष्ट-सहनसे सुधर जायेगा, बशर्ते कि लोकमतके प्रभावसे उस कानूनमें पहले ही सुधार न हो गया हो या उस कानूनका प्रयोग ही बन्द न हो चुका हो। अगर हिन्दू समाज अपनी असंख्य कुप्रथाओं से मुक्ति पानेके लिए कानूनी सहायताकी प्रतीक्षा करने बैठेगा तो उसे युगोंतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सुधारोंके इतिहाससे देखा जा सकता है कि कानूनी मान्यता हमेशा सुधार हो चुकनेके बाद आई है, पहले नहीं। हम अनुभवसे भी जानते हैं कि जहाँ कोई कानून लोगोंकी इच्छाके विरुद्ध उनपर थोपा गया है वहाँ वह अपने उद्देश्यमें विफल हुआ है। एक ऐसे मामलेमें, जिसमें एक तथाकथित पति अपनी तथाकथित बाल-पत्नीको, जिसको उसने देखा तक नहीं है, उसके कथित कर्त्तव्यसे मुक्ति दे देता है, उस मामलेमें दण्ड-संहिताकी तलवार उस बेचारी लड़कीके सिरपर लटकानेकी कोई जरूरत नहीं है, जिसे यह भी नहीं मालूम कि उसका कभी विवाह भी हुआ था।

इसके अलावा, इन पत्र-लेखक वकील-जैसे लोगोंको समयका इशारा समझना चाहिए। जिन सुधारोंकी बहुत आवश्यकता है और जिन्हें बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, यदि उन्हें कानूनी पण्डिताई बघारकर और बारीकियाँ निकालकर उनको अनिश्चित कालतक टाला जायेगा तो यह बिलकुल निश्चित है कि हमारा समाज छिन्न-भिन्न होकर रहेगा।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, ७-२-१९२९

२३. प्राजकी घटना

वीमन्स इन्टरनेशनल लीग फॉर पीस ऐंड फ्रीडमकी अन्तर्राष्ट्रीय मन्त्राणीने कुमारी रोलाँको निम्नलिखित पत्र लिखा है:

> **'यंग इंडिया' के अंक ३५ में[1] गांधीका एक सम्पादकीय लेख है जिसका शीर्षक है 'यूरोप जानेवालो, सावधान'। इसमें उन्होंने प्राजकी सभाकी चर्चा करते हुए हमारी लीगका अत्यन्त अनुचित ढंगसे उल्लेख किया है, जो निश्चय ही प्रो० स्टेंडेनेथके अमैत्रीपूर्ण रवैयेका परिणाम है। मैं समझती हूँ कि आपको इस सभाके बारेमें पर्याप्त जानकारी थी और आप इस दुर्भाग्यपूर्ण धारणाको सही कर सकती थीं। मैं नहीं जानती कि श्री रोमाँरोलाँके लिए गांधीको पत्र लिखकर उनकी इस सूचनाको सुधार देना सम्भव होगा या नहीं जो कि उन्हें एक ऐसे सूत्रसे प्राप्त हुई है जो हमारी लीगके प्रति बहुत ही अमैत्रीपूर्ण रवैया रखाता है।**
>
> **मेरी समझमें इसमें कोई सन्देह ही नहीं कि प्राजमें जो-कुछ हुआ उसमें हमारी लीगका कोई दोष ही नहीं था। आस्ट्रियाके सैनिकवादके समर्थक लोग, जिनके कारण इतनी गम्भीर आशंकाएँ उत्पन्न हो रही हैं, विशेष रूपसे गत रविवारके प्रदर्शनोंको लेकर, प्राजकी सभामें विशेष रूपसे जनरल शोनेकको चोट पहुँचानेके उद्देश्यसे काफी बड़ी संख्यामें आ गये थे। सभामें भाग लेनेवाले किसी व्यक्तिने इस बातकी पहलेसे कल्पना नहीं की थी। इन लोगोंको स्वयं भी चोट पहुँचनेका बहुत बड़ा खतरा था। और युद्धके दौरान शान्तिवादी सभाएँ करनेवाले हम लोगोंमें से कइयोंने यह खतरा उठाया भी था। लेकिन यह निश्चय ही बड़े खेदकी बात है कि गांधी हमारे आन्दोलनके विरुद्ध प्रचार करें जो उन्हीं उद्देश्योंको सामने रखकर चल रहा है, जिनकी वे पैरवी करते हैं।**
>
> **मैं समझती हूँ कि शायद इस मामलेमें किसी अन्य व्यक्तिके मुकाबले आप और आपके भाई मामलेको ज्यादा अच्छे ढंगसे ठीक करा देंगे।**

कुमारी रोलाँने यह पत्र मुझे भेजा है। मैं खुशीके साथ इसे प्रकाशित कर रहा हूँ। इस पत्रमें उस सभाका उल्लेख है जिसमें गत वर्ष बाबू राजेन्द्रप्रसादपर हमला हुआ था। हालाँकि ये पंक्तियाँ (मुझे कराची ले जानेवाली ट्रेनमें) लिखते समय मेरे सामने 'यंग इंडिया' का वह अंक नहीं है, लेकिन मुझे विश्वास है कि उसमें मेरे जिस लेखका उल्लेख किया गया है उसमें लीगकी कोई आलोचना नहीं है, न कोई आक्षेप ही लगाया गया है। मैंने राजेन्द्र बाबूसे बात की थी और उनकी भी यह निश्चित

१. देखिए खण्ड ३७, पृष्ठ २२७-८।

राय है कि उन पर जो हमला किया गया था उससे लीगका कोई सम्बन्ध न हो सकता था और न था। इसलिए मैं आशा करता हूँ कि जो लोग ऐसा समझते हैं कि मेरे लेखमें महिलाओंकी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और स्वतन्त्रता लीगपर कोई आक्षेप किया गया था वे यह विचार अपने दिमागसे निकाल देंगे। लीगके सदस्योंको जो कष्ट पहुँचा, उसके लिए मुझे दुःख है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, ७-२-१९२९

२४. तार : जवाहरलाल नेहरूको

जैकोबाबाद
७ फरवरी, १९२९

जवाहरलाल नेहरू
क्लाइव रोड, नई दिल्ली

तुम्हारा तार मिला। सत्रहको कार्य-समितिमें शामिल हो सकता हूँ। शिकारपुरके पतेपर तार दो।

गांधी

[अंग्रेजीसे]
गांधी-नेहरू कागजात, १९२९
सौजन्य : नेहरू स्मारक संग्रहालय

२५. पत्र : मीराबहनको

जैकोबाबाद,
७ फरवरी, १९२९

चि० मीरा,

मुझे तुम्हारे सभी पत्र मिल गये। और वे सब अच्छे हैं। तुम्हारे इस माहकी २ तारीखवाले अन्तिम पत्रसे मुझे तुम्हारे अबतकके कामका पूरा ब्यौरा मिलता है। यह बहुत सुन्दर व्यवस्था है। इतना ही है कि परिश्रमसे अपना स्वास्थ्य न बिगाड़ लेना। अति न करना। अगर पौने चार बजे प्रातःकालसे शुरू होनेवाले इस सारे कठोर कार्यक्रमको बरदाश्त कर सको, तो इससे अच्छा और क्या हो सकता है? लेकिन इससे तुमपर बहुत जोर पड़ता दीखे, तो उसे बदलकर आसान बना लेनेमें हिचक मत करना।

मैंने यह नहीं कहा था कि के० के बारेमें तुम्हारी सारी धारणा अनुमानोंपर आधारित है। मुझे झूठ बोलनेके बारेमें पता है। लेकिन जब उसने अपना अपराध

स्वीकार कर लिया, हालाँकि वह काफी नहीं था, तो वह बात समाप्त हो गई थी। मेरा आशय इतना ही था कि कलकत्तेमें और उसके बाद तुमने जो धारणा बनाई, और जिससे तुम्हारी मूल धारणाकी पुष्टि होती थी, वह अनुमानोंपर आधारित थी। लेकिन इस विषयमें मैं तुमसे कोई आग्रह नहीं करूँगा। बस इतना ही कि अपने आपको उसके विरुद्ध पूर्वग्रहसे ग्रस्त न हो जाने दो। जहाँतक मेरी बात है, बादके अनुभवसे मेरी यह राय पुष्ट होती है कि वह एक साफ और अच्छा आदमी है। उसके कुछ तौर-तरीके अवश्य ऐसे हैं जो आकर्षक नहीं हैं, लेकिन दुनियामें सर्वथा निर्दोष कौन है? चलो, इस प्रश्नपर हम दोनोंमें मतभेद ही सही। तुम्हें प्रार्थना करनी चाहिए कि मेरी धारणा सही साबित हो, इसलिए नहीं कि वह मेरी धारणा है, बल्कि इसलिए कि वह मुझ-जैसे एक मानवके अनुकूल है।

मालूम होता है रसिक नही बचेगा। अभीतक वह बेहोश और लाचार पड़ा है। यह भयंकर बात है। इस दुःखान्त नाटकका नायक देवदास है। वह उसकी सेवा कर रहा है और जो लोग महज तमाशा देखने दिल्ली गये हैं उन्हें भी सँभाल रहा है। अब रसिककी मौसी भी वहाँ पहुँच गई है। उसे हरिलालके बच्चोंसे बड़ा प्यार है।

मेरी तबीयत अच्छी है और मैं परिश्रमको बिना कठिनाईके बरदाश्त कर रहा हूँ। अलबत्ता अभी भोजनमें दूध नहीं ले रहा हूँ। यात्राके दौरान मैं नारंगी लेता हूँ, लेकिन अन्यथा खुराक साबरमती-जैसी ही है। ठंड सहने योग्य है।

सप्रेम,

बापू

अंग्रेजी जी० एन० ९३९६ तथा (सी० डब्ल्यू० ५३४१)से भी।
सौजन्य : मीराबहन

२६. भाषण : सार्वजनिक सभा, जैकोबाबादमें[1]

७ फरवरी, १९२९

गांधीजीने अपने भाषणमें विभिन्न समितियों और संगठनोंको लालाजी स्मारक के लिए अपनी-अपनी थैलियाँ देकर अपने देश-प्रेमका परिचय देनेके लिए धन्यवाद दिया, किन्तु साथ ही उन्हें पृथकतावादी प्रवृत्ति पैदा करनेके खतरेसे सावधान भी किया।[2] उन्होंने पूछा कि आप सभी लोग मिलकर अपनी ओरसे एक संयुक्त थैली

१. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है। इस सभामें गांधीजीको सात भिन्न-भिन्न संगठनोंकी ओरसे थैलियाँ और अभिनन्दनपत्र भेंट किये गये थे।

२. सभाके संयोजकोंने इस भयसे कि सनातनी हिन्दुओंको उसी सभामें ही अछूतोंके शामिल होने पर आपत्ति हो सकती है, अछूतोंकी एक अलग सभाका आयोजन किया था। इसका पता चलने पर गांधीजीने कहा : आप अपनी थैलियाँ और अभिनन्दनपत्र अपने पास रखिए। मैं केवल अछूतोंकी सभामें ही भाग लूँगा। और लोग चाहें तो आयें और वहीं अपने अभिनन्दनपत्र भेंट करें।"

क्यों नहीं भेंट कर सकते थे? क्या मैं इसका यह मतलब लगाऊँ कि आप लोगोंको एक भी ऐसा आदमी नहीं मिल सका जिसे आप सब मिल कर अपना प्रतिनिधि स्वीकार कर सकें? फिर, मुझसे कहा गया है कि लालाजी स्मारक कोषके लिए लोग और उदारतापूर्वक चन्दा देते, बशर्ते उन्हें यह आश्वासन होता कि सिन्धमें इकट्ठा किये गये धनका एक बड़ा हिस्सा सिन्धमें ही खर्च किया जायेगा। मुझे दिया गया यह सुझाव संकीर्ण दृष्टिकोणका द्योतक है। मैं चाहता हूँ कि आप ऐसा मानें कि भारतकी सेवामें ही सिन्धकी भी सेवा है। और चूँकि इस कोषकी एक-एक पाईका उपयोग भारतकी सेवाके लिए किया जायेगा, इसलिए कोषसे प्राप्त होनेवाले लाभमें सिन्धका अपने चन्देकी हद तक ही नहीं, बल्कि सारे कोषकी हद तक हिस्सा होगा। लालाजीकी सर्वेंट्स ऑफ द पीपुल सोसाइटीकी सेवाकी भारतके जिस हिस्सेको भी सबसे ज्यादा आवश्यकता होगी, वह उस सेवाको माँग सकता है। यह सोसाइटी भारतके सभी हिस्सोंसे सदस्य बनानेकी कोशिश कर रही है। यदि सिन्धसे अभीतक कोई व्यक्ति सोसाइटीका सदस्य नहीं बना तो दोष उसका नहीं, सिन्धका ही है। अन्तमें, चूँकि लालाजी स्मारक कोषका एक हिस्सा अस्पृश्यता सम्बन्धी कार्यके लिए नियत है, इसलिए यदि आप सिन्धके अस्पृश्योंमें काम करनेकी एक उपयुक्त योजना तैयार करें तो आप आर्थिक सहायताके लिए कोषके न्यासियोंसे प्रार्थना कर सकते हैं और आपकी माँग पर अनुकूल विचार किया जायेगा। इसके बाद गांधीजीने कार्यकर्ताओंसे जोरदार अपील की कि वे अपने हृदयसे व्यक्तिगत द्वेष, सन्देह और अविश्वासकी भावनाएँ निकाल दें जिसके कारण सिन्धका राजनीतिक वातावरण विषाक्त हो रहा है और सारी उपयोगी गतिविधियाँ लगभग ठप हुई जा रही हैं। उन्होंने कहा, मुझे यह देख कर बहुत पीड़ा पहुँची है कि जयरामदास-जैसे व्यक्तिपर भी, जिन्हें मैं भारतका शत-प्रतिशत अच्छा सेवक समझता हूँ, लांछन लगाये गये हैं। परस्पर निन्दा करनेके बजाय आप लोगोंको इस वर्षका उपयोग आत्म-शुद्धि करके और कांग्रेसको शुद्ध बनाकर उस अग्नि-परीक्षाके लिए तैयारी करनी चाहिए जो आगे होनेवाली है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २१-२-१९२९

२७. पत्र : छगनलाल जोशीको

शिकारपुर
८ फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

तुम्हारा पत्र मिल गया है। शिवाभाईका मामला समझ गया हूँ। यह पत्र खाना खाते हुए लिखवा रहा हूँ। सभाका समय हो गया है। मैंने तो वहाँ १६ तारीखको पहुँचनेका विचार किया ही था। किन्तु आजकल सब-कुछ अस्त-व्यस्त हो जाता है। मोतीलालजीने खास तौर पर बुलावा भेजा है; इसलिए दिल्ली जाना पड़ेगा। १७ तारीखको दिल्ली पहुँचना है। १८को सोमवार है इसलिए जल्दसे जल्द १९को ही लौट सकूँगा। रसिकके लिए नहीं गया; अब कार्य-समितिके लिए जाऊँगा। वह जीवित हुआ तो उससे मिल लूँगा। रास्तेमें इतना हल्ला-गुल्ला रहता है कि 'यंग इंडिया'के लिए बड़ी मुश्किलसे लिख पाता हूँ। वह भी कई लोगोंके साथ लड़ाई करनेके बाद। बहुतोंको निराश करना पड़ता है। उनमें तुम भी शामिल हो। भले मेरी इच्छा होती है कि रोज पत्र लिखूँ, पर समय नहीं मिलता।[1]

गुजराती (जी० एन० ५३८५)की फोटो-नकलसे।

२८. भाषण : छात्रोंकी सभा, शिकारपुरमें[2]

८ फरवरी, १९२९

गांधीजी छात्रोंके समक्ष खादी पहननेके कर्त्तव्य पर बोले। लेकिन लड़के कुछ शरारतपर उतारू थे। गांधीजीने जब पूछा कि खादीके बारेमें मैंने जो कुछ बताया है, क्या उसके बाद भी आप लोग विदेशी वस्त्र पहनेंगे तो सबके सब एक साथ जोरसे बोले : 'सब पहनेंगे, सब पहनेंगे।' गांधीजीने इसके बाद पूछा कि क्या आपमेंसे कोई ऐसा है जो कभी-कभी झूठ भी बोलता है। कुछ लड़कोंने हाथ उठाकर अपनी इस कमजोरीको हिम्मतके साथ स्वीकार किया, लेकिन उनके अन्दर गम्भीरताका जो भाव पैदा हुआ था उसकी जगह शीघ्र ही फिर विनोदकी भावना छा गई। गांधीजीने तब पूछा कि क्या आपमेंसे कोई ऐसा भी है जो झूठ बोलनेकी आदतसे बाज नहीं आयेगा। लेकिन इस बार एक भी हाथ नहीं उठा और अभी तक लड़कों के जो चेहरे शरारतसे भरे हुए थे उन चेहरों पर गम्भीरता छा गई और किसी

१. पत्र पर गांधीजीकी ओरसे आचार्य कृपलानीके भतीजे गिरधारीके हस्ताक्षर हैं।

२. यह अंश प्यारेलालके साप्ताहिक पत्रसे लिया गया है।

दृढ़ संकल्पसे उनकी मुख-मुद्रामें कुछ खिचाव आगया। गांधीजी यह देखकर बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने लड़कोंको व्यक्तिगत शुद्धता और सत्यकी महानताके बारेमें बताया। [उन्होंने कहा:]

अपने सारे ज्ञान, शिक्षा और विद्वत्ताको एक पलड़ेपर रखो और सत्य तथा शुद्धताको दूसरेपर, और तुम देखोगे कि दूसरा पलड़ा पहलेसे कहीं भारी बैठेगा। अशुद्धताकी सड़ांध आज हमारे स्कूल जानेवाले बच्चोंमें फैल गई है और एक छिपी हुई महामारीको तरह उनको बर्बाद कर रही है। इसलिए लड़को और लड़कियो, मैं तुमसे अपील करता हूँ कि तुम अपने मस्तिष्क और शरीरको शुद्ध रखो। तुम्हारा सारा ज्ञान, शास्त्रोंका तुम्हारा सारा अध्ययन व्यर्थ है, यदि तुम उनकी शिक्षाओंको अपने दैनिक जीवनमें नहीं उतारते। मैं जानता हूँ कि कुछ शिक्षक भी ऐसे हैं जो शुद्ध और स्वच्छ जीवन नहीं बिताते। उनसे मैं कहता हूँ कि वे यदि अपने छात्रोंका दुनिया-भरका सारा ज्ञान भी दे देते हैं लेकिन उनके अन्दर सत्य और शुद्धता पैदा नहीं करते, तो वे अपने छात्रोंको धोखा देते हैं और उन्हें ऊपर उठानेके बजाय पतनके मार्गपर ढकेल देते हैं। ज्ञान सच्चरित्रताके बिना एक ऐसी शक्ति बन जाता है जो बुराईकी ओर ही ले जाता है जैसा कि संसारके बहुतसे चालाक चोरों और 'सफेदपोश कुकर्मियों' के मामलेमें देखा जा सकता है। और अन्तमें शिक्षको और लड़को, मैं तुम्हें बताना चाहूँगा कि लालाजी स्मारक कोषमें भले ही तुम एक भी पाईका चन्दा न दो, लेकिन यदि मनसा, वाचा और कर्मणा अपने-आपको बिल्कुल शुद्ध बना लो तो तुम लालाजीकी आत्मा और देशकी सबसे बड़ी सेवा करोगे।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २१-२-१९२९

२९. भाषण: सार्वजनिक सभा, शिकारपुरमें[1]

८ फरवरी, १९२९

संध्याकी सार्वजनिक सभामें गांधीजीने इस घटनाको[2] मुख्य विषय बनाकर शिकारपुरके बड़े-बड़े व्यापारियोंसे अपील की कि वे अपनी विलक्षण व्यावसायिक प्रतिभा और क्षमताका उपयोग दरिद्रनारायणके न्यासी बननेमें करें, उसके शोषक बननेमें नहीं — जो कि इस समय वे हैं। वे गरीबोंकी जेबसे एक सौ रुपये निकालते हैं जिसमेंसे उन्हें कमीशनके रूपमें केवल पाँच रुपये मिलते हैं, और शेष ९५ रुपये वे उन विदेशी व्यापारियोंको भेज देते हैं जिनके कि वे एजेंट हैं। गांधीजीने

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रसे लिया गया है।

२. इस सभासे पूर्व तीसरे पहर स्त्रियोंकी एक सभामें जो चन्दा इकट्ठा किया गया था उसमें कुछ कौड़ियाँ भी थीं। स्त्रियोंको इस सभाका विस्तृत ब्यौरा उपलब्ध नहीं है।

व्यापारियोंसे देती-लेती, बाल-विवाह, जवान लड़कियोंका बूढ़ोंसे ब्याह, और विधिपूर्वक सम्पन्नकी गई सगाइयोंको लोभ-लालचवश तोड़ने आदिकी कुप्रथाओंको समाप्त करनेका आग्रह किया। सभाके अन्तमें कई प्रश्नोंके उत्तरमें गांधीजीने शास्त्रोंकी व्याख्याके सिद्धान्तोंके विषयमें महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये। उन्होंने श्रोताओंको चेतावनी दी कि वे संस्कृतके श्लोकोंमें लिखी हर चीजको प्रामाणिक शास्त्रके रूपमें स्वीकार न करें। शास्त्रोंको भी तर्क और नैतिक भावनाकी कसौटीपर खरा उतरना ही चाहिए। शास्त्रोंकी व्याख्या करनेवालेके लिए पहली शर्त यह है कि उसने यम और नियमोंकी कठोर साधना द्वारा अपने आपको शुद्ध कर लिया हो।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २१-२-१९२९

३०. पत्र: मीराबहनको

९ फरवरी, १९२९

चि० मीरा,

अभी तार मिला है कि रसिक कल चल बसा। हमारे लिए ईश्वरकी मर्जी ही कानून है। मेरा दैनिक कार्य निर्विघ्न चल रहा है। मुझे जो भी दुख हो रहा है वह स्वार्थवश ही है। मैंने बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी थीं कि रसिक अपने इसी शरीर द्वारा बहुत-कुछ करेगा। लेकिन भाग्यमें ऐसा नहीं लिखा था। रसिककी आत्माको सद्‌गति प्राप्त हुई है, क्योंकि पिछले दो मासमें उसकी बड़ी कायापलट हो गई थी।

मैं बुधवारको हैदराबाद पहुँच रहा हूँ। वहाँसे शुक्रवारको सुबह चल दूँगा और दिन-भर मीरपुर-खास रहकर शामको साबरमतीके लिए नहीं, दिल्लीके लिए गाड़ी पकड़ूँगा। वहाँ एक-दो दिनके लिए मोतीलालजीको मेरी जरूरत है। मंगलकी रातको मन्दिर पहुँचनेकी आशा रखता हूँ। लेकिन मुझे पता नहीं है। तुम कुछ भेजना चाहो, तो रविवार और मंगलवारके बीच पण्डित मोतीलाल नेहरू, क्लाइव स्ट्रीट, नई दिल्लीके पतेपर भेजना ठीक रहेगा।

अभी तुम्हें इससे ज्यादा लिखनेका समय नहीं है। तुम्हारे पत्र अच्छे और जानकारी देनेवाले रहे हैं। मैं जान-बूझकर रसिकके बारेमें तुम्हें तार नहीं दे रहा हूँ। हम काम करते रहें।

सप्रेम,

बापू

अंग्रेजी जी० एन० ९३९७ (सी० डब्ल्यू० ५३४२)से भी।

सौजन्य: मीराबहन

३१. पत्र : देवदास गांधीको

९ फरवरी, १९२९

चि० देवदास,

अभी तुम्हारे दो तार लारकानामें मिले। डा० अन्सारीका तार भी मिला। जब तार मिला तो भोजन परोसा जा रहा था। मैंने रोजकी तरह खाना खाया और खाते-खाते काम भी किया। अब तुम्हें यह लिखने बैठा हूँ। यहाँका जो कार्य-क्रम था वही रहेगा। इस समय मेरी यह दशा है कि रसिकके वियोगसे मन दुखी है; किन्तु यह केवल स्वार्थवश ही है। वह बालक मुझे प्रिय था। मैंने उससे बहुत आशाएँ बाँध रखी थीं कि हमारी इन आशाओंको ईश्वर उसीकी मारफत पूरा करेगा; किन्तु हम देहधारी ऐसी श्रद्धा कहाँसे लायें? इस प्रकार उसके देहान्तका दुःख तो हमें अपने स्वार्थके कारण है। रहा रसिक सो वह तो देहके दुखोंसे छूट गया। दूसरी दुनियामें अब उसकी स्थिति अच्छी ही है। इस विषयमें मुझे कोई शंका नहीं क्योंकि वह तो रामका भक्त था।

तुम उसे प्रकट भले न होने दो किन्तु तुम्हें सबसे ज्यादा दुःख होगा। तुम तो हदसे ज्यादा सेवा कर चुके; उसका फल तुम्हें प्राप्त होगा। तुम्हारा धीरज तुम्हें आगे बढ़नेमें सहायता देगा। रसिक तुम्हारे किसी पापके कारण नहीं गया। उसे जो लेना था उसे लेने ही दिल्ली गया था और लेकर चला गया। तुमने अपने कर्त्तव्यको बहुत अच्छी तरहसे निबाहा है। ईश्वर तुम्हारा कल्याण ही करेगा।

एक अपने मनकी बात भी कह दूँ। होता तो वही है जो ईश्वरकी इच्छा हो। बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है किन्तु मनुष्यको अनुमान लगानेका अधिकार तो है ही। उसके अनुसार मुझे लगता है कि मेरे अथवा हमारे उपचार अर्थात् कुदरती उपचार ही अच्छे हैं। मुझे लगता है कि अगर मगनलाल और रसिक दोनोंका सीधा-सादा उपचार हुआ होता तो शायद वे बच जाते। इसीको दूसरी तरहसे कहें तो अगर उसके नसीबमें जीना होता तो ऐसे संयोग होते जिससे उसका कुदरती उपचार ही होता। किन्तु इससे मनको सन्तोष नहीं मिल सकता और न हमें इतना कहकर ही सन्तोष कर लेना है। यह सब कहनेका अर्थ यह नहीं है कि मुझे उसे दिल्ली भेजनेका दुःख है और न ही मुझे डाक्टरकी दवा करनेका दुःख है। तुम्हारे लिए जो-कुछ करना ठीक था, वही तुमने किया। जिस प्रकार जो कुछ मगनलालके लिए करना जरूरी था वह ब्रजकिशोर बाबूने किया। जीने-मरनेका शोक नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्य-पालन करना ही हमारा धर्म है, भूल न करना धर्म नहीं है। फिर मैंने तो अनुमान ही लगाया है न? क्या ठीक होता, यह तो ईश्वर ही जानता है।

अनायास ही मुझे १७ फरवरीको दिल्ली आना पड़ रहा है। और मुझे अच्छा लग रहा है। तुमसे मिल सकूँगा। बा को रोक लेना। किन्तु यदि उसे जाना हो

तो जाने देना। कान्तिको धीरज तो देते ही होगे। तुमसे सारा हाल जाननेकी आशा है। रसिकके अन्तिम दिनोंकी बातें जाननेका पूरा-पूरा मोह मेरे मनमें बना हुआ है। इस मोहका त्याग नहीं कर पा रहा हूँ।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० २१२२)की फोटो-नकलसे।

३२. पत्र : बली वोराको

शनिवार [९ फरवरी, १९२९][1]

चि० बली,

अच्छा किया जो तुम वहाँ पहुँच गईं। रसिक तुम्हें प्राणोंसे भी प्यारा था। मैं जानता हूँ कि हम सबसे ज्यादा दुःख तुमको ही होगा। किन्तु तुम समझदार हो। धीरज रखना। रसिककी सेवामें कोई कमी नहीं रही यह जानकर सन्तोष रखना। कुमीको अलगसे पत्र नहीं लिख रहा हूँ। यदि तुम न गई तो १७ तारीखको हम दिल्लीमें मिलेंगे।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० २१५५)की फोटो-नकलसे।

३३. पत्र : कस्तूरबा गांधीको

शनिवार [९ फरवरी, १९२९][2]

बा,

तुझे तो ज्ञान हो ही गया। दिल्ली जाकर तो तूने बहुत धीरज दिखाया। इसलिए मुझे लगता है कि तू शायद बहुत दुःख नहीं कर रही होगी। तूने तो इन बालकोंका पालन किया था; इसलिए दुःख तो होगा ही। किन्तु जिस मार्गसे रसिक गया है, उस मार्गसे तो हम सबको ही जाना है, फिर जल्दी या देरसे जानेका शोक किसलिए करें? दिल्ली रुक गई तो रविवार १७ तारीखको मिलेंगे।

बापू

गुजराती (जी० एन० २१५६)की फोटो-नकलसे।

१ और २. रसिककी मृत्युके उल्लेखसे।

३४. पत्र : छगनलाल जोशीको

लारकाना
शनिवार, [फरवरी, १९२९][1]

चि० छगनलाल,

आज तुम्हारी तरफसे कोई पत्र नहीं मिला। रसिक चल बसा। मैं नहाकर निकला और भोजन करने बैठने ही वाला था कि देवदासका तार आया। तार पढ़कर फौरन खाने बैठ गया। सब काम चल रहा है। रसिकके जानेका दुःख है, किन्तु स्वार्थके कारण ही यह मैं अच्छी तरह देख रहा हूँ। मैंने उसके शरीरसे बहुत काम लेनेकी आशा बाँधी थी। इसलिए जिस प्रकार एक यन्त्रके टूट जानेसे हम स्वार्थवश दुखी होते हैं उसी प्रकारका दुःख आज मुझे भी है। यन्त्र चलानेवाले आत्माका विचार करते समय तो हर्ष ही होना चाहिए। क्योंकि उसका पिंजरा पुराना पड़ गया था, सड़ गया था, उसे छोड़कर हंस चला गया। उससे शोक तो नहीं होना चाहिए। यह जानता हूँ, इसीलिए स्वार्थपूर्ण दुःखको दबाकर सब काम करता जा रहा हूँ। हम सब एक यन्त्रके टूटनेपर अपने अन्य यन्त्रोंको अच्छा बनायें और उनसे ज्यादा काम लेकर टूटे हुए यन्त्रकी कमी पूरी करें।

मैं बुधवारकी शामको हैदराबाद पहुँचूँगा। वहाँसे शुक्रवार सुबह मीरपुर-खासके लिए रवाना होऊँगा। वहाँसे दिल्लीके लिए गाड़ी लूँगा।

एक बात और लिख दूँ। मगनलाल और रसिककी मौतके बाद आश्रमकी गतिविधियों अर्थात् उसकी रोजमर्राकी क्रियाओंके प्रति मेरा मोह बढ़ गया है। मुझे लगता है कि अगर हम इन दोनोंकी अपने हाथों सेवा कर पाते तो शायद वे बच जाते। इससे अर्थ यह नहीं है कि दिल्ली और पटनामें उनकी सेवा कम हुई बल्कि अर्थ यह है हमारी सेवाके ढंगमें वैज्ञानिकताकी कमी है। उन दोनोंके कर्म उन्हें दूर ले गये और उन्हें उन स्थानों पर तो शाही सेवा ही मिली।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५४८३)की फोटो-नकलसे।

१. ९ फरवरीको गांधीजी लारकानामें थे।

३५. पत्र : छगनलाल जोशीको

लारकाना
९/१० फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

आजकी डाकसे तुम्हें तो पत्र भेज चुका हूं। किन्तु मीराबाईके कई पत्र तुम्हारे पास भेजनेके लिए सँभाल रखे थे; वे इस पत्रके साथ भेज रहा हूँ। इन पत्रोंमें उसकी स्वच्छता, प्रेम और उसकी कर्त्तव्यपरायणता स्पष्ट झलकती है। हिन्दू धर्मके विषयमें उसके उद्‌गार समझने लायक हैं। इन पत्रोंका सार मन्दिरवासियोंको बताना और बहनोंको भी। पत्र पढ़कर महादेवके पास भेज देना।

ऊपरका अंश कल शामको लिखा था। अब दस तारीखकी सुबहकी प्रार्थनाके बाद गाड़ीके छूटनेकी राह देखते हुए यह लिख रहा हूँ। आज सुबह ८-३० बजे सक्खर पहुँचना है। मौनवार भी वहीं बीतेगा। मंगलवारका सारा दिन तो यात्रामें ही बीतेगा। बुधवार, शामको, हैदराबाद पहुँचेंगे! और शुक्रवार सवेरे हैदराबादसे रवाना होकर मीरपुर खास। इसलिए शुक्रवारको पहुँचनेवाली डाक मीरपुर-खासमें मिलनी चाहिए। वहाँ अहमदाबादसे गाड़ी सुबह ९ बजे पहुँचती है। रविवार सुबह दिल्ली पहुँच जायेंगे। दिल्लीका पता पण्डित मोतीलाल नेहरू, क्लाइव स्ट्रीट, नई दिल्ली लिखना। याद आया तो नम्बर भी लिख दूंगा। १९ तारीख मंगलवारकी रातको अहमदाबाद पहुँचनेकी आशा तो है पर हो सके तब न?

दाँत आदि जैसे [मामूली] दर्दोंमें डाक्टरोंके पास पहुँच जानेकी तो हमारी वृत्ति नहीं हो रही है न? हमारा माप तो रेलसे दूर कोई गाँवका है। इस गाँवमें जो न मिले, वह हमें भी नहीं मिलेगा। ९९ प्रतिशत दर्द तो अपनी गलतीसे होता है और ९५ प्रतिशत सहन करने लायक भी होता है। और बहुतसे दर्द तो उपवास-भर कर लेनेसे कम हो जाते हैं। हर बातमें हमें सहनशील बननेका प्रयत्न करना चाहिए। जिस बातका निवारण हम अपने आन्तरिक बलसे कर सकते हों और जिसे सहन करना दोष हो, उसे किसी भी स्थितिमें सहन न करें। जैसे कि अन्दरकी या बाहरकी गन्दगी। इतना सबको समझाना। जो भड़ोंच गये हैं उनपर यह आरोपके रूपमें नहीं लिख रहा हूँ। किन्तु उनके जानेसे तथा रसिकके चल बसनेसे मनमें उठ रहे विचारोंसे ही इसका खयाल आया है। हम डाक्टरोंके पास हैं और हमें उनकी मदद लेनेकी आदत हो गई है। इसलिए उनसे जो मदद मिलती है उसका उपयोग तो लोग लेंगे ही। यह चेतावनी तो इसलिए है कि हम अपनी मर्यादाका पूरा ध्यान रखें।

तुम्हारी और नारणदासकी पट रही है या नहीं? एक-दूसरेके प्रति उदासीन बनकर सन्तोष मत कर लेना। तुम्हें नारणदासको प्रेमसे नहला देना है। उसे विश्वास

दिला देना है कि उसकी शंका व्यर्थ है और तुम चाहते हो कि वह वहाँ रहे। जहाँ-जहाँ उससे काम ले सको लेना।

बापूके आशीर्वाद

[पुनश्च :]

सक्खर
१० फरवरी, १९२९

यहाँ आनेपर तुम्हारी लम्बी चिट्ठी मिल गई है। जवाब देने-जैसा कुछ हुआ तो कल ही दे सकूँगा।

बापू

गुजराती (जी० एन० ५४८७)की फोटो-नकलसे।

३६. तीसरे दर्जेके मुसाफिर

मैंने फिरसे तीसरे दर्जेमें मुसाफिरी करना शुरू किया है इस कारण पुनः इस बारेमें अपने अनुभव लिखनेका अवसर भी मिल गया है। १९१५में जो हालत मैंने देखी थी उसमें और आजकी हालतमें कोई ज्यादा फर्क नहीं मालूम पड़ता। न मुसाफिर सुधरे हैं, न रेल-विभागने किसी तरहकी तरक्की है। जबतक मुसाफिर नहीं सुधरेंगे तबतक रेल-विभाग द्वारा सुधार किये जानेकी बहुत कम सम्भावना है। मुमकिन है, अधिकारियोंने कहीं कुछ सुधार किये हों, लेकिन जिनकी ओर हर आदमीका ध्यान खिंच जाये, ऐसे सुधार दिखाई नहीं पड़ते। उनके किये जानेका सवाल ही नहीं उठता; क्योंकि हम लोगोंमें चाहे जैसी असुविधाको सह लेनेकी आदत घर कर चुकी है। अगर हममें यह आदत केवल त्यागकी दृष्टिसे पड़ी होती तो अच्छी मानी जा सकती थी। परन्तु जब यह आलस्य, अज्ञान और असावधानीकी निशानी होती है तो इसके एक दोष होनेमें कोई सन्देह नहीं है। मेरा विश्वास है कि ऊपर बताये गये तीनों अवगुणोंके फलस्वरूप ही मुसाफिर चाहे जैसी हालतमें भी असन्तोष प्रकट नहीं करते। इस तरहकी सहनशीलता मनुष्यको आगे नहीं बढ़ाती। ठीक तरहसे देखें तो यह सहनशीलता नहीं, बल्कि आलस्यकी निशानी है। आँगनमें पड़ा हुआ कूड़ा-कर्कट फेंकनेके बदले उसे वहाँ जमा होने देना गुण नहीं, दोष है। मारे कीचड़के आँखें चिपक रही हों, कानोंमें मैल भरा हुआ हो और फिर भी उन्हें साफ न किया जाये तो यह पाप है; यह न तो सादगीकी निशानी है और न सहने योग्य बात है। इसी तरह रेलगाड़ीमें जो असुविधाएँ दूर की जा सकती हैं, उन्हें दूर न करके किसी तरह काम चलाते चले जाना गुण नहीं, अवगुण है।

मैं देखता हूँ कि गाड़ीके दूसरे डिब्बोंमें जगह होनेपर भी मुसाफिर एक ही डिब्बेमें घुसकर बैठ जाते हैं। एक साथ बैठनेकी गरजसे या दूसरे डिब्बेतक जानेके आलस्यके कारण वे गाड़ीके भीतर, बैंचोंके पास, जो संकरा रास्ता रहता है, उसीको

रोककर बैठ जाते हैं। अगर किसीको उनके पाससे होकर संडास तक जाना होता है तो भी वे उसे उठकर रास्ता नहीं देते बल्कि अपने ऊपर से लाँघकर निकल जाने देते हैं। इस तरह रास्ता रोककर बैठना रेलके कायदेके खिलाफ है और अगर दूसरे मुसाफिर विरोध करें तो बैठनेवालेको रास्ता छोड़ना ही पड़े। लेकिन इस नियमका न कोई पालन करता है और न करवाता ही है। जहाँ सब एक ही दोषके शिकार हों वहाँ कौन किसको रोके और कौन किसे पूछे?

बी० बी० सी० आई०की गाड़ियोंमें तीसरे दर्जेके पाखाने अच्छे नहीं होते; वे साफ तो होते ही नहीं, फिर मुसाफिर उन्हें और भी खराब कर देते हैं। लेकिन जोधपुर लाइनकी गाड़ियोंमें जैसे खराब पाखाने होते हैं वैसे तो मैंने कहीं भी नहीं देखे। जोधपुर लाइनके पाखाने भीतरसे बन्द नहीं किये जा सकते। उनमें न हवाकी गुंजाइश होती है, न प्रकाशकी ही। मौलाना शौकतअलीके समान मोटा-ताजा आदमी तो शायद ही उनमें घुस सके। इन पाखानोंमें मैलेको बहानेके लिए जो छेद होते हैं वे इतने छोटे होते हैं कि केवल बहुत ही खबरदारी रखनेवाला आदमी आसपासकी बैठकको खराब करनेसे बच सकता है। इस दृष्टिसे जिन्होंने जोधपुर लाइनकी गाड़ियाँ बनाई हैं, उनके दोषोंकी तो हद ही है; लेकिन जो मुसाफिर आज कई सालोंसे इसी हालतको निभाते आ रहे हैं उन्हें क्या कहा जाये? दुनिया तो यही कहेगी कि ऐसे लोगोंके लिए ऐसे ही पाखाने होने चाहिए। जब रेलवेके मालिकोंका काम बिना पाखाने बनवाये चल जाता है, उन्हें मुसाफिर मिल जाते हैं, तो फिर वे ज्यादा पैसा फिजूल बरबाद क्यों करें? मैं मानता हूँ कि इस तरहका तर्क सही नहीं है। फिर भी, जो मुसाफिर दूर की जा सकनेवाली तकलीफोंको भी सहन कर लेते हैं उनके बारेमें लोग क्या सोचेंगे, क्या सोचते होंगे?

इस दर्दनाक और शर्मनाक हालतको किस तरह दूर किया जाये? रेलवे मुसाफिरोंकी तकलीफोंको दूर करनेके लिए भाई जीवराज नेणसी एक संस्था चला रहे हैं। आज प्रसंगवश मुझे याद आ रहा है कि एक समय जब मुझे दम मारनेकी भी फुरसत न थी, उन्होंने इस बारेमें मुझसे कुछ लिखनेके लिए कहा था। मैं उन्हें यही सलाह देता हूँ कि रेलवे विभागवालोंके पीछे पड़ जाना तो ठीक है ही, लेकिन उनसे भी ज्यादा पीछा तो रेलवे मुसाफिरोंका करना चाहिए, उनकी आँखें खोलनी चाहिए, उन्हें उनके धर्मका भान कराना चाहिए। यह काम धमकाने या डर बतानेसे नहीं हो सकता, इसके लिए प्रेम ही एकमात्र उपाय है। रेलवे विभागवालोंके साथ लिखा-पढ़ी करनेसे सुनवाई हो या न हो, प्रशंसा मिल सकती है। इसमें प्रतिष्ठा है। लेकिन मुसाफिरोंको समझानेमें तो शुरूमें बुराई ही हिस्से आयेगी, शायद मार तक खानी पड़े और फिर भी कुछ हासिल न हो। यह काम आन्दोलन करनेका नहीं है, यह तो सुधार और शुद्धिका है। रेलवे विभागके पीछे पड़नेसे विभाग कुछ सुधार करेगा और मुसाफिरोंको बार-बार बताते रहनेसे वे भी सुधरेंगे, लेकिन यह याद रहे कि यह काम मुश्किल है और धीरे-धीरे होनेवाला है। प्रारम्भमें शायद यह बहुत ही ज्यादा नीरस भी मालूम हो। फिर भी इसमें शक नहीं कि सच्चा सुधार इसी तरह होगा।

अब सवाल यह है कि यह काम किस तरह किया जाय? इसके लिए ऐसे प्रचारकोंकी जरूरत है, जो तीसरे दर्जेमें मुसाफिरी करके यात्रियोंको समझायें। यात्रियोंको सचेत करनेके लिए पत्रिकाएँ भी बँटवानी चाहिए। प्रचारकमें दृढ़ता और संकोचहीनता का होना जरूरी है। उन्हें खुद झाड़ू लगानेमें भी शर्म नहीं आनी चाहिए। क्योंकि उन्हें तो मुसाफिरों द्वारा गन्दी की हुई जगहको उसी वक्त साफ करके उनके सामने नमूना पेश करना होगा, अगर वे पाखाने खराब करेंगे तो प्रचारकोंको उन्हें भी साफ करना होगा। इस तरह मुसाफिरोंमें दयाधर्मके भाव पैदा करने होंगे। ऐसे प्रचारकोंमें धैर्य, उत्साह, आत्मविश्वास, विवेक आदि गुणोंका होना भी जरूरी है, तभी उनकी सेवाका कुछ असर होगा। जबतक यह काम नहीं होता तबतक रेलवे-विभागके बार-बार पीछे पड़ने पर भी कोई खास कामयाबी नहीं मिलेगी, फिर इस तरहका सताना सार्थक तो कैसे हो सकेगा?

मोहनदास करमचन्द गांधी

[गुजरातीसे]
नवजीवन, १०-२-१९२९

३७. टिप्पणियाँ

सरोजिनी देवीकी सेवा

अमेरिकासे मित्रोंके पत्र बराबर मेरे पास आते रहते हैं जिनमें सरोजिनी देवीके कामकी प्रशंसा रहती है। वे लिखते हैं कि सरोजिनी देवी अमेरिकामें बड़े महत्त्वका काम कर रही हैं और अपनी सारी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभाका देशके लिए पूरा-पूरा उपयोग कर रही हैं। इसमें शंका नहीं कि उन्होंने अमेरिकावासियोंका मन मोह लिया है। कनाडाकी एक बहनने एक लम्बे पत्रमें अपने कुछ अनुभव लिखकर भेजे हैं; उसमें से थोड़ी बातें नीचे देता हूँ:[1]

मैं नहीं समझता कि इन बहनने जिन शब्दोंमें सरोजिनी देवीकी शक्तिका वर्णन किया है उसमें कोई अतिशयोक्ति है। सरोजिनी देवीमें वस्तुस्थितिको पलभरमें समझ लेनेकी अपूर्व शक्ति है। वह अपनी मर्यादाको समझती है। वे अर्थशास्त्रियों और राजनैतिक नेताओंकी तरह अनावश्यक तफसीलमें कभी नहीं उतरती। इस तरहके ज्ञानका न तो वह कभी दावा करती हैं और न दिखावा ही। साधारण आदमीके पास जितना ज्ञान होता है, उतने ज्ञानकी पूंजीसे वह अपना काम इतनी चतुराईसे कर लेती हैं कि सामनेवाला आदमी उन्हें कभी उलझनमें डाल ही नहीं सकता, उलटे जो-कुछ उनसे ग्रहण करता है उसीमें इतना सन्तोष अनुभव करता है, मानो उसे सब-कुछ मिल गया हो।

१. यहाँ नहीं दिया जा रहा है। कुमारी हेलेन रीड द्वारा लिखित यह पत्र ७-२-१९२९ के **यंग इंडियामें** प्रकाशित हुआ था।

पींजनेवालोंकी ओरसे

अपने-आपको धुनाईमें निपुण माननेवाले एक चरखा-प्रेमी लिखते हैं:[1]

काकरके[2] शास्त्रका मुझे कुछ अनुभव नहीं है, किन्तु जान पड़ता है लेखकको इसका अच्छा खासा अनुभव है। इसलिए उनके सुझाव छाप रहा हूँ। दूसरे धुनाई जाननेवाले इसके साथ अपने अनुभवोंकी तुलना करें और वे यदि कुछ और विशेष जानकारी दे सकते हैं, तो लिखें।

उपर्युक्त पत्रसे पता चलता है कि इन सादे औजारोंका शास्त्र भी जानने योग्य है। यरवदामें मैंने काकरकी और [उसके] मूलकी अवगणना की थी। अब मैं ज्यादा अच्छी तरह पींजने लगा हूँ इसलिए उसका मूल्य समझमें आता है। फिर भी मैं काकरके गुण-दोष अच्छी तरह नहीं परख सकता। इस पत्रसे देखता हूँ कि काकर का चुनाव करते समय एकदम उसकी उत्पत्ति तककी बात मालूम करनी पड़ती है।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १०-२-१९२९

३८. राक्षसी पद्धति

'सतलज' नामक एक स्टीमर है। इस स्टीमरमें कई महीने पहले अनेक हिन्दुस्तानी मजदूर ब्रिटिश गियानासे कलकत्ता लाये गये थे। स्टीमर कम्पनियोंके पास कई ऐसे स्टीमर हैं जिनमें वह दूरके उपनिवेशोंसे यात्रियोंको लाती ले जाती हैं। 'सतलज' इसी प्रकारका स्टीमर है। उस यात्राके दौरान उसके यात्रियोंमें से ३७की मृत्यु हो गई। यह संख्या भयंकर मानी जायेगी। यह खबर मिलते ही उपनिवेश-वासियोंके हकोंकी रक्षा करनेवाले मण्डलने सरकारको तार देकर इस विषयमें जाँच करनेको कहा। मालूम होता है, सरकार पहले ही सफाईकी तैयारी किये बैठी थी। उसने दो अधिकारियोंको जाँचके लिए नियुक्त कर दिया था और उन्होंने यह रिपोर्ट दे दी कि ऐसी मौतकी घटनाएँ तो इस तरहके स्टीमरोंमें हमेशा ही हुआ करती हैं; 'सतलज' के जो यात्री मरे वे सभी बूढ़े थे और ठीकसे देखा जाये तो उन्हें ब्रिटिश गियानासे आना ही नहीं चाहिए था, क्योंकि समुद्रकी यात्रा करने लायक शक्ति उनमें नहीं थी। जाँचकर्ताओंसे ऐसी रिपोर्ट प्राप्त करके सरकारने अपनी सफाई साध ली।

अब जाँच करनेवाले अधिकारी कौन थे हम यह भी देख लें। एक व्यक्ति तो था उपनिवेशोंमें जाने और वहाँसे लौटकर आनेवाले लोगोंका संरक्षक और दूसरा

१. यहाँ नहीं दिया जा रहा है। लेखकने धुनकीकी काकरके विषयमें यह लिखा था कि वह बकरीके चमड़ेकी होनी चाहिए। बछड़े या पाड़ाके चमड़ेसे बनी काकरमें रुई बहुत चिपटती है और दूसरे दोष भी होते हैं।

२. धुनकीमें लगाये जानेवाले ताँतको बांधनेके काममें लाया जानेवाला चमड़ा।

उस प्रदेशका जिलाधीश। यह बात समझमें आ सकती है कि संरक्षक या जिलाधीश दोनों अधिकारियोंमें एक भी तटस्थ अथवा निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि इन दोनों अधिकारियोंका काम ऐसे स्टीमरोंका निरीक्षण ही है। वे इन मुसाफिरोंके आरोग्यके लिए जिम्मेदार माने जाते हैं। इसलिए किसी प्रकारका जुल्म, अन्याय या अनियमितता नहीं हुई, जाँच द्वारा यह दिखानेमें तो उनका स्वार्थ है ही। इन अधिकारियोंका स्वार्थ था इसलिए इन्हें तो गुनहगारके कठघरेमें खड़ा किया जाना था। इन्होंने अपने कर्त्तव्यका पूरी तरह पालन किया कि नहीं इसकी भी जाँच होनी चाहिए थी। इस तरह अगर व्यावहारिक भाषामें कहें तो गुनहगारको ही न्यायासनपर बैठा दिया गया। ऐसे लोगों द्वारा दिये गये निर्णयमें भला क्या कसर हो सकती है।

ऐसी पद्धतिको मैं राक्षसी पद्धति ही कहूँगा। न्याय करनेके बजाय न्याय करनेका दिखावा करना, हर तरहसे बाह्य आडम्बर करके लोगोंकी आँखोंमें धूल डालना, पहलेसे ही अपने बचावकी तैयारी कर रखना, जहाँ तक हो सके अपनी भूल स्वीकार न करना, अपराधी अधिकारियोंके अपराध छिपाना, ये सब बातें राक्षसी पद्धतिके लक्षण हैं और ये सब लक्षण हम ब्रिटिश राजनीतिमें रोज देखते हैं।

'सतलज' के प्रश्नपर और ज्यादा विचार करें। जितने व्यक्ति इस यात्रामें मरे यदि उतने हर यात्रामें मरते हैं तो यह बात अधिकारियोंकी निष्ठुरता और निर्दयताको सूचक है। एक ही बार इतने व्यक्तियोंकी मृत्यु हुई हो तो यह आकस्मिक घटना मानी जा सकती है। यदि इतने व्यक्ति हर यात्रामें मरते हों तो यह बात अक्षम्य है और उसका किसी तरह बचाव नहीं किया जा सकता है। इसे अक्षम्य माननेके बजाय अधिकारियोंने उलटा ही किया। यदि कोई पाप और गुनाह रोज होने लगे तो क्या वह पाप और गुनाह नहीं रह जाता? ऐसा नहीं हो सकता। 'सतलज' के प्रसंगसे जो प्रश्न उठते हैं वे इस प्रकार हैं: स्टीमरकी बनावट कैसी है? उसमें यात्रियोंके रहनेके लिए पर्याप्त स्थान है या नहीं? रोशनी, हवाका पूरा इन्तजाम है या नहीं? उसमें ठण्ड, गर्मी बरसातसे बचनेका प्रबन्ध है या नहीं? यात्रियोंके पास काफी कपड़े थे या नहीं? इन प्रश्नोंका विचार करते समय स्टीमरके मालिक, स्टीमरके कर्मचारियों या दूसरे अधिकारियों, ब्रिटिश गियानाके अधिकारियों और इस विभागसे सम्बन्धित यहाँके अधिकारियोंसे पूछताछ करनेका प्रश्न खड़ा हो जाता है। ऐसी शुद्ध जाँच कौन करे और किसके लिए करे? गिरमिटमें बँधकर जानेवाले गरीब मजदूरोंका हाल कौन पूछे? वे मरते हैं या जीते हैं, खाते-पीते हैं कि नहीं, इसका ध्यान कौन रखे? मण्डलने 'सतलज' की दुखद घटनाकी ओर ध्यान खींचकर अच्छा ही किया है। आशा करता हूँ कि सरकारने अपना बचाव कर लिया है, किन्तु इससे मण्डल सन्तुष्ट नहीं होगा। इस भयंकर घटनाकी खुली और निष्पक्ष जाँच होनी चाहिए। और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि इस जाँच-समितिमें अधिकारियोंके अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति भी होने चाहिए।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १०-२-१९२९

३९. उमड़ता हुआ प्रेम

'नवजीवन' में प्रकाशित 'हैदराबादमें खादी' शीर्षक लेखके विषयमें श्री लक्ष्मीदास लिखते हैं:[1]

यह पत्र मैं इसकी वास्तविक कीमतका खयाल करके नहीं छाप रहा हूँ, बल्कि इसमें खादीके प्रति उमड़ते हुए प्रेमकी जो धारा बह रही है उसे पाठकों तक पहुँचानेकी इच्छासे ही यहाँ दे रहा हूँ। इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि इस पत्रमें कोई सार नहीं है; पत्रमें सार तो है लेकिन प्रेमके सामने वह फीका लगता है। यह लिखते हुए मुझे प्रेमी नरसिंह मेहताका एक पद याद आ रहा है। वे गाते हैं:

प्रेमरस पाने तुं मोरना पींछधर
तत्वनुं टूंपणुं तुच्छ लागे।[2]

जब मैं देखता हूँ कि लक्ष्मीदासके समान खादीके अनन्य भक्त अभी देशमें है तो खादीके प्रति मेरा विश्वास बढ़ जाता है। संसारमें अनेक सिद्धान्तोंका समर्थन किया जा सकता है, उनपर भाष्य रचे जा सकते हैं, रचे गये हैं, फिर भी उनका प्रचार नहीं होता, क्योंकि उनके कोई भक्त नहीं हैं। संसारका इतिहास इस बातको सिद्ध कर रहा है कि जिस चीजके भक्त दुनियामें रहे हैं वह चिरस्थायी बनी है। अब दो शब्द इस विषयके सम्बन्धमें। भाई लक्ष्मीदासने जो कुछ लिखा है वह तो निर्विवाद है। जब हिन्दुस्तानके किसान कपाससे लेकर कपड़े बुनने तककी सारी क्रियाएँ अपने घरमें ही कर लेंगे तब खादी दूसरे सब कपड़ोंके मुकाबलेमें जरूर सस्ती पड़ेगी। लेकिन मान लीजिए कि हम रोटी बनाना भूल गये हैं, किसी तरह हमें मिलके बिस्कुटोंपर गुजर करनी पड़ती है। ऐसी हालतमें अगर हम उसे फिर सीखना चाहें तो आटा कहीं पिसवायेंगे, शायद गूँधने और लोई बनानेका काम भी औरोंसे करवा लेंगे और केवल बनी-बनाई रोटी बेल लेनेका काम ही घरपर करेंगे। ठीक यही हालत आज कताईकी हो गई है। यूरोपमें देखो; वहाँ आज गेहूँ कहीं पैदा होता है, दूसरी जगह पिसता और छनता है, आटा कहीं तीसरी जगह गूँधा जाता है और चौथी जगह उसकी रोटी पकाई जाती है। यह भी कहा जाता है कि वहाँके शहरोंमें लोगोंके घरपर तो रोटी बनना लगभग बन्द-सा हो गया है। अमेरिकाके कई स्थानोंमें घरमें रसोई बनती ही नहीं है; लोग होटलोंमें जा-जाकर भोजन कर आते हैं। इसे वे आपद्धर्म नहीं, अपने लिए अच्छा समझ कर करते हैं।

१. यहाँ नहीं दिया जा रहा है। लेखकने कताई सीखनेसे पहले पिंजाई न सीखना खादी की मन्द प्रगतिका एक बड़ा कारण माना था। उसने यह भी लिखा था कि सभी किसानोंको अपना खाली समय खादी-कार्यमें लगाना चाहिए।

२. हे, मोर मुकुटधारी श्रीकृष्ण, तू मुझे प्रेम-रस पिला। तत्त्वकी नीरस चर्चा मुझे तुच्छ प्रतीत होती है।

इसलिए यद्यपि सिद्धान्तकी दृष्टिसे मेरा भाई लक्ष्मीदाससे कोई मतभेद नहीं है, फिर भी इस सन्धिकालमें जो लोग कातना जानते हैं उन तक कुछ समय तक पूनियाँ पहुँचाकर उन्हें बादमें पींजना सिखा देनेका लोभ मेरे मनमें बसा हुआ है। साथ ही, मैं इस लोभकी दलदलमें फँस न जाऊँ, इस बातकी खबरदारीके लिए भाई लक्ष्मीदासके समान एकांगी विचार रखनेवालोंकी जरूरत तो मैं महसूस करता ही हूँ। इसमें कोई शक नहीं कि जहाँ पिंजाई नहीं होती वहाँका कताईका काम बिना नींवकी इमारत जैसा है। इस कारण आज हमें पेशेके लिए नहीं बल्कि यज्ञकी दृष्टिसे पींजनेवालोंकी जरूरत है। इस सम्बन्धमें मैं पहले भी लिख चुका हूँ।[1] हकीकत तो यह है कि कपास बोनेसे लेकर बुनने तककी तमाम क्रियाओंको परोपकारके लिए करनेवालोंकी बढ़ती हुई तादादपर ही खादीकी तरक्की निर्भर है। क्योंकि यही लोग गाँवोंमें प्रवेश करके किसानोंको उनके धर्मका भान करा सकेंगे।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १०-२-१९२९

४०. फौजदारी कानूनका उल्लंघन

कई हफ्तों पहले एक नवयुवकको सलाह देते हुए मैंने लिखा था कि उसे अपने बाल-विवाहका सम्बन्ध तोड़ डालना चाहिए और इससे अगर माता-पिताको किसी तरह दुःख हो तो उसे भी सह लेना चाहिए। इसपर एक वकील मित्र लिखते हैं:

> **आपने जो सलाह दी है, उसे देते समय मालूम होता है, आपने फौजदारी कानूनका विचार नहीं किया था। इस कानूनके मुताबिक पुरुषको तो एकसे ज्यादा विवाह करनेका अधिकार है, लेकिन तीनों वर्णोंमें बेचारी स्त्रीको एकसे ज्यादा विवाह करनेका हक नहीं है। इन वर्णोंमें तलाककी सुविधा नहीं है, याने जो स्त्री या बालिका एक पतिको छोड़ कर दूसरेसे विवाह करती है वह कानूनन अपराधी ठहराती है, दण्डकी पात्र होती है। मालूम होता है, आप इस बातको भूल गये हैं। क्या अब आप अपनी सलाह वापस नहीं लेंगे?**

मैं अपनी सलाह वापस लेनेकी कोई जरूरत नहीं समझता। कानून सुधारकके लिए रहनुमा नहीं होता; बल्कि उसका अन्तर्नाद ही आखिर वक्त तक उसकी रहनुमाई करता है। जिसे कानूनका डर हो वह सुधारक बन ही नहीं सकता। इस संसारमें जितने भी बड़े सुधार हुए हैं, होते हैं, उनके बारेमें हम यह कह सकते हैं कि उनके सुधारकोंने कानूनकी तनिक भी परवाह नहीं की थी।

लेकिन प्रस्तुत मामलेमें तो मैंने विवाहके जिस बन्धनको न माननेकी सलाह दी थी वह वास्तवमें विवाह कहा ही नहीं जा सकता। जिस विवाहमें कन्या विवाहके अर्थको नाममात्र भी न समझती हो, बिलकुल नादान हो, वहाँ विवाहका कोई अर्थ ही नहीं रहता। विवाहका अर्थ तो है वह सम्बन्ध, वह इकरारनामा, जिसे स्त्री-पुरुषने

१. देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ १९७-८।

आपसमें एक दूसरेको समझकर स्वीकार किया है। इकरारनामेके बारेमें कानून साफ तौरपर कहता है कि दोनों पक्ष उस इकरारनामेको समझनेवाले होने चाहिए।

जिस इकरारनामाका अर्थ किसी एक पक्षने समझा ही नहीं अथवा जिसे उसने दूसरोंकी जबर्दस्तीके कारण मंजूर कर लिया है, मंजूर करनेवालेको वह इकरारनामा किसी भी प्रकार बाँध नहीं सकता। इसलिए जो सलाह मैंने दी है वह मुझे ठीक मालूम होती है। और जबतक देशमें ऐसी सलाहके मुताबिक काम करनेकी हिम्मत रखनेवाले नौजवान आगे नहीं आते तबतक बेचारी, दीन, अबला बालिकाओंकी रक्षा नहीं हो सकेगी। अगर हम कानूनमें सुधार होनेकी आशा लगाये बैठे रहेंगे, तो युगों बीत जायेंगे और फिर भी हमारी आशा पूरी न होगी। इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि बुरे कानूनोंको सुधारनेके लिए कोई आन्दोलन न किया जाये, उन्हें सुधारा न जाये। जो उपाय मैंने बतलाया है वह इस कानूनको रद करानेका एक जोरदार हथियार है। अगर सच पूछा जाये तो कानूनको लोकमतका अनुगामी होना चाहिए। जिस राज्य-पद्धति पर लोकमतका अंकुश नहीं है, यानी जहाँ मनमाना राजकाज चलता है वहाँ कानून लोकमतको ठुकराकर भी बनाये जाते हैं। नतीजा यह होता है कि प्रजा हमेशा ऐसे कानूनोंको तोड़नेकी घातमें रहती है, उन्हें तोड़ कर कामयाबी हासिल करती है और फल यह होता है कि कानूनके प्रति जो विवेकपूर्ण सम्मान प्रजाके मनमें रहना चाहिए वह नहीं रह पाता।

बाल-विवाह वगैरा कुप्रथाओंको दूर करनेके लिए, मेरी रायमें जो बात मैंने पहले उपायके तौरपर बतलाई है वही ठीक है। इस तरह करनेसे लोगोंका ध्यान जल्दी ही बुरे रीति-रिवाजोंकी तरफ खिंचता जा रहा है, वे उसपर विचार करने लगते हैं और जो कानून बुरे रिवाजोंको कायम रखनेमें मददगार होते हैं उन्हें रद करानेके लिए सामान्य जनता खुद कोशिश करने लगती है, उसमें हाथ बँटाने लगती है। इसी कारण मैं तो हरएक उत्साही सुधारकको यही सलाह देता हूँ कि वह कानूनके फन्देमें ज्यादा न फँसे और जहाँ साफ तौरपर धर्मकी प्रतीति होती हो वहाँ बिना किसी संकोचके आवश्यक उपायोंका सहारा ले और कानूनी सजाको सह लेनेके लिए तैयार रहे।

अपराधीके लिए फौजदारी कानून भले ही जरूरी हो, शायद है और शायद हमेशा रहेगा; लेकिन निर्दोष सुधारकके लिए फौजदारी कानूनका कोई अर्थ नहीं है, न उसमें कोई सार ही है। सजाके दो हेतु होते हैं: अपराधीको अपराध करनेसे रोकना और समाजकी रक्षा करना। सुधारक इन दोनों दृष्टियोंसे निर्दोष है; क्योंकि न तो वह किसी तरहका अपराध करता है और न उसपर प्रतिबन्ध लगानेसे उसका सुधार ही रुक सकता है। सजा देनेसे तो उलटे सुधार आन्दोलनको बल मिलता है। इस गरीब, लाचार भारतभूमिमें फौजदारी कानूनका जितना डर अपराधियोंको रहता है उससे कहीं ज्यादा डर निर्दोष लोग अपने सिर पर धरे रहते हैं। पुराना पापी इन कानूनोंको घोल कर पी जाता है; और जो अपराधी नहीं हैं, जिनका मन बिलकुल निर्दोष है, वे बेचारे निःसत्व वायु-मण्डलमें रहनेके कारण रात-दिन फौजदारी

कानूनके डरसे थर-थर काँपते रहते हैं। जबसे सत्याग्रहने इस देशमें प्रवेश किया है तबसे इस तरहका डर लोगोंमें बहुत-कुछ घटा तो है, लेकिन इन वकील मित्रके पत्रसे यह बात साबित होती है कि अभी लोगोंमें इस तरहका डर बाकी है। मैं चाहता हूँ कि सब सुधारक इस डरसे मुक्त रहें।

[गुजरातीसे]

नवजीवन, १०-२-१९२९

४१. मणिलाल और सुशीला गांधीको

१० फरवरी, १९२९

चि० मणिलाल और सुशीला,

सिन्धकी यात्राके दौरान आज तुम्हारा पत्र मिला।

तुम दोनोंको यह जानकर दुःख होगा कि रसिक पन्द्रह-बीस दिनकी बीमारीके बाद ८ तारीखको दिल्लीमें चल बसा। डा० अन्सारीने उसकी सेवामें कोई कसर नहीं रखी। बा, कान्ति, हरिलाल और बली वहाँ पहुँच गये थे। देवदास, कृष्णदास और नवीन भी वहाँ थे। पिछले दो माससे रसिककी ईश्वरमें बहुत श्रद्धा हो गई थी। रामायणमें बहुत रस लेने लगा था। इसमें दुःख करनेका कोई कारण नहीं है क्योंकि हम सबको जल्दी या देरसे इसी मार्गसे तो जाना है। हमें शोक तो अपने स्वार्थके कारण होता है। मैंने अपना कोई भी काम बन्द नहीं किया।

धैर्यबालाके लिए मीठा, सबके लिए सरल उच्चारणवाला तथा प्रातःस्मरणीय नाम सीता भेज रहा हूँ। इसलिए अब तुम शिकायत नहीं कर सकते हो। नानाभाईका भी पत्र आज ही मुझे मिला है।

सुशीलाका वजन ९० रतल तो ठीक ही है। १०५ रतल तक आसानीसे हो सकता है। कसरत करते हुए जितना जरूरी हो उतना खाये तो इतना वजन आसानीसे बढ़ सकता है। वसुमतीबहनका वजन ७४ तक हो गया था, अब तो १०५से भी ऊपर हो गया है। उसे तो क्षयका डर बताया गया था। लेकिन अब वजन उतना हो गया है जितना पहले कभी नहीं था। मुख्य कारण तो उसका अपना मन था।

सिन्धकी मुसाफिरीके बाद दिल्ली होते हुए आश्रम लौट जाऊँगा। वहाँ दूसरे स्थानों पर जानेका कार्यक्रम निश्चित करूँगा।

नये एजेंटके बारेमें न लिखनेका कारण तो बताया ही है। उसके बारेमें लिखना।

मेरा स्वास्थ्य ठीक रहता है।

अवश्य ही श्री डोकके जीवन-वृत्तान्तके लिए रुस्तमजी ट्रस्टसे रकम दी जा सकती है। उसके लिए इस पत्रका उपयोग करना पड़े तो कर लेना। और अगर मेरा अलगसे लिखना जरूरी हो तो लिख दूँगा।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ४७५२)की फोटो-नकलसे।

४२. पत्र : छगनलाल जोशीको

सक्खर
१० फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

आशा तो यही है कि यह पत्र तुम्हें बड़े लिफाफेके साथ ही मिलेगा। एक खास व्यक्ति हैदराबाद जा रहा है; उसे उसीके साथ भेजूंगा।

आन्ध्र प्रदेशके वेंकटप्पैया बहुत अधीर हो रहे हैं; इसलिए दिल्लीसे सीधा बैजवाड़ा जानेका विचार कर रहा हूँ। वहाँ तुम्हारा काम ठीक चल रहा है। मेरे आनेसे कुछ व्यवधान तो होगा ही, इसके बजाय तुम्हें एक-दो महीने शान्ति मिल जाये तो वही ज्यादा अच्छा रहेगा। आ गया तो भी पाँच दिनसे ज्यादा नहीं रह सकूँगा। इतने थोड़े समयके लिए चक्करका रास्ता क्यों अपनाऊँ। मुझे लगता है कि सीधा मनमाड़के या फिर बम्बईके रास्तेसे चला जाऊँ। लेकिन यदि तुम चाहते हो कि मैं पाँच दिनके लिए ही सही मन्दिर आऊँ तो मुझे तार देना या पत्र लिखना। मेरे ख्यालसे यह पत्र तुम्हें बुधवार तक मिलेगा। उसी दिन शामको मैं हैदराबाद पहुँचूंगा। मुझे गुरुवार तक हैदराबादके पतेपर तार कर सकते हो। पत्र तो दिल्ली पहुँचकर ही मिल सकेगा। उस वक्त तक शायद देर हो जायेगी। सबके साथ सलाह करके मुझे सूचित करो।

अब्बास और राजारामका किस्सा दुःखद माना जायेगा। लेकिन फैसला हो गया यह अच्छा ही हुआ।

तुम्हें घबराना और निराश नहीं होना चाहिए। कर्त्तव्यका पालन करते रहो; और फिर भी यदि मन्दिरमें आग लगती है तो लगने दो। अपना सर्वस्व दे देनेके बाद मनुष्य और क्या करे? परिणाम उसके हाथमें नहीं है। फिर शोक करे और व्यर्थ हाथ-पैर मारे तो मूर्ख ही माना जायेगा। अपनी शक्तिसे ज्यादा कुछ न करना; उतावली तो बिलकुल न करना। सब काम समय पर करना। और जो न हो सके उसके विषयमें नम्रतासे अपनी असमर्थता स्वीकार कर लेना। तब सब-कुछ सरल लगेगा।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५३८६)की फोटो-नकलसे।

४३. पत्र : नानाभाई मशरूवालाको

[१० फरवरी, १९२९][1]

भाईश्री नानाभाई,

तुम्हारा पत्र मिला। सम्मनके बारेमें और समाचारकी राह देखूंगा। मैंने सुशीलाको [धैर्यबालाका] दूसरा नाम भेजा है। सीता नाम पसन्द किया है। उसके मित्रोंको यह नाम पसन्द आयेगा और वह प्रातःस्मरणीय नाम तो है ही। ताराके पत्र न लिखनेकी सुशीलाने शिकायत की है। अभी मैं सिन्धमें हूँ। १७को दिल्ली जाऊँगा। मुझे लगता है, वहाँ दो दिन रहना पड़ेगा। उसके बाद शायद सीधा बैजवाड़ा चला जाऊँगा।

हरिलालका बेटा रसिक ८ तारीखको दिल्लीमें चल बसा, यह तो तुम्हें मालूम ही हो गया होगा। मौतके बारेमें बहुत विचार किया है, इसलिए उसका शोक नहीं होता। स्वार्थवश दुःख तो जरूर होता है किन्तु क्षणिक ही।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ४७५१)की फोटो-नकलसे।

४४. भाषण : छात्रोंकी सभा, सक्खरमें[2]

१० फरवरी, १९२९

आपने मुझे एक अभिनन्दनपत्र दिया है जिसमें क्या लिखा है, यह आप खुद नहीं जानते।[3] आपने अपने अभिनन्दनपत्रमें खादीकी प्रशंसा की है लेकिन यहाँ आप विदेशी कपड़ोंमें आये हैं। आपने मुझसे प्रश्न किये हैं जो महज दिखावा लगते हैं। आपने अपना समय बर्बाद किया है जिसका कहीं बेहतर उपयोग आप सड़कोंपर झाड़ू लगा कर उन्हें साफ करनेमें या कोई अन्य ईमानदारीका मेहनतका काम करनेमें कर सकते थे और उससे कमाया गया धन लालाजी स्मारक कोषमें दे सकते थे। ज्ञान केवल जिज्ञासुको ही दिया जा सकता है। लेकिन यह देखते हुए कि अभिनन्दनपत्रमें जो लिखा है उसका आपको पता भी नहीं था, आपकी इच्छा प्रश्नोंका उत्तर

१. डाककी मुहरसे।

२. यह अंश प्यारेलालके साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है।

३. छात्रोंकी ओरसे भेंट किये गये इस अभिनन्दनपत्रमें कुछ नैतिकता विषयक प्रश्न पूछे गये थे जो सभाके वातावरणको देखते मौजूँ नहीं थे। गांधीजीके सवाल करनेपर छात्रोंने स्वीकार किया कि अभिनन्दनपत्रके बारेमें उसे लिखनेसे पहले या उसके बाद भी उनसे कोई सलाह नहीं ली गई थी।

जाननेकी भी नहीं हो सकती। इसलिए मैं उन प्रश्नोंको गम्भीरतासे नहीं लेता। यदि अभिनन्दनपत्रके लेखककी इच्छा उत्तर जाननेकी हो, तो उसे कोई दूसरा अवसर ढूँढ़ना चाहिए।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २१-२-१९२९

४५. भाषण: नगरपालिका द्वारा आयोजित सभा, सक्खरमें[1]

१० फरवरी, १९२९

गांधीजीका उत्तर हमारी मौजूदा नगरपालिकाओंके कार्यों और उनकी सीमाओंके विषयपर एक व्याख्यान ही था। वह अभिनन्दनपत्रमें कही गई इस बातसे सहमत हुए कि नगरपालिकाओंके जरिये स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है, लेकिन उन्होंने अभिनन्दन देनेवालोंको आगाह किया कि यह बात स्वतंत्र और स्वशासित नगरपालिकाओंकी हद तक ही ठीक है। उन नगरपालिकाओंके बारेमें यह बात सही नहीं है जो सरकारी प्रभावमें काम करती हैं, जैसा कि भारतकी ज्यादातर नगरपालिकाओंका हाल है। लेकिन मौजूदा नगरपालिकाएँ अपने-आप सरकारसे स्वराज्य भले न ले पायें, लेकिन यदि वे कुशलतापूर्वक कार्य करें तो यह स्वराज्यकी दिशामें एक बड़ा कदम होगा। नगरपालिकाकी कार्यकुशलताकी पहली शर्त यह है कि जो लोग इसके सदस्य बनें उनमें निजी लाभकी नहीं बल्कि सेवा करनेकी भावना होनी चाहिए। दूसरे, नगरपालिकाके सदस्योंके लिए यह जरूरी है कि वे पहले स्वयं भंगी बनें और शुद्ध घी-दूध तथा अशुद्ध घी-दूधमें अन्तर करना सीखें और इस प्रकार अपने पदकी योग्यता प्राप्त करें। उनका यह कर्त्तव्य है कि वे देखें कि नगरपालिकाकी सीमाके अन्दर एक भी गन्दी सड़क और एक भी ऐसी गली न रह जाये जहाँ झाड़ू न लगी हो।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २१-२-१९२९

१. यह अंश प्यारेलाल द्वारा लिखित साप्ताहिक पत्रसे लिया गया है।

४६. भाषण : स्त्रियोंकी सभा, सक्खरमें

१० फरवरी, १९२९

अगर आप भारतमें स्वराज्यकी स्थापना करना चाहती हैं, जिसका अर्थ हमारे और आपके लिए केवल रामराज्य ही हो सकता है, तो आपको मन और तन, दोनोंसे सीताकी तरह शुद्ध बनना होगा, क्योंकि तभी आप महापुरुषोंकी जननी बन पायेंगी और शारीरिक शुद्धता लानेकी दिशामें पहले कदमके रूपमें आपको शुद्ध हाथ-कती खादी पहननी चाहिए जैसा कि प्राचीनकालमें सीता करती थीं। और अन्तमें, आप स्वयंको और अपनी बेटियोंको विभिन्न सामाजिक कुप्रथाओं और अत्याचारोंके उस जंजालसे मुक्त करें जो इस समय आपको जकड़े हुए हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २१-२-१९२९

४७. पत्र : प्रभावतीको

[१० फरवरी, १९२९ या उसके पश्चात][1]

चि० प्रभावती,

तुमारे खत सखरमें आकर मीले। मैं पिताजीको लीखता हुं वे जैसा कहेंगे वैसे हि करना। प्रत्युत्तरकी राह देखना।

बापूके आशीर्वाद

जी० एन० ३३१३ की फोटो-नकलसे।

४८. पत्र : एगनिसको

सत्याग्रह आश्रम[2]
साबरमती
११ फरवरी, १९२९

प्रिय एगनिस,

इतने वर्षों बाद तुम्हारा पत्र पाकर मुझे बहुत खुशी हुई। हाँ, जब हेनरी[3] यहाँ आये थे तब उनसे तुम्हारी सभी गतिविधियोंके बारेमें मुझे जानकारी मिल गई

१. गांधीजी १० फरवरी, १९२९ को सक्खर पहुँचे थे।
२. इस पत्रमें और इसके बादके इस कालके पत्रोंमें पत्र-व्यवहारके लिए स्थायी पता ही दिया गया था।
३. एच० एस० एल० पोलक।

थी। लेकिन दूसरेसे तुम्हारे बारेमें पता चलने और खुद तुम्हारे पत्रसे तुम्हारा हाल पानेमें बहुत फर्क है। मुझे इसकी भी खुशी है, तुम्हारा काम खूब मजेमें चल रहा है। अपने चाचा-चाचीको पत्र लिखना तो उन्हें मेरा स्मरण अवश्य करा देना। मुझे अक्सर उनकी और उनकी अनेक कृपाओंकी याद आती है।

तुमने अखबारोंमें और अगर 'यंग इंडिया' तुम्हें मिल रहा है तो उसमें देखा होगा कि मुझे यूरोपका अपना प्रस्तावित दौरा फिर रद करना पड़ा है। अब मैं नहीं जानता कि कब वहाँ आ सकूँगा। उसे रद करनेका मुझे बहुत दुःख हुआ, लेकिन वह बहुत जरूरी था।

हृदयसे तुम्हारा,

एगनिस
बुलस्ट्रोड हाउस
बुलस्ट्रोड स्ट्रीट
लन्दन, डब्ल्यू-१

अंग्रेजी (एस० एन० १५१३८) की फोटो-नकलसे।

४९. पत्र : उमर अहमदको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
११ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। धन्यवाद। मैं आपकी इस बातसे सहमत नहीं हो सकता कि नेहरू-रिपोर्टने मुसलमानोंके हितोंकी अवहेलना की है। उन हितोंके विषयमें रिपोर्टके सुझावोंसे आप भले ही असहमत हों। लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि उस रिपोर्टके लेखकोंके मनमें मुसलमानोंके दावोंकी अहमियत कम करने या उनकी उपेक्षा करनेकी कोई इच्छा नहीं रही है। किसी भी सूरतमें, स्वराज्यकी समस्याको बिना सभी सम्बन्धित वर्गोंके सहयोगके हल करनेका कोई सवाल ही नहीं है। अपनी हद तक मैं इतना ही कह सकता हूँ कि हिन्दू-मुस्लिम एकताके लिए मैं अब भी हमेशाकी तरह बहुत उत्सुक हूँ।

हृदयसे आपका,

श्री उमर अहमद
खिलाफत हाउस
बम्बई-१०

अंग्रेजी (एस० एन० १५३२४)की फोटो-नकलसे।

५०. पत्र : एच० टी० हॉलैंडको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
११ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

अब जाकर मुझे आपके पत्रका उत्तर देनेका समय मिला है। शिकारपुरमें मेरे पास एक मिनटका भी अवकाश नहीं था। मुझे ऐसे बहुतसे लोगोंको निराश करना पड़ा जो आशा करते थे कि मैं उनकी संस्था देखने जाऊँगा। उन परिस्थितियोंमें मैं आपकी संस्थाके लिए समय नहीं निकाल सका। इसलिए आप कृपया मुझे क्षमा करेंगे।

हृदयसे आपका,

रेवरेंड एच० टी० हॉलैंड
सेठ हीरानन्द चैरिटेबिल हॉस्पिटल
शिकारपुर

अंग्रेजी (एस० एन० १५००६)की फोटो-नकलसे।

५१. पत्र : राममरावको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
११ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

आपके प्रश्नोंके मेरे उत्तर ये हैं:[1]

१. श्री राममरावने पूछा था :

क्या आप मुक्ति या पूर्णताके बारेमें अपना विचार स्पष्ट करेंगे ?

(१) क्या आप किसी मनुष्यके लिए विकास-क्रमके किसी भी चरणमें मुक्ति प्राप्त करना सम्भव मानते हैं।

(२) श्री कृष्णमूर्ति कहते हैं कि जीवन विचार-अनुभूति है। क्या आप कृपापूर्वक जीवनकी अपनी परिकल्पनाका कुछ अनुमान देंगे ?

(३) वस्तुओंको समझनेमें शंकाका क्या स्थान और स्थिति है ?

(४) क्या सत्य और जीवन एक ही चीजें हैं ? आपने "माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ" ('मेरे सत्यके प्रयोग') नामक पुस्तक लिखी है। सत्यसे आपका क्या तात्पर्य है ?

(५) श्री कृष्णमूर्ति कहते हैं कि "वैयक्तिक समस्या ही विश्व-समस्या है।" आप उनके विचारसे किस हद तक सहमत हैं ?

मुक्तिका जो अर्थ मैं समझता हूँ वह है शरीरकी दासतासे अर्थात् जन्म और मरणसे पूर्ण मुक्ति।

(१) हाँ।

(२) जीवन वह है जो स्थायी है, अर्थात् जो हमेशा था, हमेशा है, और हमेशा रहेगा, और वह उन सभी चीजोंसे ऊपर है जिनको हम अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे देख या अनुभव कर सकते हैं।

(३) शंका समझकी जननी है।

(४) सत्य और जीवन सारतः एक ही चीज हैं। जीवनकी जो परिभाषा मैंने दी है, वही मैं सत्यकी भी करूँगा।

(५) मैं श्री कृष्णमूर्तिसे बिलकुल सहमत हूँ। उन्होंने जो बात कही है वह एक सूक्तिका[1] छायानुवाद है।

मैंने अपने उत्तर जानबूझ कर अस्पष्ट रखे हैं। आपके प्रश्नोंकी सविस्तार समीक्षा करना कठिन है। वह तो किसी चर्चाके दौरान ही सम्भव है। लेकिन मेरे उत्तरोंसे आपको शायद कुछ आभास मिल सकेगा कि सभी चिंतनशील लोगोंको उद्विग्न करने वाले इन परम महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके बारेमें मैं क्या सोचता हूँ।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत राममराव
द्वारा श्रीयुत जमशेद एन० आर० मेहता
बोनस रोड
कराची

अंग्रेजी (एस० एन० १५००८)की फोटो-नकलसे।

५२. पत्र : कमला सत्तियानाथनको[2]

११ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

मेरा सन्देश—जैसा पुरुषोंको वैसा ही स्त्रियोंको—यह है: मुक्ति स्वयं उनके ही हाथोंमें है। उन्हें अपनी पूरी शक्तिसे ऐसी हर कुप्रथाका प्रतिरोध करना चाहिए जो उन्हें अपने पैरों तले दबाकर रखती है।

हृदयसे आपका,
मो० क० गांधी

[अंग्रेजीसे]
सरोजिनी नायडू

१. "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"।
२. **इंडियन लेडीज मैगजीन**की सम्पादिका।

५३. पत्र : रुथ एफ० वुड्सवालको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
११ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

आपका पत्र मिला। वह मुझे मेरी सिन्ध-यात्राके दौरान प्राप्त हुआ था, अतः यह विलम्ब। मैं १७ तारीखको दिल्ली पहुँचनेवाला हूँ और वहाँ १८ तारीखको भी रहूँगा, लेकिन १८को मेरा मौन-दिवस है। चूँकि मैं दिल्ली एक विशेष कार्यवश जा रहा हूँ, इसलिए मेरे पास कोई समय नहीं बचेगा। मैं इस महीनेकी २० तारीखके लगभग साबरमती पहुँचने, और वहाँ केवल कुछ दिन रुकनेकी आशा करता हूँ। मैं वहाँ शायद कमसे-कम इस माहकी २५ तारीख तक रहूँगा।

हृदयसे आपका,

रुथ एफ० वुड्सवाल
मारफत वाई० डब्ल्यू० सी० ए०
नई दिल्ली

अंग्रेजी (एस० एन० १५००५) की फोटो-नकलसे।

५४. पत्र : आश्रमकी बहनोंको

११ फरवरी, १९२९

बहनो,

तुम्हारा पत्र मिला।

तुम जो कुछ हृदयपूर्वक कर सकती हो, मुझे उसीसे सन्तोष हो जायेगा। तुम्हारी शान्तिमें मेरा सुख निहित है।

रसिकके चल बसनेका मेरे अन्तरमें दुःख नहीं है। हाँ, स्वार्थके वश कभी दुःख उमड़ पड़े इतना मोह है। रसिक जहाँ गया है, वहाँ हम सबको जाना है। इसमें फर्क सिर्फ समयका है। इसमें दुःख क्या? फिर, मौतका डर किसलिए? मौतके बाद जन्म है या मोक्ष है। जन्म अच्छा तो लगता ही है। प्रयत्न करें और पसन्द हो तो मोक्ष भी है। तीसरी स्थिति है ही नहीं। अगर मोक्षके लिए सतत प्रयत्न न हो तो जन्म तो अनिवार्य है ही। और जन्म हमें अच्छा लगता है, इसलिए किसी भी तरह दुःखका कारण नहीं। दुःखका कारण हमारा अज्ञान है। यह समझकर मैंने अपना एक भी काम क्षणभरके लिए भी नहीं रोका।

इस बार ऐसे मुहूर्तसे निकला हूँ कि वहाँ आनेको तारीख सरकती ही रहती है।[1] इस बारेमें छगनलालके पत्रसे जान लेना।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]
बापुना पत्रो: आश्रमनी बहनोने

५५. पत्र: बालमन्दिरके बच्चोंको

सक्खर,
११ फरवरी, १९२९

बालमन्दिरके पक्षीगण,

तुम्हारे जवाब मिल गये हैं। इन्दु, बसन्त, माधुरी लिखते हैं कि हमें मसाला अच्छा लगता है, इसलिए खाना नहीं छोड़ेंगे। यह कैसी बात है? हमें कोई रिवाज अच्छा लगता है इसीलिए हमें उसके अनुसार खाना, बात करना या आचरण नहीं करना चाहिए। वह उचित हो, तो ही हम उसके अनुसार खायें, या आचरण आदि करें। तुममें से किसीको मिर्च पसन्द हो तो क्या यह खाई जानी चाहिए? तुम्हें ज्वर हो और ज्वरमें रोटी खानेको जी हो तो क्या रोटी खा लेनी चाहिए? वही खायें और उतना ही खायें जितना शरीरके लिए अच्छा हो। बचपनमें ही मन पर काबू करना सीख लें तो हम खूब आगे बढ़ सकते हैं। नानी कहती है कि वह सूतकी चूड़ी पहनना चाहती है। ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं है। पर चूड़ी न पहनना ही एक नया गुण है। इसलिए सूतकी चूड़ी पहननेको भी मन हो तो इस इच्छाको दबा देना चाहिए। ये चूड़ियाँ तो मैली हो जायेंगी और धोनी पड़ेंगी उससे तो न पहनना ही ज्यादा अच्छा होगा न?

मुझे तो आशा थी कि इस पत्रका जवाब मैं स्वयं हाजिर होकर सुन सकूँगा। किन्तु शायद ऐसा न हो सकेगा। ऐसा हो तो तुम अपने वचनका पालन करना और कक्षामें, रसोईघरमें, प्रार्थनाके समय शान्ति रखना।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ९२२१)की फोटो-नकलसे।

१. गांधीजी पहले १५ फरवरीको पहुँचनेवाले थे; फिर उन्होंने १६ फरवरीको पहुँचनेके लिए लिखा और पहुँच सके।

५६. पत्र : छगनलाल जोशीको

सक्खर
११ फरवरी, १९२९

चि० छगनलाल,

रसोई-घरकी यदि हमेशा बनी रहने योग्य शान्तिपूर्ण व्यवस्था हो गई है तो शायद मेरे आने पर भी वह बनी रहेगी। रस्सीसे पत्थरपर भी निशान पड़ जाता है। अभ्याससे क्या सम्भव नहीं है?

घीका हल तुमने ठीक ही सोचा है। अब हमारा प्रयोग ठीक चलेगा। इसके परिणामके साथ-साथ उसके गुण-दोष भी देखना। खानेवालोंकी थैली, उनके शरीर और मनपर क्या असर होता है, यह भी देखना।

ईश्वरलालकी बनाई हुई छुरियोंको कभी-कभी पत्थरपर तेज कर लेनेसे वे अच्छा काम देंगी। काम हो जानेके बाद उनको सदा साफ करवा लिया जाये।

बदरुलके बारेमें शंकरलालको मालूम है। उसकी बात जल्दी ही मत मान बैठना। उसने ३०,००० रु० का ठीक हिसाब नहीं दिया है।

ठंडके कारण पैर फट जाते हों तो रातको गरम पानीमें सोडा डालकर पाँव धोना और फिर घी भरकर उसके ऊपर पट्टी बाँध लेना उसका उपाय है। चौकीदार यह काम दिनमें ही कर ले। मेरा अँगूठा और उसके नीचेका हिस्सा फट गया था। मैंने यही किया। दो दिनमें बिवाई भर गई थी। काम तो कोई भी बन्द नहीं किया था। चलना-फिरना जारी था।

यह जरूरी है कि तुम एक ही दिन पाखानेकी सफाई और चौकीदारी, दोनों न करो। अपना काम बाँटकर बोझ कम करना।

सरलादेवीको उतने मावेकी जरूरत न हो तो कम भेजना। शहरसे दामोंका भी पता लगा लेना और दाम थोड़ा कम लेना। हम सबके साथ अपना व्यवहार पूर्णतया शुद्ध रखें। कोई आवश्यकता न होने पर भी हमारी चीज लें, यह जरूरी नहीं होना चाहिए। मावेके लिए और भी ग्राहक आसानीसे मिल सकते है। क्या दूधकी मात्रा कुछ बढ़ी है?

रोटीके लिए जिन्हें रखना ठीक हो उन्हींको रखना। धीरूको इस कामसे छुट्टी क्यों देनी पड़ी, यह तुमने नहीं लिखा है। रमणीकलालको रोटी बनाना सीख लेना चाहिए।

यदि किसीके पास एक लच्छी भी कात पानेका सबल कारण हो तो उससे कुछ नहीं कहना है।

आश्रमकी छोटी-मोटी बातें लिखनेके विषयमें संकोच करनेका तनिक भी कारण नहीं है। जैसे जन्म-मरणकी सूचना सुन लेना ठीक रहता है, उसी प्रकार सुख-दुखकी छोटी-मोटी बातें भी मनमें क्षोभका अनुभव किये बिना उन्हें सुन लेनेकी शक्ति अथवा कला सीख लेनी चाहिए। जो दुःख रूप लगता है वह दुख है और जो सुख रूप

लगता है वह सुख ही है, यह कौन कह सकता है? भाँग पीनेमें मीठी लगती है, किन्तु उसका परिणाम तो हमें मालूम ही है। दूसरी मीठी लगनेवाली चीजोंका परिणाम हम नहीं जानते। इसलिए कई बार धोखा खा जाते हैं।

तोतारामजीकी आँखोंके बारेमें लिखना, उन्हें क्या हुआ था?

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५३८८) की फोटो-नकलसे।

५७. पत्र: गंगाबहन वैद्यको

मौनवार, ११ फरवरी, १९२९

चि० गंगाबहन,

यह मैं क्या सुन रहा हूँ। छगनलालकी अनुमतिसे. . .[१] ने तुम्हारा पत्र पढ़ लिया इसलिए तुम्हें दुःख और क्रोध क्यों हो? मैं तो यह जानता हूँ कि तुम्हें और मुझे इस जगतसे कोई भी बात नहीं छिपानी है। इसलिए अगर किसीने मेरा लिखा निर्दोष पत्र पढ़ भी लिया तो इससे तुम्हें क्रोध क्यों हो? अब आगे सावधान रहूँगा। यह पत्र तुम्हें अलगसे भेज रहा हूँ। हालाँकि छगनलालको यह बता दिया गया है कि जिस पत्रपर 'निजी' लिखा हुआ हो उसे वह अथवा दूसरा कोई भी व्यक्ति न पढ़े। फिर भी जबतक तुम मुझे आश्वस्त नहीं करतीं तबतक मैं तुम्हारा पत्र अलग लिफाफेमें ही भेजता रहूँगा।

तुम्हारा स्वास्थ्य अब तो बिल्कुल ठीक होगा। तुम्हारे पत्रकी आज तो प्रतीक्षा थी ही। किन्तु शायद तुमने क्रोधके कारण पत्र नहीं लिखा। अब क्रोध छोड़ दो। हम रोज प्रारम्भमें जो श्लोक गाते हैं उसे याद करना।

प्रजहाति यदा कामान्[२]

फिर हम यह भी गाते हैं, **कामात् क्रोधोऽभिजायते**[३]।

. . .[४]अपराध करे तो तुम्हें उसके कान खींचनेका अधिकार तो है किन्तु क्रोध करनेका नहीं। इसलिए सावधान रहना।

टिकट बचानेके लिए आधे पत्र तुम्हारे लिफाफेमें और आधे छगनलालके लिफाफेमें भेज रहा हूँ।

बापूके आशीर्वाद

[गुजरातीसे]

बापूना पत्रो: गं० स्व० गंगाबहेनने

१. साधन-सूत्रमें नाम नहीं दिया गया है।

२. गीता, २-५५।

३. गीता, २-६२।

४. साधन-सूत्रमें नाम नहीं दिया गया है।

५८. पत्र : छगनलाल जोशीको

[११ फरवरी, १९२९][1]

चि० छगनलाल,

अभी पुरानी डाक ही देख रहा था कि रोहड़ीसे डाक आ गई। रोहड़ीको साबरमती और सक्खरको अहमदाबाद समझो। इनकी दूरी उनसे भी कुछ कम ही है।

गंगाबहनके क्रोधसे बहुत आश्चर्य हुआ है। मैंने आज ही उन्हें अलग पत्र[2] लिखा है। ऐसा तो होता ही रहता है।

सुबह ही तुम्हें मावेके विषयमें लिखा था। अब तुमने लिखा है कि दोनोंको ही मावा नहीं चाहिए। अनसूयाबहनको मावेकी किसी अच्छी दुकानका पता मालूम है। उसके साथ प्रबन्ध कर सकते हो। यह न हो सके तो मुझे लिखना। दाममें एक आना कमी करोगे तो वह ले लेगा। अम्बालालभाईके यहाँसे दूध लें तो कोई सवाल ही नहीं रहता। फिर भी मावेकी दूकानके बारेमें जान लेना आवश्यक ही है।

छोटेलालका काम तो ऐसा ही है। उसे न रख सको तो तुम असफल नहीं माने जाओगे। जो उसे रख सके उसका तो 'आनर्स' में भी ऊँचा दर्जा समझो।

दोपहरको सोनेके बाद अभी उठा हूँ। नींदमें स्वप्नमें तुम्हें देखा। तुम मेरे साथ गा रहे थे। मैंने कहा; तुम्हें गाना तो अच्छा आता है। तुमने कहा, यह तो है, लेकिन यहाँ मुझे कोई कुछ मानता ही नहीं है। यहाँ आनेसे पहले मैं तीन बार कवियोंकी परिषदका प्रमुख चुना गया था। ठीक श्रीनगर तकसे मुझे निमन्त्रण प्राप्त हुए थे। यहाँ आते ही मेरा गर्व मिट्टीमें मिल गया और मैं कवि भी नहीं माना जाता। हम इसपर हँस पड़े; स्वप्न पूरा हो गया और नींद खुल गई।

आश्रममें मजदूरोंसे हमारा काम ठीक नहीं चल सकता, यह तो मैं जानता ही हूँ। इस समय स्वेच्छया जिसे बन्द नहीं कर पा रहे हैं, उसे किसी दिन लाचार होकर अपनी मर्जीसे समाप्त करना चाहेंगे। इसलिए दुबारा विचार करना। किन्तु जबतक ऐसा करनेकी शक्ति दिखाई न दे तबतक जबरदस्तीसे न करना। फिलहाल एक सीमा बाँध लो, तो भी ठीक होगा। लेकिन दो सुझाव हैं। (१) वे खादी पहनें। (२) उनकी संख्या या निश्चित की हुई संख्यामें वृद्धि न करें।

अब्दुल्ला भाईकी याद है। अब तो वे चले गये होंगे।

मोतीलालजीका तार आया है। मंगलवार तक रुकने और विट्ठलभाईके यहाँ रहनेको कहा है। इसलिए पता बदल लेना और एक दिन और बढ़ा लेना।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (जी० एन० ५५६३) की फोटो-नकलसे।

१. मावेकी बिक्रीके उल्लेखसे। यह स्पष्ट है कि पत्र बादमें इसी तिथिको लिखा गया था। देखिए पृष्ठ ४३३ ।

२. देखिए पिछला शीर्षक।

५९. पत्र : वसुमती पण्डितको

सक्खर
मौनवार, ११ फरवरी १९२९

चि० वसुमती,

क्लीपेडसे तुम्हारा पत्र मुझे कल ही मिला। इसलिए यह पत्र इस समय तुम्हें मन्दिरके पते पर लिख रहा हूँ।

दादाके लड़केके देहान्तका साधारण रूपसे उल्लेख करके तुमने ठीक ही किया है। यह मौतके डरसे मुक्त होनेकी निशानी है। रसिककी मृत्युसे मुझे इसका ताजा अनुभव हुआ है। उसकी मृत्युसे होनेवाले दुःखका कारण स्वार्थ ही है। यह रसिकके लिए तो सब प्रकारसे ठीक ही हुआ। उसका शरीर बेकार हो गया था, अन्दरसे सड़ गया था। उसे सँभालकर वह क्या करता? मौतके सम्बन्धमें इस घटनासे पहले ही मैंने 'नवजीवन' में जो कुछ लिखा है उसे पढ़कर विचार करना। यदि हम अपने प्रियजनोंकी मृत्युके विषयमें निश्चिन्त हो जायें तो अपनी मृत्युके विषयमें उससे भी ज्यादा निर्भय हो जायेंगे और इस महान मित्रसे भेंटके लिए तैयार रहेंगे।

अब अपने स्वास्थ्यकी चाबी अपने हाथमें मानो। चाहे जैसी भी स्थिति हो, मनमें क्लेश न करना। यदि स्थिति न सुधरे तो उसे सहन कर लें। जो सुधर सके उसे सुधार लें। जिस स्थितिमें अनीति हो और जो सहन करने योग्य न हो उससे असहयोग करें। इन तीन बातोंके सिवा चौथी बात नहीं होती।

छगनलालको लिखे कलके पत्रसे तुमने देखा होगा कि फिलहाल मेरे मन्दिर लौटनेमें कुछ रुकावट होगी। समय लगेगा।

मेरी गाड़ी तो बकरीके दूधके बिना ठीक चल रही है। शायद काम चल जायेगा।

बापूके आशीर्वाद

गुजराती (सी० डब्ल्यू० ४२९) की फोटो-नकलसे।
सौजन्य : वसुमती पण्डित।

६०. भाषण : सार्वजनिक सभा, रोहड़ीमें[1]

११ फरवरी, १९२९

गांधीजीने अन्य चीजोंके अलावा श्रोताओंसे अपने बीचसे शराबखोरीके पिशाचको मार भगानेकी जोरदार अपील की। उन्होंने कहा, यदि आप यह कर दें तो इससे सरकारके पंख कट जायेंगे, क्योंकि उसको २५ करोड़ रुपये सालानाका राजस्व मिलना बन्द हो जायेगा। यह रुपया गरीबोंकी जेबोंमें रहकर सुफलित होगा और इससे सरकार और जनताके सम्बन्ध भी कुछ हदतक शुद्ध बनेंगे। उन्होंने वादा किया कि शराब और विदेशी कपड़ेका बहिष्कार अहिंसाकी शुद्धतम अभिव्यक्ति है। इसमें किसीके प्रति कोई दुर्भावना नहीं है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २१-२-१९२९

६१. पत्र : मीराबहनको

१३ फरवरी, १९२९

चि० मीरा,

मैं तुम्हें सोमवारको पत्र नहीं लिख सका, लेकिन मैं तुम्हें लगभग बराबर लिखता रहा हूँ। अतः सोमवारवाला पत्र न मिलनेकी ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जायेगा। और रोज-रोजकी इन यात्राओंके बीच न तो तुम जानती हो और न मैं ही कह सकता हूँ कि तुम कब मेरे पत्रकी आशा कर सकती हो?

मोतीलालजीने अपने आखिरी तारमें लिखा है कि मुझे मंगलवार तक दिल्लीमें रहना होगा। मंगलको मैं कहाँ जाऊँगा, मुझे पता नहीं। मेरा मन है कि मैं साबरमती या बम्बई न जाकर दिल्लीसे सीधा आन्ध्र चला जाऊँ। लेकिन मैं निश्चय करते ही तुम्हें सूचित करूँगा। दिल्लीमें मेरा पता होगा — द्वारा माननीय वि० झ० पटेल, स्पीकर, दिल्ली।

कैसा हत्याकाण्ड हुआ बम्बईमें। इससे मेरा मन उदास हो गया है। लेकिन शायद यह अवश्यम्भावी था।

देवदासने मुझे एक कवित्वपूर्ण पत्र भेजा है, जिसमें रसिकके अन्तिम दिनोंका वर्णन है। जो-कुछ उसने लिखा है यदि वह सच है तो आश्रमने अपने अस्तित्वकी सार्थकता सिद्ध कर दी है। पत्रमें बताया गया है कि वह बहुत ही सात्विक और

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है।

कोमल स्वभावका लड़का बन गया था। बा, हरिलाल और कान्ति अभी दिल्लीमें मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आज बस इतना ही।

प्यार,

बापू

अंग्रेजी (सी० डब्ल्यू० ५३४३)से।
सौजन्य : मीराबहन

६२. भाषण : स्त्रियोंकी सभा, पड़ीडानमें[1]

१३ फरवरी, १९२९

हमारे शास्त्र कहते हैं कि जिसका जीवन सर्वथा पवित्र हो ऐसी स्त्रीमें, सतीमें, ईश्वर साक्षात् विराजमान होता है। नियमानुसार तो आपका अपने घरोंमें रानियों जैसा रुतबा होना चाहिए। लेकिन यह तभी हो सकता है जब आप अपने आदमियोंको शराबकी आदतसे छुड़ा लेंगी।

शराबके अभिशापके स्वरूप उस यादव वंशका ही समूल नाश हो गया था जिसके भगवान कृष्ण स्वयं एक सदस्य थे। और यह बात इतिहासका एक तथ्य है कि शराबखोरीकी लतका रोमन साम्राज्यके पतनमें भी योगदान था। संक्षेपमें, इस आदतको जहाँ-कहीं अपनी जड़ जमानेमें सफलता मिली वहाँ इसने दुःख और पतनकी ही सृष्टि की है। लेकिन स्त्रियोंके हाथमें सत्याग्रहका महान और शक्तिशाली अस्त्र है। यदि कैकेयी दुराग्रहके बलपर दशरथसे अपनी इच्छा पूरी करा सकती थी तो आप लोग सत्याग्रहके बलपर क्या कुछ नहीं प्राप्त कर सकतीं? आपका ध्येय सही है और आपके अन्दर आत्मत्याग और कष्ट-सहनकी अपरिमित क्षमता है। यदि आप लगनके साथ प्रयत्न करेंगी तो आपकी विजय सुनिश्चित है।

[अंग्रेजीसे]
यंग इंडिया, २८-२-१९२९

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है।

६३. भाषण : सार्वजनिक सभा, हैदराबाद (सिन्ध) में[1]

१३ फरवरी, १९२९

गांधीजीने अपने भाषणमें इस बातपर सन्तोष प्रकट किया कि नगरपालिकाने अपनी सीमामें प्रारंभिक शिक्षा निःशुल्क कर दी है, किन्तु उन्होंने नगरपालिकाके सदस्योंको याद दिलाया कि जबतक वह हैदराबादमें शराबकी बुराईको बिलकुल खत्म नहीं कर देती और शुद्ध और सस्ते दूधकी ऐसी अच्छी व्यवस्था नहीं कर देती कि लोग उसे उतनी ही आसानीसे प्राप्त कर सकें जितनी आसानीसे वे डाक-टिकट ले सकते हैं, तबतक ऐसा नहीं माना जा सकता कि उसने जनताके प्रति अपना कर्त्तव्य पूरी तरह निभा दिया है। अन्तमें उन्होंने इस बातपर खेद प्रकट किया कि नगर-पालिकाके अभिनन्दनपत्रमें खादीका कोई उल्लेख नहीं किया गया। उन्होंने कहा, मैंने सिन्धमें गरीबीके काफी सबूत देखे हैं। हैदराबादकी नगरपालिका स्कूलोंमें कताई आरम्भ कराके हजारों रुपयेकी खादीका उत्पादन कर सकती है, जिसपर बहुत कम पूंजी और समय खर्च होगा, और इस प्रकार वह सिन्धके नगरों और गाँवोंके बीच बन्धुत्वका एक जीवन्त सम्बन्ध स्थापित करनेमें सहायता कर सकती है।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २८-२-१९२९

६४. टिप्पणियाँ

तलवार बनाम आत्मा

एक मित्रने 'माई मेगजीन' के एक पुराने अंकसे निम्नलिखित दिलचस्प उद्धरण भेजा है:[2]

> नेपोलियन जानता था कि पशु-बलपर निर्भर करना भूल है। उसका कहना था कि "संसारमें केवल दो ही शक्तियाँ हैं, और वे हैं आत्म-बल और पशु-बल। अन्तमें पशु-बलको आत्म-बल सदैव जीत लेगा।" यह बात नेपोलियनने पराजित और निर्वासित होनेके बाद नहीं बल्कि उस समय कही थी, जब वह सफलताके चरमोत्कर्षपर था।

लेकिन हम पूछ सकते हैं कि जब नेपोलियनने युद्धकी निरर्थकता इतने स्पष्ट रूपसे समझ ली थी तब भी वह युद्ध क्यों छेड़ता रहा? वह उस समय

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रमेंसे लिया गया है।

२. यहाँ केवल कुछ अंश ही दिये जा रहे हैं।

तक तलवारका प्रयोग क्यों करता रहा जबतक कि वाटरलूमें वह उसके हाथसे छीन ही नहीं ली गई? इसका कुछ कारण तो यह था कि हम लोगोंकी भाँति ही नेपोलियन भी जो-कुछ कहता था उसके अनुसार सदैव आचरण नहीं कर पाता था, और कुछ कारण यह था कि अन्य राजा और महाराजा उसे शान्तिसे नहीं बैठने देते थे। वे नेपोलियन जैसे-बुद्धिमान नहीं थे। जब वह शान्तिकी बात कहता था तो वे विश्वास ही नहीं करते थे कि वह सच कह रहा है। एक विकट युद्धके बाद नेपोलियनने आस्ट्रियाके सम्राटके पास यह व्यक्तिगत अपील भेजी थी:

"चारों ओर व्याप्त शोक और १५,००० लाशोंके बीच में आपको एक फौरी चेतावनी देनेके लिए अपने आपको कर्त्तव्यबद्ध महसूस करता हूँ। आप युद्ध-भूमिसे बहुत दूर हैं और आपका हृदय उतना विचलित नहीं हो सकता जितना कि युद्ध-भूमिमें मेरा हो गया है। . . ."

कितना अच्छा हो कि भारत, जिसने कांग्रेसके जरिये अहिंसाकी नीतिको अपनाया है, उस नीतिपर दृढ़ रहे और पशु-बलके अभिशापसे कराह रहे संसारको दिखा दे कि जिस प्रकार व्यक्तियोंके जीवनमें आत्म-बलकी पशु-बलके ऊपर विजय होते देखी गई है उसी प्रकार राष्ट्रीय मामलोंमें भी तलवारकी शक्तिके ऊपर आत्माकी शक्तिकी विजय अवश्य होती है।

अमेरिकामें मद्य-निषेध

अमेरिकामें मद्य-निषेधका जो महान प्रयोग किया जा रहा है उसके बारेमें समाचारपत्रोंमें परस्पर-विरोधी खबरें पढ़नेको मिलती हैं। मुझसे मिलनेके लिए जो बहुत-से अमेरिकी पर्यटक आते हैं, उनसे मैं इसके बारेमें पूछता हूँ और इनमेंसे अधिकांशने मुझे विश्वास दिलाया है कि यह प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है। इन लोगोंमें से एक अमेरिकी लेखिका, श्रीमती सारा एम० अलगेओ हाल ही में मुझसे मिली थीं। उन्होंने दावा किया कि वह मद्य-निषेधके लिए काम करती रही हैं और एक उत्साही सुधारक हैं। इसलिए मैंने उनसे कहा कि वे जितने संक्षेपमें हो सके उस प्रयोगके बारेमें अपने अनुभव और विचार लिखित रूपमें प्रस्तुत कर दें। उन्होंने कृपापूर्वक वैसा किया है। उनके उत्साहपूर्ण पत्रके प्रासंगिक अंश नीचे दिये जा रहे हैं:[1]

आज तीसरे पहर आपसे मेरी भेंटके समय आपने मुझसे कहा था कि मैं अमेरिकामें मद्य-निषेधके पक्षमें हुई हमारी हालकी महान् विजयके बारेमें आपको लिखूँ। मैं इसे बहुत खुशीके साथ कर रही हूँ क्योंकि मद्य-निषेधकी विफलताके बारेमें इतनी अधिक बेसिर-पैरकी अफवाहें फैली हुई हैं कि आपके सामने तथ्योंको रखनेके इस अवसरका मैं स्वागत करती हूँ। आप मेरी ही तरह कई

१. यहाँ कुछ अंश ही दिये जा रहे हैं।

वर्षोंसे मद्य-निषेधके पक्षपाती रहे हैं। हमने अपनी उच्चाकांक्षाओंको कई बार खण्ड-खण्ड होते देखा है और हमें शंका हुई है कि हमारे सपने कभी सच भी होंगे या नहीं।

मेरा सपना तो अमेरिकाके पिछले चुनावोंमें आशासे भी अधिक पूरा हो गया। जैसा कि आप जानते हैं, हमारे यहाँ दो प्रमुख पार्टियाँ हैं — रिपब्लिकन पार्टी और डेमोक्रेटिक पार्टी। हर चार वर्षके बाद ये पार्टियाँ कुछ प्रश्नोंपर चुनाव-संघर्षमें एक-दूसरेका सामना करती हैं। नवम्बरमें हर सवाल जो १९१९ से लागू है मद्य-निषधके बड़े सवालके आगे गौण हो गया। धनिक वर्गोंके इतने अधिक लोग शराब परसे रोक हटानेकी माँग कर रहे थे कि इस सवालने अत्यन्त विकट रूप ग्रहण कर लिया था।

न्यूयार्क राज्यके गवर्नर, एल्फ्रेड स्मिथने, जो मद्य-निषेध हटानेके पक्षपातियोंके प्रतिनिधि थे, अपने चुनावकी आशा निषेध हटानेके पक्षपातियोंके ऊपर लगा दी और मद्य-निषेध कानूनको रद करानेकी खुलेआम और जोर-शोर के साथ माँग की। इसके विपरीत, श्री हर्बर्ट हूबर और उपराष्ट्रपति पदके उम्मीदवार सेनेटर कर्टिस मद्य-निषेधको जारी रखनेका उतना ही कट्टर समर्थन कर रहे थे। . . . जैसा कि आप जानते हैं, मद्य-निषेध और श्री हूबरको राष्ट्रपतिपद और उप-राष्ट्रपतिके चुनावमें ही नहीं बल्कि सेनेट और कांग्रेसमें भी भारी बहुमतसे विजय मिली — निषेध हटानेका समर्थन करनेवाले ८ सेनेटर और १४ कांग्रेस-सदस्य पराजित हो गये।

स्त्रियोंने यह करामात कर दिखाई। दक्षिणकी सीधी-सादी गृहिणियोंने सभी राजनीतिक आशाओंके विपरीत अपनी पार्टी अर्थात् श्री स्मिथकी पार्टी, डेमोक्रेटिक पार्टीका साथ छोड़कर श्री हूबरके पक्षमें मत दिया। स्त्रियोंने न केवल श्री हूबरको अपने मत ही दिये बल्कि उन्होंने क्लबोंकी स्थापना की और अपने यहाँके बहुत-से पुरुषोंको भी इतना लज्जित किया कि उन्होंने भी श्री हूबरका समर्थन किया। निश्चय ही यह विजय मद्य-निषेधकी विजय थी, स्त्रियोंके मताधिकारकी विजय थी, लेकिन विशेष रूपसे यह बुराईके ऊपर अच्छाईकी विजय थी।

समानता क्या है?

"ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा स्थापित शान्तिके सिवा, और क्या चीज है जो हमारे अन्दर समान रूपसे पाई जाती है?" यह सवाल मुझसे अक्सर किया गया है। अभी हालमें यह सवाल मुझसे कराचीके 'डेली गजट' के सम्पादकने पूछा था। मुझे इस बातका दुःख है कि इस सवालका सविस्तार उत्तर देनेका समय मेरे पास नहीं था, हालाँकि मेरा जवाब काफी सम्पूर्ण था। मेरा उत्तर था कि ब्रिटिश शासन द्वारा थोपी गई शान्तिकी अपेक्षा हम इस दृष्टिसे अधिक समान हैं कि हमारा जन्म एक

ही देशमें हुआ है, हमारा तौर-तरीका एक है, हमारे दुःख एक हैं और हम सब गुलाम हैं। लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा थोपी गई यह शान्ति है क्या? क्या इसका यह मतलब नहीं है कि यह विदेशी आक्रमणसे हमारी रक्षा करनेकी अपेक्षा अक्सर हमें आपसमें ही लड़नेसे रोकती है? और क्या हम नहीं देखते कि इस एक चीजकी भी अवहेलना अधिक और पालन कम किया जाता है? ब्रिटेन द्वारा थोपी गई शान्ति हिन्दू-मुस्लिम झगड़ोंको रोकनेमें असमर्थ है। जो एक चीज वह सफलतापूर्वक करती है वह है असाधारण सैनिक और अन्य उपायोंसे उन चन्द यूरोपीयोंकी सुरक्षाका प्रबन्ध, जो देशका शोषण कर रहे हैं। अतः ब्रिटिश शासन द्वारा थोपी गई शान्ति, जिस हद तक कि वह सारे देशमें समान रूपसे मौजूद है, कोई ऐसा वरदान नहीं है जिसका उद्देश्य देशको आर्थिक या राजनीतिक रूपसे आगे बढ़ाना हो। इसने जनताको नामर्द और लाचार बना दिया है। इसलिए मेरा कहना यह है कि ब्रिटेन द्वारा थोपी गई शान्ति नहीं, बल्कि एक ही देशमें जन्मकी समानता, रीति-रिवाजोंकी समानता, दुःखोंकी समानता और सबकी एक समान गुलामी, — इनमें हर चीज अपने आपमें और संयुक्त रूपसे हमको आपसमें जोड़नेवाली एक वास्तविक शक्ति है। दुःखकी प्रतीति, गुलामीकी प्रतीति देशके लोगोंमें जैसी एकता स्थापित कर रही है वैसी एकता कभी नहीं हुई थी। और जब ये चीजें विगतकी चीजें बन कर रह जायेंगी, जैसा कि होकर रहेगा, तब एक ही देशमें जन्मकी समानता एक ऐसी शक्ति सिद्ध होगी जो देशको अजेय बना देगी।

साइमन कमीशनके सामने गवाही

उक्त सम्पादक महोदयने ब्रिटेन द्वारा स्थापित शान्तिके अलावा जो अन्य प्रश्न पूछे थे उनमें से एक था साइमन कमीशनके सामने दी जानेवाली गवाहियोंके महत्वके बारेमें। मेरी निश्चित राय है कि उस गवाहीका कोई राष्ट्रीय महत्व नहीं है। अधिकांश गवाहियाँ सरकारी सूत्रोंसे प्राप्त हुई हैं या उन सूत्रोंसे प्राप्त हुई हैं जो हमेशा से सरकारी अधिकारियोंके प्रभावमें रहे हैं, और निश्चय ही जिस गवाहीको केवल कुछ सौ रुपयोंके खर्चसे दिल्लीसे डाउनिंग स्ट्रीट भेजा जा सकता था उसे एकत्र करनेके लिए एक संसदीय आयोगको लन्दनसे यहाँतक लाना धन और श्रमकी बर्बादी ही थी। जो सरकार जनमतकी उपेक्षा करती है वह जनतासे बिना पूछे जो चाहे कर ले, किन्तु उससे कोई समस्या हल नहीं होगी। इससे तो स्थिति और जटिल ही होगी। जोरदार जनमतकी अवहेलना करते हुए इस कमीशनको भारतमें रखनेका आग्रह इस बातका पक्का सबूत है कि सरकारकी इच्छा भारतकी राजनीतिक रायकी उपेक्षा करनेकी है, भले ही वह कितनी ही मजबूत, ठोस और सर्वसम्मत हो और इस बातका भी सबूत है कि सरकारमें उपेक्षा करनेकी सामर्थ्य है।

अन्तःकरणकी खातिर

'पेक्स इंटरनेशनल' 'विमेन्स इंटर नेशनल लीग फॉर पीस ऐण्ड फ्रीडम'की ओरसे १२ रू दु व्यू-कॉलेज, जिनेवासे प्रकाशित होनेवाली एक मासिक पत्रिका है। मेरे सामने इस मासिकके नवम्बर अंककी एक प्रति है, जिसमें निम्नलिखित अनुच्छेद है:

यूगोस्लावियामें नाजरेन धार्मिक सम्प्रदायके ७२ सदस्योंको सावे जिलेकी सैनिक अदालतने शस्त्र उठानेसे इनकार करनेके अपराधमें १० वर्षकी कैदकी सजा दी है। ये सभी अभियुक्त इसी अपराधके लिए पहले ही ५ वर्षकी कैद भोग चुके हैं। संसार-भरके सभी शान्ति-प्रेमियोंको इन अमानुषिक सजाओंके विरुद्ध आवाज उठानी चाहिए और फैसलोंपर पुनर्विचार करनेकी माँग करनी चाहिए।

यह शान्ति-आन्दोलन पश्चिमी जगतमें एक अद्भुत जागृतिका सूचक है। किसी प्रणालीके अन्तर्गत ७० भद्रजनोंको केवल इसलिए १० वर्षकी कैदकी सजा देना सम्भव हो कि वे उस प्रणाली द्वारा लागू घृणाके नियमको माननेके बजाय प्रेमके नियमका पालन करते हैं, उस प्रणालीकी बर्बरताका प्रमाण है। विश्वका अन्त:करण इन बर्बर सजाओंका विरोध करे या न करे, और इस विरोधका यूगोस्लाव सरकारपर असर पड़े या न पड़े, इतना निश्चित है कि जो प्रणाली अपनेको जीवित रखनेके लिए निर्दोष और भद्र नागरिकोंपर अमानुषिक दण्ड थोपनेकी जरूरत अनुभव करती है वह अवश्य ही अपने जीवनकी अन्तिम साँसें गिन रही है। मैं बहादुर नाज़रेनोंको सादर बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि स्वयं यूगोस्लावियाका अन्त:करण उन्हें १० वर्षकी लम्बी अवधि तक जेलोंमें नहीं पड़ा रहने देगा।

'राष्ट्रीयता-विहीन'

'पैक्स इंटरनेशनल' में इतना ही दु:खद किन्तु महत्वपूर्ण एक अन्य अनुच्छेद 'राष्ट्रीयता-विहीन जन' शीर्षकके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। इसमें लिखा है:

युद्धोत्तर कालकी उथल-पुथलके परिणामस्वरूप, विशेष रूपसे हंगरी, रूमानिया, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया और आस्ट्रियामें, हजारों लोग ऐसे हैं जो अपने आपको बिना किसी घर, बिना किसी राष्ट्रीयता और बिना पासपोर्टके पाते हैं।

उस व्यक्ति और उसके परिवारकी दशाकी कल्पना कीजिए जिसे पुलिस द्वारा सीमापर ले जाकर देशसे निष्कासित कर दिया गया हो। इसके बादसे उस परिवारका जीवन, प्राण बचाकर भागते हुए पशुओं-जैसा बन गया है। इस परिवारके लोग एक देशसे दूसरे देशमें भटकते हैं लेकिन कहीं स्थायी रूपसे टिक नहीं पाते क्योंकि उनके पास आवश्यक कागजात नहीं हैं।

यह समस्या राष्ट्रीयता-विहीन रूसियों और आर्मीनियनोंके लिए 'नानसेन पासपोर्ट' के जरिये हल कर दी गई है। यह पासपोर्ट इस समय लगभग ३२ देशों द्वारा वैध-पत्रके रूपमें स्वीकार किया जाता है।

लेकिन अभीतक अन्य गृह-विहीन लोगोंके लिए कुछ भी नहीं किया गया है। उनको अपनी इस कठिनाईसे निकलनेका कोई रास्ता ढूँढनेमें मदद देनेके लिए जिनेवामें एक समिति बनाई गई है जिसका नाम 'वर्ल्ड कमेटी फॉर द होमलेस्' (गृह-विहीनोंसे सम्बन्धित विश्व-समिति) है। इसका उद्देश्य समाचार-पत्रोंको इस विषयमें सामग्री देनेके लिए आँकड़े एकत्र करना है और इस प्रकार

जन-मतको शिक्षित करने और लीग ऑफ नेशन्सके तत्वावधानमें एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने तथा ऐसे कदम उठानेकी तैयारी करना है जिससे कि इन गृह-विहीन लोगोंको कोई दर्जा प्राप्त हो सके।

समितिके डायरेक्टर वाल्टर एच० फर्गलर हैं और इसका कार्यालय ३, जनरल-दूफोरमें स्थित है।

सम्पूर्ण यूरोपीय प्रणाली ही पारस्परिक अविश्वास और भयपर आधारित है। वेलेसने, जो डार्विनके समकालीन थे, ठीक ही कहा था कि पश्चिमकी आश्चर्यजनक भौतिक प्रगतिसे पश्चिमके लोगोंकी नैतिक दशामें तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा है। कई मामलोंमें तो जो स्वतन्त्रता है उसे स्वतन्त्रता कहना गलत होगा। लेकिन यह एक शुभ लक्षण है कि बहुत बड़ी संख्यामें पश्चिमके लोगोंको अपनी सभ्यताकी इस अत्यन्त चिन्ताजनक सीमाका अहसास हो गया है और वे इसे दूर करनेके लिए ईमानदारीसे प्रयत्न कर रहे हैं। इस बीच हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि हम हिन्द महासागरके उस पारसे आनेवाली भौतिक वैभवकी चमक-दमकमें बह न जायें। हर चमकदार चीज सोना नहीं होती।

'गोधनकी दुर्दशा'

स्पष्टतः ही भारतमें लोगोंकी गरीबी और उनके पशुओंकी बुरी दशाके बीच सीधा सम्बन्ध है। उड़ीसा मनुष्यकी गरीबीका जीता-जागता उदाहरण है। नागरिक पशु-चिकित्सा विभाग (उड़ीसा रेंज)के प्रधान और असिस्टेंट डायरेक्टर, रायसाहब पी० एन० दासने कुछ दिन पहले कटक गौरक्षिणी सभाकी बैठककी अध्यक्षता करते हुए निम्नलिखित बात कही बताते हैं?[1]

उड़ीसामें पशुओंकी स्थिति बहुत ज्यादा शोचनीय है।...लोगोंको बहुत कम दूध मिलता है। गाँवोंमें ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्होंने जीवनमें कभी दूधका स्वाद भी नहीं चखा और ऐसे बहुत-से गाँव हैं जहाँ एक छटाँक दूध भी उपलब्ध नहीं है।

गोशालाओंके बारेमें :

उन्होंने सुझाव दिया कि इस प्रकारकी संस्थाओंमें आगेसे दो विभाग होने चाहिए; एक तो अपंग, बूढ़े और बेकार जानवरोंको आश्रय देनेके लिए और दूसरा पशुओंकी नस्ल सुधारने और उनको पालनेके नयेसे-नये तरीकोंको अपनानेके लिए।

रायसाहबके सुझावोंका समर्थन करनेवाले काफी प्रमाण इन पृष्ठोंमें छापे जा चुके हैं। अच्छा हो कि देशकी तमाम गोशालाओंके न्यासी वक्ता द्वारा दी गई सलाहको हृदयंगम कर लें।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, १४-२-१९२९

१. यहाँ केवल कुछ अंश ही दिये जा रहे हैं।

६५. पत्र : गोपीचन्द भार्गवको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय डा० गोपीचन्द,

मुझे आपके दो पत्र मिले थे। मैं उनका उत्तर इससे पहले नहीं दे सका, इसके लिए आप कृपया मुझे अशिष्टताका अपराधी न समझें। तथ्य यह है कि मेरे पास उत्तर देनेको बहुतसे पत्र बकाया पड़े हैं। अभी परसों जाकर मैं जगन्नाथसे उर्दूकी उस कतरनका सारांश ले पाया जो आपने मुझे भेजी है। अब मैं स्थितिको पहलेकी अपेक्षा ज्यादा साफ समझ गया हूँ। मैं मोतीलालजीसे पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ और शीघ्र ही डा० सत्यपालसे भी सम्पर्क करूँगा।

हृदयसे आपका,

डा० गोपीचन्द भार्गव
बच्छोवाली
लाहोर

अंग्रेजी (एस० एन० १५३३५)की फोटो-नकलसे।

६६. पत्र : डी० को[1]

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय मित्र,

मुझे आपका पत्र पुनःप्रेषित होकर सिन्धमें प्राप्त हुआ। मैं आपकी मदद करना चाहूँगा। लेकिन वैसा करूँ, उससे पहले मैं आपके बारेमें थोड़ा और जानना चाहूँगा। मालवीयजीके बारेमें आप जो लिखते हैं वह उनके बारेमें मेरे अनुभवसे कतई विपरीत है। आपका जैसा मामला है उसका उनके ऊपर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ेगा, और मैं जानता हूँ कि वह आपके-जैसे मामलोंमें मदद करनेके लिए नियमका आग्रह भी छोड़ सकते हैं। इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि आपकी शारीरिक अपंगताके अलावा आपमें कुछ और गड़बड़ी होगी, क्योंकि आपकी अपंगताका आपकी पढ़ानेकी क्षमतामें

१. पूरा नाम यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

बाधक होना किसी भी रूपमें जरूरी नहीं है। इसलिए मैं चाहूँगा कि इस मुद्देपर आप अपनी तरफसे मुझे सन्तुष्ट कर दें।

इस बीच, चूँकि मैं अगले रविवारको दिल्ली पहुँच रहा हूँ, मैं मालवीयजीसे मिलूँगा और आपके बारेमें उनसे व्यक्तिशः बात करूँगा।

मान लीजिए कि मालवीयजी आपको नहीं रख सकते, तो मैं जानना चाहूँगा कि आप अन्य किसी जगह, कहिए कि अहमदाबादमें या किसी अन्य स्थानमें जहाँ मैं आपको कोई जगह दिला सकूँ, शिक्षककी जगह स्वीकार करनेको तैयार होंगे या नहीं। कृपया आप मुझे विस्तारसे यह लिखिए कि आप कौन-कौनसे विषय पढ़ा सकते हैं, और यदि आपके ऊपर ही छोड़ दिया जाये तो आपकी पसन्दका विषय क्या होगा।

हृदयसे आपका,

अंग्रेजी (एस० एन० १३३१४)की माइक्रोफिल्मसे।

६७. पत्र : गंगाधरराव देशपाण्डेको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय गंगाधरराव,

तुम्हारा पत्र मिलनेपर मैंने तुम्हें एक तार भेजा था। मैं अब देखता हूँ कि मेरे लिए फरवरीमें कर्नाटकका दौरा करना असम्भव है। शायद यह जूनसे पहले सम्भव नहीं होगा। मुझे बर्मा और आन्ध्रका दौरा पहले पूरा करना है, हालाँकि तारीखें अभी तय नहीं हुई हैं। लेकिन जब मैं कर्नाटकका दौरा करूँगा उस समय भी मेरे लिए एकत्र चन्देकी रकमको कांग्रेस कमेटियों और अ० भा० चरखा संघके बीच विभाजित करना सम्भव नहीं होगा। यह दौरा पूरी तरह खादीके लिए होगा और मेरे उस पहलेवाले दौरेकी ही कड़ी होगा जो मुझे बीचमें ही छोड़ देना पड़ा था। मेरा दृढ़ विचार है कि कांग्रेस कमेटियाँ तभी अपना नाम सार्थक कर सकती हैं जब वे अखिल भारतीय प्रतिष्ठाके लोगोंकी सहायताके बगैर धन और जन जुटा सकें।

हृदयसे आपका,

श्रीयुत गंगाधरराव देशपाण्डे
डा० खा० हुबली
बेलगाँव

अंग्रेजी (एस० एन० १५३३७)की फोटो-नकलसे।

६८. पत्र : मोतीलाल नेहरूको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय मोतीलालजी,

आपका तार मिला। अब मुझे मालूम है कि दिल्लीमें मुझे कहाँ ठहराया जायेगा। मैं वहाँ मंगलवार तक रहूँगा, परन्तु आप सारा कार्यक्रम इस प्रकार निश्चित करनेकी कृपा करें कि मैं मंगलवारकी रातको दिल्लीसे चल सकूँ।

आपको कहींसे पता तो चल ही गया होगा कि रसिकका इसी ८ तारीखको देहान्त हो गया। शायद इसलिए मुझे विट्ठलभाईके घर जानेसे पहले जामिया जानेकी आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन देवदास ऐसा चाह सकता है कि मैं श्रीमती गांधीकी खातिर पहले जामिया जाऊँ। अगर ऐसा हुआ तो मैं उसकी इच्छाका आदर करूँगा, हालाँकि मुझे विश्वास है कि श्रीमती गांधी यह नहीं चाहेंगी कि मैं केवल भावनाकी खातिर जामिया जाऊँ।

हृदयसे आपका,

पण्डित मोतीलाल नेहरू
११, क्लाइव रोड
नई दिल्ली

अंग्रेजी (एस० एन० १५३३६)की फोटो-नकलसे।

६९. पत्र : कर्नाड सदाशिव रावको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय सदाशिव राव,

तुम्हारा पत्र मिला। स्पष्ट है कि तुम छोटेलालके बारेमें सब-कुछ नहीं जानते। वह भरोसेके नाकाबिल साबित हुआ है। ऐसा पाया गया है कि उससे शुद्धाचरणमें चूक हुई है। उसने यह स्वीकारोक्ति स्वयं की है और उसके जो पत्र मैंने देखे हैं उनमें उसने स्पष्ट कहा है कि उसे नीलेश्वरमें कदापि नहीं रुकना चाहिए। मैं उसके इस कथनको समझ सकता हूँ और उसपर विश्वास भी कर सकता हूँ कि नीलेश्वर एक अच्छा खादी-केन्द्र है। और अगर वह अपनी विषय-वृत्तिपर संयम रख पाता तो

निश्चय ही अच्छा काम कर दिखाता। लेकिन छोटेलालको हटानेके बाद ऐसा कौन है जो पहले ही से अव्यवस्थित कामकी जिम्मेदारी ले सके और उसे संगठित कर सके। मुझे आश्चर्य है कि छोटेलालने अपने बारेमें तुम्हें सब-कुछ नहीं बताया। तुम चाहो तो यह पत्र उसको दिखा सकते हो। वह जैसा दावा करता है यदि वैसा प्रायश्चित्त वह कर चुका है तो उससे यही अपेक्षा की जाती है कि वह अपने दोषोंपर पर्दा डालनेकी कोशिश नहीं करेगा।

जहाँतक दौरेकी बात है, वह इस महीने नहीं हो सकता। मुझे मोतीलालजीकी आज्ञापर दिल्ली जाना है। वह अब जूनसे पहले सम्भव नहीं होगा और जूनका महीना शायद तुम्हारे लिए उपयुक्त नहीं रहेगा। और कर्नाटकका दौरा जब करूँगा तो उसी जगहसे उसे शुरू करूँगा जहाँ उसे बीचमें छोड़ा था और सो भी खादीके हितमें। मुझसे स्थानीय कांग्रेस कमेटियोंके लिए धन जमा करनेकी आशा नहीं की जानी चाहिए। किसी भी लायक बननेके लिए उन्हें अखिल भारतीय ख्यातिके लोगोंकी मददके बिना, स्वतन्त्र रूपसे जनताका विश्वास प्राप्त करने योग्य होना ही चाहिए।

हृदयसे तुम्हारा,

श्रीयुत कर्नाड सदाशिव राव
कोडियलबेल,
मंगलूर

अंग्रेजी (एस० एन० १५०१०)की माइक्रोफिल्मसे।

७०. पत्र: डा० परशुराम शर्माको

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१४ फरवरी, १९२९

प्रिय परशुराम,

तुम्हारा पत्र[1] मिला। यह अजीब बात है कि तुम ऐसा पत्र लिखो। मैं समझा था कि तुमने मुझे इस शर्तके साथ अपने पत्रका जैसा चाहूँ वैसा उपयोग करनेकी पूरी छूट दे दी थी कि मैं उसमें दिये गये नामोंका उपयोग न करूँ। तुमने मुझे, यदि चाहूँ तो, तुम्हारे नामका उपयोग करने तककी छूट दे दी थी। सन्तानम तथा अन्य लोगोंने क्या किया या क्या नहीं किया, क्या इसे कलकत्तेमें की गई उन सभी चीजोंके औचित्यका बहाना बनाया जा सकता है जिनका तुमने इतना सजीव वर्णन किया

१. देखिए खण्ड ३८, पृष्ठ ४४९।

है? निश्चय ही, मैं जानना चाहूँगा कि पण्डित सन्तानम तथा अन्य लोगोंके मनमें क्या कुटिल विचार हैं? अवश्य ही, मैं डा० सत्यपालकी शक्ति, उनकी कार्य-क्षमता और निर्भीकताको जानता हूँ, लेकिन यदि इन अद्‌भुत गुणोंके साथ कुटिलता भी हो तो इन गुणोंका मेरे लिए कोई मूल्य नहीं रह जाता। विश्वास करो कि जहाँ वह गलती करें, वहाँ स्पष्ट शब्दोंमें उनकी गलती बता कर मैं और तुम डा० सत्यपालकी सच्ची सेवा करेंगे। मित्रके गलती करने पर उसको उसकी गलती बतानेमें यदि संकोच किया जाये, तो खानगी जीवनमें हो या सार्वजनिक जीवनमें, ऐसी मित्रताका कोई मूल्य नहीं है। गलत समझे जानेके भयके बिना और बिना चोट पहुँचाये गलती बता सकना मित्रताका एक विशेष अधिकार है।

आपको यह पत्र डा० सत्यपालको दिखानेकी पूरी छूट है। मेरी बहुत इच्छा है कि मैं उनके साथ विस्तारसे बातचीत करूँ और फिर उनके तथा उन अन्य लोगोंके साथ संयुक्त रुपसे बातचीत करूँ जिनके साथ काम करना है वह (डा० सत्यपाल) इतना कठिन पा रहे हैं।

हृदयसे आपका,

डा० परशुराम
पंजाब प्रदेश कांग्रेस कमेटी
ब्रेडलॉ हाल
लाहौर

अंग्रेजी (एस० एन० १५२९५) की माइक्रोफिल्मसे।

७१. भाषण : कांग्रेसकी बैठक, हैदराबादमें[1]

१४ फरवरी, १९२९

गांधीजीने अपने छोटेसे भाषणमें बताया कि जो समारोह होने जा रहा है उसका सच्चा महत्त्व, उसका आन्तरिक तत्त्व क्या है। उन्होंने कहा कि झंडा तो अन्ततः कपड़ेका एक टुकड़ा-मात्र होता है। इसे कोई बच्चा भी फहरा सकता है। तब फिर झंडारोहणका महत्त्व किस बातमें है? झंडेका महत्त्व राष्ट्रीय सम्मानका प्रतीक होनेमें निहित है, इसका महत्त्व इस संकल्पमें निहित है कि अकेले होने पर भी हम इसे ऊँचा रखेंगे। अंग्रेजोंने 'यूनियन जैक' के सम्मानकी रक्षामें अपना खून पानीकी तरह बहाया है, और इसी चीजने उस झंडेको उसकी वर्तमान प्रतिष्ठा प्रदान की है। इस्लामके इतिहासमें अलमबरदारके ओहदेको जो महत्ता प्राप्त है वह इस

१. यह अंश प्यारेलालके साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है। बैठक ज़िला कांग्रेस कमेटीके कार्यालयमें हुई थी।

बातसे है कि अलमबरदार बड़ीसे-बड़ी कुर्बानी करनेके लिए तैयार रहते थे। झंडेके सम्मानकी रक्षाके लिए अक्सर दुस्साहसपूर्ण बलिदान करनेकी जरूरत हुई है, जिसका एक नमूना मोरक्कोके वे सैनिक हैं जो अपने शस्त्रास्त्र फेंक कर तोपोंकी भयंकर मारकी परवाह न करते हुए अल्लाहके नारेके साथ फ्रांसीसी तोपचियोंकी तरफ झपट पड़े थे। फ्रांसीसी सैनिक मोरक्कोके सैनिकों द्वारा दिखाई गई इस विकट वीरतासे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रशंसामें अपनी टोपियाँ उछालीं और उनके साथ दोस्तोंका-सा व्यवहार किया। कांग्रेसजनोंको इसी उदाहरणका अनुकरण करना चाहिए। कांग्रेस-ध्वज फहरानेके पीछे यदि हमारा यह दृढ़ संल्कप न हो कि भले ही और सब लोग भाग जायें पर हम अकेले भी इस झंडेको फहराते रखेंगे, तो यह ध्वजारोहण समारोह बच्चोंका एक नाटक-भर रह जायेगा। इसी प्रकार, आपका अपने यहाँ लालाजीके चित्रका अनावरण कराना यदि आपके इस गम्भीर संकल्पका प्रतीक नहीं है कि जिस ध्येय, अर्थात् दासताकी बेड़ियोंसे भारतकी मुक्तिके लिए लालाजी जिये और मरे, उसे पूरा करनेकी खातिर आप अपने प्राणों तकका उत्सर्ग कर देंगे, तो यह कोरी मूर्तिपूजा बन कर रह जायेगा। उनके चित्रको देखकर आपके मनमें उन आदर्शोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होनी चाहिए जिनको लेकर लालाजी चले थे, और उसे देखकर आपके लिए कोई ऐसा कार्य करना असम्भव हो जाना चाहिए जो उनकी पुण्य-स्मृतिके योग्य न हो। इस प्रकार आपके भवनमें लालाजीके चित्रकी स्थापनाका अर्थ मूर्ति-पूजा नहीं बल्कि वह होना चाहिए, जिसे हम हिन्दू प्राण-प्रतिष्ठा कहते हैं।

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २८-२-१९२९

७२. भाषण : छात्रोंकी सभा, हैदराबादमें[1]

१४ फरवरी, १९२९

अपने दोषोंको स्वीकार करना सुधारकी दिशामें पहला कदम है। इसलिए आपने अपने अभिनन्दनपत्रमें जिन कमजोरियोंका उल्लेख किया है उनके बारेमें मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि मैं मानता हूँ कि उन्हें स्वीकार करनेके बाद आप उन्हें दूर करनेके लिए कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। मै आपसे एक दो अन्य विवादास्पद विषयोंकी चर्चा करूँगा।

इसके बाद गांधीजीने छात्रोंसे आग्रह किया कि वे अपने बीचसे शराबखोरीकी लत बिलकुल समाप्त कर दें। उन्होंने कहा कि आप शायद सोचते हों कि थोड़ी-बहुत शराब पी जा सकती है क्योंकि उससे आपको कोई नुकसान होता नहीं दिखता। लेकिन, जैसा कि 'गीता' कहती है, हमें अपना आचरण केवल अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ही नहीं, बल्कि यह देखते हुए भी निर्धारित करना चाहिए कि उसका दूसरोंपर क्या प्रभाव पड़ेगा।। यदि आप समझ लें कि यह खराब आदत भारतके श्रमजीवी वर्गोंपर कैसा कहर बरपा कर रही है तो आप शराबको कभी हाथ न लगानेकी कसम खा लेंगे। इसके बाद, गांधीजीने छात्रोंको पश्चिमके उस जहरीले साहित्यके विरुद्ध सावधान किया जो देशमें बड़ी मात्रामें आ रहा था और विज्ञानके सम्माननीय और आकर्षक चोलेमें लोगोंको शुद्धता और आत्म-संयमके पथसे विचलित करना चाहता था। उन्होंने कहा, कभी-कभी विषयोपभोगको उचित ठहरानेवाले घोषणा-पत्र जारी किये जाते हैं जिनपर बिशपों, डाक्टरों तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियोंके हस्ताक्षर होते हैं, लेकिन आप सदाचारके सँकरे और सीधे मार्गसे अपने आपको कभी विचलित न होने दें। विषयासक्ति और नैतिक असंयम पतनका निश्चित मार्ग है। गांधीजीने छात्रोंसे अपने मन और तनको पूरी तरह शुद्ध बनानेकी अपील करते हुए कहा कि मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूँ कि वह आपको ऐसा करनेकी सद्बुद्धि और शक्ति प्रदान करे।

[अंग्रेजी]

यंग इंडिया, २८-२-१९२९

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है। यह सभा सिन्धी नेशनल कॉलेजमें हुई थी जिसमें छात्रोंने गांधीजीको सिन्धीमें एक अभिनन्दनपत्र भेंट किया था। उसमें छात्रोंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें अपनी कमजोरियाँ और खामियाँ गिनाई थीं।

७३. भाषण : भंगियोंकी सभा, हैदराबादमें

१४ फरवरी, १९२९

सभामें उपस्थित ज्यादातर भंगी गुजरात और राजपूतानाके थे। उनके समक्ष बोलते हुए गांधीजीने कहा कि मैं भी आप लोगोंमेंसे ही एक हूँ और मेरा पेशा भी भंगीका पेशा है। आप इसे नीच धन्धा न समझें बल्कि इसपर आपको गर्व होना चाहिए। अस्पृश्यताको दूर करनेके काममें जो प्रगति हो रही है उसे देखकर मुझे सन्तोष है। एक समय ऐसा भी था जब किसी आला दर्जेके मन्दिरमें भंगियोंका कोई समारोह आयोजित करने या जमनालालजीके वर्धा-स्थित लक्ष्मीनारायण मन्दिर-जैसे खानगी मन्दिरोंमें उनको प्रवेश करने देनेकी बात सोची भी नहीं जा सकती थी। लेकिन इस दिशामें अबतक जो प्रगति हुई है वह हालाँकि सभीके लिए बधाईके योग्य है, तथापि यह दलित वर्गोंके ही हाथमें है कि वे शराबखोरी, मुरदार जानवरोंका मांस खाने, जुआ खेलने आदि जैसी बुरी आदतोंसे छुटकारा पायें, स्वास्थ्य तथा सफाईके नियमोंका कड़ाईसे पालन करें और इस प्रकार सुधारका रास्ता आसान बनायें। संस्कृत और संस्कृतके धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करना या धर्मकी बारीकियोंको समझना भले ही सबके लिए सम्भव न हो, लेकिन निश्चय ही यह प्रत्येक व्यक्तिका अधिकार और कर्तव्य है कि वह मूल सद्‌गुणोंको पूरी तरह अपने आचरणमें उतारे।[1]

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २८-२-१९२९

१. बादमें गांधीजीने झटिया और कलाल जातिके सदस्योंके सामने भाषण दिया और उनसे आग्रह किया कि वे ऊँच और नीचके उस घृणित भेदभावको मिटा दें जो उनके वातावरणको दूषित कर रहा है और वे अपने समुदायके सभी वर्गोंको एक ही पिताकी सन्तानके रूपमें देखें।

७४. भाषण : कांग्रेसकी सभा, कोटडीमें[1]

१४ फरवरी, १९२९

गांधीजीने अपने उत्तरमें अध्यक्ष महोदयको उनकी स्पष्टवादिताके लिए धन्यवाद दिया।[2] उन्होंने कहा कि इस समय जब कि हम संघर्षके एक अत्यन्त नाजुक दौरसे गुजर रहे हैं तब कांग्रेस कार्यक्रमके बारेमें निष्क्रियता और अनिश्चयकी मनःस्थितिमें पड़े रहना कांग्रेसजनोंके लिए अपराधस्वरूप है। उन्हें या तो उसे निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करना चाहिए और या फिर यदि वे उस कार्यक्रमको अव्यवहार्य अथवा हानिकर समझते हैं तो उन्हें कार्य-समितिको वैसा सूचित कर देना चाहिए। लेकिन मुझसे यह कहना न तो ठीक है और न उपयुक्त ही कि मैं खादी सम्बन्धी धाराको मंसूख करनेका प्रस्ताव करूँ। कांग्रेस संविधानमें खादी सम्बन्धी धारा मेरे दबावके कारण तो बरकरार नहीं रखी गई है। गोहाटीमें इस धाराको हटवानेकी कोशिश विफल हो चुकी थी। उस प्रस्तावका विरोध करनेके लिए मैं वहाँ ठहरा तक नहीं था। मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह सुनकर खुशी जरूर हुई थी कि उस धाराको हटानेका प्रस्ताव नामंजूर कर दिया गया था। मद्रासमें तो इसकी कोशिश भी नहीं की गई, क्योंकि खादीके सवालपर ही चुनाव जीते गये थे। जहाँतक मुझे मालूम है, खादी सम्बन्धी धाराके बारेमें किसीने सोचा तक नहीं था। इस प्रकार, कांग्रेस नीतिमें बहुतसे परिवर्तन हुए लेकिन खादी सम्बन्धी धारा जनमतके मौन और अव्यक्त दबावके कारण अपरिवर्तित ही रही है। चूँकि मैं ऐसा मानता हूँ कि यदि अहिंसा और सत्यके तरीकोंसे स्वराज्य प्राप्त करना है तो खादीसे बचा नहीं जा सकता। अतः मैं आपको यही सलाह दे सकता हूँ कि आप आदतन खादीके वस्त्र पहननेकी शर्तको कड़ाईसे लागू करें, चाहे इसके परिणामस्वरूप कांग्रेसमें केवल एक ही सदस्य बच रहे। बे-मनसे सदस्य बने रहनेवाले एक सौ लोग कांग्रेसके झंडेकी शान मिट्टीमें मिलायें, इससे कहीं बेहतर है कि एक ही खरा सदस्य हो जो पूरी निष्ठाके साथ कांग्रेसका झंडा ऊँचा रखे। बड़े-बड़े कामोंका इतिहास उन लोगोंका इतिहास है जिनके अन्दर दुनियाके विरुद्ध अकेले खड़े होनेका साहस था। दुविधामें पड़ी बड़ी-बड़ी सेनाओंको उत्साह प्रदान करनेके लिए एक अकेले कृष्णकी उपस्थिति काफी थी। वह कभी संख्या-बलपर निर्भर नहीं करते थे। पैगम्बर मुहम्मदने महानताका सर्वोच्च शिखर

१. यह अंश प्यारेलाल लिखित साप्ताहिक पत्रमें से लिया गया है।

२. अध्यक्षने अपने भाषणमें कहा था कि यदि आदतन खादी पहनना कांग्रेसकी सदस्यताकी शर्त बनानेका आग्रह किया गया तो अधिकांश कांग्रेस कमेटियोंका काम ठप हो जायेगा और कोटडी कांग्रेस कमेटीमें मुश्किलसे दो सदस्य रह जायेंगे।

तब नहीं छुआ था जब सारे अरब देशने सर्वजयी नायकके रूपमें उनकी जय-जयकार की थी बल्कि उस समय छुआ था जब 'अल्लाहकी खातिर उन्होंने सबसे अलग अकेले खड़े होनेमें' भी प्रसन्नताका अनुभव किया था। प्रतापके सब साथी उनको अकेला छोड़ गये लेकिन तब भी, विजयकी कोई आशा न होनेके बावजूद, वह अकेले ही मृत्युपर्यन्त संघर्ष करते रहे किन्तु एक क्षणके लिए भी झंडा नहीं झुकाया। ऐसा ही शिवाजीने भी किया था। और आज दुनिया उनका नाम गर्वके साथ याद करती है। जहाँतक मेरा सवाल है, मैं यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि ईश्वर मुझे शक्ति दे। मैं खादीमें अपनी आस्था सिद्ध कर सकूँ भले ही सब लोग उसका पक्ष त्याग दें। मैं अपने सभी कार्योंमें खादी सम्बन्धी कार्यको सबसे अधिक व्यापक सबसे अधिक फलदायी और सबसे अधिक स्थायी मानता हूँ। जब लोग मेरे बारेमें अन्य सब चीजें भूल चुकेंगे तब भी वे मुझे केवल इस एक चीजके कारण याद करेंगे। उदाहरणके लिए, मैं अपने अहिंसाके सन्देशके बारेमें भी यह आशा नहीं रखता कि गैर-हिन्दू लोग उसे सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार करेंगे। लेकिन चरखेका मेरा सन्देश समान रूपसे सभीके लिए है—युवा और वृद्ध, हिन्दू और मुसलमान, पारसी, ईसाई और सिख, सभीके लिए। चरखेका सन्देश हमारी भाषाके तानेबानेमें ही बुना हुआ है। ईश्वरको सूत्रधार कहते है। सूत्रमें पिरोए हुए मोतियोंकी भाँति यह ब्रह्माण्ड भी परमात्मा रूपी डोरेमें पिरोया हुआ है—'सूत्रे मणिगणा इव।' इसी प्रकार सूतका धागा ही एकमात्र ऐसी वस्तु है जो करोड़ों लोगोंको एक सूत्रमें बाँध सकता है और जनसाधारण तथा कांग्रेसके बीच अटूट सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। खादीकी उपयोगिता तथा मेरा सबसे अधिक लाभकारी काम क्या है, इसके बारेमें लोग विभिन्न राय रखनेको स्वतन्त्र हैं, लेकिन तब उन्हें मुझे बिलकुल मेरे हालपर छोड़ देना चाहिए; वे मुझे मेरे खादीके सन्देशसे अलग नहीं कर सकते।

इस [भेंटकी थैली]पर[१] टिप्पणी करते हुए गांधीजीने कहा कि जब व्यक्ति अपनी सामर्थ्यभर त्याग करके दान देता है तभी उसके दानका महत्व धनकी मात्रासे नहीं, बल्कि दानकी भावनासे आँका जा सकता है। यही बात कंडियाराके वे ६२ छात्र कह सकते हैं जिन्होंने ६५ रुपये भेंट किये थे, लेकिन आप लोगोंने तो जितना दे सकते हैं, उसे देखते कुछ भी नहीं दिया है। इसीलिए मैं आपका दावा सही माननेसे इनकार करता हूँ और आशा करता हूँ कि आप इस समय भी अपने चन्देकी रकम बढ़ा कर अपनी नाक रख लेंगे।[२]

[अंग्रेजीसे]

यंग इंडिया, २८-२-१९२९

१. कांग्रेस कमेटीके मन्त्रीने गांधीजीको २०० रुपयेकी थैली भेंट करते हुए आशा व्यक्त की थी कि गांधीजी थैलीकी राशिपर ध्यान न देकर थैली देनेमें निहित भावनापर ही ध्यान देंगे।

२. इसपर थैलीकी राशि बढ़ाकर ५०० रुपये कर दी गई थी।

परिशिष्ट १

गांधीजीका वंश-वृक्ष
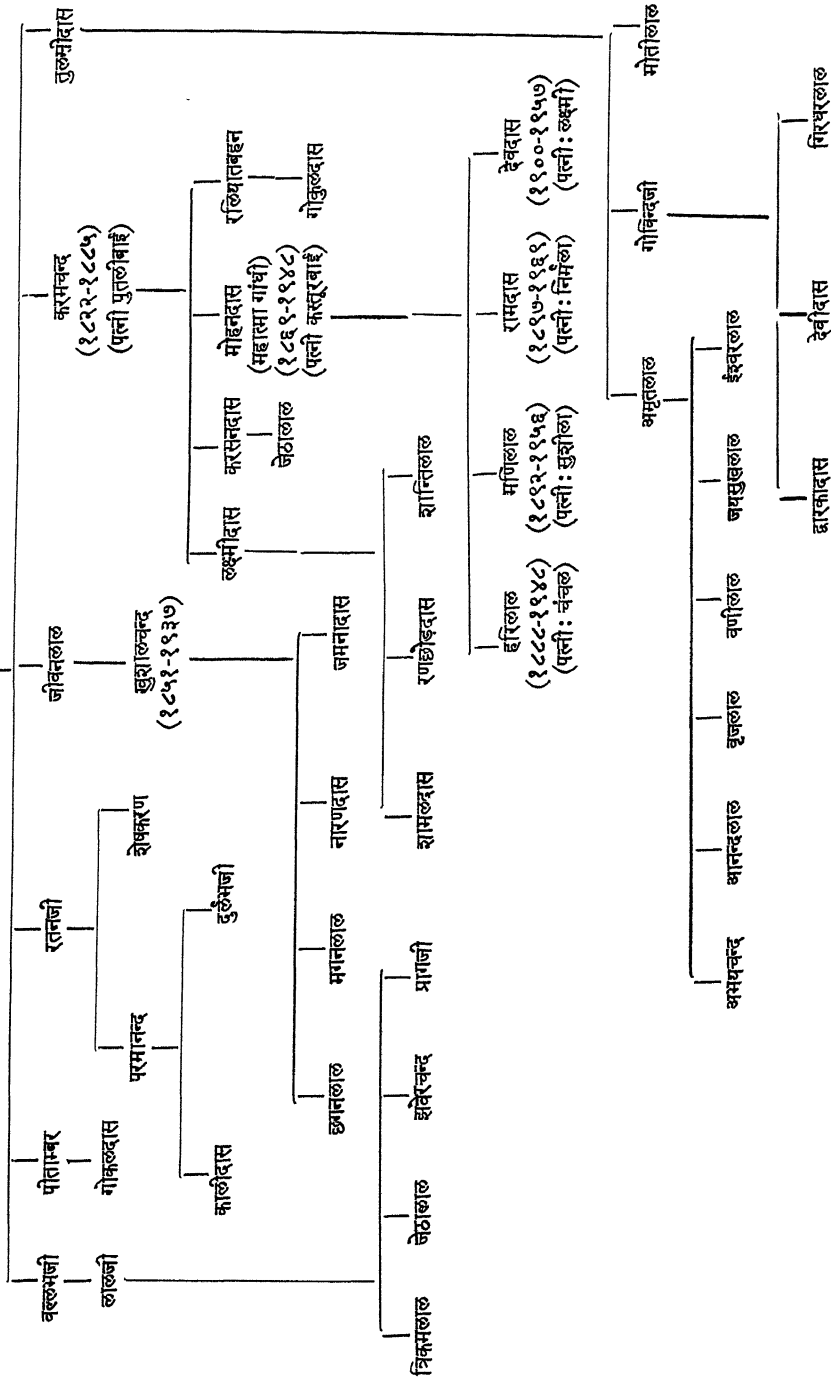
सामग्रीके साधन-सूत्र

गांधी स्मारक संग्रहालय, नई दिल्ली: गांधी-साहित्य और सम्बन्धित कागजातका केन्द्रीय संग्रहालय एवं पुस्तकालय; देखिए खण्ड १, पृष्ठ ३५९।

साबरमती संग्रहालय: पुस्तकालय तथा संग्रहालय: जिसमें गांधीजीके दक्षिण आफ्रिकी काल तथा १९३३ तकके भारतीय कालसे सम्बन्धित कागजात सुरक्षित हैं; देखिए खण्ड १, पृष्ठ ३६०।

'नवजीवन' (१९१९-१९३२): गांधीजी द्वारा सम्पादित और अहमदाबादसे प्रकाशित गुजराती साप्ताहिक। इसका हिन्दी संस्करण १९ अगस्त, १९२१ को प्रारम्भ हुआ था।

'यंग इंडिया' (१९१८-१९३२); गांधीजी द्वारा सम्पादित और अहमदाबादसे प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक।

'लीडर': इलाहाबादसे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'हिन्दू': मद्रासमे प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक।

'बापुना पत्रो: आश्रमनी बहेनोने' (गुजराती): सम्पादक-काकासाहब कालेलकर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९४९।

'बापुना पत्रो: गं० स्व० गंगाबहेन': सम्पादक – काकासाहब कालेलकर, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९६०।

'महात्मा गांधी – द अर्ली फेज', खण्ड १ (अंग्रेजी): प्यारेलाल नैयर, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद।

'महादेवभाईनी डायरी' – खण्ड १ (गुजराती): सम्पादक – नरहरि परीख, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९४८।

'सरोजिनी नायडू' (अंग्रेजी): पद्मिनी सेनगुप्त, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई १, १९६६।

तारीखवार जीवन-वृत्तान्त

(३ फरवरीसे १४ फरवरी, १९२९ तक)

शामके समय सिन्धके दौरेपर कराची पहुँचे।

३ फरवरी : 'आत्मकथा' का अन्तिम अध्याय 'नवजीवन' में छपा।

४ फरवरी से ६ फरवरी : कराचीमें।

५ फरवरी : अस्पृश्यों और दलित वर्गोंकी सभाओंमें भाषण।

६ फरवरी : पारसियों और छात्रोंकी सभाओंमें भाषण; जैकोबाबादके लिए रवाना।

७ फरवरी : जैकोबाबादमें; सार्वजनिक सभामें भाषण।

८ फरवरी : शिकारपुरमें; सार्वजनिक सभामें भाषण।

९ फरवरी : लरकानामें।

१० फरवरी : सक्खरमें। छात्रोंकी सभामें भाषण।

११ फरवरी : सक्खर और रोहड़ीमें; रोहड़ीकी सार्वजनिक सभामें भाषण।

१३ फरवरी : पड़ीडानमें; हैदराबाद (सिन्ध) पहुँचे, सार्वजनिक सभामें भाषण।

१४ फरवरी : हैदराबादमें; विद्यार्थियों, कांग्रेस और भंगियोंकी सभाओंमें भाषण।

शीर्षक-सांकेतिका

विविध

सांकेतिका

अ

आ

इ

ब

भ

म

य

र

ल

व

ह